

आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी के समयसार ग्रन्थ पर
आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज का उपदेश

समयोपदेश

(भाग-४)

(२०२-२५१ गाथा)

प्रस्तुति
आर्यिका दृढमति ससंघ

प्रकाशक
आगम प्रकाशन
रेवाड़ी (हरियाणा)

आचार्य श्री कुन्दकुन्दस्वामी के समयसार ग्रन्थ पर आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज का उपदेश

- कृति : समयोपदेश (भाग-४)
प्रस्तुति : आर्थिका दृढमति ससंघ
संस्करण : प्रथम, जून, २०२०
आवृत्ति : ११००
सहयोग राशि : १५०/- (पुनः प्रकाशन हेतु)
पुण्यार्जक : श्रीमती चिन्तामणि सवाईमल जैन, चैरिटेबल ट्रस्ट, मुम्बई/कन्नौज
प्राप्तिस्थान : अजितप्रसाद जैन
५३७३, जैनपुरी, रेवाड़ी (हरियाणा) ९८९६४-३७२७१

जैन विद्यापीठ

भाग्योदय तीर्थ परिसर, सागर-४७०००२ (मध्यप्रदेश) ९१०९०९०१११

धर्मोदय विद्यापीठ

सागर (मध्यप्रदेश) ७५८२-९८६-२२२

जैन साहित्य सदन

श्री दिगम्बर जैन लाल मंदिर, चाँदनी चौक, दिल्ली-११०००६

अमर ग्रन्थालय

श्री दिगम्बर जैन उदासीन आश्रम

५८४, महात्मा गाँधी मार्ग, तुकोगंज, इन्दौर (म.प्र.) ९४२५४-७८८४६

जैन साहित्य केन्द्र

श्री दिगम्बर जैन वर्णी गुरुकुल, मढ़ियाजी के सामने

जबलपुर (मध्यप्रदेश) ९४२४६-९०६०७

- मुद्रक : आरसी प्रैस, नई दिल्ली

सविनय समर्पण

तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी महाश्रमण की

मूलाम्नाय में

श्री कुन्दकुन्दाचार्य के जीवन्त रूप

श्रमण संस्कृति के महान् उन्नायक

रत्नत्रय के उत्कर्षक

श्रुत-आराधक समयसार एवं

मूलाचार के मूर्तिमान् आध्यात्मिक संत

भारत देश की गरिमामयी ऋषि-परम्परा के

धर्मप्राण लोकप्रिय विश्वविख्यात महाकवि

दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागर जी

महामुनिराज की आत्मान्वेषी, तत्त्वान्वेषी

इष्टोपदेशी पावन अनुपम कृति

‘समयोपदेश’

आचार्यश्री के कर-कमलों में

सादर सविनय अर्पण-समर्पण

प्रकाशकीय

समयोपदेश कृति 'समयसार' ग्रन्थराज का सरस व सरलतम उपदेशात्मक रूप है। 'समयसार' कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा प्रणीत जैनतत्त्व-मीमांसा का एक महनीय ग्रन्थ है, जिसमें विशेषतः अध्यात्म का मार्मिक, तार्किक, सैद्धान्तिक, तात्त्विक व पारमार्थिक विवेचन एतावत् गहन और दुरूह है। जिसकी ज्ञान-ग्रन्थियों व रहस्यों को सुलझाना (खोलना) सहज संभावनीय नहीं है। अतः 'समयसार' के अध्ययन/स्वाध्यायरत जन-सामान्य जिज्ञासु प्रायः इसकी समग्रता का रसास्वाद करने में अक्षम प्रतीत होते हैं, परन्तु जैनधर्म व दर्शन के तात्त्विक-वेत्ता, सुविज्ञ-व्याख्याता, सदुपदेष्टा, तार्किक-मनीषी, सिद्धान्त-शिरोमणि, परम-निष्णात आचार्यप्रवर श्री विद्यासागर जी महाराज ने 'समयोपदेश' के माध्यम से 'समयसार' के सिद्धान्तों, गूढ़-रहस्यों, ग्रन्थित-ग्रन्थियों को उद्घाटित करके एतावत् स्पष्टीकरण किया है। अब यह जन-सामान्य, अध्येताओं के लिए हृदयग्राही व सहजगम्य हो गया है।

'समयसार' ग्रन्थ मौलिक रूप से शौरसेनी भाषा तथाकथित 'जैनशौरसेनी' प्राकृत में निबद्ध है। जिसकी अमृतचन्द्राचार्य कृत 'आत्मख्याति' तथा आचार्य जयसेन द्वारा विरचित 'तात्पर्यवृत्ति' नामक संस्कृत व्याख्याएँ अद्यावधि सुविख्यात हैं, परन्तु आधुनिक सुख-साधन-सम्पन्न वैज्ञानिक युग के परिप्रेक्ष्य में संस्कृत, प्राकृत आदि भारतीय आर्यभाषाएँ लुप्तप्रायः हो रहीं हैं। अतः प्राकृत गाथाओं में निरूपित 'समयसार' जैसे ग्रन्थराज को जनमानस तक सम्प्रेषणीय बनाने के लिए आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ने अपने प्रवचनों के माध्यम से इसकी विशद व सुबोधगम्य व्याख्या की है। वस्तुतः आचार्यप्रवर के मुखारविन्द से निःसृत प्रवचनों को लिपि-बद्धता ही 'समयोपदेश' की सृजनशीलता है। जिसे 'समयसार' की बृहदाकार टीका भी कही जा सकती है। प्रस्तुत रचना में 'समयसार' के निर्जराधिकार की ५० गाथा समाहित हैं। साथ ही आचार्यप्रवर कृत पद्यानुवाद भी अंकित है, जो ध्यातव्य व ज्ञातव्य है।

आभार-प्रदर्शन—इस ग्रन्थ का सम्पादन व पुनर्लेखन परमपूज्य आर्यिकारत्न १०५ श्री दृढमति माता जी के करकमलों द्वारा सम्पन्न हुआ है, जो उनके अथक श्रम व भाषा-शैली की प्राञ्जलता का द्योतक है। अतः उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना औपचारिकता मात्र होगी। उन्हीं की प्रस्तुति आद्यमिताक्षरिका और सारस्वत-प्रतिमान उनकी ज्ञान-गरिमा और अनिर्वचनीय श्रद्धा का ज्वलंत निदर्शन है। इस सुविस्तृत ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ श्रीमती चिन्तामणि सवाईमल जैन, चैरिटेबल ट्रस्ट, मुम्बई/कन्नौज का परम सहयोग सराहनीय है।

अन्ततोगत्वा विवेच्य ग्रन्थ के प्रकाशन में प्रत्यक्षतः व अप्रत्यक्षतः समस्त सहयोगियों को कोटिशः धन्यवाद व हार्दिक बधाई। विश्वास है यदि इस ग्रन्थराज का निष्ठापूर्वक व एकाग्रचित्त से अध्ययन व मनन किया जाए तो यह कृति सन्मार्ग-विधायक तथा पुण्यप्रदायक सिद्ध होगी। आशा है जिज्ञासु पाठक इस कृति के सतत् स्वाध्याय से अपने जीवन के लक्ष्य (मुक्तिमार्ग) की ओर अग्रसर होकर मनुष्य-पर्याय को सार्थक करेंगे।

अजितप्रसाद जैन
रेवाड़ी (हरियाणा)

आद्यमिताक्षरिका

भारत देश के साहित्य-सदन में 'जैन साहित्य' का अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। तीर्थंकरों के मुखारविन्द से निर्गत परम पवित्र सिद्धान्तों, आचरणों एवं विचारों की जन्मदातृ जिनवाणी की भौतिकता प्रधान वर्तमान इस युग में भी हम सभी के पुण्योदय से अध्यात्म की अजस्रधारा परम पूज्य अध्यात्म-शिरोमणि कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित ग्रन्थराज समयसार के रूप में उपलब्ध है। परम पूज्य अध्यात्मविभूषित विद्यामूर्ति आचार्य श्री १०८ विद्यासागर जी महाराज के द्वारा गोम्मटगिरि, इन्दौर में सन् १९९९ को श्री बाहुबली भगवान् की चरण-छाँव में चातुर्मास की पुण्य बेला पर यह उपदेश हुआ था। उस पावन उपदेश के द्वारा अखिल भारतवर्षीय विद्वत् समाज, समस्त साधुवृन्द एवं त्यागी-ब्रती, मोक्षमार्गी, स्वाध्यायशील श्रावकों को समयसार ग्रन्थराज को समझने की विशेष दृष्टि प्राप्त हुई। इस ग्रन्थराज की पूर्व वाचना कर सन् १९८१ में भगवान् पार्श्वनाथ की समवसरण-स्थली एवं उनकी चरण-छाँव में श्री सिद्धक्षेत्र नैनागिरि पर समस्त संघ एवं श्रावकों को एक अपूर्व अवसर प्रदान किया था।

सन् १९८७-८८ में थूवौनजी में एवं मढ़ियाजी में तथा सन् २०१० में श्री अतिशयक्षेत्र बीना बारहाजी में इस ग्रन्थराज की वाचना हुई थी। इस प्रकार श्री समयसार ग्रन्थराज की चार बार वाचनाएँ सम्पन्न हुई हैं।

इस ग्रन्थ पर आचार्य जयसेन स्वामी ने अत्यन्त सरस, सरल, सुबोधमय स्पष्ट तात्पर्यवृत्ति एवं पूज्य अमृतचन्द्राचार्य ने आत्मख्याति नामक टीका की रचना की है। इस नवीन प्रकाशित समयोपदेश कृति में आचार्य श्री विद्यासागर जी द्वारा आचार्य जयसेन स्वामी की तात्पर्यवृत्ति टीका पर आधारित उपदेश संकलित किए गए हैं। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि इस ग्रन्थराज का जिनवाणी-सेवा एवं वीरशासन के अध्यात्मतत्त्व की महत्ता को स्थापित करने में अपना अमूल्य योगदान है।

जीवन का वास्तविक परिचय प्रदायक, शरीर और आत्मतत्त्व के भेदज्ञान से परिपूर्ण, जीवन में नवीन अध्यात्ममय ज्ञानज्योति को प्रज्वलित करने वाला, मनोविज्ञान के अनुसार अन्तर्दृष्टि एवं अन्तर्मुखी व्यक्तित्व को विकसित करने वाला अध्यात्मप्रधान, जिनवाणी सेवा के नये आयाम स्थापित करने वाला, विशिष्ट महत्त्वपूर्ण, अवर्णनीय, सम्माननीय, अद्भुत तत्त्वोद्घाटक समयसार पर प्रदत्त उपदेश सहस्राधिक वर्षों तक अत्यधिक गौरवमय स्थान प्राप्त करता रहेगा।

इस ग्रन्थराज को गरिमामय स्थान में स्थापित करने वाले परम पूज्य जिनवाणी के यथार्थ उद्घोषक, पूर्वाचार्यों द्वारा लिखित न्याय, व्याकरण, साहित्य, सिद्धान्त एवं अध्यात्म विषयों के

महानतम ग्रन्थों के अनुचिन्तक, अध्यापक, मूलाचार में कथित आर्यिकाओं के गुरु के समस्त लक्षणों से विभूषित, सरस्वती की महानतम साधना के रूप में अंकित, सरस्वती पुत्र का सम्पूर्ण विश्व अभिनन्दन करता है। श्रमणोद्धारक, श्रमण संस्कृति के संस्कारों से संस्कारित आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज का जीवन समयसार एवं मूलाचार के सिद्धान्तों का आदर्श एवं साकार रूप प्रस्तुत करता है। आचार्यश्री के आशीर्वाद से समाज को जिनेन्द्रसेवा, तीर्थसेवा, गुरुसेवा, जिनवाणीसेवा, व्रतीसेवा, मानवसेवा, पशुसेवा, शासन-प्रशासनसेवा, शिक्षासेवा इत्यादि का ऐतिहासिक सुनहरा अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थराज की हिन्दी भाषा टीका पूज्य आचार्य श्री १०८ ज्ञानसागर जी महाराज द्वारा हुई है। उनकी ज्ञानगरिमा समस्त साधु-समाज एवं विद्वत्-समाज को विदित ही है। आचार्य श्री ज्ञानसागरजी का अनुपम उपकार एवं गुरुकृपा का प्रसाद उनके सुयोग्य शिष्य आचार्य श्री विद्यासागर जी को प्राप्त है।

गुरु उपकारों से उपकृत आचार्यश्री जी ने सागर में सन् १९८० में षट्खण्डागम ग्रन्थ की वाचना के समय विद्वत्समाज एवं समस्त सागर समाज के बीच एक बार धर्मोपदेश सभा में कहा था कि- मैं सिद्ध परमेष्ठी बन जाऊँगा, तो भी अपने गुरु के उपकारों को नहीं भुला सकूँगा। गुरुमुख से निःसृत उक्त शब्द-मुक्ताओं से गुरु-भक्ति एवं समर्पण का अनुपम आदर्श प्रस्तुत हुआ है। हम सभी शिष्य एवं शिष्याओं का समुदाय भी आचार्यश्री के उपकारों से उपकृत है। हम सभी भी सिद्ध बन जायेंगे तो भी उनके उपकारों को नहीं भुला पायेंगे। गुरु-उपकार ऋण चुकाने की क्षमता हमारे पास है भी कहाँ? माँ के समान गुरुवर अपने अनुभव और ज्ञान को मिलाकर, घोल-घोलकर पिलाते जाते हैं। आत्म-हितैषियों के लिए हित का उपदेश देते हैं। उनका चिन्तन बोलता है कि-चिन्ता छोड़ो, निश्चिन्त रहो, चिन्तन की धारा बहने दो।

ऐसे परम गहन दार्शनिक चिन्तक आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज द्वारा उपदेशित ग्रन्थ का आर्यिका संघ में स्वाध्याय किया गया। स्वाध्याय प्रारम्भ करते ही उसके विषयों का, उपदेश-शैली का, मन पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा, ऐसा लगा कि यह उपदेश समस्त स्वाध्यायप्रेमियों तक पहुँचना चाहिए। इसी उद्देश्य से सन् २०१२ में श्री अतिशयक्षेत्र पनागर से इसका लेखन प्रारम्भ किया था। इस ग्रन्थराज का प्रारम्भिक कार्य आर्यिका श्वेतमति जी के द्वारा हुआ था। उनके द्वारा लिखित प्रति से अध्ययन किया। उनका अथक परिश्रम श्लाघनीय है। ब्राह्मी विद्या आश्रम की संचालिका ब्राह्मी मणिबाईजी द्वारा इसकी प्रति प्राप्त हुई। ग्रन्थ प्रकाशन की भावना स्वयं की रही, लेकिन कतिपय सुधी श्रद्धालु महानुभावों की भावना थी कि-इस ग्रन्थ का सम्पादन आर्यिका संघ के द्वारा होना चाहिए। अतः गुरु-आशीष लेने का प्रत्यक्ष अवसर तो नहीं मिल पाया। परोक्ष में ही अपनी उत्कट भावना उनके निकट प्रेषित की गयी। वे तो कुछ कहते नहीं और सच में उन्होंने कुछ कहा भी नहीं, लेकिन आचार्यश्री

की ग्रन्थ वाचना की कृतियों का स्वाध्याय करके स्वतः मैंने एक लक्ष्य निर्धारित किया कि कितना भी समय लगे, शरीर साथ दे या न दे, मैं तो परम गुरु की चिन्तनपूर्ण वाणी का ही लेखन करने में सर्वस्व जीवन अर्पण करूँगी। मुझे अपनी तरफ से कोई रचना विशेष नहीं करना है। गुरु की कृतियों के लेखन में से अपने आपको लेखने की सम्यग्दृष्टि प्राप्त कर सकूँ, इस अन्तरुद्देश्य से इस लेखन कार्य को करने का साहस किया। इसे कोई सम्पादन न समझे। मैं गुरु की कृति का सम्पादन करने का दुस्साहस नहीं कर सकती। फिर भी आप सभी विद्वज्जन या साधुजन सामान्य पाठकजन इसे सम्पादन शब्द देते हैं तो...। इस कार्य में जो, जहाँ, जैसे ग्रन्थ प्रमाण देने की आवश्यकता हुई, उनको वहाँ संकलित करने का प्रयास किया है। उनमें जो त्रुटि समझ में आये, सुधी पाठकगण सुधार कर पढ़ें और अगले प्रकाशन में सुधार हेतु उनसे परिचित भी कराने का कष्ट करें।

आचार्यश्री जी के भावों को यथावत् रखने के साथ उनकी भाषा-शैली को भी पूर्णतः सुरक्षित रखा गया है। दृष्टान्तों को पृथक् स्थान दिया है। कहीं-कहीं उपदेश के विषय प्रवाह से हटकर कोई विषय आया है तो जिज्ञासा-समाधान के रूप में रखा है, क्योंकि अनेक रुचि वाले श्रोतागण अनेक जिज्ञासाओं को प्रस्तुत करते हैं तो वक्ता को उनका समाधान देना ही पड़ता है। आचार्यश्री जी के विशेष चिन्तन बिन्दुओं को इसी शीर्षक से दिया गया है। साथ ही अध्ययन कराते समय शिष्य संघ को भी विशेष सम्बोधन उनके हितार्थ दिए गये हैं। कहीं-कहीं वाक्य संरचना को व्यवस्थित करने की अनिवार्यता होने पर उन्हें सुव्यवस्थित करने का प्रयास किया है। कुछ वाक्यों को जो कि बार-बार बोलने में आए होंगे तो उन्हें कम भी किया गया है। इन सबके बीच जो भी मेरे द्वारा त्रुटिपूर्ण कार्य हुआ हो तो सर्वप्रथम मेरे परम गुरु आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज मुझे क्षमादान करें। समस्त साधुवृन्द, विद्वत्त्वृन्द, समस्त आर्थिकासंघ मुझे क्षमादान दें। यह प्रकाशन मेरे जीवन को एवं समस्त पाठकों के जीवन को सम्यक् ज्ञान ज्योति प्रदान करे, यही सद्भावना है।

इस समयोपदेश ग्रन्थराज का अध्ययन-अध्यापन कर साहित्यिक एवं आध्यात्मिक छटा से अपने जीवन को सुरक्षित करते हुए नवीन अध्यात्म ज्ञान ज्योति को प्राप्त कर हम कृतकृत्य हो सकें, इसी भावना से आचार्यश्री जी के पावन चरणों में नतमस्तक होते हुए शत-शत वंदन, शत-शत अभिनन्दन के साथ अपनी विनीत विनयांजलि समर्पित करती हूँ।

परम पूज्य सन्त शिरोमणि आचार्य श्री १०८ विद्यासागर जी महाराज के सन् २०२१-२२ में स्वर्णिम आचार्य पदारोहण महोत्सव के पावन अवसर की पूर्व भूमिका पर समर्पित है-अनूठा योगदान-समयसार का प्रकाशन।

आर्थिका दृढमति

सारस्वत-प्रतिमान

प्राचीनकाल से ही भारत वसुन्धरा ने अनेक महापुरुषों एवं तीर्थंकर भगवन्तों को जन्म दिया है। जैनधर्म भारत-भूमि का एक चिर प्राचीन धर्म है। इस धर्म का अनुसरण करके तीर्थंकर केवली श्रुतकेवली के साथ-साथ अनेक आचार्यों, मुनियों एवं संतों ने मानव समाज के लिए भारत के सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक एवं तीर्थोद्धार आदि क्षेत्र में अनेक कीर्तिमान स्थापित किये हैं।

इस १९-२० वीं शताब्दी के प्रथम दिगम्बर जैनाचार्य परम पूज्य चारित्र-चक्रवर्ती आचार्य श्री १०८ शान्तिसागरजी महाराज थे जिनकी परम्परा में आचार्य श्री वीरसागरजी, आचार्य श्री शिवसागरजी, आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज आदि तपस्वी आचार्य एवं साधुगण हुए तत्पश्चात् २०-२१ वीं शताब्दी में आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज के परम प्रभावक, अति निष्णात युवामनीषी, प्रखर प्रवक्ता, तीर्थोद्धारक समस्त समाज के आराध्य सुयोग्य शिष्य महान् तपस्वी आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज हुए। इनका प्रभावक व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व ख्याति प्राप्त सरस्वती पुत्र समस्त विद्वत् मण्डल के द्वारा अभिनन्दनीय है। संयम स्वर्ण महोत्सव वर्ष के शुभारम्भ में जैन श्रमण परम्परा के उदीयमान नक्षत्र स्वरूप दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का समस्त शिष्य-मण्डल वंदन-अभिनन्दन करता है। भारतीय श्रमण संस्कृति के संवर्द्धन एवं संरक्षण में आपका अमूल्य योगदान रहा है।

अमूल्य-योगदान—श्रमण-संस्कृति भारतीय संस्कृति में प्रधान एवं आदर्शमय संस्कृति रही है। भारतीय दर्शन सरणि में जैन दर्शन का विशिष्ट स्थान है। जैन दर्शन के सारस्वत, आध्यात्मिक सन्त-साधकों में जहाँ चारित्र एवं अध्यात्म साधना में सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया है, वहीं पर राष्ट्र, देश, समाज एवं साहित्य जगत् में भी अपना अमूल्य योगदान दिया है। आचार्य कुन्दकुन्द और समन्तभद्र सदृश श्रमण संस्कृति की सुरक्षा में अनुपम योगदान रहा है। अध्यात्म के गगन में प्राची दिशा से एक सहस्रकर दिनकर का उदय हुआ जिसे सारा जगत् दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के नाम से स्मरण करता है। चतुर्थकालीन मुनीशों के तुल्य चर्या होने के कारण समस्त जैन जगत् में जो चौथे काल के महाराज के विशेषण से विख्यात हैं। आचार्यवर्य ने आचार्य कुन्दकुन्द एवं आचार्य समन्तभद्र की ऊर्जा को मानो अपने जीवन में संचारित करके तथा उनके आदर्श व पवित्र मार्ग का अनुसरण करके जर्जरित अध्यात्म-मन्दिर का जीर्णोद्धार किया है।

जीवन-शैली—आचार्य श्री १०८ विद्यासागरजी महाराज की चर्या में आचार्य कुन्दकुन्ददेव का

मूलाचार प्रतिबिम्बित होता है। वाणी में आचार्य समन्तभद्र स्वामी जैसी निर्भीकता, निःशकता, निश्छलता निःशल्यता की छाया परिलक्षित होती है। विचारों में अनेकान्त दृष्टिगोचर होता है। वे श्रमण-संस्कृति के रक्षार्थ एक सजग प्रहरी हैं। परम वीतरागी एवं निर्मोही साधक होते हुए भी उनकी प्रत्येक चर्या में एवं उनकी छवि में अत्यन्त आकर्षण है। उनके दर्शन में दर्शकों को भगवान् महावीर का प्रतिबिम्ब दिखने लगता है।

प्रभावक साधक—श्रमण संस्कृति के महान् उन्नायक आचार्यश्री जी धर्म एवं श्रमण साधना के जीवन्त प्रतिरूप हैं। इनकी साधना आत्मोत्कर्ष की सीढ़ियों को पार करती हुई शाश्वत सत्य एवं लोकमंगल को साधने वाली है। स्वपर कल्याणी आचार्यश्री जी प्रायः चातुर्मास में तीर्थक्षेत्रों पर ही साधनारत रहते हैं। आपने अपनी चारित्र-साधना से अपने आचार्यत्व की उत्कृष्ट सिद्धि को सिद्ध किया है। आपकी तप, साधना, ज्ञान-साधना, दर्शन-आराधना, ध्यान-साधना आदि सभी प्रकार की साधनायें साध्य को साधती हैं। आपकी साधना का अनुपम प्रसाद प्राप्त करने के इच्छुक श्रमण-श्रमणियों को भी साधना पथ पर अग्रसर करने में प्रेरणाप्रद होती है। आप निर्दोष साधना करने वाले आदर्श आचार्य हैं। आपकी एवं आपके समस्त शिष्य-शिष्याओं की बाल-ब्रह्मचर्य साधना अत्यधिक विख्यात है एवं अत्यन्त प्रभावक है।

तीर्थोद्धारक आचार्य—आत्म साधना के साथ-साथ आपके आशीष से प्राचीन स्थापत्य सुरक्षित एवं संवर्धित हुआ है। प्राचीन तीर्थक्षेत्रों के जीर्णोद्धार के साथ-साथ नवीन तीर्थक्षेत्रों का निर्माण हुआ है। जिनमें सर्वोदय तीर्थक्षेत्र (अमरकण्टक), सिद्धोदय सिद्धक्षेत्र (नेमावर), ज्ञानोदय तीर्थ (नारेली, राज०) पुण्योदय (हाँसी/हरियाणा), कुण्डलपुर सिद्धक्षेत्र (मध्यप्रदेश), अति सुन्दर नन्दीश्वर द्वीप की संरचना मढ़ियाजी (जबलपुर), चन्द्रगिरि (छत्तीसगढ़) इत्यादि प्रसिद्ध हैं।

परमदयालु आचार्य—करुणाकर परमदयालु आचार्यवर्य श्री विद्यासागरजी महाराज के आशीष से पशुओं की करुण पुकार को सुनकर मांस निर्यात निषेध का अभियान चला जिसके प्रभाव से शताधिक गोशालाओं की दयोदय संस्था के रूप में स्थापना हुई। बीना बारहा अतिशय क्षेत्र में शान्तिधारा दुग्ध योजना का प्रारम्भीकरण करके अनेक गरीब किसानों को एवं गौवंश को नया जीवन-दान दिया।

समाजोद्धारक एवं प्रभावक आचार्य—आचार्यत्व की ख्याति विश्वविख्यात है। आचार्य-पद से विभूषित होने पर आपने गुरु आशीष से चतुर्विध संघ का निर्माण किया। संघ को गुरुकुल रूप प्रदान करके गुरु आशीष को फलित किया। सन् १९७८ में ब्राह्मी विद्या आश्रम का शुभारंभ किया। पश्चात् वही आश्रम सागर एवं जबलपुर मढ़ियाजी में दो शाखाओं में परिणत हुआ। आश्रम से शिक्षित बहिनों को आर्थिका दीक्षा देकर आर्थिका संघ विकसित किया। मानव सेवा हेतु चिकित्सा के उद्देश्य

से भाग्योदय तीर्थ निर्मित हुआ (सागर) वर्तमान में वहाँ अनेक प्रकार की स्वास्थ्य सेवायें उपलब्ध हैं। शिक्षाक्षेत्र में प्रतिभास्थली ज्ञानोदय विद्यापीठ संस्थापित हुआ। इस विद्यालय में प्रतिभामण्डल की शताधिक बाल ब्रह्मचारिणी प्रशिक्षित व्रती बहिनें शिक्षा के साथ-साथ छात्राओं को सुसंस्कारित भी करती हैं। मढ़ियाजी अतिशय क्षेत्र में ब्रह्मचारी वर्ग के लिए गुरुकुल का पुनर्गठन हुआ। वहीं पर प्रशासनिक संस्थान लोक सेवा हेतु स्थापित हुआ। शताधिक ब्रह्मचारी भाई एवं ब्रह्मचारिणी बहिनें गृह में साधनारत हैं। विशाल मुनिसंघ आर्यिका संघ आत्म-साधना तथा धर्म प्रभावना में संलग्न है। इस प्रकार आपने गुरु के शुभाशीष को साकार रूप प्रदान किया एवं छात्रावास प्रतिभा प्रतीक्षा, पूरी मैत्री, हथकरघा आदि समाज सुधार के साधनों को आशीष प्रदान किया।

अनोखी गुरु-सेवा—आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज ने अपना आचार्य पद आपको देकर आपके ही निर्देशन में लगभग १८० दिन की यम सल्लेखना धारण की थी। ६ माह तक अन्न का त्याग रहा। आचार्य गुरु ज्ञानसागरजी अत्यन्त सजग थे। अबाधरूप से सल्लेखना श्रेष्ठ परिचर्या के साथ चल रही थी। ज्येष्ठ कृष्णा अमावस्या १ जून, १९७३ वि. सं. २०३० को नसीराबाद (राज.) में गुरु की समाधि-साधना पूर्ण हुई। जीवन भर आत्मस्थ रहने वाले पूज्य ज्ञानसागरजी महाराज समाधिस्थ हो गए। उन दिनों आपने अपने गुरु की जो सेवा अत्यन्त निष्ठा और लगन के साथ की उसे देखकर एवं सुनकर विद्वानों ने कहा कि अपने पिता से करोड़ों-अरबों की सम्पत्ति पाने वाला बेटा भी अपने पिता की इतनी सेवा नहीं कर सकता। यह आपके समाधि-साधना को श्रेष्ठ निर्यापकत्व का परिणाम था। आपको हृदय-पटल पर गुरु महाराज का यह बोध-वाक्य हमेशा अंकित रहता है कि—“अप्रभावना से बचते रहना ही सच्ची प्रभावना है।”

“सिस्साणुगहकुसले धम्मायरिये सदा वंदे”

दीक्षित समुदाय/जीवन्त-कृतियाँ—मुनि १३०, आर्यिकाएँ १७२, ऐलक ५७, क्षुल्लक ६४, क्षुल्लिका ३ कुल ४२६ दीक्षाएँ दी हैं। उक्त संख्या नवम्बर २०१८ तक के दीक्षित शिष्य समुदाय की है, ये सभी आचार्यश्री जी की जीवन्त चेतन कृतियाँ हैं, जो श्रमण-संस्कृति की सुरक्षा एवं संवर्धन में तत्पर हैं।

कुशल संघ संचालक—स्वयं पञ्चाचार का पालन करने और संघस्थ समस्त साधुओं से रत्नत्रय एवं पञ्चाचार का पालन करवाने में कुशल आचार्यश्री जी अत्यधिक अनुशासनप्रिय हैं। वे अनुशासित जीवन शैली को स्वयं अपनाते हैं एवं समस्त शिष्य-गण से अनुशासन पालन की अपेक्षा रखते हैं। समय-समय पर अनुशासन की शिक्षा एवं प्रेरणा देते रहते हैं। वे मिलिट्री-अनुशासन की ओर इंगित करके समस्त शिष्य एवं शिष्याओं का ध्यान उस ओर आकर्षित करते हैं। इसी अनुशासन के बल पर विशाल संघ का कुशल संचालन करते हैं। समय-समय पर शिष्यगण एवं शिष्याओं को

संकेत-आज्ञा, निर्देश आदेश देकर सभी को मुक्तिपथ पर अग्रेसित करते हैं। शिष्यों के अनुग्रह में कुशल धर्माचार्य को सदा वन्दना।

बहुभाषाविद् आचार्य—महान् पुरुषों की शिक्षा, प्रतिभा स्कूली शिक्षा तक सीमित नहीं रहती बल्कि उनकी शिक्षा का क्षेत्र तो समस्त संसार होता है। वे पूरे संसार में यथार्थ का अनुसन्धान करने वाली अनुभव की पाठशाला में वास्तविक शिक्षा प्राप्त करते हैं। मातृभाषा कन्नड़ एवं शिक्षा भाषा मराठी होने पर भी आपको हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, बंगला आदि अनेक भाषाओं पर पूर्ण अधिकार प्राप्त है। इसी कारण आपके शब्द नाना अर्थ के रहे हैं। काव्यगत शब्दों के अर्थ तत्त्व को नवीन प्रतिमान प्रदान करते हैं। शब्दों को व्युत्पत्ति बल से नवीन अर्थ प्रदान करना आपके साहित्य सृजन की विशेषता है। आपका साहित्य अनुप्रास एवं श्लेष मिश्रित अर्थों की विशेषताओं को लिए हुए रहता है। शब्दों के अक्षरों की विलोम प्रक्रिया से एवं शब्द-विच्छेद-विधि से अर्थगत आन्दोलन कर तथा जनमानस का अभिनन्दन स्वीकार कर लोकप्रिय मोक्षमार्गी नेता के रूप में जग विख्यात हैं।

लोकप्रिय विश्वविख्यात आचार्य—विशिष्ट जीवन सर्जक, आचारनिष्ठ साधक, जिनागम के शाश्वत दार्शनिक, आध्यात्मिक, सैद्धान्तिक मानदण्डों के ज्ञाता, श्रमण-संस्कृति के उन्नायक-तीर्थोद्धारक, सम्यग्ज्ञान रश्मियों के उद्योतक, तपोनिष्ठ आदर्श-साधक, मानवीय मूल्यों को उद्घाटक, वीतराग पथ को पथिक, परिष्कृत चिन्तक, प्रयोगधर्मी बहुआयामी साधक, सर्जना को नित नये नूतन बिम्ब, उदात्त चिन्तक, श्रुत-आराधक, रत्नत्रय को उत्कर्षक, मुक्ति-साधक, भारत की गरिमामयी ऋषि परम्परा को धर्मप्राण, प्रशस्त विचारक, परम पूज्य श्री १०८ आचार्य विद्यासागरजी महाराज के श्री चरणों में शाब्दिक उपमायें भी सीमित हैं। फिर भी परम पूज्य आचार्यश्री के संयम स्वर्ण महोत्सव वर्ष के शुभारम्भ की पवित्र स्वर्णिम बेला में अनुपम उपमाओं का उपहार समर्पित है। 'अनन्त उपकारों का पुण्यहार अर्पित है।'

गुरु चरणों में अनन्तशः नमन-नमन-नमन...

प्रस्तुति
आर्यिका दृढमति

आचार्य कुन्दकुन्द और उनका साहित्य

श्रुतधर आचार्यों की परम्परा में कुन्दकुन्दाचार्य का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इनकी गणना ऐसे युगसंस्थापक आचार्य के रूप में की गयी है, जिनके नाम से उत्तरवर्ती परम्परा कुन्दकुन्द-आम्नाय के नाम से प्रसिद्ध हुई है। किसी भी कार्य के प्रारम्भ में मंगलरूप में इनका स्तवन किया जाता है।

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलं॥

जिस प्रकार भगवान् महावीर, गौतम गणधर और जैनधर्म मंगलरूप हैं, उसी प्रकार कुन्दकुन्द आचार्य भी। इन जैसा प्रतिभाशाली अध्यात्म और द्रव्यानुयोग के क्षेत्र में प्रायः दूसरे आचार्य दिखलाई नहीं पड़ते।

इनकी रचनाओं से इनके जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में कुछ भी निश्चित जानकारी प्राप्त नहीं होती। इन्होंने 'वारसअणुवेक्खा' ग्रन्थ में अपने नाम का निर्देश किया है। लिखा है—

इदि णिच्छय-ववहारं जं भणियं कुंदकुंदमुणिणाहे।
जो भावइ सुद्धमणो सो पावइ परमणिव्वाणं॥

इस प्रकार कुन्दकुन्द मुनिराज ने निश्चय और व्यवहार का अवलम्बन लेकर जो कथन किया है, उसकी शुद्ध हृदय से जो भावना करता है, वह परम निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।

स्पष्ट है कि 'वारसअणुवेक्खा' में कुन्दकुन्द के नाम का उल्लेख मिलता है। कुन्दकुन्द के टीकाकार जयसेन और श्रुतसागरसूरि ने भी कुन्दकुन्द की रचनाएँ बतलायी हैं। बोधपाहुड में कुन्दकुन्द ने अपने गुरु का नाम भद्रबाहु बतलाया है। गाथाएँ निम्न प्रकार हैं—

सद्धवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्धबाहुस्स॥
वारसअंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं।
सुयणाणिभद्धबाहू गमयगुरू भयवओ जयओ॥

अर्थात् कुन्दकुन्द ने अपने को श्रुतकेवली भद्रबाहु का शिष्य कहा है। इन्द्रनन्दि ने अपने श्रुतावतार में 'कसायपाहुड' और 'षट्खण्डागम' नामक सिद्धान्त ग्रन्थों की रचना का इतिवृत्त अंकित करने के पश्चात् लिखा है कि ये दोनों सिद्धान्त ग्रन्थ कौण्डकुन्दपुर में पद्मनन्दि मुनि को प्राप्त हुए और उन्होंने षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर साठ हजार श्लोक प्रमाण 'परिकर्म' नामक ग्रन्थ की रचना की। दर्शनसार में देवसेन ने भी आचार्य पद्मनन्दि की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

जड़ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण ।
ण विबोहइ तो समणा कहं सुमगं पयाणंत्ति॥

अर्थात् पद्मनन्दिस्वामी ने सीमन्धरस्वामी से दिव्यज्ञान प्राप्त कर अन्य मुनियों को प्रबोधित किया । यदि वे इस प्रबोधन कार्य को न करते तो श्रमण किस प्रकार सुमार्ग को प्राप्त करते ?

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के दो आचार्य टीकाकार हैं—अमृतचन्द्र और जयसेन । अमृतचन्द्र ने अपने मूलग्रन्थकर्ता के सम्बन्ध में कुछ भी निर्देश नहीं किया है; पर जयसेन ने लिखा है—“पद्मनन्दि जयवन्त हों, जिन्होंने महातत्त्वों का कथन करने वाले समयप्राभृतरूपी पर्वत को बुद्धि...उद्धार करके भव्यजीवों को अर्पित किया ।”

पञ्चास्तिकाय की टीका प्रारम्भ करते हुए भी जयसेन ने कुन्दकुन्द का अपरनाम पद्मनन्दि बताया है । इनके उल्लेखानुसार कुन्दकुन्द कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव के शिष्य थे ।

जयसेन ने टीका के प्रारम्भ में कुन्दकुन्द के पूर्व विदेह में जाने की कथा की ओर भी संकेत करते हुए लिखा है कि इन्होंने पूर्वविदेह में वीतराग सर्वज्ञ सीमन्धर स्वामी के दर्शन किये थे और उनके मुखकमल से निस्सृत दिव्यवाणी को सुनकर अध्यात्मतत्त्व का सार ग्रहण कर वे वापस लौट आये थे । उन्होंने अन्तस्तत्त्व और बाह्यतत्त्व की मुख्यता एवं गौणता का ज्ञान कराने के लिये शिवकुमार महाराज आदि संक्षेप रुचि वाले शिष्यों के प्रतिबोधनार्थ पञ्चास्तिकायप्राभृत शास्त्र की रचना की ।

कुन्दकुन्द के जीवनवृत्त एवं व्यक्तित्व के सम्बन्ध में अब तक प्राप्त सूचनाओं में ऐसी दो कथाएँ प्राप्त हैं, जिनसे उनके जीवन पर प्रकाश पड़ता है । कथाओं में कितना अंश सत्य और तथ्य है, यह तो नहीं कहा जा सकता है, पर इतना स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द अध्यात्मशास्त्र के महान् प्रणेता एवं युगसंस्थापक आचार्य थे ।

प्रथम कथा ब्रह्मनेमिदत्त विरचित आराधनाकथाकोष में शास्त्रदान के फलस्वरूप आई है ।

दूसरी कथा ‘ज्ञानप्रबोध’ नामक ग्रन्थ में आई है, जिसका प्रकाशन पं० नाथूराम जी प्रेमी ने जैन हितैषी में किया था । कथा में बताया है कि मालव देश के बारांपुर नगर में कुमुदचन्द्र नाम का राजा राज्य करते थे । उसकी रानी का नाम कुमुदचन्द्रिका था । इस राजा के राज्य में कुन्दश्रेष्ठी अपनी पत्नी कुन्दलता के साथ निवास करते थे । इनके कुन्दकुन्द नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ । वे शिशु शैशव से ही गंभीर, चिन्तनशील और प्रतिभाशाली थे । जब वह ग्यारह वर्ष के थे, उस समय नगर के उद्यान में एक मुनिराज आये । उनका उपदेश सुनने के लिए नगर के नरनारी एकत्र हुए । कुन्दकुन्द भी उसमें सम्मिलित हुए थे । मुनिराज का उपदेश सुनकर विरक्त हो गया और दिगम्बर दीक्षा ग्रहण कर मुनि बन गये । ३३ वर्ष की अवस्था में इन्हें आचार्य-पद मिला । इनके गुरु का नाम जिनचन्द्र बताया गया है ।

एक दिन आचार्य कुन्दकुन्द आगमग्रन्थों का स्वाध्याय कर रहे थे कि उनके मन में एक शंका उत्पन्न

हुई। वे ध्यानमग्न हो गये और विदेहक्षेत्र में स्थित सीमन्धरस्वामी के प्रति एकाग्र हुए। सीमन्धरस्वामी ने 'सद्धर्मवृद्धिरस्तु' कहकर आशीर्वाद दिया। समवसरण में स्थित व्यक्तियों को इस आशीर्वाद को सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने जिज्ञासा प्रकट की कि आपने किसको आशीर्वाद दिया है? उत्तर में बताया गया कि भरतक्षेत्र में स्थित कुन्दकुन्द मुनि को आशीर्वाद दिया है। वहाँ पर कुन्दकुन्द के पूर्वजन्म के चारण ऋद्धिधारी दो मित्र मुनि उपस्थित थे। वे बारांपुर गये और वहाँ से आकाशमार्ग द्वारा कुन्दकुन्द को ले आये। आकाशमार्ग में जाते समय उनकी मयूरपिच्छिका गिर गई और उन्होंने गृद्धपिच्छी से अपना काम चलाया। आचार्य कुन्दकुन्द वहाँ एक सप्ताह तक रहे और अपनी शंका का समाधान किया। लौटते समय वे अपने साथ एक तन्त्र-मन्त्र का ग्रन्थ भी लाये थे, किन्तु वह मार्ग में लवणसमुद्र में गिर गया। आचार्य कुन्दकुन्द ने भरतक्षेत्र में अपना धार्मिक उपदेश प्रारम्भ किया और इनके सहस्रों अनुयायी हो गये। तत्पश्चात् गिरिनार पर्वत पर श्वेताम्बरों के साथ उनका विवाद हो गया और वहाँ की ब्राह्मीदेवी के मुख से यह कहलवाया गया कि दिगम्बर निर्ग्रन्थ मार्ग ही सच्चा है। उन्होंने अपना आचार्यपद अपने शिष्य उमास्वामी को प्रदान किया और सल्लेखनापूर्वक शरीर त्याग किया।

'ज्ञानप्रबोध' की इस कथा का परीक्षण करने पर अवगत होता है कि 'जम्बूदीवपण्णती' के कर्ता पद्मनन्दि को कुन्दकुन्द से अभिन्न समझकर उनका स्थान बारांपुर नगर बताया है। माता-पिता के नाम कुन्दलता और कुन्दश्रेष्ठि भी कल्पित प्रतीत होते हैं। विदेहगमन की कथा जो पहले से प्रचलित थी उसे भी जोड़कर प्रामाणिकता लाने का प्रयास किया गया है।

कुन्दकुन्द के जीवन-परिचय के सम्बन्ध में विद्वानों ने सर्वसम्मति से जो स्वीकार किया है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये दक्षिण भारत के निवासी थे। इनके पिता का नाम करमण्डु और माता का नाम श्रीमती था। इनका जन्म 'कौण्डकुन्दपुर' नामक स्थान में हुआ था। इस गाँव का दूसरा नाम 'कुरूमरई' भी कहा गया है। यह स्थान पेदथनाडु नामक जिले में है। कहा जाता है कि करमण्डु दम्पति को बहुत दिनों तक कोई सन्तान नहीं हुई। अनन्तर एक तपस्वी ऋषि को दान देने के प्रभाव से पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई, जिसका नाम आगे चलकर ग्राम के नाम पर कुन्दकुन्द प्रसिद्ध हुआ। बाल्यावस्था से ही कुन्दकुन्द प्रतिभाशाली थे। इनकी विलक्षण स्मरणशक्ति और कुशाग्र बुद्धि के कारण ग्रन्थाध्ययन में इनका अधिक समय व्यतीत नहीं हुआ। युवावस्था में इन्होंने दीक्षा ग्रहण कर आचार्य-पद प्राप्त किया।

कुन्दकुन्द का वास्तविक नाम क्या था, यह अभी तक विवादग्रस्त है। द्वादशअनुप्रेक्षा की अन्तिम गाथा में उसके रचयिता का नाम कुन्दकुन्द दिया हुआ है। जयसेनाचार्य ने समयसार की टीका में पद्मनन्दि का जयकार किया है। इन्द्रनन्दि ने भी अपने श्रुतावतार में कौण्डकुन्दपुर के पद्मनन्दि का निर्देश किया है? श्रवणबेलगोल के शिलालेख नं० ४० में तथा ४२, ४३, ४७ और ५० वे अभिलेख में भी उक्त कथन पुनरावृत्त हुआ है। लिखा है—

तस्यान्वये भू-विदिते बभूव यः पद्मनन्दिप्रथमाभिधानः ।
श्रीकोण्डकुन्दादि-मुनीश्वराख्यस्सत्संयमादुद्गत-चारणद्धिः ॥

स्पष्ट है कि इनका पद्मनन्दि नाम था। पर वे जन्मस्थान के नाम पर कुन्दकुन्द नाम से अधिक प्रसिद्ध हुए।

कुन्दकुन्द के षट्प्राभृतों के टीकाकार श्रुतसागर ने प्रत्येक प्राभृत के अन्त में जो पुष्पिका अंकित की है, उसमें इनके पद्मनन्दि, कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य और गृद्धपिच्छ ये नाम दिये हैं। जैन सिद्धान्त भास्कर भाग १, किरण ४ में शक सं० १३०७ का विजयनगर का एक अभिलेखांश प्रकाशित है, जिसमें लिखा है—

“आचार्यः कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामुनिः ।
एलाचार्यो गृद्धपिच्छ इति तन्नाम पंचधा ॥”

पद्मनन्दि, कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य और गृद्धपिच्छ ये पाँच नाम कुन्दकुन्द के बताये हैं। डॉ० हार्नले ने दिगम्बर पट्टावलियों के सम्बन्ध में एक निबन्ध लिखा था, जिसमें उन्होंने कुन्दकुन्द के पाँच नाम बताये थे। अतः इतना स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द के दो नामों की प्रवृत्ति तो निस्संदेह रही है; पर शेष तीन नामों के सम्बन्ध में विवाद है। शिलालेखों से तथा अन्य प्रमाणों से न तो वक्रग्रीव और न एलाचार्य या गृद्धपिच्छ नाम की ही सिद्धि होती है। वक्रग्रीव का उल्लेख ई० सन् ११२५ के ४९.३ संख्यक अभिलेख में द्रविड़ संघ और अरुंगलान्वय के आचार्यों की नामावली में आता है; किन्तु उसमें उनके सम्बन्ध में कोई विवरण प्राप्त नहीं होता। ११२९ ई० के श्रवणबेलगोलाभिलेख नं० ५४ में वक्रग्रीव नाम आया है; पर इस अभिलेख से यह कुन्दकुन्द का नामान्तर है, ऐसा सिद्ध नहीं होता।

श्रवणबेलगोल के अभिलेख नं० ३०५ में समन्तभद्र और पात्रकेसरी के पश्चात् वक्रग्रीव का नाम आया है और इन्हें द्रमिल संघ का अग्रेसर कहा है। इसी प्रकार अभिलेख नं० ३४७ और ३१९ में भी वक्रग्रीव का नाम अंकित है; पर इन सभी अभिलेखों से कुन्दकुन्द के साथ वक्रग्रीव का सम्बन्ध नहीं सिद्ध होता।

श्रवणबेलगोल के शिलालेखों से एलाचार्य के सम्बन्ध में भी कतिपय तथ्य प्राप्त होते हैं; पर यह कुन्दकुन्द का नामान्तर सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार गृद्धपिच्छ भी। कुन्दकुन्द का नामान्तर घटित नहीं होता है। संभवतः यह नाम उमास्वामी का रहा है। संक्षेप में कुन्दकुन्द का अपर नाम पद्मनन्दि अवश्य प्रमाणित होता है।

गुरु-परम्परा

आचार्य कुन्दकुन्द के गुरु का क्या नाम था और उन्होंने किस गुरु-परम्परा को सुशोभित किया, इसके सम्बन्ध में संक्षेप में विचार करना आवश्यक है।

कुन्दकुन्द-ग्रन्थों के टीकाकार जयसेनाचार्य के मतानुसार ये कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव के शिष्य थे। नन्दिसंघ की पट्टावली के अनुसार कुन्दकुन्द के गुरु जिनचन्द्र थे। कुन्दकुन्द ने स्वयं अपने गुरु का नाम भद्रबाहु माना है।

मथुरा से प्राप्त एक अभिलेख में उच्चनागर शाखा के एक कुमारनन्दि का निर्देश प्राप्त होता है। यह अभिलेख हुविष्क वर्ष सतासी का है। इस आधार पर भी कुमारनन्दि का गुरु-शिष्यत्व कुन्दकुन्द के साथ घटित नहीं होता। यतः उच्चनागर शाखा के साथ कुन्दकुन्द का सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार नन्दिसंघ की पट्टावली में माघनन्दि, जिनचन्द्र और कुन्दकुन्द का क्रमशः उल्लेख आता है। इससे यह फलित होता है कि माघनन्दि के पश्चात् जिनचन्द्र और जिनचन्द्र के पश्चात् कुन्दकुन्द को उत्तराधिकार प्राप्त हुआ होगा। अतः हमारा अनुमान है कि कुन्दकुन्द के गुरु का नाम जिनचन्द्र होना चाहिए।

कुन्दकुन्द ने अपने बोधपाहुड में अपने को भद्रबाहु का शिष्य कहा है। पर इस सन्दर्भ में यह विचारणीय है कि कुन्दकुन्द श्रुतकेवली भद्रबाहु के साक्षात् शिष्य थे या परम्परा से ? कुन्दकुन्द ने लिखा है—

सद्भवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स॥६१॥
बारसअंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं।
सुयणाणिभद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयऊ ॥६२॥

तीर्थंकर महावीर ने अर्थरूप से जो कथन किया है वह भाषासूत्रों में शब्दविकार को प्राप्त हुआ है—अनेक प्रकार के शब्दों में ग्रथित हुआ है। भद्रबाहु के मुझ शिष्य ने उन भाषासूत्रों पर से उसको उसी रूप में जाना है और बारह अंगों एवं चौदह पूर्वों के विपुल विस्तार के ज्ञाता श्रुतकेवली भद्रबाहु को ‘गमकगुरु’ कहकर उनका कुन्दकुन्द ने जयघोष किया है।

द्वितीय गाथा के आलोक में प्रथम गाथा का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु कुन्दकुन्द के साक्षात् गुरु नहीं थे, ‘गमक गुरु’ थे। श्रीजुगलकिशोर मुख्तार ने उक्त दोनों गाथाओं में प्रथम गाथा का सम्बन्ध द्वितीय भद्रबाहु के साथ और द्वितीय गाथा का सम्बन्ध श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ बतलाया है। उन्होंने लिखा है—“इकसठवीं गाथा में कुन्दकुन्द ने अपने को भद्रबाहु का शिष्य प्रकट किया है। जो संभवतः भद्रबाहु द्वितीय जान पड़ते हैं। क्योंकि भद्रबाहु श्रुतकेवली के समय में जिनकथित श्रुत में ऐसा विकार उपस्थित नहीं हुआ था, जिसे उक्त गाथा में “सद्भवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं” इन शब्दों द्वारा सूचित किया गया है—वह अविच्छिन्न चला आया था। परन्तु दूसरे भद्रबाहु के समय में ऐसी स्थिति नहीं थी—कितना ही श्रुतज्ञान लुप्त हो चुका था और जो अवशिष्ट था, वह अनेक भाषासूत्रों में परिवर्तित हो गया था। इससे इकसठवीं गाथा के भद्रबाहु द्वितीय

ही जान पड़ते हैं। बासठवीं गाथा में उसी नाम से प्रसिद्ध होने वाले प्रथम भद्रबाहु का, जो कि बारह अंगों और चौदह पूर्वों के ज्ञाता श्रुतकेवली थे, अन्त्य मंगल के रूप में जयघोष किया गया और उन्हें साफ तौर पर गमकगुरु लिखा है। इस तरह अन्त की दोनों गाथाओं में दो अलग-अलग भद्रबाहुओं का उल्लेख होना अधिक युक्तियुक्त और बुद्धिगम्य जान पड़ता है। मुख्तार साहब का उक्त कथन विचारणीय है। यहाँ दो भद्रबाहुओं का कथन न कर कुन्दकुन्द ने पूर्व गाथा में प्रतिपादित भद्रबाहु के कथित गुरुत्व का गमक गुरु के रूप में उल्लेख आया है। 'गमक' शब्द का अर्थ शब्दकल्पद्रुम में 'गमयति, प्रापयति, बोधयति वा गमक', गम् + णिच् + ण्वल् बोधक मात्र या सुझाव देने वाला अथवा तत्त्व प्राप्ति के लिए प्रेरणा करने वाला बतलाया है। मातंगलीला में 'गमक-पाण्डित्यवैदग्ध्ययोः', अर्थात् पाण्डित्य या वैदग्ध्य प्राप्ति को गमक कहते हैं। यहाँ पर 'गमक' शब्द 'परम्परया' या 'प्रेरणया' के रूप में प्रयुक्त है। अतएव 'गमक' शब्द परम्परा प्राप्त श्रुतकेवली के लिए ही व्यवहृत हुआ है। दो भद्रबाहुओं की कल्पना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। भद्रबाहु श्रुतकेवली कुन्दकुन्द के साक्षात् गुरु न होकर 'गमक गुरु' या प्रेरक गुरु थे। श्री पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने भी इसी तथ्य की पुष्टि की है।

श्रवणबेलगोला के अभिलेखों से भी इस तथ्य को पुष्ट किया जा सकता है। यतः श्रुतकेवली भद्रबाहु अपने शिष्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के साथ दक्षिण भारत गये थे और वहाँ श्रवणबेलगोला स्थान में समाधिमरण प्राप्त किया था। अतः दक्षिण में श्रुतकेवली भद्रबाहु की परम्परा का अस्तित्व सिद्ध होता है। कुन्दकुन्द मूलसंघ के आचार्य थे और दक्षिण भारत के निवासी। अतः इन्हें श्रुतकेवली भद्रबाहु की परम्परा प्राप्त हुई थी। इसी कारण कुन्दकुन्द ने उन्हें 'गमकगुरु' कहा है। पट्टावली के अनुसार इनके गुरु का नाम जिनचन्द्र और दादा गुरु का नाम माघनन्दि है।

कुन्दकुन्द के जीवन में घटित घटनाएँ—

आचार्य कुन्दकुन्द के जीवन में प्रमुख दो घटनाओं के घटित होने की कथा प्रसिद्ध है। एक है विदेह यात्रा और दूसरी है गिरनार पर्वत पर हुए दिगम्बर-श्वेताम्बर वाद-विवाद में उनकी विजय।

जहाँ तक विदेहयात्रा की बात है, उसके साधक यद्यपि अभिलेखीय या अन्य ऐतिहासिक प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं हुए, किन्तु आचार्य देवसेन, आचार्य जयसेन और श्रुतसागरसूरि के उल्लेख बतलाते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द विदेह गये थे और वहाँ से भगवान् सीमन्धरस्वामी का उपदेश ग्रहण कर लौटे थे तथा सीमन्धरस्वामी से प्राप्त दिव्यज्ञान का श्रमणों को उपदेश दिया था। देवसेन (ई० सन् ९ वीं शती) ने दर्शनसार में लिखा है—

जइ पउमणादिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।

ण विबोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणति॥४३॥

इसमें कहा गया है कि यदि पद्मनन्दिनाथ सीमन्धरस्वामी द्वारा प्राप्त दिव्य-ज्ञान से बोध न देते,

तो श्रमण-मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते ?

देवसेन का यह उल्लेख काफी प्राचीन है और उस पर सहसा अविश्वास नहीं किया जा सकता।

इसी तरह आचार्य जयसेन (ई० सन् १२ वीं शती) ने भी पञ्चास्तिकाय को टीका के आरम्भ में आचार्य कुन्दकुन्द के विदेहगमन को 'प्रसिद्धकथान्याय' बतलाते हुए उसकी स्पष्ट चर्चा की है।

षट्प्राभृत के संस्कृत-टीकाकार श्रुतसागरसूरि ने भी टीका के अन्त में कुन्दकुन्दस्वामी के विदेहगमन का उल्लेख किया है।

ये उल्लेख अकारण नहीं हो सकते। वे अवश्य विचारणीय हैं। दिगम्बर-श्वेताम्बर वाद-विवाद में विजयप्राप्ति के भी उल्लेख मिलते हैं। शुभचन्द्राचार्य ने पाण्डवपुराण में लिखा है कि कुन्दकुन्दगणी ने ऊर्जयन्तगिरि पर अपने प्रभाव से पाषाण-निर्मित सरस्वती को वादिता-शास्त्रार्थकर्त्री बना दिया था। यथा-

कुन्दकुन्दगणी येनोर्जयन्तगिरिमस्तके ।
सोऽवताद् वादिता ब्राह्मी पाषाणघटिता कलौ॥

जिन्होंने कलिकाल में ऊर्जयन्त गिरि के मस्तक पर-गिरनार पर्वत के ऊपर पाषाणनिर्मित ब्राह्मी की मूर्ति को बुलवा दिया।

इसी तरह का उल्लेख शुभचन्द्र की गुर्वावलि के अन्त में निबद्ध उन दो पद्यों में भी है, जो निम्न प्रकार हैं-

पद्मनन्दी गुरुजातो बलात्कारगणाग्रणी ।
पाषाणघटिता येन वादिता श्रीसरस्वती॥
उर्जयन्तगिरौ तेन गच्छः सारस्वतोऽभवत् ।
अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नमः श्रीपद्मनन्दिने॥

बलात्कारगणाग्रणी पद्मनन्दी गुरु हुए। जिन्होंने ऊर्जयन्तगिरि पर पाषाणनिर्मित सरस्वती की मूर्ति को वाचाल कर दिया था। उससे सारस्वत गच्छ हुआ। अतः उन पद्मनन्दी मुनीन्द्र को नमस्कार हो।

कवि वृन्दावन के एक उल्लेख से भी ज्ञात होता है कि कुन्दकुन्दस्वामी संघ सहित गिरनार की यात्रा के लिए गये। वहाँ पर उन दिनों दिगम्बरों-श्वेताम्बरों का भी संघ ठहरा हुआ था। दोनों संघों में वाद-विवाद हुआ और इसकी मध्यस्थता अम्बिका देवी ने की। उसने प्रकट होकर कहा कि दिगम्बर निर्ग्रथ पन्थ ही सच्चा है।

श्री नाथूरामजी प्रेमी ने "तीर्थों के झगड़ों पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार" शीर्षक निबन्ध में बताया है-"जान पड़ता है, गिरनार पर्वत पर दिगम्बरों और श्वेताम्बरों के बीच वह विवाद कभी न कभी अवश्य हुआ, जिसका उल्लेख धर्मसागर उपाध्याय ने किया है। यह कोई ऐतिहासिक घटना अवश्य है,

क्योंकि इसका उल्लेख दिगम्बर साहित्य में भी एक-दूसरे रूप में मिलता है।”

इस सब पर विचार करने से प्रतीत होता है कि श्वेताम्बर और दिगम्बरों का शास्त्रार्थ तो अवश्य हुआ है, पर यह शास्त्रार्थ नन्दिसंघ के आचार्य पद्मनन्दि, जिनका अपर नाम कुन्दकुन्द था, के साथ नहीं हुआ है। यह अन्य पद्मनन्दि के साथ हुआ होगा, जिनका समय विक्रम की १२वीं शताब्दी है।

समय-निर्धारण

आचार्य कुन्दकुन्द के समय पर विचार करने वालों में श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी; श्री पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार; डॉ० के० बी० पाठक, प्रो० ए० चक्रवर्ती और डॉ० ए० एन० उपाध्ये के नाम उल्लेखनीय हैं। डॉ० उपाध्ये ने सभी मतों की समीक्षा कर अपने मत की संस्थापना की है। हम यहाँ संक्षेप में उक्त विद्वानों के मतों की विवेचना करेंगे।

प्रेमीजी ने इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार के आधार पर बताया है कि गुणधर, यतिवृषभ और उच्चारणाचार्य द्वारा रचित गाथासूत्र, चूर्णिसूत्र और उच्चारणसूत्रों के रूप में ‘कसायपाहुड’ निबद्ध हुआ। धरसेन की परम्परा में पुष्पदन्त और भूतबलि ने षट्खण्डागम की रचना की। इन दोनों ग्रन्थों को कुन्दकुन्दपुर में पद्मनन्दि मुनि ने गुरु परम्परा से प्राप्त किया और षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर १२००० श्लोक प्रमाण परिकर्म नामक ग्रन्थ की रचना की। प्रेमीजी ने इस आधार पर निष्कर्ष निकाला है कि वीर निर्वाण संवत् ६८३ के पश्चात् कुन्दकुन्द हुए हैं। धरसेन, उच्चारणाचार्य आदि के समय को पचास-पचास वर्ष मान लेने पर कुन्दकुन्द का समय विक्रम की तीसरी शताब्दी का अन्तिम चरण सिद्ध होता है।

प्रेमीजी ने एक अन्य प्रमाण यह भी दिया है कि ऊर्जयन्तगिरि पर श्वेताम्बरों के साथ कुन्दकुन्द का ही शास्त्रार्थ हुआ था। उनके सुत्तपाहुड से भी यह प्रकट है। देवसेन के दर्शनसार के अनुसार विक्रम की मृत्यु के १३६ वर्ष बीतने पर यह संघभेद हुआ। प्रेमीजी ने इसे शालिवाहन शकाब्द मानकर १३६+१३५=२७१ विक्रम सं० में संघभेद माना है। इसकाल का श्रुतावतार में उल्लिखित समय के साथ समन्वय हो जाता है। अतएव प्रेमीजी के मतानुसार कुन्दकुन्द का समय विक्रम की तृतीय शताब्दी का अन्तिम चरण है।

डॉ० पाठक को राष्ट्रकूट नरेश गोविन्दराज तृतीय के दो ताम्रपत्र प्राप्त हुए हैं। उनमें से एक शक सं० ७१९ का है और दूसरा शक सं० ७२४ का है। इनमें कोण्डकोन्दान्वय के तोरणाचार्य के शिष्य पुष्पनन्दि का तथा उनके शिष्य का निर्देश किया है। डॉ० पाठक का अभिमत है कि प्रभाचन्द्र शक सं० ७१९ में और उनके दादागुरु तोरणाचार्य शक सं० ६०० में हुए होंगे। कुन्दकुन्द को इनसे डेढ़ सौ वर्ष पूर्व माना जा सकता है। अतएव कुन्दकुन्द का समय शक सं० ४५० के लगभग है।

डॉ० पाठक ने अपने इस अनुमान का समर्थन एक अन्य आधार से भी किया है। उन्होंने बताया है कि चालुक्य नरेश कीर्तिवर्मा शक सं० ५०० में राज्य सिंहासन पर आसीन थे। उन्होंने बादामी को जीता

और कदम्ब राज्यवंश को नष्ट कर दिया। अतः यह निश्चित हुआ कि कदम्ब राजवंश का शिवमृगेश वर्मा लगभग ५० वर्ष पूर्व अर्थात् शक सं० ४५० के आसपास विद्यमान था। बालचन्द्र ने पंचास्तिकाय की कन्नड़ी टीका और जयसेन ने संस्कृतटीका में बताया है कि कुन्दकुन्द ने शिवकुमार महाराज के सम्बोधन के लिए यह ग्रन्थ लिखा। यह शिवकुमार महाराज कदम्बवंशी शिवमृगेश वर्मा ही प्रतीत होता है। अतः कुन्दकुन्द का समय शक सं० ४५० (ई० सन् ५२८) आता है।

विचार करने पर डॉ० पाठक का उक्त मत नितान्त असमीचीन है। आज इस मत को कोई भी प्रामाणिक नहीं मानता है।

प्रो० ए० चक्रवर्ती ने डॉ० हारनले द्वारा प्रकाशित सरस्वती-गच्छ की दिगम्बर पट्टावलि के आधार पर कुन्दकुन्द के आचार्यपद पर प्रतिष्ठित होने का काल ई० पूर्व ८ माना है और उनका जन्म ई० पूर्व ५२ बतलाया है। चक्रवर्ती ने डॉ० पाठक के मत का विरोध किया है और पौराणिक प्रमाणों के आधार पर कुन्दकुन्द का पट्टावलि-उल्लिखित समय बतलाया है।

इन्होंने पल्लवराजवंश के शिवस्कन्द को शिवकुमार मानने पर जोर दिया है। क्योंकि स्कन्द और कुमार पर्यायवाची शब्द है। अन्य परिस्थितियों से भी उन्होंने एकरूपता सिद्ध की है। पल्लवों की राजधानी 'कांजीपुरम्' में थी। ये 'थोण्डमण्डलम्' पर शासन करते थे। यह प्रदेश विद्वानों की भूमि माना जाता था। 'कांजीपुरम्' के शासक ज्ञान के भी संरक्षक थे। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों से लेकर आठवीं शताब्दी तक 'कांजीपुरम्' के चारों ओर जैनधर्म का प्रचार होता रहा है। इसके अतिरिक्त 'मयीडबोलु' दानपत्र की भाषा प्राकृत है। इस दानपत्र को शिवस्कन्दवर्मा ने प्रचारित किया है। इसकी विषयवस्तु और भाषा मथुरा के अभिलेखों से मिलती-जुलती है। अतः प्रो० चक्रवर्ती ने यह निष्कर्ष निकाला है कि कुन्दकुन्द ने जिस शिवकुमार महाराज के लिए प्राभृतत्रय लिखे थे, वह सम्भवतः पल्लववंश का शिवस्कन्द वर्मा है।

आचार्य श्री जुगलकिशोर मुख्तार ने समन्तभद्र के समयविचार-प्रसंग में लिखा है—कुन्दकुन्दाचार्य वीर नि० सं० ६८३ से पहले नहीं हुए, किन्तु पीछे हुए हैं। परन्तु कितने पीछे, यह अस्पष्ट है। यदि अन्तिम आचारांगधारी लोहाचार्य के बाद होने वाले विनयधारी आदि चार आरातीय मुनियों का एकत्र समय २० वर्ष का और अर्हद्बलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि तथा कुन्दकुन्द के गुरु का स्थूल समय दस-दस वर्ष का ही मान लिया जाय, जिसका मान लेना कुछ अधिक नहीं है, तो यह सहज में ही कहा जा सकता है कि कुन्दकुन्द उक्त समय से ८० वर्ष अथवा वीर नि० ७६३ (६८३+ २० + ६०) वर्ष बाद हुए हैं और यह समय उस समय के करीब पहुँच जाता है जो 'विद्वज्जन बोधक' से उद्धृत किये हुए उक्त पद में दिया है और इसलिए इसके द्वारा उसका बहुत कुछ समर्थन होता है।

मुख्तार साहब पट्टावलि पर विश्वास नहीं करते। पट्टावलि में कुन्दकुन्द का समय वि. संवत् ४९

दिया गया है। इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार में वर्णित दोनों सिद्धान्तग्रन्थों की उत्पत्ति की कथा तथा गुरुपरिपाटी से दोनों सिद्धान्तग्रन्थों का अध्ययन कर कुन्दकुन्द के द्वारा षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर १२००० श्लोक प्रमाण टीका लिखने की बात को साधार मानकर यही निष्कर्ष निकलता है कि कुन्दकुन्द वीर निर्वाण संवत् ६७० के लगभग हुए हैं।

मुख्तारसाहब ने शिवकुमार महाराज वाली चर्चा को उठाकर डॉ० पाठक के मत का निरसन किया है और प्रो० चक्रवर्ती के मत को भी मान्य नहीं ठहराया है। इस प्रकार मुख्तारसाहब ने कुन्दकुन्द का समय वीर निर्वाण संवत् ६०८-६९२ के मध्य माना है।

कुन्दकुन्द के समय पर विस्तार से विचार करने वाले डॉ० ए० एन० उपाध्ये हैं। उन्होंने अपनी प्रवचनसार को विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना में अपने से पूर्व प्रचलित सभी मतों की समीक्षा करते हुए स्वमत का निर्धारण किया है। डॉ० उपाध्ये ने अपने मत के निर्णय के हेतु निम्नलिखित तथ्यों पर विचार किया है—

१. भद्रबाहु का शिष्यत्व
२. श्रुतावतारानुसार षट्खण्डागम का टीकाकारित्व
३. संघभेदानन्तर प्राप्त सूचनाओं का आधारत्व
४. जयसेन एवं बालचन्द्र के उल्लेखानुसार शिवकुमार महाराज का समकालीनत्व
५. कुरलकर्तृत्व

१. डॉ० उपाध्ये का विचार है कि कुन्दकुन्द दिग्म्बर-श्वेताम्बर संघभेद उत्पन्न होने के पश्चात् ही हुए हैं। यदि वे पहले हुए होते तो अचेलकत्व का समर्थन और स्त्रीमुक्ति का निषेध नहीं करते, यतः संघभेद की उत्पत्ति चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय में हो चुकी थी। यही कारण है कि कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में श्वेताम्बर प्रवृत्तियों का निषेध किया है।

२. प्रथम तथ्य पर विचार करते हुए कुन्दकुन्द को श्रुतकेवली परम्परा का शिष्य माना है। डॉ० उपाध्ये ने बतलाया है कि दक्षिण में जो मुनिसंघ आया था, उनमें प्रधान भद्रबाहु श्रुतकेवली थे। अतः उनके संन्यास मरण के पश्चात् भी प्रधान गुरु के रूप में उनकी मान्यता प्रचलित रही। दक्षिण में जो साधुसंघ था, उसे धार्मिक ज्ञान उत्तराधिकार के रूप में भद्रबाहु से ही प्राप्त हुआ था। अतः सुदूर दक्षिण देशवासी कुन्दकुन्द ने उन्हें अपना गुरु माना, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। यह यथार्थ है कि कुन्दकुन्द श्रुतकेवली भद्रबाहु के साक्षात् शिष्य नहीं हैं, यतः उनका नामोल्लेख अंगधारियों में नहीं मिलता है और न ऐसी कोई किंवदन्ती ही प्राप्त होती है, जिसके आधार पर कुन्दकुन्द को श्रुतकेवली भद्रबाहु का समकालीन माना जा सके।

३. श्रुतावतार में आया है कि कोण्डकुन्दपुर के पद्मनन्दि ने 'कषायपाहुड' और 'षट्खण्डागम' इन

दोनों ग्रन्थों का ज्ञान प्राप्त किया और षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर टीका लिखी, यह तथ्य असंदिग्ध नहीं है। कुन्दकुन्द की ऐसी कोई भी टीका आज नहीं मिलती और न कहीं उसके अवशेष ही मिलते हैं। अतः इन्द्रनन्दि के उक्त कथन का समर्थन अन्य किसी ग्रन्थ से नहीं होता है। विबुध श्रीधर ने अपने श्रुतावतार में लिखा है कि कुन्दकीर्ति ने कुन्दकुन्दाचार्य से दोनों सिद्धान्तग्रन्थों का ज्ञान प्राप्त करके 'षट्खण्डागम' के आदि के तीन खण्डों पर बारह हजार श्लोक प्रमाण 'परिकर्म' नामक शास्त्र लिखा। डॉ० उपाध्ये का एक अन्य तर्क यह है कि कुन्दकुन्द की प्रतिभा मौलिक ग्रन्थों के सृजन की ओर ही अधिक है। टीका या टीकाकारिका लिखने की ओर नहीं। अतएव श्रुतावतार के आधार पर कुन्दकुन्द का समय वीर निर्वाण संवत् ६८३ के पश्चात् माना जाना चाहिए, यह कोई सबल प्रमाण नहीं है। सम्भव है कि कुन्दकुन्द इसके पहले हुए हों।

४. डॉ० उपाध्ये, प्रो० चक्रवर्ती के इस तथ्य को समुचित मानते हैं कि शिवकुमार महाराज पल्लवराजवंशी हैं। किन्तु पल्लवराजवंश का समय अभी तक अनिर्णीत है। अतएव डॉ० उपाध्ये, डॉ० पाठक के मत से असहमत होते हुए प्रो० चक्रवर्ती द्वारा मान्य शिवकुमार महाराज और शिवस्कन्द की एकता को स्वीकार करते हैं।

५. कुरलकाव्यकर्ता के रूप में कुन्दकुन्द की मान्यता पर विचार करते हुए डॉ० उपाध्ये ने बतलाया है कि कुरलकाव्य का जैन होना सम्भव है, उसमें ऐसे अनेक तथ्य आये हैं, जो अन्य धर्मों में प्राप्त नहीं होते। इस काव्य का समस्त वर्ण्य विषय जैन आचार और तत्त्वज्ञान से सम्बद्ध है। अतएव कुरल का कर्ता कोई जैन कवि तो अवश्य है, पर आचार्य कुन्दकुन्द हैं, इसके समर्थन में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। कुन्दकुन्द का अन्य नाम एलाचार्य बताया गया है उसकी पुष्टि भी अन्य प्रमाणों से नहीं होती। अतएव कुन्दकुन्द को ई० सन् प्रथम शताब्दी का विद्वान् स्वीकार किया जा सकता है।

आधुनिक विचारक डॉ० ज्योतिप्रसादजी ने विभिन्न मतों की समीक्षा करते हुए निम्नलिखित निष्कर्ष उपस्थित किया है—All this shows that he may safely be assigned to the early part of the first century A. D. or, to be exact, to 8 B. C.—A. D. 44.

अर्थात् इस आधार पर कुन्दकुन्द का समय ई० सन् की प्रथम शताब्दी आता है।

कुन्दकुन्द की रचनाएँ—

दिगम्बर साहित्य के महान् प्रणेताओं में आचार्य कुन्दकुन्द का मूर्धन्य स्थान है। इनकी सभी रचनाएँ शौरसेनी प्राकृत में हैं। इन ग्रन्थों में १. प्रवचनसार, २. समयसार और ३. पंचास्तिकाय ये तीन ग्रन्थ विश्रुत हैं और तत्त्वज्ञान को अवगत करने के लिए कुञ्जी हैं। शेष रचनाओं का भी आध्यात्मिक दृष्टि से विशेष महत्त्व है।

१. प्रवचनसार—यह ग्रन्थ अमृतचन्द्रसूरि और जयसेनाचार्य की संस्कृत टीकाओं सहित रायचन्द्र

शास्त्रमाला बम्बई द्वारा प्रकाशित है। इसमें तीन अधिकार हैं—ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र। ज्ञानाधिकार में आत्मा और ज्ञान का एकत्व एवं अन्यत्व, सर्वज्ञ की सिद्धि, इन्द्रिय और अतीन्द्रिय सुख, शुभ, अशुभ और शुद्धोपयोग तथा मोहक्षय आदि का प्ररूपण है। ज्ञेयाधिकार में द्रव्य, गुण, पर्याय का स्वरूप, सप्तभंगी, कर्म और कर्मफल का स्वरूप, मूर्त और अमूर्त द्रव्यों के गुण, कालादिक के गुण और पर्याय, प्राण, शुभ और अशुभ उपयोग, जीव का लक्षण, जीव और पुद्गल का सम्बन्ध, निश्चय और व्यवहार का अविरोध एवं शुद्धात्मा आदि का प्रतिपादन है। चारित्र-अधिकार में श्रामण्य के चिह्न, छेदोपस्थापक श्रमण, छेद का स्वरूप, युक्त आहार, उत्सर्ग और अपवाद मार्ग, आगमज्ञान का लक्षण और मोक्षतत्त्व आदि का कथन किया है।

आचार्य अमृतचन्द्र की टीका के अनुसार इसमें २७५ गाथाएँ हैं और जयसेन की टीका के अनुसार ३१७ हैं। इन बड़ी हुई गाथाओं का तीन वर्गों में विभाजन किया जा सकता है—

१. नमस्कारात्मक
२. व्याख्यान विस्तार विषयक
३. अपर विषय विज्ञापनात्मक

प्रथम दो विषयों की गाथाएँ इस प्रकार की तटस्थ हैं कि जिनका अभाव खटकता नहीं है। उनके रहने पर भी प्रवचनसार के विषय में किसी प्रकार की वृद्धि नहीं होती। तृतीय विभाग की चौदह गाथाएँ विचारणीय हैं। ये गाथाएँ निर्ग्रन्थ साधुओं के लिए वस्त्रपात्रादिक का तथा स्त्रियों के लिए मुक्ति का निषेध करती हैं। इन गाथाओं के विषय यद्यपि कुन्दकुन्द के अन्य ग्रन्थों के विपरीत नहीं है, पर श्वेताम्बर सम्प्रदाय के विरुद्ध अवश्य हैं। अतः अमृतचन्द्राचार्य के द्वारा इनके छोड़े जाने के सम्बन्ध में डॉ० उपाध्ये का कथन है—“अमृतचन्द्र इतने आध्यात्मिक व्यक्ति थे कि वे साम्प्रदायिक वाद-विवाद में पड़ना नहीं चाहते थे। अतः इस बात की इच्छा रखते थे कि उनकी टीका संक्षिप्त हो एवं तीक्ष्ण साम्प्रदायिक आक्रमणों को न करती हुई कुन्दकुन्द के अति उदात्त उद्गारों के साथ सभी सम्प्रदायों को स्वीकृत हो।”

डॉ० उपाध्ये का उपर्युक्त मत सर्वथा समीचीन नहीं है, क्योंकि अमृतचन्द्र ने तत्त्वार्थसार के निम्न पद्य में लिखा है—

सग्रन्थोऽपि च निर्ग्रन्थो ग्रासाहारी च केवली।

रुचिरेवविधा यत्र विपरीतं हि तस्मृत्तम्॥

इस पद्य में श्वेताम्बर मान्यता के केवली-कवलाहार और सचेलकत्व का निषेध किया गया है। अतः श्वेताम्बर मान्यता के सिद्धान्तों की समीक्षा छोड़ देने की बात युक्त नहीं है।

२. समयसार—यह सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक ग्रन्थ है। यहाँ समय शब्द के दो अर्थ विवक्षित हैं—समस्त पदार्थ और आत्मा। जिस ग्रन्थ में समस्त पदार्थों अथवा आत्मा का सार वर्णित हो, वह समयसार

है। यह भेदविज्ञान का निरूपण करता है। अनेक पदार्थों को 'स्व'-'स्व' लक्षणों से पृथक्-पृथक् नियत कर देना और उनसे उपादेय पदार्थ को लक्षित तथा अन्य समस्त पदार्थों को उपेक्षित कर देने को भेदविज्ञान कहा जाता है। यह ग्रन्थ दस अधिकारों में विभक्त है—प्रथम जीवाधिकार में 'स्व' समय, 'पर' समय, शुद्धनय, आत्मभावना और सम्यक्त्व का प्ररूपण है। जीव को कामभोग विषयक बन्धकथा ही सुलभ है किन्तु आत्मा का एकत्व दुर्लभ है। एकत्व-विभक्त आत्मा को निजानुभूति द्वारा ही जाना जाता है। जीव प्रमत्त, अप्रमत्त दोनों दशाओं से पृथक् ज्ञायकभावमात्र है। ज्ञानी के दर्शन, ज्ञान, चारित्र व्यवहार से कहे जाते हैं, निश्चय से नहीं। निश्चय से ज्ञानी एक शुद्ध ज्ञायकमात्र ही है। इस अधिकार में व्यवहारनय को अभूतार्थ और निश्चय को भूतार्थ कहा है। दूसरे कर्तृकर्माधिकार में आस्रव, बन्ध आदि की पर्यायों का विवेचन किया गया है। आत्मा के मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति ये तीन परिणाम अनादि हैं। जब इन तीन प्रकार के परिणामों का कर्तृत्व होता है, तब पुद्गलद्रव्य स्वयं कर्मरूप परिणमन करता है। परद्रव्य के भाव का जीव कभी भी कर्ता नहीं है।

तीसरे पुण्य-पाप अधिकार में शुभाशुभ कर्मस्वभाव वर्णित हैं। अज्ञानपूर्वक किये गये व्रत, नियम, शील और तप मोक्ष के कारण नहीं हैं। जीवादि पदार्थों का श्रद्धान, उनका अधिगम और रागादिभाव का त्याग मोक्ष का मार्ग बतलाया है। चौथे आस्रवाधिकार में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग और कषाय आस्रव बतलाये गये हैं। वस्तुतः राग, द्वेष, मोहरूप परिणाम ही आस्रव हैं। ज्ञानी के आस्रव का अभाव रहता है। यतः राग-द्वेष-मोहरूप परिणाम के उत्पन्न न होने से आस्रवप्रत्ययों का अभाव कहा जाता है। पाँचवें संवर अधिकार में संवर का मूल भेदविज्ञान बताया है। इस अधिकार में संवर के क्रम का भी वर्णन है। छठवें निर्जरा अधिकार में द्रव्य, भावरूप निर्जरा का विस्तारपूर्वक निरूपण किया है। ज्ञानी व्यक्ति कर्मों के बीच रहने पर भी कर्मों से लिप्त नहीं होता है, पर अज्ञानी कर्मरज से लिप्त रहता है। सातवें बन्धाधिकार में बन्ध के कारण रागादि का विवेचन किया है। आठवें मोक्षाधिकार में मोक्ष का स्वरूप और नववें सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार में आत्मा का विशुद्ध ज्ञान की दृष्टि से अकर्तृत्व आदि सिद्ध किया है। अन्तिम दशम अधिकार में स्याद्वाद की दृष्टि से आत्मस्वरूप का विवेचन किया है।

इस ग्रन्थ में आचार्य अमृतचन्द्र के टीकानुसार ४१५ गाथाएँ और जयसेनाचार्य की टीका के अनुसार ४३९ गाथाएँ हैं। शुद्ध आत्मा का इतना सुन्दर और व्यवस्थित विवेचन अन्यत्र दुर्लभ है।

३. पञ्चास्तिकाय—इस ग्रन्थ में कालद्रव्य से भिन्न जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश इन पाँच अस्तिकायों का निरूपण किया गया है। बहुप्रदेशी द्रव्य को आचार्य ने अस्तिकाय कहा है। द्रव्य-लक्षण, द्रव्य के भेद, सप्तभंगी, गुण, पर्याय, कालद्रव्य एवं सत्ता का प्रतिपादन किया है। यह ग्रन्थ दो अधिकारों में विभक्त है। प्रथम अधिकार में द्रव्य, गुण और पर्यायों का कथन है और द्वितीय अधिकार में पुण्य, पाप, जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष इन नव पदार्थों के साथ मोक्ष-मार्ग

का निरूपण किया है।

इस ग्रन्थ में अमृतचन्द्राचार्य की टीका के अनुसार १७३ गाथाएँ और जयसेनाचार्य के टीकानुसार १८१ गाथाएँ हैं। द्रव्य के स्वरूप को अवगत करने के लिए यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है।

४. नियमसार—आध्यात्मिक दृष्टि से यह ग्रन्थ भी महत्त्वपूर्ण है। इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को नियम से मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग कहा है। अतएव सम्यग्दर्शनादि का स्वरूप कथन करते हुए उसके अनुष्ठान करने एवं मिथ्यादर्शनादि के त्याग का विधान किया है। इस पर पद्मप्रभमलधारीदेव की संस्कृतटीका भी उपलब्ध है।

५. बारसाणुवेक्खा (द्वादशानुप्रेक्षा)—इसमें अध्रुव, अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधिदुर्लभ इन बारह भावनाओं को ११ गाथाओं में वर्णन है। संसार से विरक्ति प्राप्त करने के लिए यह रचना अत्यन्त उपादेय है।

६. दंसणपाहुड—इस लघुकाय ग्रन्थ में धर्म के सम्यग्दर्शन का ३६ गाथाओं में विवेचन किया गया है। सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट व्यक्ति को निर्वाण प्राप्त नहीं हो सकता है।

७. चरितपाहुड—सम्यक्चारित्र का निरूपण ४४ गाथाओं में किया गया है। सम्यक्चारित्र के दो भेद किये हैं—सम्यक्त्वाचरण और संयमाचरण। संयमाचरण के सागार और अनगार इन दो भेदों द्वारा श्रावक और मुनि-धर्म का संक्षेप में निर्देश किया है।

८. सुत्तपाहुड—इसमें २७ गाथाओं में आगम का महत्त्व बतलाते हुए उसके अनुसार चलने की शिक्षा दी गयी है।

९. बोहपाहुड—इसमें ६२ गाथाएँ हैं। इनमें आयतन, चैत्यगृह, जिनप्रतिमा, दर्शन, जिनबिम्ब, जिनमुद्रा, आत्मज्ञान, देव, तीर्थ, अर्हन्त और प्रब्रज्या इन ग्यारह बातों का बोध दिया गया है।

१०. भावपाहुड—इसमें १६३ गाथाओं में चित्त-शुद्धि की महत्ता का वर्णन किया है। बताया है कि परिणामशुद्धि के बिना संसार-परिभ्रमण नहीं रुक सकता है और न बिना भाव के कोई पुरुषार्थ ही सिद्ध होता है। इसमें कर्म की अनेक महत्त्वपूर्ण बातों का विवेचन आया है।

११. मोक्खपाहुड—इस ग्रन्थ में १०६ गाथाओं में मोक्ष के स्वरूप का निरूपण किया गया है। आत्मा के बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा—इन तीन भेदों का स्वरूप समझाया है। मोक्ष-परमात्म-पद की प्राप्ति किस प्रकार होती है, इसका निर्देश किया है।

१२. लिंगपाहुड—इस लघुकाय ग्रन्थ में २२ गाथाएँ हैं। श्रमणलिंग को लक्ष्य कर मुनि-धर्म का निरूपण किया गया है।

१३. सीलपाहुड—इसमें ४० गाथाएँ हैं। शील ही विषयासक्ति को दूरकर मोक्षप्राप्ति में सहायक होता है। जीव-दया, इन्द्रिय-दमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और तप

को शील के अन्तर्गत परिगणित किया है।

१४. रयणसार—इस ग्रंथ में रत्नत्रय का विवेचन है। १६७ पद्य हैं और किसी-किसी प्रति में १५५ पद्य भी मिलते हैं। गृहस्थ और मुनियों को रत्नत्रय का पालन किस प्रकार करना चाहिए, यह इस में वर्णित है। डॉ० ए० एन० उपाध्ये इस ग्रन्थ को गाथा-विभेदविचार, पुनरावृत्ति, अपभ्रंश पद्यों की उपलब्धि एवं गण-गच्छादि के उल्लेख मिलने से कुन्दकुन्द के होने में आशंका प्रकट करते हैं। वस्तुतः शैली की भिन्नता और विषयों के सम्मिश्रण से यह ग्रन्थ कुन्दकुन्द रचित प्रतीत नहीं होता। परम्परा से यह कुन्दकुन्द द्वारा प्रणीत माना जाता है।

१५. सिद्धभक्ति—यह स्तुति परक ग्रन्थ है। १२ गाथाओं में सिद्धों के गुण-भेद, सुख, स्थान, आकृति और सिद्धि-मार्ग का निरूपण किया गया है। इस पर प्रभाचन्द्राचार्य की एक संस्कृत टीका है। इस टीका के अन्त में लिखा है कि संस्कृत की सब भक्तियाँ पूज्यपादस्वामी द्वारा विरचित हैं और प्राकृत की भक्तियाँ कुन्दकुन्द आचार्य द्वारा निर्मित हैं।

१६. सुदभक्ति—इस भक्तिपाठ में ११ गाथाएँ हैं। इसमें आचारांग, सूत्रकृतांग आदि द्वादश अंगों का भेद-प्रभेद सहित उल्लेख करते हुए उन्हें नमस्कार किया गया है। साथ ही १४ पूर्वों में से प्रत्येक की वस्तु संख्या और प्रत्येक वस्तु के प्राभृतों की संख्या भी दी है।

१७. चारित्रभक्ति—१० अनुष्टुप् गाथाछन्द हैं। सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात नाम के चारित्रों, अहिंसादि २८ मूलगुणों, दस धर्मों, त्रिगुप्तियों, सकलशीलों, परीषहों के जय और उत्तरगुणों का उल्लेख करते हुए मुक्तिसुख देने वाले चारित्र की भावना की गयी है।

१८. जोड़भक्ति—२३ गाथाओं में योगियों की अनेक अवस्थाओं, ऋद्धियों, सिद्धियों एवं गुणों के साथ उन्हें नमस्कार किया गया है।

१९. आइरियभक्ति—इसमें १० गाथाएँ हैं और इनमें आचार्यों के उत्तम गुणों का उल्लेख करते हुए उन्हें नमस्कार किया है।

२०. णिव्वाणभक्ति—इस भक्तिपाठ में २७ गाथाएँ हैं। इनमें निर्वाण का स्वरूप एवं निर्वाण प्राप्त तीर्थकरों की स्तुति की गयी है।

२१. पंचगुरुभक्ति—इस भक्तिपाठ में सात पद्य हैं। प्रारम्भिक पाँच पद्यों में क्रमशः अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पाँच परमेष्ठियों का स्तवन है। छठे पद्य में स्तवन का फल अंकित है। सप्तम पद्य में इन पाँच परमेष्ठियों का अभिधान पंच नमस्कार में किया है।

२२. थोस्सामि थुदि (तित्थयर-भक्ति) —‘थोस्सामि’ पद से आरम्भ होने वाली अष्ट गाथात्मक स्तुति है। इसे तीर्थकर-भक्ति भी कहा गया है। इस स्तुतिपाठ में वृषभादि वर्धमानपर्यन्त चतुर्विंशति तीर्थकरों की उनके नामोल्लेखपूर्वक वन्दना की गई है और तीर्थकरों के लिए जिन, जिनवर, जिनेन्द्र,

केवली, अनन्तजिन, लोकमहित, धर्मतीर्थकर, विधूतरजोमल, लोकोद्योतकर आदि विशेषणों का प्रयोग किया गया है। अन्त में समाधि, बोधि और सिद्धि की प्रार्थना की गयी है।

इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द अपूर्व प्रतिभा के धनी और शास्त्रपारंगत विद्वान् हैं। इन्होंने पंचास्तिकाय और प्रवचनसार में आध्यात्मिक दृष्टि के साथ शास्त्रीयदृष्टि को भी प्रश्रय दिया है। अतएव इन दोनों ग्रन्थों में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों का भी वर्णन प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शन के विषयभूत जीवादि पदार्थों का विवेचन करने के लिए शास्त्रीय दृष्टि को अंगीकृत किये बिना कार्य नहीं चल सकता। अतएव द्रव्यार्थिकनय से जहाँ जीव के नित्य-अपरिणामी स्वभाव का वर्णन किया जाता है वहाँ पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से जीव के अनित्य-परिणामी स्वभाव का भी वर्णन रहता है। यों तो द्रव्य-गुण और पर्यायों का एक अखण्ड पिण्ड है, तो भी उनका अस्तित्व प्रकट करने के लिए भेद को स्वीकार किया जाता है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार और नियमसार में आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मस्वरूप का विवेचन किया है। इसके साथ-साथ इन ग्रन्थों में शौरसेनी प्राकृत के प्राचीन स्वरूप प्राप्त होते हैं, इस दृष्टि में गुणस्थान और मार्गणाओं के भेदों का अस्तित्व स्वीकृत नहीं रहता। यह दृष्टि परनिरपेक्ष आत्मस्वभाव को और उसके प्रतिपादक निश्चयनय को ही भूतार्थ तथा व्यवहार को हेय मानती है। यहाँ एक निश्चय ही मोक्षमार्ग है, व्यवहार नहीं। इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने आध्यात्मिक और शास्त्रीय दृष्टियों का विश्लेषण एवं विवेचन कर आत्मतत्त्व का निरूपण किया है। इन दोनों दृष्टियों के सम्बन्ध में सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री ने लिखा है—“शास्त्रीय दृष्टि वस्तु का विश्लेषण करके उस की तह तक पहुँचने की चेष्टा करती है। उसकी दृष्टि में निमित्तकारण के व्यापार का उतना ही मूल्य है, जितना उपादान कारण के व्यापार का और परसंयोग-जन्य अवस्था भी उतनी ही परमार्थ है, जितनी स्वाभाविक अवस्था। जैसे उपादानकारण के बिना कार्य नहीं होता, वैसे ही निमित्तकारण के बिना भी कार्य नहीं होता। अतः कार्य की उत्पत्ति में दोनों का समव्यापार है...शास्त्रीय दृष्टि का किसी वस्तु-विशेष के साथ कोई पक्षपात नहीं है।”

“शास्त्रीय दृष्टि के सिवाय एक दृष्टि आध्यात्मिक भी है। इसके द्वारा आत्मतत्त्व को लक्ष्य में रखकर वस्तु का विचार किया जाता है।”

अतएव संक्षेप में कुन्दकुन्द का अपूर्व पाण्डित्य, उनकी शास्त्रग्रन्थन-प्रतिभा एवं सिद्धान्तग्रन्थों के सार-भाग को आध्यात्मिक और द्रव्यानुयोग के रूप में प्रस्तुतिकरण आदि उनकी विशेषताएँ हैं।

डॉ० नेमिचन्द्र जैन, ज्योतिषाचार्य

(तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा)

अन्तर्घटना

उपलब्ध जैन-दर्शन साहित्य में प्राकृत-भाषा-निष्ठ साहित्य का बाहुल्य है। कारण यही है कि यह भाषा सरल, मधुर एवं ज्ञेय है। इसीलिए कुन्दकुन्द की लेखनी ने प्राकृत-भाषा में अनेक ग्रन्थों की रचना कर डाली। उन अनेक सारभूत ग्रन्थों में अध्यात्म-शान्तरस से आप्लावित ग्रन्थराज 'समयसार' है। इसमें सहज-शुद्ध तल की निरूपणा, अपनी चरम सीमा पर सोल्लास नृत्य करती हुई पाठक को, जो साधक अध्यात्म में रुचि रखता है, बुलाती हुई सी प्रतीत होती है। यथार्थ में कुन्दकुन्द ने अपनी अनुभूतियों को 'समयसार' इस ग्रन्थ के रूप में रूपांतरित ही किया है। अमूर्त हृदय मूर्त के माध्यम से देखना तो कठिन है ही किन्तु दूसरों को दिखाना कठिनतम है। इस प्रकार से दुस्साध्य कार्य को सिद्ध करने का सौभाग्य आप जैसे महान्पूत पवित्र आत्माओं को ही प्राप्त है। तभी तो हम, आपकी इस कृति को बाह्य निमित्त बनाकर, उस निजी समयसारमय सरस सत्ता का रसास्वादन करने का परम सौभाग्य प्राप्त कर रहे हैं। इस अपूर्व कार्य में आप (कुन्दकुन्द) ही परम निमित्त हैं।

यह कहना असत्य तो नहीं है परन्तु कटु सत्य अवश्य है कि बाह्य सभी प्रकार के ग्रन्थों को तजकर, निर्भीक-निर्ग्रन्थ हो, शेष आभ्यन्तर ग्रन्थों के विमोचनार्थ, ग्रन्थराज 'समयसार' का अवलोकन करना ही सार्थक है। निर्ग्रन्थ हुए बिना 'समयसार' का निरूपण तो संभव है किन्तु 'समयसार' का साक्षात् निरीक्षण तो आकाश-कुसुमवत् ही है।

पंचेन्द्रियों के विषम-विषयों में रच-पचने वाले विषयी-कषायी पुरुषों को 'समयसार' शिरोगम तो हो सकता है किन्तु हृदयंगम कदापि नहीं। 'समयसार' का पाचन उतना सुगम नहीं है, जितना कि वाचन या भाषण-संभाषण। वस्तुतः 'समयसार' बहिर्वस्तु नहीं है जिसे खरीदा जा सके, जिसके ऊपर अपनी सत्ता-बलवत्ता जमा सके, वह तो आंतरिक आत्मोत्थ शुद्ध परिणति सहज अन्तर्घटना है। हाँ, दिग्म्बर मुनि भी ऐसा न समझें कि हमने सब परिग्रह का त्याग तो कर ही दिया है, तिल-तुष मात्र भी परिग्रह नहीं रखते, अतः हमने समयसार का साक्षात्कार कर ही लिया है अथवा नियम से कर ही लेंगे,

यदि ऐसा समझते हैं तो उनकी वह भ्रान्तधारणा है, क्योंकि 'समयसार' की अनुभूति के लिए मात्र दिगम्बरत्व पर्याप्त नहीं है। दिगम्बर होने के उपरान्त भी दिगम्बरत्व की विस्मृति नितान्त आवश्यक है, परिधि में अटकी हुई चैतन्यधारा को केन्द्र की ओर प्रवाहित करना होगा, जिससे चेतना में स्थिरता की उद्भूति होगी, जिसमें 'समयसार' का नियमरूपेण दर्शन होता है।

मुनि-दीक्षा के उपरान्त, परम-पावन, तरण-तारण, गुरु-चरण सान्निध्य में इस महान् ग्रन्थ का अध्ययन प्रारम्भ हुआ। यह भी गुरु की 'गरिमा' कि कन्नड़ भाषा-भाषी मुझे अत्यन्त सरल एवं मधुर भाषा शैली में 'समयसार' के हृदय को श्रीगुरु महाराज ने (आचार्य श्री गुरुवर ज्ञानसागर जी महाराज ने) बार-बार दिखाया। जिसकी प्रत्येक गाथा में अमृत ही अमृत भरा है और मैं पीता ही गया! पीता ही गया!! माँ के समान गुरुवर अपने अनुभवों को मिलाकर, घोल-घोलकर पिलाते ही गये, पिलाते ही गये। फलस्वरूप एक उपलब्धि हुई, अपूर्व विभूति की, आत्मानुभूति की! अब तो समयसार ग्रन्थ भी 'ग्रन्थ' (परिग्रह के रूप में) प्रतीत हो रहा है। कुछ विशेष गाथाओं के रसास्वादन में जब डूब जाता हूँ, तब अनुभव करता हूँ कि ऊपर उठता हुआ, उठता हुआ ऊर्ध्वागममान होता हुआ, सिद्धालय को भी पार कर गया हूँ, सीमोल्लंघन कर चुका हूँ। अविद्या कहाँ? कब सरपट चली गई, पता तक नहीं रहा। आश्चर्य तो यह है कि जिस विद्या की चिरकालीन प्रतीक्षा थी, उस विद्या-सागर के भी पार! बहुत दूर!! पहुँच चुका हूँ। विद्या-अविद्या से परे, ध्येय, ज्ञान-ज्ञेय से परे, भेदाभेद, खेदाखेद से परे, उसका साक्षी बनकर, उद्ग्रीव उपस्थित हूँ, अकम्प निश्चल शैल!! चारों ओर छाई है सत्ता, महासत्ता अब समर्पित स्वयं अपने में!

आचार्य विद्यासागर मुनि

(साभार- समयसार, आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज की हिन्दी टीका से)

विषयानुक्रमणिका

| निर्जराधिकार | गाथा प्रस्तावना | पृष्ठ १-२ |
|--------------------------------------------------------------|--------------------|--------------|
| सम्यग्दृष्टि के कार्य निर्जरा के निमित्त | २०२ | २-१० |
| भाव निर्जरा का स्वरूप | २०३ | १०-१७ |
| ज्ञानी के ज्ञान एवं वैराग्य की सामर्थ्य का स्वरूप | २०४-२०६ | १७-५० |
| सम्यग्दृष्टि ज्ञायक भाव को अपना मानता है | २०७-२१० | ५०-८५ |
| रागी सम्यग्दृष्टि नहीं होता | २११-२१२ | ८५-९७ |
| ज्ञानी भोगाकांक्षी नहीं होता | २१३-२१४ | ९७-१०८ |
| ज्ञानी परद्रव्य को न अपना मानता है और न उसे ग्रहण करता है | २१५-२१७ | १०८-१२३ |
| भेदज्ञान का स्वरूप | २१८-२२८ | १२३-१९१ |
| वीतरागी कर्मबंध से रहित होता है | २२९-२३८ | १९१-२३२ |
| सराग परिणामों से बंध व वीतराग परिणामों से मोक्ष होता है | २३९-२४२ | २३२-२५९ |
| सम्यग्दृष्टि के निःशंकादि आठ अंगों का वर्णन | २४३-२५१ | २५९-३४८ |

ॐणमो जिणाणं समयोपदेश

निर्जराधिकारः

अब यहाँ शृंगार रहित पात्र के समान शुद्ध जीव स्वरूप जो संवर है वह तो इस रंगभूमि से चला गया और वीतराग निर्विकल्प-समाधि स्वरूप शुद्धोपयोग लक्षण को रखने वाली संवर पूर्वक निर्जरा प्रवेश करती है। पहली ही पंक्ति में आगे आचार्य क्या? किसका? कथन करना चाहते हैं यह बता दिया। यहाँ संवर पूर्वक जो निर्जरा है उसका कथन कर रहे हैं। यहाँ वीतराग-निर्विकल्प-समाधि स्वरूप शुद्धोपयोग लक्षण वाली निर्जरा स्वीकृत है।

दृष्टान्त—जैसे एक हजार रुपयों में एक रुपया कम है तो वे एक हजार रुपये नहीं हैं और जो वस्तु आप खरीदना चाहते हैं वह एक हजार रुपये में मिलती है तो एक रुपया क्या एक पैसा भी कम हो तो भी वह वस्तु प्राप्त नहीं होगी। इसके पास रुपये नहीं हैं ऐसा नहीं कह रहे हैं लेकिन उससे वह एक हजार रुपये वाली चीज नहीं मिल सकती यह बता रहे हैं। वे एक पैसा भी ज्यादा नहीं माँग रहे हैं तो एक पैसा कम भी नहीं लेंगे। उसी प्रकार जिसके साथ आस्रव हो रहा है उस निर्जरा को यहाँ नहीं स्वीकारा है। करणादि लब्धि में भी निर्जरा होती है लेकिन असंख्यात गुणी नहीं होने से उसे यहाँ भी स्वीकार नहीं किया लेकिन उसी के आधार पर आगे असंख्यात गुणी निर्जरा होती है यह भी सत्य है।

सम्यग्दृष्टि के असंख्यात गुणी निर्जरा होती है यह किसकी अपेक्षा से होती है? मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से असंख्यात गुणी निर्जरा होती है अतः मिथ्यात्व के साथ जो निर्जरा है वह भी लेना चाहिए लेकिन उस निर्जरा की यहाँ चर्चा नहीं है और सम्यग्दर्शन के साथ भी जो निर्जरा होती है उसकी भी यहाँ चर्चा नहीं है किन्तु वीतराग निर्विकल्प समाधि लक्षण वाले शुद्धोपयोग से जो निर्जरा होती है अर्थात् आस्रव रहित संवर पूर्वक जो निर्जरा होती है उसे ग्रहण किया है। अब वही वीतराग निर्विकल्प समाधि स्वरूप शुद्धोपयोग लक्षण को रखने वाली संवर पूर्वक निर्जरा प्रवेश करती है, जहाँ “**उवभोज्जमिंदियेहि**” इत्यादि गाथा को आदि लेकर दण्डकों को छोड़ पाठक्रम से पचास गाथाओं पर्यन्त छह स्थलों से निर्जरा का व्याख्यान करते हैं। उनमें से प्रथम द्रव्य निर्जरा, भाव निर्जरा, ज्ञानशक्ति और वैराग्यशक्ति का क्रम से वर्णन है। इस प्रकार प्रथम स्थल में पीठिका रूप से चार गाथाएँ हैं। उसके बाद ज्ञानशक्ति और वैराग्यशक्ति का सामान्य व्याख्यान करने के लिए ‘**सेवंतो वि ण सेवदि**’ इत्यादि रूप से दूसरे स्थल में पाँच गाथाएँ हैं। उसके आगे उन्हीं ज्ञान और वैराग्य शक्तियों का विशेष वर्णन करने के लिए ‘**परमाणुमित्तिं पि**’ इत्यादि दस सूत्र तीसरे स्थल में हैं। उसके आगे मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान के भेद से ज्ञान पाँच प्रकार का है फिर भी परमार्थ से जो एक रूप ही है और मुक्ति का कारण एवं परमात्म पद का मूल है वह पद जिस स्वसंवेदन ज्ञान से प्राप्त होता है उसके सामान्य व्याख्यान के लिए ‘**णाणगुणेहिं विहीणां**’ इत्यादि आठ सूत्र चौथे स्थल में

हैं फिर उस ही ज्ञान गुण का विशेष वर्णन करने के लिए “**णाणी रागप्यजहो**” इत्यादि गाथाएँ पाँचवें स्थल में हैं। उसके आगे छोटे स्थल में शुद्ध नय का आश्रय लेकर चिदानन्द रूप एक स्वभाव वाले शुद्धात्मा की भावना के आश्रयभूत निश्चयात्मक निःशंकितादि आठ गुणों के व्याख्यान के लिए “**सम्मादिट्ठी जीवो**” इत्यादि नौ सूत्र कहे गये हैं। इस प्रकार छह अन्तराधिकारों से इस निर्जराधिकार में समुदाय पातनिका पूर्ण हुई।

“**सम्यग्दृष्टेर्भवेत् नित्यं ज्ञान वैराग्य शक्तिः**” अर्थात् सम्यग्दृष्टि को हमेशा ज्ञान वैराग्य शक्ति से युक्त होना चाहिए। तो फिर सप्तम पृथ्वी में भी ज्ञान है और वैराग्य की शक्ति भी विद्यमान है तो उसे भी ले लेना चाहिए ? नहीं। पीठिका रूप से प्रथम स्थल में चार गाथाएँ हैं। इन चार गाथाओं को चार दिशाओं में रख करके पीठ को अच्छे ढंग से बनायेंगे। ये चार गाथाएँ फाउंडेशन (आधार) के रूप में, दीवाल के रूप में, खंभे के रूप में रखेंगे फिर ४६ गाथाओं के माध्यम से भवन बनायेंगे। निर्जरा का मंच इस ढंग से बना रहे हैं। अन्त में आठ अंगों का वर्णन बहुत अच्छे से किया है। निःशंक वही होता है, जो निर्भय होता है, निश्चय की बात करो, व्यवहार की बात क्यों करते हो? ऐसी प्रतीक्षा मत किया करो कि हम निर्भीक बना देंगे, इस प्रकार छह अधिकार से यह निर्जरा अधिकार में समुदाय पातनिका हुई।

उत्थानिका—अब द्रव्य निर्जरा का स्वरूप कहते हैं। द्रव्यनिर्जरा का अर्थ सम्पदा का लुट जाना नहीं है। द्रव्य निर्जरा का अर्थ बूढ़ा हो जाना ऐसा भी अर्थ नहीं किन्तु द्रव्य निर्जरा अर्थात् ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों की निर्जरा है। यह पचास गाथाओं का निर्जराधिकार बहुत अच्छा है। भाव सहित यदि दिन में एक बार भी पाठ करता है उसे बहुत कुछ मिलता है—

उवभोज्जमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं।

जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥२०२॥

अन्वयार्थ—(सम्मदिट्ठी) वैरागी सम्यग्दृष्टि जीव (जं) जो (इंदियेहिं) इन्द्रियों से (चेदणाणं) चेतन और (इदराणं) अन्य अचेतन (दव्वाणं) द्रव्यों का (उवभोज्जं) उपभोग (कुणदि) करता है (तं सव्वं) वे सभी (णिज्जरणिमित्तं) निर्जरा के निमित्त हैं।

अर्थ—सम्यग्दृष्टि वीतरागी जीव अपनी इन्द्रियों द्वारा चेतन तथा उनसे भिन्न अचेतन द्रव्यों का उपभोग करता है पर वह सब उसके लिए कर्मों की निर्जरा के निमित्त होता है।

धारा विराग दृग जो मुनिधर्म पाके,
होते उन्हें विषय कारण निर्जरा के।
भोगोपभोग करते सब इन्द्रियों से,
साधू सुधी न बंधते विधि-बंधनों से ॥२०२॥

व्याख्या—सम्यग्दृष्टि जीव अपनी पाँचों इन्द्रियों के द्वारा चेतन-अचेतन भोग्य और उपभोग्य

वस्तु का जो उपभोग करता है उसके लिए वह सब निर्जरा का कारण होता है। सावधान! होशियार हो जाइये आप! इसलिए समयसार अच्छा है ऐसा कहते हैं। ‘सहस्रनाम’ में एक शब्द आया है “अनन्तोऽपभोगिने” सम्यग्दृष्टि जीव का सारा का सारा उपभोग कर्म निर्जरा का कारण है तो फिर उपभोग छोड़ो यह कहना भी गलत है। इसका मतलब ऐसा हो गया कि योग तो बन्ध का कारण है तथा उपभोग निर्जरा का कारण है। ऐसा लगता है कि कुछ लोगों को रास्ता ज्ञात नहीं है इसलिए त्याग की बात करते हैं। यहाँ कह रहे हैं कि पहले सम्यग्दर्शन की बात करो फिर सभी भोग निर्जरा के कारण होंगे। पहले सम्यग्दर्शन की बात करो फिर सभी उपभोग निर्जरा के कारण हैं ऐसा कहो क्योंकि जो वस्तु मिथ्यादृष्टि जीव के लिए राग-द्वेष-मोह भाव होने के कारण बंध में निमित्त कारण होती है वही वस्तु सम्यग्दृष्टि जीव के लिए राग-द्वेष-मोह न होने के कारण निर्जरा की निमित्त होती है। **त्रैराशिक** कैसे लगाना?

दृष्टान्त—जैसे—पाँच लड्डुओं के सेवन करने से पच्चीस कर्मों की निर्जरा होती है तो पच्चीस लड्डुओं के सेवन करने से कितने कर्मों की निर्जरा होगी? बताओ? इसमें **फलराशि को इच्छा राशि से गुणा करने पर जो प्रमाण आता है उसमें प्रमाण राशि को भाग देने पर त्रैराशिक आता है।** $625/5=125$ कर्मों की निर्जरा होती है।

विज्ञासा—राग-द्वेष-मोह भाव न होने पर सब ही निर्जरा का कारण बताया गया है सो ठीक है, परन्तु गुरु महाराज! सम्यग्दृष्टि के तो रागादिक भाव होते हैं। सभी सम्यग्दृष्टि जीव वीतरागी तो नहीं होते, इससे उसके कर्म की निर्जरा कैसे हो सकती है?

समाधान—इस ग्रन्थ में वास्तव में वीतराग-सम्यग्दृष्टि का ग्रहण किया गया है, चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि का कथन यहाँ गौण है। यहाँ संवर-पूर्वक निर्जरा का कथन मुख्य है।

वीतराग सम्यग्दृष्टि के भोग निर्जरा के कारण—पाँच इन्द्रियों के विषय चेतन, अचेतनात्मक हैं और सम्यग्दृष्टि के द्वारा उपभोग किये जा रहे हैं फिर भी वे सारे के सारे उपभोग उनके लिए कर्मनिर्जरा के कारण हैं। इस प्रक्रिया के लिए चक्रवर्ती ने ३६० रसोईया रख रखे थे। **महापुराण** में उसका वर्णन करते हुए कहा है कि—यदि उसमें पोटेसी की कमी पड़ जाये तो वह लड्डू चक्रवर्ती के लिए ठीक नहीं। उसकी हाजमा शक्ति (डाइजेशन) जठराग्नि के अनुसार बनना चाहिए उसका टेस्ट (स्वाद) वह कैसे लेता था? तो कहते हैं कि यदि उस लड्डू को उनकी सेना को खाने के लिए दिया जाये तो उन्हें दस्त लग जाते हैं तो समझ लेते हैं कि यह चक्रवर्ती के लिए ही उपयुक्त है। यहाँ पर जैसे किसी भी इंजेक्शन का प्रयोग पहले किसी और प्राणी पर किया जाता है फिर उसे मनुष्य के लिए उपयोग में लाते हैं। यह प्रयोग इसलिए किया जाता होगा कि इतनी पोटेसी मनुष्य सह पायेगा या नहीं। तात्पर्य यह है कि अधिक पोटेसी के उपभोग से कर्मों की निर्जरा ज्यादा होती होगी। फिर उसके उपरान्त सोचने में यह

आता है कि यदि कर्म निर्जरा का कारण भोगोपभोग है तो फिर उसे छोड़ने की क्या आवश्यकता है? मुक्ति तो मिलेगी ही, लेकिन ऐसा नहीं है।

एक प्रश्न यह उठता है कि यदि सम्यग्दृष्टि का भोगोपभोग कर्म निर्जरा के लिए निमित्त है तो चक्रवर्ती से बढ़कर किसी का उपभोग नहीं होता है फिर तो हमारा यह कहना है कि उन्हें भोगोपभोग की मात्रा बढ़ाते जाना चाहिए क्योंकि उससे निर्जरा होती है और हमें ये विश्वास हो चुका है कि संवर-निर्जरा मुक्ति का कारण है। आगम में कहा ही है कि आस्रव-बन्ध संसार के कारण और संवर-निर्जरा मोक्ष के कारण हैं। अतः सम्यग्दृष्टि के भोग यदि निर्जरा के कारण हैं और हम निर्जरा बढ़ाना चाहते हैं तो उपभोग की मात्रा भी बढ़ाना चाहिए। जबकि कर्मसिद्धान्त में ऐसा कहा गया है कि-सम्यग्दृष्टि जब भोजन करता है तब कर्मों में स्थिति-अनुभाग ज्यादा पड़ता है और भोजन छोड़कर भजन में लग जाता है तो उस समय स्थिति-अनुभाग असंख्यातगुणा कम बंधने लगता है। ऐसा क्यों कहा? यहाँ तो निर्जरा बतलाई है और वहाँ बन्ध? यदि एकदेश निर्जरा है तो भी भोजन के समय होना चाहिए भजन के समय क्यों? दूसरी बात जब भोगोपभोग निर्जरा के कारण हैं तो फिर त्याग की बात क्यों करते हो? वह कहता है कि जब हमारा काम **आचार्य कुन्दकुन्द देव** की गाथा से हो रहा है तो हम टीका की ओर क्यों देखें जिससे कि घाटा लग जाये? टीका की अपेक्षा गाथा सरल है, ज्ञेयात्मक है। चुटकी बजा-बजा कर इसे गाते चले जायें, इसका पाठ करते चले जायें तो निर्जरा भी होती चली जाये। यह तो निर्जरा की गाथा है, यह आर्या छन्द में पाठ है। णमोकार मंत्र के द्वारा तो कथञ्चित् बन्ध हो सकता है लेकिन यह गाथा तो निर्जरा सम्बन्धी है? अतः इस निर्जरा और उस निर्जरा में क्या अन्तर है? यहाँ कौन सा सम्यग्दृष्टि लेना है इसे ज्ञात कर लेना चाहिए। अपने आप समाधान प्राप्त हो जाता है।

जो निर्जरा विकासशील होती है उसका कारण बता दिया है। जहाँ पर करण साधन संदेह में आ जाता है या कर्ता संदेह में आ जाता है वहाँ पर अधिकरण को सर्वप्रथम देखो, उसके क्या-क्या विशेषण हैं यह सामने रख दो तो फिर जो संदेह उठा है वह अपने आप शान्त हो जायेगा। यहाँ सम्यग्दृष्टि कहने से कौन से सम्यग्दृष्टि के भोग निर्जरा के कारण हैं? यह प्रश्न उठता है उसका समाधान कर लीजिए। गाथा का अर्थ पहले अच्छे से निकालकर समझ लीजिए। गाथा में तो यदि शब्द नहीं आया है। आप यदि शब्द का प्रयोग करके ऐसा कथन करना चाहते हो कि एक अचेतन का भोग यदि इतनी निर्जरा का कारण है तो फिर भोग का अनुपात बढ़ा दिया जाए, ऐसा कहने में कोई विवाद या विसंवाद नहीं है, बाधा नहीं है लेकिन ऐसा अर्थ गाथा के बिना कैसे निकाल सकते हैं। इस गाथा की टीका में सम्यग्दृष्टि शब्द से वीतराग सम्यग्दृष्टि को ग्रहण करना है।

जं कुणदि सम्मदिट्ठी यह इतनी फलो में गाथा है, इसमें तुकबन्दी भी नहीं है। **च** या **य** लिख देते तो अर्थ और गायब हो जाता। ज्यादा शब्दों का प्रयोग भी नहीं है। आचार्य कहते हैं कि विशेषण विशिष्ट सम्यग्दृष्टि का उपभोग निर्जरा का कारण है। जिन्होंने पञ्चेन्द्रिय विषय भोगों का त्याग किया

है और उसके सामने रूप, रस, गन्ध आदि-आदि सारे पञ्चेन्द्रिय के विषय उपलब्ध हैं फिर भी **अपरिग्रहो अणिच्छो** आदि गाथाएँ आने वाली हैं उनमें बताया है कि जो बिना इच्छा के अन्न-पानी आदि का उपभोग करते हैं अतः अपरिग्रही हैं। आप सब लोग यहाँ पर बैठे हैं सभी आपस में एक दूसरे को देख रहे हैं। पाँच इन्द्रियों के विषय भी यहाँ विद्यमान हैं। हवा ठण्डी या गरम जैसी अनुकूल हो वह भी बह रही है, सुगन्धित द्रव्य हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि सारे-सारे पञ्चेन्द्रिय के विषय उपलब्ध हैं किन्तु जिन्होंने इन उपभोगों का त्याग किया है फिर भी उपभोग होता है तो वह उनके लिए निर्जरा का कारण है क्योंकि **अपरिग्रहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे धम्मं अधम्मं, असणं, पाणं** आदि। इसमें **णेच्छदि** अर्थात् न इच्छति कहा है यह सप्तम गुणस्थान वालों की बात है।

अपूर्वकरण-अनिवृत्तिकरण के लिए आठवें-नवमें गुणस्थान में ध्यान चाहिए। अधःकरण के लिए सातवें गुणस्थान में ध्यान चाहिए और सातवें गुणस्थान के लिए प्रमाद आदि का अभाव भी चाहिए। पन्द्रह प्रकार के प्रमाद का अभाव हुआ नहीं कि वीतराग सम्यग्दृष्टि हो गया ऐसा पहले कहकर आये हैं। छठवें गुणस्थान तक सराग सम्यग्दर्शन की भूमिका बतलाई है। चाहे क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो या क्षयोपशम तथा औपशमिक सम्यग्दृष्टि हो यदि प्रवृत्ति में लगा है तो प्रमाद का कारण है यह पहले कहकर आये हैं। हालाँकि सप्तम गुणस्थान में भी प्रवृत्ति होती है, हो सकती है लेकिन वह प्रमाद रहित होती है। प्रमाद अवस्था में ध्यान नहीं है वहाँ तो इच्छा होती है। छठवें गुणस्थान तक आहार संज्ञा होती है और आहार तो सातवें गुणस्थान में भी होता है। यदि ऐसा मानेंगे कि सातवे गुणस्थान में आहार क्रिया नहीं होती तो आहार का उत्कृष्ट काल २ घण्टे २४ मिनट तक होता है और छठवें गुणस्थान का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है फिर उस समय वे मुनि छठवें गुणस्थान से कई बार नीचे गुणस्थानों में आते हैं ऐसा मानना पड़ेगा। जबकि ऐसा है नहीं। आहार की इच्छा सो छठवें गुणस्थान में होती है और इच्छा रहित होकर एषणा समिति से आहार सातवें गुणस्थान में भी हो सकता है, क्योंकि भोजन करना तथा भोजन की इच्छा करना दोनों में अन्तर है। आप पंचम गुणस्थान में बिना इच्छा के प्रशिक्षण ले रहे हैं, प्रशिक्षित नहीं हैं। प्रशिक्षण लेना और प्रशिक्षित होना इसमें बहुत अन्तर है। कितना अन्तर है? तो एक लंगोटी का अन्तर है। जिसने इसका त्याग कर दिया वह परिग्रह से रहित है, थोड़ा सा त्याग कर लिया उसे अपरिग्रही नहीं कह सकते। गृहस्थों की अपेक्षा से तो इच्छा रहित हैं लेकिन पंचम गुणस्थान वाला बिना इच्छा के प्रशिक्षण ले रहा है! वह पञ्चेन्द्रिय के विषयों का परिमाण भले बना ले किन्तु पूर्ण त्याग नहीं करता है और चतुर्थ गुणस्थानवर्ती का राग तो जोंक के समान कहा है। पंचम गुणस्थानवर्ती वैसा तो नहीं है लेकिन पूर्ण त्यागी भी नहीं है उसका काँटा दोनों तरफ लुढ़कता रहता है क्योंकि विषयों का पूर्णतया त्याग नहीं है वह तो जब चाहे जितना चाहे, जो चाहे, मन चाहे कर सकता है, भोजन आदि बना भी सकता है। यह बात अलग है कि वह पहले दान देता है फिर अच्छे ढंग से बैठकर स्वयं भोजन

करता है।

दृष्टान्त—जैसे-कहने में B.S.C का छात्र है लेकिन Ist year, IInd year में उसका प्रमाण पत्र नहीं मिलता है उसी प्रकार पाँचवे गुणस्थान वाला एकदेश त्याग करने के कारण अपरिग्रही का प्रमाण पत्र प्राप्त नहीं कर सकता अतः वह अपरिग्रही नहीं कहला सकता। त्याग की अपेक्षा कहीं-कहीं उपचार से महाव्रती कहा है। उपचार की सीमा बहुत है। B.S.C. Final जब तक नहीं करता तब तक उसे प्रमाण पत्र नहीं मिलता है। उसी प्रकार एकदेश त्यागी को अपरिग्रही नहीं कह सकते हैं। मूर्च्छा का नाम परिग्रह है। शरीर के प्रति भी मूर्च्छा/इच्छा रहती है कि नहीं ? रहती है तो केवल बाह्य परिग्रह की ही बात मत करो क्योंकि जब तक पूर्णतया त्याग नहीं होगा तब तक अपरिग्रही नहीं कहा जा सकता। आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त कम पूर्वकोटि की आयु वाली प्रमुख आर्यिका हो, पृथ्वीमति जैसी भी हो और कोई आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त में मुनि महाराज बने हैं तो भी वह आर्यिका छोटी सी वय वाले मुनिराज की तीन परिक्रमा लगा करके नमोऽस्तु-नमोऽस्तु करेगी/कहेगी, उनकी भक्ति वंदना आदि करेगी तथा मनोज्ञ मुनि होने से कोई विशेष भक्ति भी कर सकती है। पात्र के अनुसार भक्ति होती है और होनी भी चाहिए। गुणों को लेकर अपने आप भक्ति होती है।

जिज्ञासा—आचार्यश्री! तीनों संध्याओं में तो वंदना भक्ति करते ही हैं, क्या अन्य समयों में भी कर सकते हैं?

समाधान—करो! कौन मना करता है लेकिन तीन बार तो आवश्यक है ही, भक्ति में मन लग गया तो कर ली। देखो! आचार्य-भक्ति, उपाध्याय-भक्ति, साधु-भक्ति तो है ही, उसमें भी छोटी सी उम्र में जो मुनि बन गये हैं उनकी और विशेष भक्ति कर लेते हैं।

यहाँ पर सम्यग्दृष्टि कौन सा है? इसका पहले चयन करो पञ्चेन्द्रिय के विषयों का पञ्चेन्द्रियों द्वारा उपभोग होता है, असंज्ञी जीव रूप को अच्छा बुरा रूप नहीं जानता है क्योंकि ऐसा प्रशिक्षण मन के बिना नहीं होता है। असंज्ञी के पास यह ज्ञान नहीं है कि यह पहले खाया था वैसा ही है। चक्रवर्ती दीक्षित हुआ है तो आहार में कितना मीठा है? कितना घी मिला है? यह सारा का सारा मन के द्वारा जान रहा है। कहा भी है—**श्रुतमनिन्द्रियस्य** लेकिन उसमें हर्ष-विषाद नहीं करता। यह उनकी एक युक्ति है।

दृष्टान्त—जैसे-रोगी से डॉक्टर कह देता है कि औषधि तो लेना है लेकिन साथ में इस पथ्य से रहना है। पथ्य में जो बताया है उसे आपको लेना ही है, तो रोगी कहता है कि-मैंने तो इसे आज तक नहीं लिया, कैसे लें? डॉक्टर कहता है-इस पथ्य का सेवन नहीं करोगे तो औषधि कार्य नहीं करेगी तब रोगी स्वीकार करता है और कहता है। आप कह रहे हैं इसलिए ले लेंगे। डॉक्टर कहता है पथ्य में अच्छा-बुरा नहीं देखा जाता। वह कहता है ठीक है और अच्छा-बुरा किये बिना पथ्य का सेवन करता है फलस्वरूप स्वस्थ हो जाता है औषधि का जल्दी अच्छा प्रभाव पड़ जाता है। उसी प्रकार आचार्य

कहते हैं किसी भी वस्तु को जानो परन्तु हर्ष-विषाद मत करो। यह बहुत बड़ी शर्त है। जहाँ कहीं भी चले जाओ लेकिन मन में हर्ष-विषाद, राग-द्वेष मत करो। तीन लोक में **सदागति: सदा-मतिर्भव** अर्थात् सदागति हो और सदा मति हो परन्तु हर्ष-विषाद न हो यह ध्यान रहे। इच्छा के बिना अर्थात् अनिच्छा पूर्वक करना यही एक पथ्य है कि कोई इच्छा नहीं। इसीलिए निर्ग्रन्थ साधुओं को जिनायतन, जिनलिंग, जिनश्रुत, मोक्षमार्ग आदि आदि कहा है। यह वह उपाधि है जिसका सम्पादन सर्वप्रथम तीर्थकरों ने किया।

दाता के सात गुणों में एक अलोल्य गुण है अतः उसकी जो इच्छा है वह देगा तो उसे उपसर्ग मानकर क्यों ग्रहण करते हो? उसे यथालब्ध समझ कर लो। आज वर्तमान में हम लोग इसका पालन नहीं करते हैं यह बात अलग है लेकिन कोई दीर्घ संहनन वाला होगा तो यथालब्ध समझकर ले लेगा। आहार लेने की आवश्यकता है इसीलिए तो उसके आँगन तक गये हैं। भूख लगना भी तो उपसर्ग है। भूख सहन करने योग्य है तो चर्चा मत करो, बैठ जाओ ध्यान में, नहीं तो आहार में उठ जाओ। घण्टी लग गई इसलिए उठ गये ऐसा नहीं है। घण्टी बजना सामान्य है, उठना है तो उठ जाओ नहीं तो नहीं। अप्रासंगिक कोई चर्चा न करें। नहीं तो आपके ही सम्बन्ध में कोई चर्चा निकल जाये तो और गड़बड़। राग-द्वेष-मोह का सद्भाव होने पर बन्ध होता है। यहाँ वह सम्यग्दृष्टि विवक्षित है जो राग-द्वेष-मोह से रहित है, तभी तो उसका जितना भी उपभोग है वह निर्जरा का निमित्त है।

जिज्ञासा—यहाँ यह प्रश्न उठता है कि राग-द्वेष-मोह का अभाव होने पर सम्यग्दृष्टि का उपभोग निर्जरा का कारण होता है ऐसा आपने कहा लेकिन सम्यग्दृष्टि के पास राग-द्वेषादि तो होते हैं तो फिर निर्जरा का कारण कैसे होगा?

समाधान—इस प्रकार प्रश्न पूछने पर आचार्य देव कहते हैं—यहाँ इस ग्रन्थ में वस्तुतः वीतराग सम्यग्दृष्टि को ही ग्रहण किया है और वीतराग सम्यग्दृष्टि वह है जिसके पास राग-द्वेष-मोह नहीं है। यह बात पीछे भी कई स्थानों पर कहकर आए हैं आगे भी कहेंगे। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सराग सम्यग्दृष्टि है उसका यहाँ गौण रूप से ग्रहण होता है। गौण-वृत्ति से भी किस-किस की कितनी-कितनी निर्जरा होती है यह भी कह आए हैं। यहाँ तो राग-द्वेष-मोह का अत्यन्ताभाव आपेक्षित है। मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबन्धी की चार तथा एक मिथ्यात्व के उदय से जो राग-द्वेष एवं मिथ्या भाव होते हैं उसका अभाव है यह पहले कहकर आये हैं। श्रावक के अप्रत्याख्यान की क्रोधादि चार कषाय सम्बन्धी मोहादि का भी अभाव है। वीतराग सम्यग्दृष्टि के संवर पूर्वक निर्जरा होती है और सराग सम्यग्दृष्टि के गजस्नानवत् निर्जरा अर्थात् बन्ध पूर्वक निर्जरा होती है।

निर्जरा के भेद—देखो! दो प्रकार की निर्जरा होती है—१. सकाम निर्जरा, २. अकाम निर्जरा। बुद्धिपूर्वक तपादि अंगीकार करके जो निर्जरा की जाती है वह सकाम निर्जरा है तथा बुद्धि पूर्वक जिसने

ऐसे भाव नहीं किए उसकी निर्जरा अकामनिर्जरा कहलाती है लेकिन इस ग्रन्थ में सकाम-अकाम की व्याख्या नहीं की है। यहाँ तो राग-द्वेष-मोह के अभाव में जो संवरपूर्वक निर्जरा है उसका कथन किया है जो कि वीतराग-सम्यग्दृष्टि के होती है। यह निर्विकल्प-समाधि स्वरूप शुद्धोपयोग लक्षण वाली निर्जरा कही है। यदि निर्जरा मात्र को लेते हैं तो तृतीय गुणस्थान में भी निर्जरा होती है। प्रथम गुणस्थान में भी अपूर्वकरणादि में गुणश्रेणी निर्जरा अर्थात् अविपाक निर्जरा होती है लेकिन उसे सामान्य निर्जरा कहा है उससे असंख्यात गुणी निर्जरा आगे गुणस्थानों में कही है। **तत्त्वार्थसूत्र** में एक सूत्र आया है—**सम्यग्दृष्टि श्रावक विरतानन्तवियोजकदर्शनमोह क्षपकोपशमकोपशान्तमोह क्षपक-क्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येय गुणनिर्जराः॥४५/९॥**

इसलिए यहाँ निर्जरा का कथन अलग है—यहाँ शुद्धोपयोगात्मक राग, द्वेष, मोहातीत अवस्था का वर्णन है। इसलिए **आचार्य जयसेन स्वामी** ने टीका में लिखा है कि—“**अस्मिन् ग्रन्थे तु वीतराग सम्यग्दृष्टेः ग्रहणं कृतं**” अर्थात् इस ग्रन्थ में वीतराग सम्यग्दृष्टि का ग्रहण किया है। यह **पुण्य-पापाधिकार** में पढ़कर आये हैं। आप लोगों ने उस समय भी बहुत प्रश्न किए थे उसे आप भूल जाते हैं और हम बहुत जल्दी याद करा देते हैं, यहाँ शुद्धलेखन नहीं कराया जा रहा है ध्यान रखो।

जिस समय हम कक्षा में पढ़ते थे तो गुरुजी कहते थे कि पहले ध्यान से सुनो, पहले ध्यान में रखो, प्वाइन्ट बना लो फिर घर जाकर होमवर्क/गृहकार्य करो और लिखना चाहते हो तो हम शुद्धलेखन देखेंगे, यह भी देखेंगे कि मकोड़े जैसे अक्षर लिखते हैं या मच्छर जैसे लिखते हैं जो स्वयं भी न समझ सके और दूसरे भी नहीं समझ पाये। अध्यात्म में इसी ढंग से यहाँ कथन होता है। **आचार्य अकलंकदेव** ने सकाम और अकाम शब्द लिखे हैं अन्यत्र सविपाक और अविपाक शब्द भी आते हैं। मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि की सकाम निर्जरा होती है यह तो है ही। शास्त्रों में जो लिखा है वह हमें मानना चाहिए। सम्यग्दर्शन के अभाव में जितना भी तपादि है वह सब अकाम निर्जरा में कारण बनता है। जिन शब्दों का जहाँ जिस अर्थ में प्रयोग किया जाता है वहाँ उन्हें उन अर्थों में ही समझने का प्रयास करें। **आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी** कहते हैं कि “**परमदृष्टिम् दु अठिदो**” अर्थात् परमार्थ में स्थित नहीं होता हुआ जो व्रत, तप आदि करता है वह सब बाल तप व बाल व्रत है। बाल का अर्थ अज्ञान लेना है। बाल शब्द से मिथ्यादृष्टि नहीं लेना। मिथ्यादृष्टि के लिए तो बाल-बाल कहा जाता है। इस गाथा में तो यह कहा है कि तपस्वी तो है लेकिन बाल तपस्वी है क्योंकि तप तो वास्तव में निश्चय तप है जिससे केवलज्ञान प्राप्त होता है लेकिन यह तप तो पूर्वकोटि वर्ष तक करते हुए भी बैठे रहो तो भी कुछ होने वाला नहीं है। यह तो ऐसा है कि—बहुत बड़ी दुकान तो खोल ली, व्यापार तो कर रहा है लेकिन चिल्लर का व्यापार है। जब हम विहार करके प्रवेश करते हैं तो सर्वप्रथम चिल्लर पार्टी आती है। आठ वर्ष से कम उम्र वाले आकर प्रवचन सुनने बैठेंगे तो एकाध-एकाध रुक-रुक कर जय-जय तो बोलेंगे लेकिन वे व्रती नहीं बन पायेंगे इसलिए आचार्य कहते हैं साधु बन गये, श्रमण

बन गये तो कुछ तो होता होगा। हाँ, सेठ साहूकार भले नहीं बन सकते लेकिन शुभोपयोग के साथ साधु की आजीविका तो हो जायेगी। इसलिए **आचार्य कुन्दकुन्ददेव** कहते हैं कि—इस प्रकार मात्र शुभोपयोग रूप प्रवृत्ति साधु की श्रेष्ठ नहीं मानी जाती है। यह साधु के योग्य श्रेष्ठ कार्य नहीं है, साधु के तो शुद्धोपयोग की मुख्यता होना चाहिए।

सम्यग्दृष्टि के यदि असंख्यात गुणी अविपाक निर्जरा मानते हैं तो नीचे प्रथम गुणस्थान में अपूर्वकरण परिणाम के समय भी जो (गुणश्रेणी) निर्जरा होती है उसे भी लेओ लेकिन वह असंख्यात गुणी नहीं होती उसे अविपाक निर्जरा नहीं कह सकेंगे क्योंकि सम्यग्दृष्टि नहीं होने के कारण उसकी संवर पूर्वक निर्जरा नहीं है। संवर होते हुए भी मिथ्यात्व का संवर होना चाहिए। सम्यग्दृष्टि के तो मिथ्यात्व, अनन्तानुबंधी के अतिरिक्त अन्य प्रकृतियों का भी बन्ध व्युच्छित्ति रूप संवर हो चुका है लेकिन इन पाँच प्रकृतियों का अध्वान होने से मिथ्यादृष्टि के बंध-व्युच्छित्ति नहीं कर सकते हैं। बन्धापसरण तो हो चुका है इसका अर्थ भी रुक जाना है लेकिन अन्तिम समय तक मिथ्यात्व का बंध व उदय है इसलिए संवर नहीं कहेंगे। अपूर्वकरण में गुणश्रेणी बहुतर कर्म निर्जरा होती है लेकिन उसको हम असंख्यात गुणी और अविपाक निर्जरा नहीं मानेंगे क्योंकि वह सम्यग्दर्शन पूर्वक नहीं है। चार लब्धियाँ एक प्रकार से सार्थक हैं ऐसा भी कहा गया है।

संवर के भेद—संवर दो प्रकार के होते हैं—१. सामान्य संवर, २. विशेष संवर। यहाँ यह प्रासंगिक संवर है। ऐसे तो द्वितीय गुणस्थान में भी संवर पूर्वक निर्जरा हो रही है उसे भी शुद्धोपयोग मानो। कई लोग उसे आज वर्तमान में भी मान रहे हैं क्योंकि उनका कहना है कि संवर होना मात्र ही शुद्धोपयोग का प्रतीक है और जो बन्ध हो रहा है वह अन्य उपयोग का प्रतीक है। उनके यहाँ यह विषय ग्रन्थों में भरा पड़ा है और वे ग्रन्थ भी आपके ही अच्छे-अच्छे विद्वानों से सम्पादित हैं। इसलिए मैं तो हमेशा आप लोगों से कहता हूँ कि आप पहले कोर्स की किताब पढ़ो। यदि कोर्स की किताब नहीं पढ़ते हैं तो मास्टर तुरन्त कह देता है कि गैट-आऊट तो वह डर जाता है और कोर्स की किताब पढ़ने लगता है तो पास हो जाता है। बाद में उससे कहते हैं कि अब कोर्स के अलावा जो पुस्तकें हैं उन्हें पढ़ो। पहले पढ़ता तो फेल हो जाता अतः निषेध किया था। इसी प्रकार यहाँ पहले घर का त्याग कर दो फिर तुम्हें हम श्रावकों के घर भेज देंगे कि आहार करके आओ फिर देख लेंगे कि क्या होता है? आचार्य कहते हैं कि—इच्छा का त्याग अपरिग्रह है। इसे आपको अपने आपसे त्याग नहीं करना है किन्तु अरहन्त, सिद्ध, साहु सक्खियं, देवता सक्खियं, अप्प सक्खियं, पर सक्खियं आदि जितनी भी साक्षी हैं उन सबको ले लो फिर तो त्याग कर ही नहीं पाओगे। कई लोग इसीलिए व्रत नहीं ले पा रहे हैं कि दूसरों के घर में कैसे खाने जायें? अभी उन लोगों को स्व-पर क्या है? यह ज्ञात नहीं है इसलिए उनके लिए अब क्या कहा जाए। **निर्जराधिकार** चल रहा है। सम्यग्दृष्टि की निर्जरा कैसी होती है? यह एक गाथा के द्वारा द्रव्य-निर्जरा कही गई। अब जिसके माध्यम से द्रव्य कर्म की निर्जरा होती है उस भाव का नाम

भाव निर्जरा है यानि आत्मा में वह भाव जो बद्ध कर्मों की निर्जरा के लिये कारण होता है वह भाव निर्जरा है। ये दोनों बातें भावों पर आधारित हैं। अच्छाई और बुराई दोनों भावों पर आधारित हैं।

उत्थानिका—इस प्रकार द्रव्य निर्जरा का व्याख्यान एक गाथा के द्वारा करके अब भाव निर्जरा का भी स्वरूप निम्न गाथा में स्पष्ट करते हैं—

**दव्वे उवभुज्जंते णियमा जायदि सुहं च दुक्खं च।
तं सुहदुक्खमुदिण्णं वेददि अथ णिज्जरं जादि ॥२०३॥**

अन्वयार्थ—(दव्वे उवभुज्जंते) परद्रव्यों को भोगने से (णियमा) नियम से (सुहं च) सुख और (दुक्खं च) दुःख (जायदि) होता है (तं) उस (सुहदुक्खं) सुख दुःख को (उदिण्णं) उदय में आने पर (वेददि) अनुभव करता है (अथ) फिर भी वह द्रव्यकर्म (णिज्जरं) निर्जरा को (जादि) प्राप्त होता है अर्थात् राग नहीं होने के कारण बन्ध का कारण नहीं होता है।

अर्थ—बाह्य शुभ और अशुभ रूप पदार्थ का समागम होने पर सुख और दुःखरूप जो साता-असाता नामक वेदनीय कर्म है उसकी उदीरणा होती है ऐसा नियम है और उस उदीरित हुए सुख तथा दुःख को सम्यग्दृष्टि जीव भी भोगता है किन्तु वह मुक्त होकर निर्जीर्ण हो जाता है फिर भी उसके राग नहीं होने के कारण बन्ध का कारण नहीं बनता।

**भोगोपभोग जब वे मुनि भोगते हैं?
होते अवश्य सुख-दुःख नियोग से हैं।
ले स्वाद दुःख सुख का बनते न रागी,
वे निर्जरा करम की करते विरागी ॥२०३॥**

व्याख्या—प्रायः करके लोग पूछते हैं कि—महाराज! आपको साता है? शांति है, सुख साता है—सुखी हो! राजी खुशी है! इत्यादि। **दव्वे उपभुज्जंते** अर्थात् द्रव्य कर्मों के उदय को जब यह जीव भोगता है तब **णियमा जादि सुहं च दुक्खं च** नियम से सुख और दुःख उत्पन्न होते हैं। **तं सुहदुक्खमुदिण्णं वेददि** उस उदय प्राप्त सुख-दुःख को सम्यग्दृष्टि जीव भोगता है क्योंकि कर्मों के उदय के समय कितनी भी कोशिश करो लेकिन उदयागत कर्मों का उपयोग के ऊपर प्रभाव अवश्य पड़ता है उसमें कमी-वेशी तो होती है लेकिन पूर्णतया अभाव होना अलग वस्तु है। सम्यग्दृष्टि जीव वहाँ कुछ भी भला बुरापन न मानकर राग-द्वेष किए बिना उपेक्षा बुद्धि से भोग लेता है उसे तन्मय होकर नहीं भोगता इसलिए **अह णिज्जरा जादि** स्वस्थ भाव से वह निर्जरा को प्राप्त हो जाता है किन्तु मिथ्यादृष्टि राग-द्वेष के साथ तन्मय होकर उपादेय बुद्धि से भोगता है इसलिए उसे वह भोग बन्ध का कारण होता है।

दृष्टान्त—जैसे—बाहरी टेम्पेरेचर से आप भले ही बच जाओ लेकिन आप अपने स्वयं के बदन के टेम्पेरेचर से कैसे बच सकते हो? क्योंकि वह तो पुद्गल-विपाकी है। स्पर्शादि के जो बीस भेद हैं

वे शरीर के आधार पर अपना फल देते हैं। थोड़ा सा टेम्पेरेचर बढ़ जाये तो हरातर हर हालात में आ जाती है। हड़फूटन अर्थात् हड्डियों में फूटन होने लगी अर्थात् बदन टूट रहा है। न बैठा जाता है, न उठा जाता है, न सोया जाता है, न बोला जाता है उसमें ऐसा होता है। इसी प्रकार आचार्यदेव यहाँ कहते हैं कि द्रव्यकर्म का उदय हो और उसका उपभोग हो तो नियम से सुख या दुःख का अनुभव होगा। उस समय सुख को अच्छा, दुःख को बुरा मानना यह मोह का काम है लेकिन सुख-दुःख का संवेदन करना यह क्रमशः साता-असाता का फल है यह कभी नहीं छूट सकता है। परीषह जय अर्थात् अच्छे या बुरे वातावरण में अपनी मानसिकता नहीं बिगाड़ना। अच्छाई में भी मानसिकता बिगड़ती है। सुख और दुःख का अनुभव करते हुए भी अभिव्यक्ति न हो सके और यदि अभिव्यक्त हो जाये तो भी दूसरे को महसूस न हो। अपना दुःख कोई देख ले तो क्या बाधा है? आप रोयेंगे तो सामने वालों को भी आपकी रोने की आवाज सुनकर नींद नहीं लगेगी, इसलिए तत्त्वार्थसूत्र के छठवें अध्याय में एक सूत्र आया है कि—दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थानान्यसद्वेद्यस्य अर्थात् दुःख, शोक, ताप आदि भावों के द्वारा स्वयं को और दूसरों को भी असाता वेदनीय का बन्ध होता है। कर्म के उदय में सुख-दुःख होगा इससे आप बच नहीं सकते कुछ न कुछ तो होगा आप कितनी भी कोशिश कर लो। स्वर्गों में कषायों की बारियों के बारे में सिद्धान्त में प्रतिपादन किया है कि—क्रोध की सबसे कम बारियाँ होती हैं इससे ठीक विपरीत नरकों में क्रोध की बारियाँ सबसे ज्यादा होती हैं। स्वर्गों में मान की क्रोध से थोड़ी अधिक बारी होती है, उससे ज्यादा माया की और सबसे ज्यादा लोभ की बारियाँ होती हैं इससे ठीक विपरीत नरकों में हैं—वहाँ क्रोध की सबसे ज्यादा बारियाँ होती हैं उससे कम मान की उससे भी कम माया की और सबसे कम लोभ की बारी होती हैं। मनुष्य और तिर्यज्चों में मध्यम क्वालिटी की होती हैं। इसी प्रकार कर्मों के उदय में यहाँ भी इसी ढंग से होता रहता है। किसी को क्रोध ज्यादा, किसी को मान, किसी को माया की अधिकता रहती है, कोई लोभ में रमे रहते हैं। मनुष्यों में मान, देवों में लोभ, नारकीयों में क्रोध, तिर्यज्चों में माया की बहुलता रहती है। इसके साथ यदि साता का उदय आ जाये तो सुख का अनुभव हो जायेगा। प्रशस्ताप्रशस्त कर्मों की उदीरणा के अनुरूप सुख और दुःख की अनुभूति होती रहती है लेकिन वह उसे शान्ति के साथ सहन करता है। पहली गाथा में भोगोपभोग की तथा द्रव्यकर्मों की निर्जरा की बात कही है और यहाँ कर्मों के उदय में सुख-दुःख का भोग तो होगा लेकिन इसमें प्रवृत्ति गौण है फिर भी सुख-दुःख का वेदन तो हो रहा है क्योंकि यहाँ पर हर्ष-विषाद नहीं करना यही एक मात्र आत्म-पुरुषार्थ है। आप सुख या दुःख को हटा नहीं सकते, डर कर भागना यह भी द्वेष ही माना जायेगा और राग के वातावरण से बचना तो चाहता है लेकिन उपयोग में राग होने से भाग नहीं सकता। आचार्य कहते हैं कि यदि कार्य हठात् या बाध्य होकर करना पड़े तो वचन और काय के द्वारा करे मन के द्वारा न करे। समाधितंत्र में एक कारिका आती है कि—

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।

कुर्यादर्थवशात्किञ्चिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥५०॥

अर्थात् कोई भी कार्य रुचि पूर्वक न करे, न कहे तो बच जायेगा क्योंकि रुचि पूर्वक नहीं करेगा तो जल्दी विस्मृत हो जायेगा, यदि विस्मृत नहीं होता तो इस प्रकार का पुरुषार्थ करना कि उससे अपने आपको जोड़े नहीं। यदि मन पूर्वक या रुचिपूर्वक करेंगे तो वह जल्दी विस्मृत नहीं होगा। साधक आत्मतत्त्व में स्थिर हो जाता है तो वह बोलता हुआ भी नहीं बोलता, जाता हुआ भी नहीं जाता और देखता हुआ भी नहीं देखता ऐसा कहा है क्योंकि वह अन्य कार्यों को रुचि पूर्वक नहीं करता।

दृष्टान्त—जैसे—मान लो किसी ने दो पृष्ठों को जल के द्वारा यूँ चिपका दिये, तो थोड़ी ही देर में हवा लगने से पुनः अलग-अलग हो जायेंगे किन्तु यदि गोंद से चिपका दिया तो मानो वह राग के साथ चिपक गया अब वे जल्दी-जल्दी अलग-अलग नहीं हो सकते। क्योंकि वह उससे चिपककर घना हो गया, अब उसे जल में भिगो दें तो भी अलग नहीं होगा और फाड़कर अलग करना चाहो तो यद्वा-तद्वा ही फटेगा, सही नहीं फटेगा। इसको बोलते हैं राग के साथ चिपकाहट।

दुनिया की वस्तुओं को संसारी प्राणी राग के साथ चिपकाता है, द्वेष होने से वैर हो जाये तो उसे देखना ही नहीं चाहता है। इसलिए रूक्ष के द्वारा भी बन्ध होता है और स्निग्ध-रूक्ष दोनों के द्वारा भी बन्ध होता है लेकिन शर्त है—**द्वयधिकाधि गुणानां तु** दो गुण अधिक होना चाहिए। अतः अपना विषय चल रहा था कि उदीरित सुख-दुःख निर्जरा का कारण होता है अर्थात् जो उपयोग में आ रहा है उसे जानना और देखना है। प्रति समय यह गाथा हमारे सामने से निकल रही है। **छहढाला** में चौथी ढाल में यह पंक्ति आती है कि—**पुण्य पाप फल माँहि हरख बिलख्यो मत भाई**।

इस संसार में पाप-पुण्य के अलावा और है भी क्या? कुछ नहीं..। इस गाथा में अपने ही औदयिक भावों को लेकर के भावों को भर दिया गया है, उसका संवेदन होता जा रहा है किन्तु यहाँ प्रासंगिक जो भाव निर्जरा का अधिकारी है वह उसमें हर्ष-विषाद नहीं करता है क्योंकि **यह पुद्गल पर्याय उपज विनशै थिर नाही**। जैसे—मनुष्यायु पुण्य रूप है और असाता कर्म का उदय आ जाये तो चूँकि असाता पाप रूप है अतः असाता के कारण अप्रशस्तता का अनुभव करता है। आठ कर्मों में से हमारे उपयोग में कौन सा कर्म है? एक स्थान पर कहा था कि आठ कर्मों में जो ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि कर्म हैं उनको निकाल दो फिर **वेदणीयो वेदणीयो चैव** इसलिए सुख और दुःख को मुख्य रूप से रखा गया है यह सूत्र का तात्पर्य है। यह **धवला** की दसवी पुस्तक में आया है। हाँ-सुख-दुःख की मान्यता मोहनीय के कारण है, मोहनीय पर यह आधारित है। आठों कर्मों में से जो अनुभव होता है वह मुख्यतः वेदनीय के कारण होता है। **णो णाणावरणीयं णो दंसणावरणीयं** कहा है। अतः सुख-दुःख का अनुभव वेदनीय के कारण होता है इसलिए **पुण्य-पाप फलमाँहि** इन पंक्तियों में पूरा निचोड़ आ गया। **षट्खण्डागमकार आचार्य** कहते हैं कि—आपको आठ कर्मों की ओर देखने

की आवश्यकता नहीं। जब कभी भी उद्वेलित होते हैं तो वेदनीय के कारण होते हैं। सुख-दुःख की ही उदीरणा क्यों बता रहे हैं? क्योंकि अन्य कर्मों का वेदन नहीं होता है। इसीलिए आचार्य कहते हैं कि आने वाले शुभ-अशुभ कर्मों में हर्ष-विषाद नहीं करने रूप लब्धियाँ होने लग जाती हैं तो अपने आप ही अप्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग घट करके जघन्य की ओर चला जाता है तथा प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग बढ़ता चला जाता है लेकिन इसके साथ एक शर्त आवश्यक है कि सुख-दुःख के संवेदन में हर्ष-विषाद न हो। जैसे-अच्छा स्पर्श किया तो उसे अच्छा मत मानो और ठण्डी है, अच्छी नहीं लग रही है तो उसे बुरा मत मानो क्योंकि सुख होगा या दुःख, ये दोनों तो क्रमशः बने ही रहते हैं। सुख-दुःख का हर्ष-विषाद के बिना मात्र संवेदन करने से ही कर्मों की निर्जरा होती है, कल यही तो कहा था।

संसारी प्राणी एक को आदर के साथ स्वीकारता है, दूसरे को अस्वीकार करता है, इसकी समीक्षा करो। कष्ट दूर हो, यह कहने मात्र से कष्ट दूर होता है क्या? कष्ट देकर वह कर्म तो जा ही रहा है। आप यहाँ अनन्तकाल से हैं-कब तक और रहना चाहते हैं? रास्ता तो यही है। **आचार्य समन्तभद्र स्वामी** ने **श्री सुपाश्वर्नाथ भगवान्** की स्तुति करते हुए कहा है कि-

बिभेति मृत्यो न ततोऽस्ति मोक्षो, नित्यं शिवं वाञ्छति नास्य लाभः ।

तथापि बालो भय कामवश्यो वृथा स्वयं तप्यत इत्यवादीः॥

अर्थात् भय से मृत्यु भागती नहीं तथा माँगने से मुक्ति मिलती नहीं फिर भी यह अज्ञानी बालक वृथा इच्छा करता हुआ संतप्त होता है। रोने से यदि कर्म टलता हो तो अच्छे ढंग से रोना चाहिए। मन हल्का करने के लिए रोते हैं तो मन का वेद कितना है पहले हमें यह बताओ। बल्कि यूँ कहना चाहिए कि आर्तध्यान के कारण मन का वेद और बढ़ जाता है किन्तु भक्ति, स्तुति, स्वाध्याय, स्नेह, कृपा आदि अनुराग रूप परिणाम सहित होने से कम हो जाता है। अतः अपनी भूमिका के अनुसार भक्ति आदि करो विषयों की ओर मत जाओ। बेटा जब बड़ा हो जाता है और कुछ माँगता है तो पिता जी कहते हैं-यह लो चाबी संभालो, यह सब तुम्हारा है। तुम जानो। यदि हमारे संकेत को समझना चाहे तो ठीक है नहीं तो यह सब तुम्हारा है...यह सर्वदत्ति है। यदि चाहने से मिल जाये तो बहुत लोग हाथ फैलाकर बैठे हैं। मात्र इच्छा से मोक्ष मिल जाये तो फिर कहना ही क्या? माँगने से मिलने वाला नहीं है। आपकी जो आकुलता यहाँ है वह वहाँ पर नहीं है। वहाँ पर तो सुख-शान्ति के साथ आनन्द ही आनन्द है। **आचार्य गुणभद्र स्वामी** ने **आत्मानुशासन** ग्रन्थ में सुख की परिभाषा इस प्रकार कही है कि-**तत्सुखम् यत्र नासुखम्** सुख वही है जहाँ पर असुख यानि दुःख नहीं है। कर्मोदय में सुख-दुःख का संवेदन होते हुए भी मोह के अभाव में सुख-दुःख नहीं मानते हैं।

दृष्टान्त-जैसे-कोई पूर्ण आस्था के साथ दवाई ले रहा है। इतनी आस्था के साथ कि एक खुराक लेते ही रोग ठीक हो जायेगा। रोग के ठीक करने का उद्देश्य बस पूर्ण स्वस्थ बन जाये फिर तो वह दवाई

उसे दुःख का कारण बन ही नहीं सकती, लेकिन दवाई लेते समय दवाई कड़वी होने से भोजन के रूप में दे दें तो भी कड़वाहट या तीखेपन का अनुभव तो करना ही पड़ेगा। इसके द्वारा कर्मों की निर्जरा होती है क्योंकि वह शरीर की स्थिति बने इसलिए लेता है। इसमें अच्छा-बुरा क्या करना ? जब यह दृष्टि बन जाती है तो श्रमण के तो प्रत्येक समय कुछ न कुछ कर्म उदय में आता है फिर भी उसमें शान्त रहता है। समता भाव से सहन करता है। अतः **आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी** कहते हैं कि—**समणो सम सुह दुक्खो**। अर्थात् सुख-दुःख आदि में समानवृत्ति है—यदि यह सब साधना है तो अब और कौन सा स्वाध्याय चाहिए। औद्यिक भाव चलते रहते हैं अतः सुख-दुःखादि भी होते रहते हैं इसलिए इनमें ज्ञाता-दृष्टा बनना ही एकमात्र मोक्षमार्ग है। कोई भी दशा हो चाहे प्रतिकूल लग रहा हो या अनुकूल। एक ही पदार्थ किसी को अनुकूल लग रहा है और किसी को प्रतिकूल लग रहा है। वस्तु स्थिति तो यह है कि यह कर्म उदय में आकर जा रहा है और कुछ नहीं। **तं सुह दुक्ख मुदिण्णं** उदिण्ण का अर्थ संवेदन या अनुभव लेना यह वेदन तो चलता रहता है, क्योंकि स्वस्थ होने पर तो उसका प्रकोप कम हो जाता है। जब कभी भी मृत्यु होती है तो मृत्यु के एक अन्तर्मुहूर्त पहले जितनी भी वेदनायें हैं वे सब शान्त हो जाती हैं। उससे पहले तो असाता की बहुत जल्दी-जल्दी उदीरणा होती है लेकिन अन्तर्मुहूर्त पहले सब शान्त हो जाती है यह सुनते हैं आगम में तो पढ़ा नहीं है। या तो सहन करने की क्षमता आने से या अति दुःख होने से भी ऐसा होता है। जैसे—पहले बच्चा बहुत रोता है फिर थोड़ी देर तक हिचकी लेता है, वह सिसकता रहता है। सुख साता के उदय के वशीभूत है और दुःख असाता के उदय के वशीभूत है क्योंकि यह उन्हीं का परिपाक माना जाता है तो वस्तु स्वभाव से नियम से उसका अनुभव हो जाता है। **सुख और दुःख में हेय बुद्धि रखो** लेकिन संसारी प्राणी सुख में उपादेय बुद्धि रखते हैं और ज्ञान की बात करते हैं। थोड़ा सा नमक कम हो जाये फिर देख लो गृहस्वामिनी पर टूट पड़ते हैं। हम अपने भावों को भी जानते हैं और थाली में भोजन क्या है? कैसा है? यह भी जानते हैं लेकिन वह कहता है कि—**जब घर में नोटों की कमी नहीं तो फिर भोजन में नमक की कमी क्यों है?** जिसकी दृष्टि में घर और बार जड़ है तो फिर घर की बात ही नहीं करना चाहिए घर क्या है? बार क्या है? यह कुछ समझ में नहीं आता है।

जिज्ञासा—अपने उपयोग को कैसे कंट्रोल (नियंत्रित) करते हैं?

समाधान—त्याग के माध्यम से हम अपने उपयोग को कंट्रोल कर सकते हैं। देखो! जैसे—प्रत्याख्यान का उदय है तो शान्त भाव से रहें तो वह भी शान्त हो जायेगी। वही सही ड्राइविंग करने वाला ड्राइवर माना जायेगा जो काफी स्पीड से गाड़ी चला रहा हो लेकिन जिस समय रोकना है उसी समय एकदम रोक ले। चार गोलाटी खाकर यदि बाद में रुके तो क्या? जो अपनी गाड़ी को नियन्त्रण में रखता है वही सही ड्राइविंग करने वाला माना जायेगा। अन्तराय के साथ कषाय नहीं होना चाहिए। हम आत्मा की ओर दृष्टि रख रहे हैं और रखनी ही चाहिए तो कषाय अपने आप नियन्त्रित

हो जाती है। जिस वस्तु का त्याग किया है वह वस्तु हाथ में आ जाती है तो साधक नीचे बैठ जाते हैं। उस समय मन क्या कहता है? इसका वे अध्ययन करते हैं। आत्मा तो निर्विकल्प है। जैसा जो आज तक खाया-पिया है वैसा नहीं मिलने पर मन में क्या तरंगें उठती हैं उसे देखो तो सही मन कुछ गरम होता है कि नहीं इसको देख लो, किसी को बताना नहीं। बार-बार अभ्यास करो। बार-बार अभ्यास होने के उपरांत भी कितने प्रतिशत में उसकी पुनरावृत्ति होती है इसका अध्ययन अपने आप में बहुत महत्वपूर्ण है।

दृष्टान्त—दूध को अग्नि में तपा दिया, नीचे से लकड़ी भी निकाल ली, उसे चूल पर से नीचे रख दो फिर भी एकदम ठण्डा या शान्त नहीं होता है किन्तु समय लगता है इसी प्रकार जब दुर्घटना होती है तो आप चार-पाँच किलोमीटर भाग कर आ गये, कुर्सी पर बैठ गये, तो भी धड़कन की तीव्रगति रहती है। उस धड़कन की समीक्षा की जाये कि इसको ठीक होने में कितना समय लगता है? यदि आधे मिनट में ठीक हो जाता है तो मिलिट्री में भर्ती होती है नहीं तो नहीं। मन क्या करता है? जो अच्छा लगता है वहीं चला जाता है। एक जगह लिखा है कि—**राजा वही है जो किसी पर विश्वास नहीं करता है यहाँ तक कि अपने मन पर भी विश्वास नहीं करता है क्योंकि ये मन कभी भी परपक्ष के साथ समझौता कर सकता है।** देखना चाहें तो—राणा प्रताप को देखो, वे जंगल में बैठ गये, कुछ खाया नहीं, पीया नहीं लेकिन किसी के पास भी नहीं गये।

पहले मन पर नियन्त्रण रखने का प्रयास करना चाहिए और उनको यह समझा सकते हैं कि आपके कारण नहीं हुआ बल्कि आपके देने में हम अन्तराय के कारण बने, हम नहीं आते तो अन्तराय कैसे आता? कर्म चेतना, कर्मफल चेतना और ज्ञान चेतना के अलावा नोकर्म चेतना होती है इसलिए जो अपने परिणामों के साथ सम्बन्ध रखने वाला होता है वह कर्मों के उदय के कारण ये परिणाम हुए हैं इसमें अपना कुछ नहीं ऐसा सोचकर शान्त बैठता है, तन्मय होकर नहीं करता है इसी को साक्षी होकर रहना ऐसा बोलते हैं यह जागृति के साथ ही संभव है। भीतर भावों की जागृति के साथ चलते हैं तो इस तरह के क्षण प्राप्त हो सकते हैं पुनः प्रमाद की भूमिका आ जाती है। बहुत कम समय सावधान रह पाते हैं, यह सब क्या है? कर्मों का वैचित्र्य है।

दृष्टान्त—जैसे—घर में कोई घटना घट जाती है तो पुरुष कम रोते हैं उनकी आँखों में पानी कम आता है और कभी-कभी आता है लेकिन महिलाओं में बहुत जल्दी आँखों में पानी आ जाता है इसी प्रकार श्रमण जो हैं वे पुरुष की तरह सुख-दुःख में शान्त रहते हैं लेकिन गृहस्थ तो महिलाओं के समान होते हैं। श्रमण जो हैं वे महसूस नहीं होने देते, वे अपनी प्रतिक्रिया उस ढंग से नहीं करते हैं। यदि स्वयं को कुछ महसूस हो जाये तो दूसरे को महसूस नहीं होने देना चाहिए। यह वृत्ति बहुत मौलिक मानी जाती है। हाँ, इतना अवश्य है कि जो बार-बार एकत्व या अन्यत्व भावना का अनुभव करता है उसके लिए मन पर नियन्त्रण कठिन नहीं होता, वह बहुत जल्दी मन पर नियन्त्रण कर लेता है।

स्वस्थ भाव से निर्जरा—कुछ व्यवहार ऐसे होते हैं जो बहुत जल्दी उभर कर आते हैं लेकिन उभरते हुए भी जो अभ्यस्त होता है वह उनमें बहुत जल्दी सावधान हो जाता है। सुख-दुःख की परिस्थितियों में तन्मय नहीं होता क्योंकि उसका स्वस्थ भाव रहता है। उसका वह स्वस्थ भाव ही एक मात्र निर्जरा का कारण होता है। अब देखो! यहाँ ज्ञानी की मौलिकता क्या सिद्ध होती है। ये बरसों के हैं हम परसों के हैं, कैसे ऐसी साधना हो सकती है? ज्ञानी ऐसा विचार नहीं करता। वहाँ उसका ज्ञान पूर्ण चिन्तन काम करता है। इसमें इतनी आमदनी होती है जो दूसरों को कितना भी कर ले तो भी नहीं हो सकती। यह आमदनी करने के लिए स्वाधीन हैं। स्वाश्रित है। हमेशा समता बनी रहे, ज्ञानपरिधि के बाहर न जाये तो बहुत आमदनी होती है।

दृष्टान्त—जब ब्लडप्रेसर नापते हैं तो यूँ-यूँ हवा भरते हैं। जब हवा भरते हैं तो मशीन का काँटा हिलता है अन्यथा शान्त रहता है। इसी प्रकार ज्ञान के भीतर जब कोई विकल्प नहीं होता तो उसके उपयोग का काँटा शान्त रहता है। इस ढंग से परिणामों को नियन्त्रित रखने का प्रयास किया जाता है। प्रयास करने से ही सफलता मिलती है अपने आप कुछ नहीं होता। मिथ्यादृष्टि जीव मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ इत्यादि भाव करने से बन्ध करता है। देखो! विचार करो!

दृष्टान्त—बाहुबली के ऊपर भरत ने चक्र चलाया तो उन्हें क्या पीड़ा हो रही थी? क्या खाने को नहीं मिल रहा था? क्या महाप्रसाद का अभाव था? क्या पुत्र-मित्र नहीं थे? चक्ररत्न की उपलब्धि हो गई थी केवल इतनी ही तो बात थी। बाहुबली ने बात नहीं मानी थी, छह खण्ड के लोगों ने तो मानी थी। चक्र तो जड़ है वे चले जाते तो भी चक्र आना हो तो आ जाता, उसी चक्र के कारण ही तो साठ हजार वर्ष तक चक्कर लगाया फिर भी भरत जी भगत जी हैं। एक व्यक्ति ने बात नहीं मानी तो नहीं सही क्या बात हो गई। वे तो पोदनपुर में थे और ये यहाँ इतनी दूर थे। फिर भी भरत की पीड़ा तो भरत ही जानते हैं। **सहोदरे प्रति निःशङ्कः न भवति निशल्यो न जातः भरत चक्रवर्ती...**। भरत चक्रवर्ती बाहुबली के प्रति निःशंक नहीं हुए थे। इसीलिए चक्ररत्न को प्राप्त करने की आकुलता थी। चार बार हारने के बाद भी भीतर क्या आकुलता थी वह स्वयं भरत चक्रवर्ती ही जानते हैं। जैसे—बच्चे का डिवीजन नहीं बनता है तो कहाँ-कहाँ पहुँच जाते हैं। भरत चक्रवर्ती को इहलोक सम्बन्धी भय था। बाहुबली तो वहाँ पोदनपुर में थे, फिर चक्र कौन रोक रहा था ? तत्समयवर्ती योग्यता थी अथवा चक्ररत्न को वहीं रुकना था? यह तो चक्रवर्ती को समझना चाहिए था। वह अपने आपको प्रथम चक्रवर्ती मानते हैं तो बाहुबली अपने आपको प्रथम कामदेव मानता है। यदि भाई के नाते बुलाते हो तो ठीक है नहीं तो हम युद्ध क्षेत्र में ही मिलेंगे। भरत चक्रवर्ती बाहुबली को चक्र दे भी तो सकते थे। आखिर! कर्मों के आगे कैसी हार माननी पड़ती है यह इन दोनों की लड़ाई से जान सकते हैं। अन्ततोगत्वा बाहुबली की तीव्रता कम थी यह ज्ञात होता है और वे छोटे भी थे। **क्षत्रिय जो है वह अपनी क्षत्रियता पर तो अधिकार रखता है लेकिन पगडण्डी से कभी नहीं चलता है यह बात**

भी ध्यान में रखें। पगडण्डी चक्रवर्ती के लिए नहीं बनाई जाती। जो सामान्य नागरिक है वही पगडण्डी से जाता है। पगडण्डी पर सामान्य व्यक्ति तो जा सकता है किन्तु जो राजा है वह तो राजपथ से ही चलेगा। पगडण्डी में चलना यह क्या क्षत्रियता है? नहीं। पगडण्डी में किसी की रक्षा नहीं होती। राजपथ पर ही आजु-बाजु गार्ड रहते हैं। आचार्य कहते हैं कि चक्रवर्ती को कितना भी ज्ञान क्यों न हो लेकिन क्षायिक सम्यक्त्व होने पर भी चक्रवर्तित्व का उसे अभिमान था। साठ हजार वर्ष किसे बोलते हैं? यह चक्रवर्ती की उपाधि भी साता-असाता, सुख-दुःख के लिए कारण होती है। भरत चक्रवर्ती को चक्र से दुःख हो गया। चक्रस्न की उत्पत्ति होना साता का फल है लेकिन वह अपने अनुकूल नहीं हो रहा है, तो बीच में असाता का उदय आ गया।

दृष्टान्त—जैसे—कोई चोर मरण को नहीं चाहता है लेकिन तलवरेण-कोतवाल के द्वारा पकड़े जाने पर मृत्यु का अनुभव करता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जो है वह आत्मा से उत्पन्न सुख को उपादेय तथा विषय-सुख को हेय जानता है फिर भी चारित्र मोहनीय के उदय रूपी कोतवाल से ग्रसित होने पर सुख-दुःख का संवेदन करने से निर्जरा का कारण हो जाता है क्योंकि वह सुख-दुःख को स्वभाव नहीं मान रहा है कर्म उदय में आकर जा रहा है तो जाने दो। आचार्य कहते हैं इससे बढ़कर जीवन में कोई पुरुषार्थ है ही नहीं जीवन में इसी को एकत्व-विभक्त कहा है इससे आगे बढ़कर हम जा ही नहीं सकते हैं। इस प्रकार यह भाव निर्जरा का व्याख्यान हो गया।

सम्यग्दृष्टि के पास ज्ञान और वैराग्य की शक्ति होती है ऐसा कहकर आए हैं। आगे उसी का स्पष्टीकरण करते हैं। वीतराग सम्यग्दर्शन की सामर्थ्य क्या है? इसकी बार-बार चर्चा की जाती है। वीतराग सम्यग्दर्शन यदि गृहस्थ अवस्था में हो जाये तो क्या बाधा है? आचार्य कहते हैं यदि ऐसा मानेंगे तो फिर चक्रवर्ती जब चक्र चला रहा है उस समय भी यह सब करामात होना चाहिए फिर भी यदि खींचकर कोई यहाँ वीतराग-सम्यग्दर्शन का कथन करेंगे तो उससे कहते हैं कि अर्थ खींचकर मत लगाओ। देख तो लो, विचार तो करो कि वहाँ पर स्व की वेदना होती थी और यहाँ पर स्व का संवेदन होता है। वीतराग सम्यग्दृष्टि की ज्ञानशक्ति व वैराग्यशक्ति दोनों अपना बराबर काम करती रहती हैं। इस प्रकार यहाँ भावनिर्जरा का कथन पूर्ण हुआ।

उत्थानिका—अब आगे यहाँ पहले ज्ञानशक्ति का वर्णन करते हैं अर्थात् वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान की सामर्थ्य को दर्शाते हैं—

जह विसमुवभुज्जंता वेज्जापुरिसा ण मरणमुवयंति।

पुगलकम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव बज्झदे णाणी ॥२०४॥

अन्वयार्थ—(जह) जैसे (वेज्जापुरिसा) वैद्य पुरुष (विसमुवभुज्जंता) विष को सेवन करता हुआ भी (मरणं) मरण को (ण उवयंति) प्राप्त नहीं होता (तह) उसी प्रकार (णाणी) ज्ञानी जीव (पुगलकम्मस्स) पुद्गल कर्म के (उदयं) उदय को (भुंजदि) भोगता है तो भी (णेव बज्झदे) बँधता

नहीं यह ज्ञान की सामर्थ्य है।

अर्थ—जैसे वैद्य विष खाकर भी मरण को प्राप्त नहीं होता वैसे ही ज्ञानी जीव कर्मफल को भोगता हुआ भी बन्ध को प्राप्त नहीं होता।

खाता भले विष सुधी विष, मंत्र, ज्ञाता,
पाता न मृत्यु फिर भी दुख भी न पाता।
त्यो निर्विकल्पक समाधि विलीन ध्यानी,
भोगे विपाक विधि के बँधते न ज्ञानी॥२०४॥

व्याख्या—जैसे मन्त्रविद्या के जानकार पुरुष विष को खाकर निर्दोष मन्त्र की सामर्थ्य से मरण को प्राप्त नहीं होते हैं वैसे परम समाधि में स्थित परम तत्त्वज्ञानी जीव शुभ व अशुभरूप कर्म के फल को भोगता हुआ भी वह निर्विकल्प समाधि है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान रूप अमोघ मन्त्र के बल से कर्मबन्ध को प्राप्त नहीं होता। वह विष की मारक शक्ति को जानता है अतः उस मारक शक्ति को कम करके या समाप्त करके सेवन करता है फलस्वरूप वह मरण को प्राप्त नहीं होता।

आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार धतूरे के बीज सरसों के दाने से थोड़े बड़े होते हैं, रंग-रोगन की अपेक्षा एक से रहते हैं। वे धतूरे के बीज मादक भी होते हैं और मारक भी होते हैं किन्तु वैद्य लोग रसायन पद्धति से उन्हें भिगोते हैं और जितना समय आपेक्षित है उतने समय भिगोकर रखते हैं तो उससे उनकी मारक शक्ति कमजोर हो जाती है। वह यहाँ तक कमजोर होती है कि प्राणों को न मारकर रोग को मार देती है अर्थात् रोग का निवारण कर देती है। उसी प्रकार कषायों में भी आपके उपयोग को कर्तव्य से विच्छेद करने वाले कर्म के उदय हुआ करते हैं किन्तु ज्ञानोपयोगी अपने संवेदन व वैराग्य भाव से भेद-विज्ञान के फलस्वरूप उसकी शक्ति को कम कर देते हैं उन्हें कमजोर बना देते हैं। यह शक्ति कहीं बाहर से नहीं आती बल्कि उपयोग का सदुपयोग करने से उसके पाँवर को बढ़ाया जाता है।

दृष्टान्त—जैसे—प्रवचन के समय आपको आलस आ रहा है उस समय यदि मंच से कह दिया जाय कि -ठीक से बैठो तो इतना सुनते ही आलस भाग जाता है क्योंकि आप सोचते हैं कि हजारों व्यक्तियों के सामने पुनः और कोई कुछ न बोल दे। अतः आलस भाग जाता है तो यह पाँवर कहाँ से आया, आलस को किसने कहाँ भगा दिया? वह कहाँ भाग गया? हमेशा-हमेशा परिणाम एक से नहीं रहते हैं लेकिन फिर भी जीव एलर्ट/सावधान रहता है तो वह भेद-विज्ञान का अच्छे ढंग से प्रयोग करता है।

अभी एक सज्जन ने पूछा था कि—मन में कभी-कभी ऐसे भाव क्यों आ जाते हैं तो यही संसारी प्राणी की खूबी है कि निर्णय लेने के उपरान्त भी बदल जाते हैं। एक चैम्पियन गाड़ी चलाने में बहुत होशियार था। गाड़ी भी जिस कम्पनी की चाहता था वह मिल गई। रोड भी बहुत अच्छी है फिर भी हमेशा-हमेशा वह एक ही स्पीड से गाड़ी क्यों नहीं चलाता है? तो यह नियम है कि उसी मशीन को

हमेशा टॉप में या हमेशा गेयर में रखो यह संभव नहीं। उत्कृष्ट परिणाम कितने होते हैं यह धवला इत्यादि ग्रन्थों में पढ़कर आये हैं। उत्कृष्ट व जघन्य परिणाम प्रत्येक जीव के नहीं होते और अधिक समय तक नहीं रहते अजघन्य और अनुत्कृष्ट परिणाम हमेशा-हमेशा भी रह सकते हैं। छद्मस्थ अवस्था की यही एक बात है अन्यथा तीर्थकरों के पास कौन सी कमी है? यह भी पढ़कर आये हैं कि क्षपित कर्माश क्या है? और गुणित कर्माश क्या है? गुणित कर्माश में कितना संग्रह होगा? आचार्य कहते हैं बहुत संग्रह होगा। यहीं पर देखो श्री आदिनाथ भगवान् को एक हजार वर्ष, बाहुबली भगवान् को एक वर्ष तथा भरत चक्रवर्ती को अन्तर्मुहूर्त समय लगा। अन्तर्मुहूर्त लगने के उपरान्त भी एक बात और है कर्म अलग-अलग हैं। आभ्यन्तर कारण अलग-अलग होने के कारण, उपादान भिन्न-भिन्न होने के कारण उसके योग्य कार्य भी भिन्न-भिन्न होता है।

दृष्टान्त—जैसे-किसी की बहुत अच्छी प्रतिभा है वह जितने चाहे उतने नम्बर ले सकता है लेकिन I.S. की परीक्षा के लिए उम्र निर्धारित है। जो ग्यारह वर्ष की उम्र में M.A. कर सकता है वह I.S. की परीक्षा को तो यूँ ही निकाल सकता है लेकिन कहते हैं कि अभी हम उसे उसके योग्य नहीं मानते उसी प्रकार राष्ट्रपति बनने की भी उम्र निर्धारित है—पैंतीस वर्ष की। उसके चुनाव में पच्चीस वर्ष की उम्र वाला वोट दे सकता है लेकिन वह राष्ट्रपति नहीं बन सकता। ऐसा क्यों? वह नागरिक है या नहीं? है तो फिर राष्ट्रपति क्यों नहीं बन सकता इसका हेतु देओ। तो कहते हैं कि उसको वो अनुभव नहीं होता जो राष्ट्रपति बनने के लिए होना चाहिए। कोई यह कहे कि वोट देने का अनुभव आ गया तो वोट लेने का भी अनुभव हो सकता है इसमें क्या बात हो गई? लेकिन नहीं, ऐसा नहीं होता प्रत्येक क्षेत्र का अनुभव अलग होता है। कुछ अनुभव उम्र पर भी निर्भर होते हैं। आगम में भी कुछ-कुछ कार्य के लिए उम्र निर्धारित हैं। जैसे-सम्यग्दर्शन और संयम लेने की मनुष्य के लिए आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त की उम्र निर्धारित है। परिहार विशुद्धि संयम के लिए भी भरत-ऐरावत क्षेत्र में तीस वर्ष की उम्र निर्धारित है। इसके बारे में दो मत हैं। एक मत कहता है कि सोलह वर्ष वालों को भी हो सकता है वह विदेह क्षेत्र की अपेक्षा हो सकता है। आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त के उपरान्त वर्ष पृथक्त्व सोलह वर्ष कर ले सो सोलह वर्ष में परिहार विशुद्धि बन सकता है ऐसा भी मत है। तो यह क्या है? यह योग्यता अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। तत्समय की योग्यता या समष्टि का कारण इसी को बोलते हैं। वह योग्यता उसके पास है तो उसका प्रयोग कैसे किया जाय यह देखने की बात है।

अष्टपाहुड इत्यादि में असंयमी की निर्जरा को गजस्नानवत् कहा है। भिन्न-भिन्न पात्र को लेकर भिन्न-भिन्न उदाहरण दिए जाते हैं। आस्रव पूर्वक निर्जरा हो रही है इसलिए गजस्नानवत् कहा है। जैसे-गज (हाथी) ने इधर नदी में स्नान किया और बाहर निकला तो सूँढ़ से धूल लेकर अपने शरीर पर डाल लेता है अर्थात् इधर धर्मध्यान किया और उधर जाकर आरम्भ-सारम्भ इत्यादि के कार्य करना होते हैं तो यह सराग सम्यग्दर्शन के साथ घटित हो जाता है। बालक का यदि मरण होता है तो उसे अर्थी

पर नहीं ले जाते हैं। बहुत छोटा हो तो यूँ हाथ पर रखकर ले जाते हैं। जैसे—जन्म लेने के उपरान्त कुछ दिन बाद हाथ में लेकर मंदिर आ जाते हैं ज्यादा बड़ा हो जाता है तो शक्कर की बोरी आदि में लिटाकर हाथ में पकड़ कर ले जाते हैं। उसी प्रकार अविरत सम्यग्दृष्टि की बात है कि सब कुछ है इसके पास लेकिन अभी इसमें इतनी योग्यता नहीं आई कि दूसरों को संभाल सके। यहाँ पर मात्र असंख्यात गुणी निर्जरा की बात नहीं की जा रही है किन्तु संवर पूर्वक निर्जरा या पूर्ण संवर की बात है। आस्रव पूर्वक संवर—निर्जरा की बात नहीं है।

दृष्टान्त—प्रत्येक व्यक्ति या वैद्य औषधि नहीं बना सकता। बनी बनाई सामान्य औषधि लाकर कोई भी दे सकता है लेकिन विशेष नहीं क्योंकि उसमें कोई कमी रह गई तो मरीज ही समाप्त हो जायेगा। कुछ सामान्य औषधियाँ होती हैं उन्हें आगे—पीछे दे दो तो कोई बात नहीं लेकिन जो पारा वगैरह शोधित करके बनाते हैं तो वह पारा शोधित हुआ है कि नहीं यदि यह ज्ञात नहीं होता तो उसका प्रयोग शरीर को फाड़ सकता है। कई केस ऐसे आए कि एकदम कोढ़ निकल आयेगा ऐसा लगता है लेकिन वह वैद्य कहता है कि यह कोढ़ नहीं है केवल कच्चा पारा रह गया। संशोधित नहीं हुआ और इनके सेवन में आ गया अतः वह शरीर को फाड़ रहा है और निश्चित यही हुआ कि पाँच—छह महीने हुए नहीं कि वह ठीक हो गया। उसी प्रकार चारित्र—मोहनीय की अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान आदि सर्वघाती प्रकृतियों की लम्बी—चौड़ी करामात है। पहले तो इसका उदाहरण दिया था कि छह महीने तक बलदेव जैसे व्यक्तित्व को घुमाने की क्षमता इसके पास रहती है। सामान्य व्यक्ति देखे तो कहेगा कि यह क्या है? छह—छह महीने तक भाई को लेकर मोह में पड़ा है लेकिन उसके बारे में ज्यादा आग्रह नहीं करो तो ठीक है। तो यहाँ कह रहे हैं कि विष को खाते हुए वैद्य लोग जैसे मरण को प्राप्त नहीं होते हैं उसी प्रकार पुद्गल कर्म के उदय में भी उनका कर्मफल सेवन करते हैं किन्तु ज्ञानी बन्ध को प्राप्त नहीं होता है। मरण को प्राप्त नहीं होता यह तो बिल्कुल भावित और शोधित है यदि मरण हो गया तो यह प्रतिक्रिया कहलाती है। क्रिया सही होना चाहिए लेकिन यहाँ तो प्रतिक्रिया हो जाती है, अपने को प्रतिक्रिया से बचना चाहिए। जैसे—हानि हो गई तो प्रतिक्रिया कुछ न कुछ होती है तो कहते हैं उसकी प्रतिक्रिया ठीक नहीं है। जब तक कच्चा है तब तक कच्चा ही माना जायेगा—जल्दी करके क्या करेंगे।

दृष्टान्त—आजकल बाजार में ऋतु से पहले ही जल्दी—जल्दी माल ले आते हैं फल, अनाज इत्यादि। बेमौसम में फल आ जाते हैं तो उन्हें मुँह—माँगा दाम मिल जाता है। भले ही उन फलों को खाने का रिजल्ट ठीक निकल रहा है या नहीं, यह बात अलग है। वही फल जब मौसम आता है तब सामान्य फल हो जाता है। कोई पूछता नहीं...उसी प्रकार जहाँ वीतराग सम्यग्दृष्टि नहीं होता वहाँ अविरत सम्यग्दृष्टि की बहुत कीमत हो जाती है...ठीक है लेकिन चक्रवर्ती की आरती के लिए सौधर्म इन्द्र क्यों नहीं आता? तीर्थकर की आरती उतारने के लिए क्यों आता है? यह कभी सोचा आपने? आरती अर्थात् मात्र नृत्य इत्यादि के लिए नहीं किन्तु अपने नेत्रों को हजार—हजार दीपक बना लेता है इसका

नाम आरती है। हजार नेत्रों से आरती उतारी जा रही है इसलिए हम कहते हैं कि सम्यग्दर्शन के योग्य होते हुए भी इस चर्चा के योग्य नहीं माना जायेगा क्योंकि वीतरागता की बात चल रही है। धर्म के योग्य जो चर्चा चलनी चाहिए वह नहीं हो रही है। वह सौधर्म इन्द्र आता है तो क्यों तथा किस ढंग से आता है? जो आचार्य कहते हैं कि वह व्यक्तित्व (बालक तीर्थकर) आगे जाकर धर्म के नेतृत्व को करने वाला है, धर्म की डोर संभालने वाला है इसलिए उस व्यक्तित्व से आकृष्ट होकर देवगण नीचे आ जाते हैं तथा सौधर्म इन्द्र ताण्डव नृत्य करता है।

तीर्थकर का वैभव—क्षायिक सम्यग्दृष्टि देव होकर भी एक छोटे से तीर्थकर बालक के जन्म होने पर ताण्डव नृत्य करते हैं यह कैसा आश्चर्य है! तो आज भी किसी के घर में लड़का जन्मा है तो नृत्य कर लें। पर ऐसा नहीं होता। चक्रवर्ती भी जन्म लेता है तो भी सौधर्म इन्द्र नृत्य क्यों नहीं करता? जबकि दोनों ही महापुरुष हैं, तिरिसठ श्लाका पुरुषों में आ जाते हैं फिर भी ऐसा क्यों? जिनके पञ्चकल्याणक निर्धारित हैं उनके लिए ही आते हैं, वे आप लोगों को जगाते हैं। उन देवों को देखकर आप भी लाइन में खड़े हो जाते हैं अन्यथा किसी को पता ही नहीं चले। स्तनवृष्टि किसके ऊपर करते हैं? पुष्पवृष्टि, गंधोदकवृष्टि, जय-जयकार करना आदि पञ्चाश्चर्य होते हैं। इन सबका यही हेतु है कि वे हमें जगाते हैं। अभी वह बालक है लेकिन पुष्पवृष्टि होती है कि नहीं? पुष्पवृष्टि देवोपनीत होती है और पुनीत होती है। पुनीत का अर्थ क्या होता है? वे पुष्प बिल्कुल निर्जीव रहते हैं ऐसा नहीं किन्तु वहाँ पर भी सचित्त का व्यवहार होता है। पढ़ लो आप आगम में आता है कि वे पुष्प पृथ्वीकायिक होते हैं ऐसा कहीं आया था। इसीलिए हमारा कहना है कि वह बालक तीर्थकर वीतराग सम्यग्दृष्टि नहीं है लेकिन आगे होने वाला है। उसके द्वारा मार्ग का उद्योतन होने वाला है इस प्रकार भावी नैगमनय की अपेक्षा कहते हैं लेकिन मुनिवत् मानकर नहीं करते हैं, कर भी नहीं सकते हैं। पुद्गल कर्म को भोगता हुआ भी बन्ध को प्राप्त नहीं होता है यह चौथा पद महत्त्वपूर्ण है। **तह भुंजदि णेव बज्जदेणाणी। एक भी प्रकृति का बंध नहीं होता होगा यह दसवें गुणस्थान के ऊपर घटित होगा जो योग के माध्यम से होता है, वह तो केवली भगवान् के भी होता है।**

वेज्जापुरिसा इसमें वेज्जा का अर्थ वैद्य पुरुष किया है। अमोघ मन्त्र की सामर्थ्य अजेय होती है। अमोघ मन्त्र को ही अजेय मन्त्र बोलते हैं। वह अपना कार्य दिखायेगा, इस मन्त्र के आगे कोई भी विपरीत मन्त्र काम नहीं करता इसलिए इसका नाम अमोघ मन्त्र है, जिसके विपरीत शस्त्र काम नहीं करता उसे बोलते हैं अमोघ शस्त्र अथवा राम-बाण अर्थात् राम के द्वारा छोड़ा हुआ बाण व्यर्थ नहीं जाता वह अचूक होता है। कहावत तो यह है कि **राम जब पत्थर डाल रहे थे तो सारे-सारे डूब रहे थे और हनुमान के द्वारा छोड़ा हुआ एक भी पत्थर डूब नहीं रहा था।** जबकि राम स्वयं जग के आराध्य हैं फिर भी ऐसा कैसा हुआ? राम की अपेक्षा हनुमान की आस्था, श्रद्धा ज्यादा थी क्या? ऐसा कहने पर समाधान दिया जाता है कि जो भगवान् के हाथ से छूटेगा वह डूबेगा और जो भगवान् के

नाम से छोड़ा जायेगा तो भी डूबेगा नहीं। लेकिन हमें यह समझ में नहीं आता है कि भगवान् के हाथ से छूट कैसे सकता है? क्योंकि भगवान् के हाथ में जो चला गया तो अयोग्य हो नहीं सकता। योग्य होगा तभी भगवान् के हाथ में जायेगा, ऐसा पूछने वाला कोई नहीं है इसलिए तो ऐसा लिखा जाता है। तो इसी प्रकार ज्ञानी शुभ-अशुभ कर्मों के फल को भोगता है लेकिन विकल्प रहित भेद-विज्ञान लक्षण वाली समाधि ही अमोघ मन्त्र होने से उसी बल के कारण उसको कुछ नहीं होता है वह तो एकमात्र आत्मा का स्मरण करता है। मन्त्र यदि सिद्ध है तो मन्त्र के स्मरण से ही वह निवारक होता है फिर और कुछ करने की आवश्यकता नहीं होती। गारुडी मन्त्र की यह विशेषता है गरुड़ एक प्रकार से सर्प का वैरी होता है। गरुड़ का नाम लेने मात्र से उसका विष दूर हो जाता है। हजारों किलोमीटर दूर किसी को सर्प ने काटा हो और सिद्ध मन्त्र वाले को समाचार मिल जाये तो इधर मन्त्र की माला फेरते-फेरते ही उधर उसका विष उतर जायेगा। मन्त्र को निष्क्रिय करने की विधि भी होती है। किसी ने किसी के ऊपर विद्या या मन्त्र चलाया जिससे वह मूर्च्छित हो गया तो उस मन्त्र को निष्क्रिय करने की विधि होती है। वह यहाँ बैठकर कर ले तो वह निष्क्रिय हो जायेगा। मन्त्र का जैसा प्रभाव है वैसा जहर का प्रभाव है उसका प्रभाव समाप्त कर दिया जाता तो वह उठ जायेगा ऐसी शक्तियाँ होती हैं अन्यथा **न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम्**। एक अक्षर कम या ज्यादा है वह विष वेदना को दूर नहीं कर सकता है। उसी प्रकार क्षायिक सम्यग्दृष्टि ही क्यों न हो किन्तु वीतराग सम्यग्दर्शन से रहित होने के कारण किसी भी प्रकार के आए हुए कर्म को दूर नहीं कर सकता है।

आस्था है तो सब कुछ है—आज यन्त्र का युग हो गया है इसलिए मन्त्र-तन्त्र इत्यादि का प्रभाव कमजोर हो गया है बल्कि यूँ कहना चाहिए कि आज यह मन्त्रादि का विषय आस्था का विषय नहीं रहा। यहाँ अभी आप लोगों को कुछ भी हो जाता है तो दवाई लेने डॉक्टर के यहाँ चले जाते हैं या पहले से ही घर में दवाई रख लेते हैं लेकिन हम जगदलपुर से रायपुर की ओर आ रहे थे वहाँ बिल्कुल आदिवासी इलाका है और अमरकण्टक भी आने-जाने में आदिवासी इलाका मिलता है उनका कहना है कि—महाराज! हम किसी डॉक्टर या वैद्य के पास नहीं जाते किन्तु स्वयं अपना उपचार कर लेते हैं। आदिवासी इलाकों में मलेरिया जा नहीं सकता क्योंकि उनके पास शर्तिया दवाई रहती है। आज तो दवाई को ही मलेरिया हो गया अर्थात् वह दवाई ही काम नहीं करती। उन्होंने यह कहा था कि—सिंह, चीते आदि सामने आते हैं तो अपनी साधना का प्रयोग करते हैं। उन्होंने अपनी साधना बताई कि—हम शौच तो चले जाते हैं वहाँ ग्लानि को जीतते हैं, ग्लानि जीतने से शेर पास में नहीं आयेगा। दूसरा उन्होंने बताया कि—ग्लानि जीतने से बाल सफेद नहीं होते, दाँत नहीं गिरते, नव्वे वर्ष के हो जायें तो भी चश्मा नहीं लगता, उनकी सीमा, रहन-सहन, आचरण आदि सब संयत रहता है। अतः शरीर का सौष्ठव ज्यों का त्यों बना रहता है। वे लोग भी उपासना आदि करते हैं वे इस ढंग से बाँधकर दे देते हैं तो ठीक हो जाता है। इन बातों को लोग मानते ही नहीं और कोई मानते भी हैं तो विश्वास नहीं करते इसलिए रोगादि

ठीक नहीं होते। ग्रामीण इलाके में देख लो अभी भी घर के ही वैद्य रहते हैं वही काढ़ा, क्वाथ वगैरह ही देते हैं। ऐसा क्यों? तो आचार्य कहते उसके प्रति आस्था रहती है तो हो जाता है। **आस्था अपने आप में एक बहुत बड़ी वस्तु है उसी से काम चलता रहता है।** घोर जंगल-पातालकोट, छिंदवाड़ा तरफ जाते हैं तो दो-तीन किलोमीटर नीचे जाओ तब उनका स्थान मिलेगा वहाँ पर कोई नहीं जाता तामिया नामक स्थान के पास। वे सामान जाकर रख देते हैं। मानलो आप एक किलो चिरोंजी, एक किलो नमक रख दो तो वे दो किलो चिरोंजी दे देंगे और जो दिया उसे लेकर चले जायेंगे और कुछ नहीं, प्रचार-प्रसार करने कहीं नहीं जाते। कहते हैं—हमें आवश्यकता नहीं। जो आवश्यकता है वह लाकर दे दो तो ले लेते हैं नहीं तो नहीं। अपनी रेंज में किसी को नहीं आने देते। वे कहते हैं कि लोग यहाँ आकर स्थान अपवित्र कर देते हैं। उनका मानना है कि भावों के द्वारा भी स्थान अपवित्र हो जाता है। कहावत है कि—**चिड़िया के अण्डे से चूजे अभी-अभी बाहर निकले हों और मान लो किसी ने छू दिया तो फिर चिड़िया अपने घोंसले में नहीं लाती क्योंकि अस्पृश्य का हाथ लग गया।** मतलब आप चलने वाले हैं, वे उड़ने वाले हैं। आपकी जाति भिन्न है इसलिए वे पकड़ में नहीं आयेंगे। यदि डर के कारण पहले से घोंसले में रख दें तो फिर वह समाप्त..हाथ लग गया तो फिर गया..फिर तो वे सहलायेंगे भी नहीं क्योंकि उसके ऊपर आपका संस्कार पड़ गया है, वह अपनी सीमा के बाहर हो गया। छुआछूत वाली बात उनमें भी है। स्पृश्यास्पृश्य का विवेक/ज्ञान आप में ही है ऐसा नहीं किन्तु उनमें भी है। आप शुद्धता (सोले) में भी क्यों न हों, वे आपको स्वीकार नहीं करेंगे। ऐसा क्यों है? इसका आज तक पता नहीं चला है यह तो उनका अपना क्रियाकोष है। मन्त्र-तन्त्र के द्वारा इस ढंग के प्रभाव होते हैं लेकिन होते हुए भी **मणि, मन्त्र-तन्त्र बहु होई मरतैं न बचावें कोई।** इसी प्रकार आपके पास कोई भी विद्या हो तो वह भेद विज्ञान के विषय में काम नहीं आयेगी। मैं तो बहुत पढ़ा-लिखा हूँ इसलिए मुझे कुछ भी दे दो। आप पढ़े-लिखे हैं इसलिए आपको कोई जहर दे दे और उसे खा लें तो भी बच जायेंगे क्या? यह संभव नहीं। सम्यग्दृष्टि भी क्यों न हो यदि राग-द्वेष करता है तो उसे बन्ध नहीं होगा ऐसा नहीं हो सकता।

निर्जरा का अमोघ मन्त्र निर्विकल्प समाधि—निर्विकल्प समाधि वह मन्त्र है जिसके द्वारा उदय में आया हुआ कर्म राग-द्वेष की ओर आकृष्ट करेगा लेकिन वह आकृष्ट नहीं होता बच जाता है। यह उसकी कुशलता मानी जायेगी, कर्मों की निष्क्रियता नहीं मानी जायेगी किन्तु उसकी वह कुशलता है। धतूरे में मारक शक्ति है लेकिन मारक शक्ति कम करने पर वह मार नहीं सकता लेकिन उससे रोग निकल जायेगा, वह रोग की विकृति को बाहर निकाल देगा। अपने-अपने गुणस्थान के योग्य विशुद्ध भाव होने पर निर्जरा होती है लेकिन यहाँ पर शुद्धोपयोग के साथ रहने वाली भाव निर्जरा का कथन चल रहा है। द्रव्य निर्जरा के लिए भाव निर्जरा होना चाहिए वह अपने-अपने गुणस्थान के योग्य होती है लेकिन यहाँ पर उस भाव-निर्जरा का कथन है जिसके द्वारा उदयागत प्रत्यय अपना कार्य

नहीं कर सकते। प्रत्येक गुणस्थान में भाव भिन्न-भिन्न होते हैं जिनके निमित्त से निर्जरा होती है इसी का नाम भाव निर्जरा है। जिस प्रकार द्रव्य में भेद हो रहा है उसी प्रकार भावों में भी भेद होता होगा। इसकी पोटेंसी (शक्ति) कितनी है? आप देख लो। जहाँ पर कषाय का अभाव है वहाँ पर भाव निर्जरा कैसी है? वह आप देख लो...। वही बात यहाँ पर बताई जा रही है। विकल्प रहित जो परम समाधि में बैठा है उसके जो भाव निर्जरा होती है उसके साथ वहाँ द्रव्यनिर्जरा भी होगी इसका यह तात्पर्य है। निर्विकल्प समाधि में टंकोत्कीर्ण ऐसे सशक्त भाव होते हैं जिसका प्रभाव हजारों मील दूर जो बैठा है उस पर भी पड़ता है, यह समुद्घात आदि में आता है। जिसने मंत्र को सिद्ध किया है उसे सर्पादि से डर नहीं रहेगा क्योंकि मन्त्र के प्रभाव से सर्प आदि उसके इर्द-गिर्द आ ही नहीं सकते, उस पर प्रभाव नहीं डाल सकते। ज्योंही वह मन्त्र को जपने बैठ जाता है और कोई दूसरा मान लो उस समय विद्या प्रयुक्त करता है तो रुक जायेगा। यहाँ तक कि जिसने किया है उसे जाकर टच करता है कि आपने वहाँ पर हमें क्यों भेजा? क्योंकि उसी विद्या के माध्यम से उसका अपमान हो जाता है लेकिन वह कुछ कर नहीं सकता। अपना प्रभाव नहीं डाल सकता अतः जहाँ से भेजा वहीं पर जाकर खड़ा हो जाता है कि आपने मुझे वहाँ भेज दिया हमें देखकर सब हँस रहे हैं कि यह हार गया। तो इस प्रकार विद्या जानने वाले की भी कड़ी परीक्षा हो जाती है।

ज्ञानशक्ति एवं वैराग्य शक्ति—इस प्रकार ज्ञानी के कर्म किसी भी प्रकार आकर चिपकते नहीं हैं। यह उनकी ज्ञान शक्ति की विशेषता होती है। ज्ञान का अर्थ पढ़ना नहीं चिन्तन नहीं किन्तु यहाँ ज्ञान का प्रासंगिक अर्थ यह है कि—जिससे कर्मबन्ध रुक जाये वह ज्ञान लेना। **जिससे बन्ध न हो वही सम्यग्ज्ञान है बाकी सब ज्ञानों से क्या मतलब। जिस ज्ञान से कर्मबन्ध नहीं होता वही प्रासंगिक भेद-विज्ञान, वीतराग-विज्ञान या सम्यग्ज्ञान है।** यह ज्ञान शक्ति मानी जाती है। अब वैराग्य शक्ति क्या है? उसे भी सुनलो—संसार, शरीर, भोग से जो विरक्त होता है उसकी शक्ति अलग होती है। जो संसार की एक भी वस्तु से प्रभावित नहीं हुआ उसे और कौन सी शक्ति आयेगी जो प्रभावित कर सकेगी?

दृष्टान्त—जो योद्धा होता है वह पहले ढाल लेता है या तलवार? वह अकेली ढाल लेकर नहीं जाता है। सामने से तलवार का वार आता है तो ढाल सामने कर लेता है दूसरे हाथ से तलवार लेकर दूसरे के ऊपर वार करता है ऐसे दोनों आमने-सामने से वार करते रहते हैं। यदि ढाल नहीं है तो तलवार लेकर क्या करोगे? सामने जा ही नहीं सकते क्योंकि सामने वाले के पास ढाल और तलवार दोनों हैं तो आप टिक नहीं पायेंगे ऐसा न करियो। लोग सोचते हैं कि पहले सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर लें बाद में चारित्र्य को ग्रहण कर लेंगे लेकिन ऐसा सोचना उचित नहीं है।

मुनिराज चौबीसों घण्टे बारह भावनाओं का चिन्तन करते हैं और काम में/प्रयोग में लेते रहते हैं। हमारे तो पर्व प्रतिदिन चल रहे हैं। जब से घर छोड़ा तभी से प्रतिपल प्रतिदिन दशलक्षण धर्म पल रहे

हैं इसी का नाम तो पर्व है। लेकिन आप लोगों को तो जब भाद्रपद आता है तभी अच्छा लगता है। आप लोगों को यह ज्ञात ही नहीं है कि जो गरीब लोग होते हैं उनके यहाँ पर्व-त्यौहार के दिन ही कुछ पकवान आदि बनाये जाते हैं लेकिन जो धनवान हैं, उनके यहाँ सुबह-शाम पकवान ही पकवान उड़ते रहते हैं (बनते रहते हैं)। हमारे दश धर्म भी किन्हीं निमित्तों को लेकर नहीं चलते। कहने का तात्पर्य यह है कि श्रमण ज्योंहि प्रवृत्ति में आते हैं तब उनका दशलक्षण पर्व चलता रहता है उनके बारे में क्या कहना? वे तो स्वयं पर्वमय हो गये हैं वे दशलक्षण धर्म को ही पर्व नहीं मानते किन्तु उनके तो भीतर का निश्चय पर्व भी चलता है। प्रवृत्ति में ही क्षमा धारण करना महत्त्वपूर्ण नहीं है। कहते हैं—क्या क्षमा करना और करवाना। यह तो व्यवहार है। जब हमारी आत्मा को कोई पहचानता नहीं है तो किससे क्षमा माँगें और किसको क्षमा करें? उनकी वह अलग ही चीज है। गृहस्थ की बारह भावना और मुनि की बारह भावना अलग-अलग हैं। गृहस्थ की तो मेरी भावना ही ठीक है। जब दीक्षित होना होता है तो जैसा वह कहेंगे वैसा करेंगे उसका नाम है परीक्षा। आज के कॉलेज ऐसे हैं कि स्वयं ही पेपर निकालते हैं क्योंकि लिखने वाले भी स्वयं हैं लेकिन ऐसा होता ही नहीं। संघ में आना चाहते हैं तो यह पूछते हैं कि—क्या पढ़ें? यह इसलिए पूछते हैं कि संघ में आकर फिर पढ़ने का विकल्प तो नहीं करेंगे। पहले दीक्षाकाल फिर बाद में शिक्षा काल कहा है।

मुनिव्रत लेने की अथवा पालन करने की शिक्षा जिससे मिलती है उसका नाम शिक्षाव्रत है। भेद विज्ञान, निर्विकल्प-समाधि की परिणति जिसकी होती है उसी के लिए विशेष रास्ता दिखाया जाता है, अन्यथा दुनिया के तत्त्व के बारे में जो जानकार है वह यहाँ मोक्षमार्ग पर किसी काम का है ही नहीं। मोक्षमार्ग के योग्य उसका ज्ञान है ही नहीं। यहाँ पर कहा जा रहा है कि—वीतरागियों को रागी से क्या मिलने वाला है? श्रमणों को गृहस्थों से क्या मिलने वाला है? सोच लो...उन्हीं के (श्रावकों के) पिछलग्गु हो जाओ यह ठीक नहीं है, उनके पीछे आप हो जाओगे तो आपके पीछे कौन आयेगा? मैं सब कुछ हूँ... ऐसा भी नहीं सोचो! श्रावक मार्ग भी तीर्थकरों के द्वारा प्रतिपादित मार्ग है वह उसकी उपासना कर रहा है। करो बस... उतना ही बता दो। दादाजी भी नाती से पूछने आ जाए तो उतना बता देता है, लेकिन दादा जी चरण स्पर्श...हाँ, हाँ बेटा! दादाजी का इतना कहना ही नाती का आदर है, सम्मान है, वह तो उतने में ही फूल जाता है अर्थात् खुश हो जाता है। यदि दादाजी उस नाती के पीछे लग जायें तो क्या होगा? यह स्थिति ठीक नहीं है। कौन किसके ऊपर निर्भर है? यह तो सोचो...। वह श्रावक आपके ऊपर निर्भर है तो ठीक है लेकिन हम संयमी उनके ऊपर निर्भर हो जायें तो...? गया...। फिर तो अध्यात्म भी कोरा हो जायेगा। आज का अध्यात्म पराश्रित होता चला जा रहा है फिर भी अध्यात्म-युग कहा जा रहा है। कौन कहता है? पता नहीं...। इस प्रकार ज्ञानी जीव अमोघ भेदज्ञान रूप मन्त्र के वश से कर्मबन्ध को प्राप्त नहीं होता। यह ज्ञानशक्ति का व्याख्यान पूर्ण हुआ।

उत्थानिका—आगे संसार, शरीर, भोगों के विषय में जो वैराग्य की सामर्थ्य है उसे दिखलाते हैं—
जह मज्जं पिवमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो ।

दव्वुवभोगे अरदो णाणीवि ण बज्झदि तहेव ॥२०५॥

अन्वयार्थ—(जह) जैसे (पुरिसो) कोई पुरुष (मज्जं) मदिरा को (अरदिभावेण) बिना प्रीति के (पिवमाणो) पीता हुआ (ण मज्जदि) मदवाला नहीं होता (तहेव) वैसे ही (णाणीवि) ज्ञानी भी (दव्वुवभोगे) द्रव्य के उपभोग में (अरदो) राग रहित होता हुआ (ण बज्झदि) कर्मों से नहीं बँधता यह वैराग्य की सामर्थ्य है ।

अर्थ—जैसे कोई पुरुष अरति भाव से अप्रीतिपूर्वक किसी भी मादक पदार्थ को पीता हुआ भी मतवाला नहीं होता, वैसे ही किसी भी पदार्थ के उपभोग में रागादि रहित हुआ ज्ञानी जीव भी कर्म बन्ध को प्राप्त नहीं होता है ।

होता प्रमत्त नहिं मादकता घटा के,
 जो मद्यपान करता रुचि को हटा के।
 ज्ञानी विराग मुनि भोगत भोग सारे,
 ये कर्म से न बंधते, निज को निहारे ॥२०५॥

व्याख्या—जैसे—कोई व्यक्ति मद्य को अरतिभाव से पीता है तो उस पर मादकता का प्रभाव नहीं पड़ता है उसी प्रकार जो ज्ञानी जीव द्रव्य का उपभोग राग रहित होकर करता है तो वह ज्ञानी कर्मबन्ध को प्राप्त नहीं होता है ।

दृष्टान्त—जैसे—खसखस का बौड़ा होता है उसे उन बच्चों को घुटी जैसी बनाकर दे देते हैं जिन बच्चों को नींद नहीं आती या जो माँ को काम नहीं करने देते । उसे लेने पर बच्चा सो जाता है तो माँ और अन्य परिजन अपने-अपने काम अच्छे ढंग से कर लेते हैं । या रात को पिला देते हैं तो भी उसे नींद आ जाती है उससे उसका स्वास्थ्य भी ठीक हो जाता है और माँ भी अच्छे से नींद ले लेती है । उसी प्रकार आचार्य कहते हैं कि—राग नहीं होने के कारण आगत कर्मों का उदय प्राप्त होते हुए भी ज्ञानी जीव बन्ध को प्राप्त नहीं होता अतः ज्ञानी जीव स्वस्थ रहता है । यह मूल बात है इसलिए जो राग-द्वेष-मोह से रहित होते हैं वे ज्ञानी कहलाते हैं । पञ्चेन्द्रिय के विषय भोगों को प्राप्त होता हुआ भी वह जितना-जितना निर्विकार होता है उतना-उतना बहिरात्मा जीव की अपेक्षा राग-भाव नहीं होने से उतने-उतने अंशों में कर्मबन्ध को प्राप्त नहीं होता किन्तु जिस समय हर्ष-विषाद से रहित होते हुए समस्त विकल्प-जालों से रहित होकर पूर्णतः वीतराग हो जाता है तो सर्वथा बंध से रहित हो जाता है । यह ज्ञान और वैराग्य शक्ति का वर्णन हुआ ।

वैराग्य के साथ ज्ञान और ज्ञान के साथ वैराग्य होना चाहिए । यहाँ ज्ञान और वैराग्य का जोड़ा बताया है केवल वैराग्य या केवल ज्ञान नहीं । वैराग्य एक प्रकार से ज्ञान का प्रतिफलन है इसके भीतर

तत्त्वज्ञान कितना है? यह उसके वैराग्य के माध्यम से आँक सकते हैं और वैराग्य के माध्यम से उसका ज्ञान कितना दृढ़ है? यह भी जान सकते हैं और कह सकते हैं कि इसके ऊपर ज्ञान का कितना संस्कार पड़ा हुआ है।

दृष्टान्त—जैसे—भाषा के माध्यम से व्यक्ति के व्यक्तित्व का और उसके क्रियाकलाप के बारे में जानकारी प्राप्त हो जाती है। उसके रहन-सहन, बोल-चाल की जानकारी प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार यहाँ जिसका तत्त्वज्ञान पहुँचा हुआ है उससे उसके वैराग्य की और पहुँचे हुए वैराग्य से उसके भेद विज्ञान की जानकारी हो जाती है क्योंकि जब साधक को ज्ञान होता है तब उसके जीवन में वैराग्य की लहर देखने में आती है। इस प्रकार बाहरी वैराग्य और भीतरी तत्त्वज्ञान दोनों एक साथ काम करते रहते हैं। जितने-जितने अंशों में वैराग्य और ज्ञान प्रकट रहता है उतने-उतने अंशों में कर्मबन्ध को प्राप्त नहीं होता।

विज्ञासा—वीतरागी अवस्था कहाँ से प्रारम्भ होती है?

समाधान—आगम में सप्तम गुणस्थान से वीतराग अवस्था मानी है लेकिन वह प्रारम्भिक अवस्था है, पूर्णतः वीतरागी नहीं है। वह बुद्धिपूर्वक राग नहीं कर रहा है इसलिए वीतरागी है। ऊपर के गुणस्थान या उपरिल लब्धिस्थानों की अपेक्षा से वह नीचे रहता है अतः बन्ध को प्राप्त होता रहता है। **प्रवचनसार** में शुद्धोपयोग के उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य भेद किए हैं। इससे यह फलितार्थ निकलता है कि जो ऊपर के गुणस्थान में शुद्धोपयोग के सम्मुख होते हुए भी सम्पन्न दशा को प्राप्त नहीं होता तब तक नीचे के गुणस्थान में उस गुणस्थान के योग्य जो कर्म उदय में हैं तो तत्सम्बन्धी राग-द्वेष प्रत्यय रूप परिणत होता है। ऐसा होते हुए भी भीतर क्या घटना घट रही है यह किसी को भी ज्ञात नहीं होता है।

दृष्टान्त—जैसे—मानलो तीर्थकर चर्या को निकले हैं तो उन्हें देखकर कोई ये नहीं कह सकता कि इनको भूख लगी है लेकिन भोजन के समय निकले हैं इसलिए श्रावक लोग विवेक से समझ लेते हैं कि ये जंगल में रहने वाले इस समय यहाँ क्यों आ रहे हैं? क्योंकि उस समय की उनकी मुद्रा या वृत्ति से कुछ ज्ञात नहीं होता। भिन्न-भिन्न देशों में खेल के भिन्न-भिन्न नाम हैं। दक्षिण में कबड्डी को कबड्डी नहीं बोलते हैं अलग कुछ बोला जाता है लेकिन खेल तो खेल है। उसी प्रकार यहाँ के लोगों को ज्ञात नहीं हो पाता हो इसलिए मुद्रा आदि को लेते हैं। देव उनके साथ-साथ चलते हैं। कुछ नियम मुख्य और कुछ गौण होते हैं। जैसे—क्षुल्लक जी निकलते हैं तो वे धर्म लाभ हो ऐसा कहते हैं लेकिन मुनिराज ऐसा नहीं कहते किन्तु वे मुद्रा लेकर चले जाते हैं। **मूलाचार** आदि किसी भी ग्रन्थ में इस प्रकार की मुद्रा लेकर जाते हैं यह उल्लेख नहीं है। फिर भी शास्त्रोक्त विधि से निकले हैं यह कहते हैं। पूछने वाला पूछता है कि ऐसा कहाँ लिखा है? तो सारी बातें लिखी नहीं जाती सीधे-सीधे निकला नहीं जाता है अतः यह तात्कालिक व्यवस्था है।

दृष्टान्त—ज्ञानशक्ति एवं वैराग्यशक्ति—ज्ञान-शक्ति और वैराग्यशक्ति ये दोनों सम्यग्दृष्टि की विशिष्ट शक्तियाँ मानी गई हैं। जैसे कोई योद्धा रणांगन में कूद पड़ता है और पर चक्र का आक्रमण हुआ है तो वह दायें हाथ में तलवार और बायें हाथ में ढाल लेकर युद्ध लड़ता है। जब प्रतिपक्षी इसके ऊपर प्रहार करता है तो ढाल के द्वारा उसका निवारण करता है तथा युक्तिपूर्वक प्रतिपक्षी के ऊपर तलवार से प्रहार करता है। दोनों एक-दूसरे के प्रतिपक्षी हैं। दोनों को अवसर की प्रतीक्षा रहती है और अवसर मिलते ही प्रहार करते हैं तथा प्रहार करके विजयी होने की भावना रखते हैं। उसी प्रकार ज्ञानी अपनी शक्ति का प्रयोग करता रहता है और जिस समय अवसर होता है उस समय अपनी शक्ति का प्रयोग कर कर्म को कमजोर करके युक्ति पूर्वक उस पर प्रहार करके विजय प्राप्त करता है। प्रतिसमय एक प्रकार से विजयी होने की भावना रखते हुए भी कर्म का जोर होने के कारण उस पर प्रहार करने में सक्षम नहीं हो पाता है फिर भी सन्धि की प्रतीक्षा रहती है और अपने पूरे स्तत्रय के बल से कर्म को काटने का अथवा क्षतिग्रस्त करने का प्रयास करता रहता है। **यह संघर्ष का अवसर है मोक्षमार्ग।**

आत्मा को नोकर्म के माध्यम से कर्मफल मिलता है और यह नोकर्म, नोकर्म होते हुए भी कर्म से ज्यादा बलवान लगता है क्योंकि किसी भी कर्म का संवेदन डॉयरेक्ट नहीं हो पाता है। नोकर्म के माध्यम से कर्म का संवेदन होता है। मानलो असाता कर्म फल देना चाहता है तो नोकर्म (शरीरादि) के बिना उसका अनुभव नहीं हो पायेगा। आठ कर्मों में मुख्यतः केवल वेदनीय कर्म ही वेदन के योग्य है ऐसा कहा है फिर भी नोकर्म के अभाव में वेदनीय का क्या कटु अनुभव है? यह भी हम अनुभव नहीं कर पायेंगे। इससे स्पष्ट है कि नोकर्म भले ही नोकर्म है लेकिन दुःख कष्ट आदि का कुछ भी संवेदन होता है वह नोकर्म के माध्यम से ही होता है। विग्रहगति के तीन समय एक्सेप्शन हैं। बाकी समय कर्मों का गठबन्धन नोकर्मों से बना रहता है और तत्सम्बन्धी वेदना उसको होती रहती है। **मानसिक दुःख भी नोकर्मों के बिना नहीं हो सकता उसके लिए भी यह आवश्यक है।**

दृष्टान्त—जैसे—मानलो कोई ऊँचा सुनता है उसे कोई धीरे से गाली दे दें तो उसे कुछ सुनने में नहीं आया अतः उसे दुःख नहीं हुआ। लेकिन पड़ोस में एक व्यक्ति बैठा था वह मन में सोचता है कि मुझे गाली दी है तो उसे गुस्सा आ गया। प्रतिकार करना चाहा तो वह कहता है भैया! मैंने आपको कुछ नहीं कहा, हमने तो इनको कहा है तब उस पड़ोसी को शान्ति हुई। इस प्रकार दोनों की बातें हो रही हैं तो भी वह शान्त बैठा है क्योंकि ये दोनों आपस में क्या बोल रहे हैं यह सुनाई ही नहीं पड़ रहा है। इस प्रकार यहाँ पर सुख-दुःख भोगने में नोकर्म किस प्रकार की भूमिका में हैं यह स्पष्ट होता है। यह बड़ा विस्मयकारी है। इसका सम्बन्ध आत्मा के साथ जुड़ा हुआ है, किसी भी पार्ट में आपका सम्बन्ध जुड़ा होने पर ही वेदनीय का अनुभव होगा अन्यथा नहीं। बिना नोकर्म के कर्म क्या हैं? इसका अनुभव नहीं होता। जैसे किसी को बुखार रहते हुए भी महसूस नहीं होता लेकिन डॉक्टर वैद्य लोग उसे जानते हैं उसी प्रकार आपका जो शारीरिक और मानसिक दुःख है वह नोकर्म के साथ ही जुड़ा है।

यद्यपि योद्धा कार्य कर रहा है लेकिन हमेशा उसे इस बात की भीति बनी रहती है कि प्रतिपक्षी कब मेरे ऊपर प्रहार कर दें? वह हमेशा इसे देखने का प्रयास करता रहता है इसी प्रकार कर्म भी एक सेकंड में कोई भी रूप धारण कर सकता है। आप इसके बारे में तभी अनुभव कर सकते हैं जब कर्मों का उदय हो या उदीरणा हो। केवलज्ञान होने में एक समय शेष है अथवा छद्मस्थ अवस्था में एक समय शेष है तो भी केवलज्ञानावरण कर्म का उदय उसे कितनी परेशानी में डाले रखे है। इसी प्रकार कभी भी बंधा हुआ कर्म उदय-उदीरणा में आकर आत्मा को पीड़ित कर सकता है। इसलिए **मूलाचार** ग्रन्थ में **सुखं सह** ऐसा न कहके **दुःखं सह** ऐसा कहा है। दुःख की पीड़ा आर्त्तध्यान के लिए कारण न हो यह भी कहा है। ज्ञान तो रखो लेकिन दुःख को सहन करने का अभ्यास बढ़ाओ। सुख में क्या सहन करे बल्कि उसमें तो जीव बहुत जल्दी गहल-भाव में उतर आता है। सुख को सहन करने का और दुःख को सहन करने का ज्ञान अलग-अलग क्वालिटि का चाहिए तभी वह अपने ज्ञान का सदुपयोग कर सकता है। इस प्रकार यह ज्ञान-शक्ति व वैराग्य शक्ति का चित्रण किया गया। आज तक कर्म की शक्ति बलजोर रही है तथा आत्मा की शक्ति कमजोर रही है क्योंकि आज तक ज्ञान का सदुपयोग नहीं किया गया है किन्तु ज्ञान का दुरुपयोग ही किया गया है या उसका उपयोग ही नहीं किया गया। बार-बार कह करके भी छठवीं गाथा में वैराग्य-शक्ति का पुनः वर्णन करेंगे क्योंकि हमेशा-हमेशा यह बात ध्यान में रहना संभव नहीं है।

इस प्रकार जैसे रोग को मिटाने के लिए रोगी मादक औषधि को अरुचिभाव से पीता है अतः वह उन्मत्त भाव को प्राप्त नहीं होता है। वैसे ही परमार्थ तत्त्व का जानकार पुरुष पञ्चेन्द्रिय के विषयभूत खान-पान आदि द्रव्य का उपभोग करते हुए भी बहिरात्मा जीव के समान रागभाव को नहीं करता है अतः उसे उस-उस प्रकार का कर्म बन्ध भी नहीं होता। यह उसकी वैराग्य शक्ति की विशेषता है।

इस प्रकार यथाक्रम से द्रव्यनिर्जरा, भावनिर्जरा, ज्ञानशक्ति और वैराग्य शक्ति का वर्णन करते हुए इस निर्जरा अधिकार में तात्पर्य व्याख्यान की मुख्यता से चार गाथाएँ पूर्ण हुईं।

उत्थानिका—आगे उसी वैराग्य शक्ति का स्वरूप बताते हैं—

सेवंतो वि ण सेवदि असेवमाणोवि सेवगो कोवि ।

पगरणचेट्टा कस्सवि ण य पायरणोत्ति सो होदि ॥२०६॥

अन्वयार्थ— (कोवि) कोई तो (सेवंतो वि) विषयों का सेवन करता हुआ भी (ण सेवदि) सेवन नहीं करता और (असेवमाणोवि) कोई नहीं सेवन करता हुआ भी (सेवगो) सेवन करने वाला कहा जाता है (कस्सवि) किसी पुरुष के (पगरणचेट्टा) प्रकरण की चेष्टा वर्तती है (य सो) और वह (पायरणोत्ति ण) प्राकरणिक नहीं ऐसा (होदि) होता है।

भावार्थ—जैसे किसी की जिम्मेदारी अन्य पुरुष को दे दी जाती है इसलिए वह उस कार्य को करता तो है पर स्वामी नहीं होता उसी प्रकार वैरागी जीव के कर्मोदय वश इन्द्रिय विषय ग्रहण में तो

आते हैं पर वह भोक्ता नहीं होता है।

अर्थ—कोई भोगों को सेवता हुआ भी सेवन नहीं करता है। [जैसे—अभया रानी के चंगुल में फँसे हुए सेठ सुदर्शन के समान विवशता वश किसी विषय को भोगता हुआ भी वह उसका भोगने वाला नहीं होता] दूसरा कोई नहीं सेवन करता हुआ भी उसका सेवन करने वाला होता है। जैसे कि जिसका विवाह होता है वह उस विवाह का कुछ भी काम नहीं करता किन्तु उस विवाह में आये हुए पाहुने आदिक जिनका विवाह नहीं होता है वे उस विवाह का सब काम करते हैं।

लो भोग, भोगकर भी मुनि हो न भोगी,
भोगे बिना जड़ कुधी बन जाय भोगी।
इच्छा बिना यदि करे कुछ कार्य त्यागी,
कर्ता कथं फिर बने पर का विरागी ॥२०६॥

व्याख्या—निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान का धारक जीव अपने-अपने गुणस्थान के योग्य खान-पानादि रूप पञ्चेन्द्रियों के भोगों को भोगने वाला होकर भी उसका भोक्ता नहीं होता किन्तु अज्ञानी जीव उसे न सेवन करता हुआ भी उसके प्रति रागभाव होने से उसका सेवन करने वाला बना रहता है। इसी बात को दृष्टान्त देकर समझाया है कि कोई सेवन करते हुए भी सेवन नहीं करता और एक नहीं सेवन करते हुए भी सेवन करने वाला होता है। **सेवंतोवि ण सेवदि** तात्पर्य यह है कि जो सेवन करते हुए भी सेवन नहीं करता वह जागृत रहता है और जो सेवन नहीं करते हुए भी सेवन करता है यह अजागृत रहता है। **पगरण चेद्वा कस्सवि ण य पायरणोत्ति सो होदि** जैसे कि जिसका विवाहादि नहीं होता है अतः वह विवाहादि का प्राकरणिक तो नहीं है क्योंकि वह तो दूसरे घर से अतिथि बनकर आया है फिर भी वह उस विवाहादि का काम करता है किन्तु जो प्राकरणिक है अर्थात् जिसका विवाह होता है वह गीत-नृत्य आदि कोई भी प्रकार का काम नहीं करता है फिर भी उन वैवाहिक कार्यों के प्रति राग होने से वही प्राकरणिक कहलाता है। उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी जीव किसी विषय का सेवन करने वाला होकर भी वह उसका भोक्ता नहीं होता, किन्तु अज्ञानी जीव किसी वस्तु का सेवन न करने वाला होकर भी अपने रागभाव के कारण वह उसका भोक्ता बना रहता है।

अपने कार्य क्षेत्र में जागृति हो जाती है तो उस क्षेत्र में नहीं सेवन करते हुए भी सेवन करता है। क्योंकि प्रकरण में प्रासंगिक कोई कार्य हो रहा है तो चेष्टा भले ही करता है लेकिन वह प्राकरणिक नहीं हो सकता अर्थात् वह मुख्य रूप से कार्यकर्ता के रूप में सिद्ध नहीं होता।

दृष्टान्त—जैसे—एक बार उदाहरण दिया था किसी के यहाँ शादी हो रही है बाहर से बारात आ रही है। बारात आने के उपरान्त घर भर गया। कभी-कभी लड़की के यहाँ बारात आती है, कभी-कभी लड़के के यहाँ बारात चली जाती है। मान लो लड़के के घर में बारात आई है। १००-१५० व्यक्ति इकट्ठे हो गये हैं, मण्डप बन रहा है, सज रहा है इत्यादि अनेक प्रकार के कार्य हो रहे हैं तो तीन-चार दिन

तक उसमें राजकुमार के समान दूल्हे का कार्य होता है, उसे उच्च सिंहासन दे देते हैं, हल्दी कुमकुम लगती है, अनेक प्रकार की नवीन-नवीन वेश-भूषा बदलते हैं। दो-दो घण्टे में यह सब कुछ कार्यक्रम चल रहा है। वहाँ कैसा लग रहा है? इसे देखो उसे अपनी दृष्टि में बाँधो। परिवार, रिश्तेदार वगैरह सभी कार्यों में हाथ बँटा रहे हैं लेकिन उन्हें दूल्हे के समान विवाह सम्बन्धी रस नहीं आ रहा है जबकि दूल्हे को प्रत्येक कार्य सम्बन्धी रस आ रहा है। वह महसूस करता है कि मेरी शादी होना है, बारात आई है, श्रीमान्, धीमान् सभी आये हैं ऐसा सोचकर खुश होता रहता है लेकिन कार्य कुछ भी नहीं कर रहा है, भरा गिलास उठाकर पानी पीने में भी कष्ट सा हो रहा है। अन्य लोगों को रस इसलिए नहीं आता कि बारात में आये हैं, दो दिन का काम है, फिर तो वापस जाना ही है अतः वे सभी प्राकरणिक नहीं कहलाते। यदि ऐसा नहीं मानते हैं तो फिर मैं बड़े-बड़े सेठ साहूकारों को भी निरारम्भी और निष्परिग्रही सिद्ध करूँगा क्योंकि वे भी कोई आरम्भ आदि तो करते नहीं हैं। योद्धा के द्वारा युद्ध होता है और राजा विजयी होता है। पहले **जोधेहिं कथे जुद्धे** ऐसा कहकर आए हैं तो जिसके कारण कार्य हो रहा है वह प्राकरणिक है।

कर्ता-भोक्ता-स्वामी इन तीनों के ऊपर सारा का सारा कार्य आधारित है। छियानवे हजार रानियों के साथ क्रीड़ा करने वाले भरत चक्रवर्ती को यदि हम वैरागी कह दें तो इसमें क्या अपेक्षा है? यह देखना आवश्यक है। चक्र की अपेक्षा नहीं किन्तु भोक्ता की अपेक्षा से यह क्या है? यह सोचने की बात है। दूसरी बात यह है कि भले ही चक्रवर्ती को अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान हो गया लेकिन घर में क्यों नहीं हुआ? घर का वैराग्य कैसा था और केवलज्ञान के पहले वैराग्य कैसा था? यह स्पष्ट करना होगा। इन सब बातों से स्पष्ट होता है कि भोक्तृत्व प्रत्यय अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। कर्तृत्वभाव छूटा है ऐसा भी तब समझना जब मन, वचन, काय से वह भोगों के सामने खड़ा नहीं हो रहा हो।

प्राकरणिक कौन होता है? मैं क्या करूँ? चारित्र मोहनीय कर्म के उदय के कारण ऐसा हो रहा है अर्थात् भोगों को नहीं छोड़ पा रहा हूँ ऐसा कहना तो बहुत आसान है। चारित्र मोहनीय की बात तो बाद की है पहले यह बताओ कि दर्शन मोहनीय को तोला है या नहीं? राग-द्वेष मोह की बात तो मैं बाद में करूँगा। भोग-भोगते समय अपने आप हो जायेगा। अतः **प्राकरणिक वही होता है जिसे रस आता है।** रस अनेक प्रकार का, अनेक मात्राओं के साथ आ सकता है लेकिन उसे रस नहीं आ रहा है ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। प्रसंग में बात कह रहा हूँ कि जिसका भोजन करने के उपरान्त भी खून नहीं बनता तो कहते हैं कि पहले भोजन का रस बनना चाहिए जब रस नहीं बन रहा तो खून कैसे बनेगा? लेकिन यहाँ भोजन के रस बनने का प्रसंग नहीं है, यहाँ तो रस नहीं आने का प्रसंग है। रस नहीं बनना कमजोरी या विकृति है और रस नहीं आना यह एक मन की परिणति है, यह जिह्वा की विकृति नहीं मानी जायेगी। जिह्वा में रस आ रहा है फिर भी भीतर रस नहीं बन रहा है यह शरीर का दोष है और यदि रस आ रहा है तो उसमें भी जिह्वा का दोष नहीं है बल्कि संज्ञी पञ्चेन्द्रिय की अपेक्षा

से पूछेंगे तो वह मन का दोष है। यदि मन रस लेने को आतुर है तो सबमें रस आयेगा और मन आतुर नहीं है तो जिह्वा के ऊपर रखने के उपरान्त भी रस नहीं आता है। जिसको जिह्वा के ऊपर रखने पर भी रस नहीं आ रहा है और रस नहीं बन रहा है तो कोई बाधा नहीं और रस बन जाये तो भी बाधा नहीं। यह शरीर स्वस्थ है तो जो कोई वस्तु डालेंगे तो रस बन जायेगा। **जिह्वा पर इष्ट सामग्री रखने पर भी रस नहीं आ रहा है यह मानसिक संयम है।** प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक होना यह महत्त्वपूर्ण है।

संयम का लेमिनेशन—संसारी प्राणी पञ्चेन्द्रिय के विषयों के ढेर के बीच में बैठा हुआ है फिर भी यदि मनोयोग के माध्यम से प्राकरणिक नहीं बनता है तो दुनिया की कोई भी ऐसी शक्ति नहीं है जो उसे रस लेने वाला (प्राकरणिक) बना दे। जब भीतर से मन तैयार होता है तभी बाहर में रस-पच जाता है अन्यथा नहीं। मेंहदी हाथ में रखने मात्र से रचती नहीं, किन्तु उसमें कोई और रस डालना पड़ता है तो मेंहदी रच जाती है नहीं तो वैसी ही रखी रह जाती है। भले ही वह कुछ भी हो रखने मात्र से वह नहीं रचती यह प्रसंग में हम कह रहे हैं। चाहे हाथ पसीने वाले नहीं हों और हों तो भी रच जाती है। हाथ के पसीने से रच जाये तो मन के पसीने से तो और भी रच सकती है इसलिए हाथ में कोई ऐसा लेमिनेशन किया जाये कि मेंहदी रचे ही नहीं। इसी प्रकार मन के ऊपर संयम के लेमिनेशन की आवश्यकता है। आज तो लेमिनेशन का जमाना आ गया है, जीर्ण कागज आदि को भी उससे सुरक्षित रखते हैं। आज जीर्णोद्धार की आवश्यकता नहीं किन्तु लेमिनेशन से काम चल जाता है उसी प्रकार मन के ऊपर लेमिनेशन करना आवश्यक है जिसके फलस्वरूप पञ्चेन्द्रिय विषयों में रचेगा-पचेगा नहीं। अतः यह संयम मन पर लेमिनेशन का काम करता है। इसीलिए इन्द्रिय संयम के साथ-साथ मन पर संयम रखना भी अनिवार्य है। मन संयमित हो जाता है तो जैसी विशुद्धि बढ़ाना चाहें वैसी बढ़ सकती है इसलिए कहा है—प्राकरणिक न बनो। यहाँ पर सभा में कई लोग चक्रवर्ती बनने की इच्छा लिए बैठे होंगे, बनना तो है नहीं लेकिन इच्छा का त्याग भी नहीं। दस करोड़ आने वाला है नहीं लेकिन दस लाख की भी सीमा नहीं बना पा रहे हैं क्योंकि It may be possible अर्थात् यह भी सम्भव है, ऐसा विचार आता है। एक कहावत है कि—

कृपणस्यासक्तिः नृपस्य चित्तः पुरुषस्य भाग्यं देवो न जानाति कुतो मनुष्यः।

अर्थात् कृपण की आसक्ति, राजा का चित्त, पुरुष के भाग्य को जब देव नहीं जानते तो मनुष्य कैसे जान सकते हैं? यह बड़ा वैचित्र्य लगता है। मनुष्य का भाग्य कब पलट जायेगा यह कह नहीं सकते। यहाँ सभी किस भरोसे पर बैठे हैं, समझ नहीं आ रहा है। सेवन नहीं करते हुए भी सेवन करने वाला माना जाता है इसीलिए उसे प्राकरणिक बोलते हैं। इसके लिए उदाहरण दिया था कि—

दृष्टान्त—जैसे—राजा कभी युद्ध नहीं लड़ता, वह तो बैठा रहता है और आज कल जो कमाण्डर नेता हैं वे भी कभी रणांगण में नहीं जाते, रडार के सामने बैठे रहते हैं और अपने सभी दैनिक कार्य करते रहते हैं। रडार के सामने बैठकर शतरंज का खेल जैसा खेलते रहते हैं, खाने-पीने आदि की पूरी

सामग्री उनके सामने तैयार रहती है। एयरकण्डिशन में बैठे-बैठे सारा का सारा खेल देखते रहते हैं। इसमें प्राकरणिक कौन? जहाँ घुमाओ घूम जाते हैं सैनिक। बंगाल देश बनने से पूर्व पाकिस्तान की क्या स्थिति थी वह तो भारत वाले जाने लेकिन सेना लेकर वहाँ तक गये तो पन्द्रह दिन लग गये और एक प्रसिद्ध इतिहास घटना घट गई। एक लाख सेना के व्यक्ति जो हाथ में अनेक प्रकार की नूतन सामग्री शस्त्र इत्यादि लेकर खड़े हैं आत्म-समर्पण कर जाते हैं। रणांगण में कोई कूदता ही नहीं। आजकल तो कूदने की कोई आवश्यकता ही नहीं, मशीन में ही बम रख देते हैं और मशीन ही संकेत दे देती है। एक गड़बड़ हो जाये तो दूसरी मशीन वहीं पर नियुक्त रहती है वह बता देती है कि वह मशीन गड़बड़ कर रही है उसे ठीक कर दो। यदि वह प्राकरणिक व्यक्ति सो गया तो सब शान्त रहता है। एक बार ऐसा हो भी गया था कि रूस और अमेरिका दोनों देश भिड़ने वाले थे लेकिन मालूम हुआ कि हमारे रडार ने काम गड़बड़ कर दिया है तो फिर कुछ नहीं हो पाया था इसको प्राकरणिक बोलते हैं।

पञ्चेन्द्रियाँ बराती हैं, कुँवर साहब तो मन है— पाँच इन्द्रियाँ बराती हैं और कुँवरसाहब तो मन है बस उसे मनाना पड़ता है, वह मानता नहीं मनवाता है तथा दुनिया की कोई बात नहीं मानता। हर काम करने में उससे पूछना पड़ता है एक बार की बात है, बारात आई, बैठी, सब कुछ काम हो गया पंगत बैठने वाली थी सभी बाराती बैठ गए लेकिन जब तक कुँवर साहब भोजन प्रारम्भ नहीं करें तो सभी बाराती कैसे करेंगे? सब कुछ तैयार है लेकिन वह तैयार नहीं है तो पण्डित जी ने कहा— हाँ कुँवर साहब! आप भोजन चालू कर देंगे, तो सब लोग भी चालू कर देंगे। तब कुँवर साहब को भी चालू करना पड़ा ऐसा होता है। अतः इन्द्रियाँ बराती हैं मन कुँवर साहब। इन्द्रियों की तरफ मत देखो। आर्डर हो गया तो चालू हो गया इसलिए वह क्या करना चाहता है यह तो वही जाने, हमें समझ में नहीं आता। यदि संकल्प पूर्वक, मनोयोग पूर्वक कोई कार्य हाथ में लेते हैं तो वह मन पुनः कैसे उचट जाता है। ऐसा क्यों होता है? क्योंकि यह मन आत्मा से बंधा नहीं किन्तु आत्मा को बाँध लेता है और कहता है कि आत्मा ने संकल्प किया है हमने तो नहीं लिया। किसी से लिया यह बात अलग है, मैं तो मीडिया हूँ। जिस प्रकार लोकतन्त्र में मीडिया किसी के आधीन नहीं होती उसी प्रकार अनियन्त्रित मन किसी के आधीन नहीं होता। संकल्पित मन स्वाधीन होता है। मन स्वतः संकल्प नहीं लेता। आत्मा संकल्प लेती है फिर भी मन उचट जाता है। अब क्या करें? आत्मा कहती है—मन! आत्मा हो तो आ जा। फलतः मन को आना पड़ता है। आत्मा मन के अनुकूल हो जाती है तो मन उचटता ही रहता है अतः आत्मा को जागृत रखिए, प्राकरणिक न बनिये। मन का न विषय निश्चित है न क्षेत्र निश्चित है जबकि इन्द्रियों के विषय भी निश्चित हैं और उनके क्षेत्र भी नियत हैं। जैसे—आप प्राकरणिक बनते हैं वैसे वे नहीं बनते। मान लो आप किसी से भिड़ गए, लड़ाई हो गई तो वह घटना होकर चली गई लेकिन आपके दिमाग में वह घटना ताजी बनी रहती है, पाँच इन्द्रियों में नहीं। इसी का नाम है प्राकरणिक बनना। मन के माध्यम से उस घटना की धारणा बन जाती है, कालान्तर में वह प्रतिशोध का रूप ले

सकती है। असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय मद नहीं करता।

जिज्ञासा—इन्द्रियाँ मद नहीं करतीं फिर मद किसकी खुराक है?

समाधान—ख्याति-पूजा-प्रतिष्ठा आदि किसकी खुराक है? आचार्य इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि यह मन की खुराक है। समय पर यदि जिसे भोजन नहीं दिया जाता उसे बाद में कितना भी बुलाओ तो भी वह आता ही नहीं, कुछ बोलता ही नहीं किन्तु मन में विचार करता है कि—मैंने जब भोजन माँगा था तब तो दिया ही नहीं अब हमें नहीं करना। मन की भूख कितनी है? कुछ समझ नहीं आता। यह मन ऐसा जबाब क्यों दे रहा है? उसे सीधा-सीधा स्पष्ट कहना चाहिए कि—मुझे उस समय भूख लगी थी अब नहीं खाना। मन क्यों उचटता है? आचार्य कहते हैं कि संकल्प के अनुसार या सोचा हुआ कार्य नहीं होता है तो मन उचट जाता है, तन नहीं उचटता। पाँच इन्द्रियाँ कभी नहीं बिगड़तीं। गैय्या के समान बड़ी सयानी हैं। अनिर्दिष्ट विषयी व अनिर्दिष्ट क्षेत्र वाला होने से प्राथमिक भूमिका में मन कहीं जाता है किन्तु आत्मा में दृढ़ता होने से स्वतः वापस आ जाता है। मन तो ऊधम करता रहता है लेकिन आत्मा के संकल्पित होने से मन को जीत लेता है। आज्ञा देने वाला आत्मा है यदि वह जीवित अर्थात् सावधान नहीं है तो मन उचट जाता है। **आखिर मन साधन है साधक नहीं। साध्य सिद्ध करने वाला व्यक्ति उस साधन को काम में लेता है वह काम में आता है तो ठीक अन्यथा बैठा रहता है।** संकल्प के कारण हमारी प्रतिज्ञा जीवित रहती है। कहते हैं कि वैसे तो मन में हमेशा कितनी भी तरंग उठें, उठने दो, लेकिन लगाम लगाये रखो, संयम बनाए रखो। यदि लगाम हाथ में है तो घोड़ा इधर-उधर नहीं जा सकता। लगाम में ढीलापन हो अथवा घोड़ा हिनहिनाने वाला हो तो लगाम को भी तोड़ सकता है। वह लगाम के साथ इधर-उधर जा सकता है लेकिन यह ध्यान रखो कि जब तक उसके मुख पर लगाम है तब तक वह कुछ खा नहीं सकता चाहे कहीं भी चला जाये। उसी प्रकार यदि आप प्रतिज्ञाबद्ध हैं तो मन अपने आप शान्त हो जायेगा। देखो! जिस दिन आप संकल्प लेकर बैठ जाते हैं तो कार्य कैसा होता है पता नहीं चलता।

श्रद्धा और ज्ञान में क्या फर्क है? इसको समझने का प्रयास कर लो तो सब पकड़ में आ जायेगा। ज्ञान से पृथक् श्रद्धा है कि नहीं इसकी खोज कर लो। मोक्षमार्ग में आस्था का बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान माना गया है। आस्था से ज्ञान तथा ज्ञान से आस्था पृथक् है उसी प्रकार मन भी ज्ञान से कथञ्चित् भिन्न है। ज्ञान के द्वारा संकल्पित मन भागादौड़ी नहीं कर सकता है। आप लोगों की धारणा है कि मन के द्वारा ही चिन्तन होता है लेकिन ध्यान में इस धारणा को ही तोड़ने को कहा गया है। ध्यान में ज्ञान नहीं टूटता किन्तु यह धारणा टूटती है कि मन के द्वारा ही चिन्तन होता है। चिन्तन करना ध्यान के लिए आवश्यक नहीं। मन को आप विश्रान्त करिए तब आपका ध्यान होगा। जब तक मन काम करता रहता है तब तक ध्यान नहीं होता है इसलिए **मा चिंतह** कहा है। जो चिन्तन की गहराई में पहुँच जाते हैं उन्हें मन पकड़ में नहीं आता है। जिस दिन चिन्तन नहीं होता है तो वह कहता है कि आज

कुछ नहीं किया। ऐसा सोचने वाला कभी ध्यान नहीं कर सकता क्योंकि चिन्तन नहीं किया तो आर्त्तध्यान कर लिया जबकि चिन्तन के अभाव में ध्यान होना चाहिए। चिन्तन के अभाव में आर्त्तध्यान तो हो गया लेकिन धर्मध्यान नहीं हुआ।

मन की विश्रान्ति ध्यान है—ध्यान क्या है? यह पहले देख लो। मन के बिना ध्यान होता है इसका अर्थ है कि मन को स्थगित करने का नाम ध्यान है। संवेदन को स्थगित करने के लिए नहीं कहा है। ज्ञानधारा को स्थगित करने के लिए नहीं कहा किन्तु ज्ञानधारा के पीछे जो भोगने की इच्छा है उसे स्थगित करने को कहा है क्योंकि धारा तो हमेशा चलती ही रहती है इसलिए मन के द्वारा जानता था, जानता हूँ इस धारणा को तोड़ना पड़ता है तब कहीं जाकर ध्यान लग सकता है। तो प्राकरणिक जो बनता है वह मन के द्वारा बनता है और साक्षी जो बनता है वह मन के द्वारा नहीं किन्तु आत्मा की ओर कुछ शक्ति काम करती है उस समय वह साक्षी हो जाता है तब मन विश्रान्त हो जाता है। मन को विश्रान्त करने की बड़ी आवश्यकता है। जब मन विश्रान्त हो जाता है तो तन पहले ही विश्रान्त हो जाता है। जिस क्षेत्र को अशान्त घोषित किया जाता है वहाँ मिलिट्री (सैनिक) अपने आप सक्रिय हो जाती है और पुलिस शान्त बैठ जाती है यह उदाहरण बहुत अच्छा है। इसी प्रकार इन्द्रिय विषयों का क्षेत्र अशान्त घोषित होता है तब वहाँ आत्मा रूपी मिलिट्री सक्रिय होती है और मन रूपी पुलिस शान्त बैठ जाती है लेकिन जब तक आत्मा रूपी मिलिट्री सक्रिय नहीं होती तब तक मन रूपी पुलिस कार्य करती है। पुलिस के कार्य करते समय भी वह स्थान अशान्त नहीं माना जायेगा। थोड़ी बहुत चुट-पुट होती है तो भी उसे अशान्त नहीं कहेंगे क्योंकि उतना होना क्षम्य माना जायेगा, वह विधेय नहीं लेकिन क्षम्य है। अशान्त तो तब घोषित किया जाता है जब अक्षम्य घटनायें घटती हैं। जब मन में अक्षम्य घटित होता है तो आत्मा के द्वारा मन को कहा जाता है कि—तू बैठ जा। इसीलिए जो राजा होता है अथवा क्षत्रिय होता है वह 'मिलिट्री मेन' जैसा होता है। वह हमेशा-हमेशा मन के ऊपर विश्वास नहीं करता है। पाँच इन्द्रियों के द्वारा विशेष रूप से जब काम लेना होता है तो मन को जागृत किया जाता है पाँच इन्द्रियों के विषय ही यदि शान्त हो गये तो मन क्या करेगा? हमें रूपी पदार्थ को नहीं किन्तु अरूपी पदार्थ को देखना है। आचार्य कहते हैं कि यदि अरूपी पदार्थ को देखना चाहता है तो बाहर भागना बन्द करके यहीं पर बैठ जा तभी मन से ऊपर उठकर चेतन को देख सकोगे। मन को कथञ्चित् चेतन और कथञ्चित् अचेतन कहा गया है। यदि मन चेतन, मन समझदार है तो अन्दर आकर बैठ जायेगा किन्तु यदि वह समझदार नहीं है तो बाहर घूमता रहता है। इसलिए जो प्राकरणिक होता है वह सेवन नहीं करते हुए भी सेवन करने वाला माना जाता है और जो प्राकरणिक नहीं होता वह सेवन करते हुए भी सेवन नहीं करने वाला होता है। **इष्टोपदेश** में कहा है कि—

ब्रुबन्नपि हि न ब्रूते गच्छन्नपि न गच्छति।
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु पश्यन्नपि न पश्यति॥४१॥

अर्थात् जो साधक आत्म तत्त्व में स्थिर हो जाता है वह बोलता हुआ भी नहीं बोलता चलता हुआ भी नहीं चलता और देखता हुआ भी नहीं देखता। इतनी एकाग्रता आ जाती है कि बाहर क्रिया करता हुआ भी वह आत्म-तत्त्व में स्थिर रहता है।

कितनी सुन्दर कारिका है? प्रयोग की हुई कारिका है। कभी-कभी लगता है कि वे योगी सामने देख रहे हैं, इधर-उधर देख रहे हैं लेकिन वे तो केवली भगवान् जैसे स्वाभाविक सहज प्रवृत्ति में होते हैं। वक्ता जब बोलता है तो स्वाभाविक रूप से उसकी सभी क्रियायें होती रहती हैं किन्तु वाक्य संरचना और वाक्य चयन और शब्दों के पास अर्थ प्रकट करने की क्षमता है कि नहीं ये सारी की सारी संयोजना उसकी उपयोग धारा का ही एक मात्र कार्य होता है। यदि वाक्य संरचना सही नहीं होती तो तालियाँ बजने लगती हैं। तालियाँ बजाने वालों की टोन दो प्रकार की होती है। एक का अभिप्राय भाषण बन्द कर दो यह होता है और दूसरी ताली- **वन्स मोर** के लिए अर्थात् एक बार और बोलिए इस अभिप्राय से बजती हैं। टोन के द्वारा वक्ता समझ लेता है कि यह ताली किसलिए बज रही है? यह क्या है? कभी-कभी किसी वक्ता को बुलाते हैं तो उसके पहले ही तालियाँ बजना प्रारम्भ हो जाती हैं वह भी दो प्रकार की होती हैं। आचार्य कहते हैं कि जो व्यक्ति प्राकरणिक होता है वह किस अपेक्षा से होता है यह देखना आवश्यक होता है।

इसी प्रकार **पश्यन्नपि न पश्यति, गच्छन्नपि न गच्छति** इसके भी दो अर्थ हैं? गम् धातु जाने और जानने दोनों अर्थों में होती है अतः ऐसा अर्थ हो जाता है कि जाते हुए भी जा नहीं रहा है क्योंकि जान रहा है इस तरह गम् धातु दो अर्थों में है? जान रहा है किन्तु जा नहीं रहा है। तो जानना और जाना दोनों में अन्तर है। जहाँ पर बोलने की आवश्यकता नहीं होती फिर भी बुलवाया जा रहा है। तो हाँ, ठीक है बोल लेता हूँ आपके कहने से। समझने वाला समझ लेता है आपके कहने से। मजबूरी या मजदूरी कुछ भी कह दो होता ऐसा ही है। लगता है कि वह योगी बोल रहा है लेकिन प्राकरणिक नहीं होने के कारण वह बोलना भी उसके लिए बन्ध का कारण नहीं होता। ऐसा संभव है क्या? हाँ संभव है।

दृष्टान्त—जैसे—दादा जी को भी नाती के साथ खेलना पड़ता है, वे स्वयं इच्छा से नहीं खेलते। यदि यह नाती खेल सीख रहा है तो दादा जी साथ में खेल लेते हैं। यदि यह घर वालों को परेशान कर रहा है तो एकाध घंटा उसे खिला लेते हैं ताकि उधर काम ठीक हो जाये। दादा जी उसके साथ खेल नहीं रहे हैं किन्तु यह तो एक चाल है। नाती का मन उचट न जाए इसलिए उसे खेल में लगाया है। जैसे—आप लोगों का मन उचट न जाए इसलिए एक घंटा दे दिया। पर्याप्त है इतना। उसका एक घंटा मन उचटा नहीं तो इससे उसे कुछ संस्कार पड़ गये होंगे। इसी तरह मन को धीरे-धीरे अभ्यस्त कराइये और इन बातों को पुनरावृत्ति के रूप में दुहराते चले जाइये जिससे मन अपने आप पुनः संस्कारित होता चला जायेगा। कान तो यह नहीं कहते कि—टेपरिकॉर्डर मत चलाओ या चलाओ और मुझे कुछ

सुनाओ। यदि कोई टेपरिकॉर्डर चला भी दे तो कान उसे सुन लेंगे लेकिन मन कहता है कि हम यह सुनना नहीं चाहते क्योंकि मन हमेशा नया-नया चाहता है कान तो कुछ चाहते नहीं इसलिए चाहे पुराने शब्द हों या नये सबको सुन लेते हैं। पुराने शब्दों में, सूत्रों में अर्थ गांभीर्य होता है इसलिए श्रोता को कान से सुनकर मन को अर्थ में लगाना चाहिए। शब्द अपने में कर्णप्रिय नहीं होते हैं किन्तु वस्तुतः मनःप्रिय होते हैं। किसी को गाली दी जाती है तो सुनकर उसे पीड़ा होती है किन्तु गाली देने वाले के कानों को पीड़ा नहीं होती फिर भी मन में सोचता है कि बहुत अच्छा हुआ जो उसे गाली दी। मैं बहुत समय से सोच रहा था कि इसे डाँट पड़ जाये। वहाँ उपस्थित सब लोगों ने कानों से आवाज सुनी लेकिन एक को परेशानी हुई बाकी किसी को नहीं। इसका अर्थ है शब्द कर्णप्रिय नहीं होते किन्तु मन अप्रिय होने से कर्णों में प्रियता नहीं जगती। इसलिए मन वस्तुतः क्या है? इसका अच्छे से अध्ययन कर लेना चाहिए।

मन वस्तुतः क्या है?—मन को अनंग कहा है, इसका कोई अंग नहीं होता। इसी प्रकार काम का कोई रूप, कोई अंग नहीं होता है इसे मनोज भी कहा है। इसे अनंग भी कहा है। काम केवल इच्छा की परिणति और इच्छा एक मन की ही परिणति है, मन का कोई अंग नहीं है, रूप नहीं है, विषय निश्चित नहीं है। इच्छा की पूर्ति नहीं की जा सकती। काम की पूर्ति, आँख की पूर्ति की जा सकती है लेकिन इनके साथ मन होने के कारण सब गड़बड़ है इसलिए मन प्राकरणिक सिद्ध होता है। यदि मन प्राकरणिक नहीं होता तो इन्द्रियाँ अपने आप शान्त रहेंगी उनमें किसी प्रकार की तबदीली नहीं आयेगी यह कहने का तात्पर्य है।

द्रव्य की अपेक्षा भावों की प्रमुखता—जैनदर्शन में द्रव्य की अपेक्षा भावों की मुख्यता मानी गई है। यहाँ यह कहा जा रहा है कि किसी भी क्षेत्र में कार्य का सम्पादन लगाव के माध्यम से हुआ करता है। जैसे—कोई व्यक्ति विषय का सेवन करते हुए या प्रासंगिक कोई कार्य करते हुए भी उस कार्य का कर्ता नहीं होता है क्योंकि उसका उसमें उस समय उपयोग लगा हुआ नहीं है और कोई व्यक्ति काम नहीं करते हुए भी उसका कर्ता माना जाता है क्योंकि उसका उसमें उपयोग लगा हुआ है जिसे आप लगाव बोलते हैं। उसी तरह ज्ञानी के साथ प्रवृत्ति करते हुए भी उसके कर्तापन का सम्बन्ध नहीं जुड़ता है क्योंकि ज्ञानी का उपयोग अपने ज्ञान स्वभावी तत्त्व में होता है। ऐसा होने पर ही हम मोक्षमार्ग में चल सकेंगे क्योंकि कुछ ऐसी क्रियायें हैं जो असंयमी की भी होती हैं और संयमी की भी होती हैं। जैसे—मुनिराज भी चलते हैं, गृहस्थ भी चलता है, मुनिराज आहार करते हैं, बोलते हैं, देखते हैं इत्यादि ये सब गृहस्थ भी करता है। बैठे हैं तो हवा का सेवन भी हो रहा है, कोई सुगन्धित पदार्थ है तो उसकी सुगन्धि भी फैल रही है जो नासिका का विषय बनेगा। हाँ, महाराज जी की सूँघने की क्रिया अपने आप हो रही है यह बात अलग है लेकिन गृहस्थ का बुद्धि पूर्वक उस सौरभ की ओर नासिका का प्रवाह होता है। सामने देखने वालों को तो लगता है कि पाँचों इन्द्रियों के विषयों का सेवन असंयमी भी कर रहा

है और संयमी भी कर रहा है। असंयमी नहीं सूँघते हुए भी तत्सम्बन्धी बन्ध करेगा और संयमी के सूँघने में आ रहा है फिर भी उसे तत्सम्बन्धी बन्ध नहीं होता।

जिसका ज्ञान विकार से रहित हो गया है उसे ही निर्विकार स्वसंवेदनज्ञानी के रूप में स्वीकार किया है। यदि कोई कहे कि हमें ज्ञान का विकार समझ में नहीं आता तो उसे हम बता देते हैं कि ज्ञान में जो विकार आता है वह चारित्र मोहनीय के उदय के बिना नहीं आ सकता। हमारा ज्ञान ही या उपयोग ही मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय योग से प्रभावित होता है। यदि वह विकृत हो गया तो पूरे आत्म-तत्त्व को विकृत बना देता है। ज्ञानोपयोग के विकृत हुए बिना शेष गुणों में विकृतपना आ नहीं सकता। इनका अन्यथा रूप परिणामन ज्ञान के ऊपर आधारित है और ज्ञान का विकार रूप परिणामन मोह से प्रभावित होने से होता है। आत्मा में यदि उपयोग विकृत नहीं होता या उपयोग का अस्तित्व नहीं होता तो आत्मा जैसे चार द्रव्य शुद्ध हैं वैसा ही शुद्ध रहा आता। दूसरी बात यह है कि आत्मा में यदि उपयोग लक्षण नहीं होता तो न संसार होता न मुक्ति की बात होती, आत्मा पूर्णतः शुद्ध ही रहता।

दृष्टान्त—जैसे—आप दुकान खोलेंगे तभी नुकसान और फायदा दोनों में से कुछ भी होगा। दुकान नहीं खोलेंगे तो हानि-लाभ का प्रश्न नहीं उठता। कहते हैं वह पार्टी फेल हो गई तो पहले पार्टी होगी तभी तो फेल हुई ऐसा कहने में आयेगा, अगर पार्टी नहीं है तो उसके फेल होने का प्रश्न ही नहीं उठता। पार्टी खड़ी थी ऐसा कथन भी तभी तो कर पायेंगे जब पार्टी में भाग लेने वाले लोग होंगे और सक्रिय होंगे यदि निष्क्रिय होंगे तो पार्टी खड़ी ही नहीं कर सकते और उस पार्टी में कोई गलती होगी तभी तो पार्टी फेल हो गई ऐसा कहेंगे यदि गलती नहीं है तो पार्टी फेल नहीं हो सकती। वास्तव में पार्टी फेल होने में विकृति कारण बन गई, यदि सही-सही क्रिया होती तो पार्टी फेल नहीं होती। उसी प्रकार आत्मा में यदि विकार रहित ज्ञान होता तो कुछ नहीं होता। कुछ लोग चर्चा करते हैं कि ज्ञान तो ज्ञान है यह आत्मा का स्वभाव है, ज्ञान में जो विकार आता है वह मोहनीय का परिणाम है यह तो बिल्कुल ठीक है लेकिन विकार आया किसमें? यह पूछने पर बताया जा रहा है कि आत्मा में विकार आया है। द्रव्य में विकार आया यह किसके द्वारा जाना गया? उपयोग के माध्यम से जाना। आत्मा का लक्षण उपयोग है। यदि उपयोग में विकार नहीं आता तो निश्चित था कि आत्मा में विकार आ नहीं सकता था क्योंकि उपयोग को छोड़कर अन्य सभी गुण अचेतन रूप हैं। जानना, देखना, सुनना आदि सभी उपयोग के माध्यम से ही होता है। दर्शनोपयोग कभी विकृत नहीं होता।

मोह से प्रभावित ज्ञानोपयोग—ज्ञानोपयोग मोह से प्रभावित होता है दर्शनोपयोग नहीं चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन क्षयोपशम रूप हैं तो विकृत ही हैं ऐसा यदि कोई कहता है तो मैं यहाँ विकृति का अर्थ क्षयोपशम से नहीं लेना चाह रहा हूँ किन्तु उसके ऊपर मोह का क्या प्रभाव पड़ता है यह कहना चाह रहा हूँ। मोहनीय का प्रभाव दर्शनोपयोग पर नहीं पड़ता है यदि उस पर भी मोहनीय का प्रभाव पड़ता तो मिथ्या चक्षु-अचक्षुदर्शन ऐसा कहीं लिखा मिलता लेकिन ऐसा कथन किसी भी आगम में

नहीं मिलता। हाँ, मिथ्याज्ञान व मिथ्यादर्शन ऐसा तो कहा गया है अतः ये स्पष्ट है कि ज्ञान व श्रद्धान में सम्यक् व मिथ्याविशेषण लगते हैं किन्तु दर्शनोपयोग के भेदों में सम्यक् या मिथ्या विशेषण नहीं लगता क्योंकि दर्शन निराकार अथवा निर्विकार होता है। न्याय दर्शन में भी हमेशा-हमेशा ज्ञान को ही प्रामाणिक व अप्रामाणिक कहा है, दर्शनोपयोग को प्रामाणिक व अप्रामाणिक नहीं कहा। जो निर्विकार होता है उसे मिथ्या व सम्यक् नहीं कहा जाता। मिथ्यापन और अधूरेपन में अन्तर है। यदि अधूरेपन यानि क्षायोपशमिक को मिथ्यापन कहेंगे तो ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान तक के ज्ञान को अधूरा या क्षायोपशमिक होने के कारण मिथ्या कहना पड़ेगा लेकिन ऐसा कहीं भी नहीं कहा गया। प्रथम गुणस्थानवर्ती के ज्ञान को अवश्य मिथ्या कहा जाता है किन्तु वहाँ रहने वाले दर्शनोपयोग को मिथ्या नहीं कहा जाता अतः यहाँ यही कहा जा रहा है कि ज्ञानोपयोग ही मोह के द्वारा प्रभावित या विकृत होता है।

इस प्रकरण में टीकाकार कह रहे हैं कि निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान का धारक जीव अपने-अपने गुणस्थान के योग्य अशन-पानादि रूप पञ्चेन्द्रियों के भोगों को भोगने वाला होकर भी उसका भोक्ता नहीं होता अर्थात् पञ्चेन्द्रियों के विषयों का सेवन करते हुए भी सेवन नहीं करता है। हाँ महाराज! यही रास्ता हमें बता दीजिए। शास्त्रों में ऐसा लिखा है तो आप उसका विरोध क्यों करते हैं, यह हमें समझ में नहीं आता? समझने-समझने का फेर है महाराज! हमें आप अच्छे ढंग से समझाओ। ऐसा होने पर तो भाद्रपद में सब कुछ करते हुए भी यानि पञ्चेन्द्रिय विषयों का सेवन करते हुए भी हमें भद्रता प्राप्त हो सकती है। भाद्रपद में बहुत सारा त्याग करते हुए भी हमें भद्रता प्राप्त हो सकती है। भाद्रपद में बहुत सारा त्याग करने पर शरीर भी सूख जाता है क्योंकि उन दिनों पर्युषण पर्व में हरी नहीं खाई जाती सूखा-सूखा ही खाया जाता है और आप हमेशा कहते हैं-हरी-भरी दिखती रहे धरती चारों ओर। यह कैसी बात है? हम जितने धर्मभाव से भरे रहेंगे उतने प्रवचन भी सुनेंगे तथा उनका अनुपालन भी करेंगे, फिर भी अनुपात से कुछ न कुछ तो चाहिए। नहीं तो ऐसा हो जायेगा कि कश्मीर का दृश्य मरुभूमि के रूप में परिवर्तित हो जायेगा। आप ऐसा रास्ता बता दीजिए कि मरुभूमि भी कश्मीर का रूप धारण कर सके, तभी तो प्रवचन का लाभ कहलायेगा। ऐसा यदि कोई कहता है तो अच्छे ढंग से बैठिए और सुनिए कि अन्य कोई कषायवान अज्ञानी जीव रागादि का सद्भाव होने के कारण सेवन नहीं करते हुए भी उसका सेवन करने वाला माना जाता है।

दृष्टान्त—मानलो भाद्रपद में पर्युषण पर्व में घर में दो-तीन व्यक्तियों ने हरी का त्याग कर दिया तो अब घर में हरी बनना बन्द हो गई तो चौथा व्यक्ति कहता है कि-आप लोग त्याग करो लेकिन हमारा तो त्याग मत कराओ तब वे कहते हैं कि दो सिगड़ी जल नहीं सकती, तुम्हें जलाना है तो जलाओ-कहाँ से जलाओगे? घर में तो दस दिन हरी बनेगी नहीं, पर दस दिन हरि का भजन जरूर चलेगा। कल धासन चौथ है इस दिन धाँस-धाँस के खाते हैं। तात्पर्य यह है रागादि से परिणत हुआ जीव यहाँ प्रसंग

में अज्ञानी है। यह शब्द शब्दकोश का नहीं किन्तु अध्यात्म में वह अज्ञानी वह माना जाता है जिसका उपयोग रागादि रूप परिणत होता है। इसलिए वह भोजन इत्यादि का सेवन नहीं करते हुए भी उसका कर्ता व भोक्ता माना जाता है जबकि ज्ञानी रागादि रूप परिणत नहीं होता इसलिए वह भोजन आदि करते हुए भी उसका कर्ता-भोक्ता नहीं माना जाता।

जिज्ञासा—अध्यात्म में अज्ञानी किसे कहा जाता है?

समाधान—जिसका ज्ञान राग-द्वेषादि रूप परिणत होता है वह अध्यात्म दृष्टि से अज्ञानी कहा गया है।

मुनिराज हमेशा-हमेशा भोजन नहीं करते हैं फिर भी देखने में, सुनने में, सूँघने में तो कभी भी कुछ भी आता है। मुनिराज गुप्ति में बैठे हैं तो भी नासिका में सुगन्धी, कान में संगीत, नेत्र में रूप आदि विषय तो बनते हैं, इनका ज्ञान तो होगा ही क्योंकि गुप्ति के समय इन्द्रियाँ कहीं चली गई हैं ऐसा है क्या? नहीं, फिर भी उस समय इन्द्रिय विषयों में रागादि रूप विकार नहीं आता अतः वे निर्विकार हैं, ज्ञानी हैं। मुनिराज घंटों तक स्व में ही रहते हैं ऐसा नहीं।

बाहुबली स्वामी एक वर्ष तक खड़े रहे तो स्व में रहे क्या? संवेदन कुछ भी हो लेकिन रागादि का संवेदन नहीं करेंगे तो वे निर्विकल्प-निर्विकार माने जायेंगे। पहले भी कई बार कह चुका हूँ कि उपयोग स्व को भी विषय बना सकता है और पर को भी। जैसे-जैसे ज्ञान के विषय आते रहते हैं वैसा-वैसा ज्ञान होता जाता है। यदि ज्ञान रागादि रूप परिणमन करता है तो वह विकार सहित कहलायेगा किन्तु यहाँ ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध हो तो निर्विकार अवस्था बनती है। जैसे कोई चित्र दिखा तो उसमें हर्ष भी न हो विषाद भी न हो, कोई कल्पना न हो, मात्र ज्ञान का विषय बने। यदि पञ्चेन्द्रिय के विषयों की उपस्थिति नहीं होने पर भी कोई हर्ष-विषाद करता है तो वह उसका सेवन करने वाला माना जायेगा। कोई व्यक्ति पञ्चेन्द्रिय विषयों की प्रतीक्षा कर रहा हो लेकिन विषय उपलब्ध न हो रहे हों तो भी चूँकि उसे विषयों की इच्छा है अतः बन्ध प्रक्रिया पूर्ण रूप से होती ही है। निरन्तर बन्धी प्रकृति के बारे में बहुत अच्छा लिखा है कि—किसी को सम्यग्दर्शन है और उसने तीर्थकर प्रकृति का बन्ध प्रारम्भ कर दिया तो जब तक सम्यग्दर्शन है तब तक तीर्थकर प्रकृति का बन्ध रुक नहीं सकता। यहाँ तक कि आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त एवं वर्ष पृथक्त्व कम दो पूर्वकोटि तैतीस सागर की आयु तक बन्ध चलता रहता है और आठवें गुणस्थान के छठवें भाग में पहुँचता है तो बन्ध स्थगित हो जाता है। ग्यारहवें गुणस्थान को प्राप्त होता है तो उस समय की बात अलग है क्योंकि आठवें गुणस्थान के आगे बन्ध रुक जायेगा।

जिज्ञासा—यदि कोई यह प्रश्न करे कि यह तो निरन्तर बन्धी प्रकृति है फिर इसका बन्ध क्यों रुक गया?

समाधान—आचार्य कहते हैं कि तीर्थकर प्रकृति के बन्ध का स्थान चतुर्थ गुणस्थान से आठवें गुणस्थान के छठवें भाग तक ही है वहीं तक इसके बन्धयोग्य परिणाम होते हैं इसके समाधान में कोई

तर्क नहीं दिया जा सकता क्योंकि यह इसका स्वभाव है।

दृष्टान्त—एक बार जिसके डिपार्टमेंट में काम ले लिया, किसी कम्पनी से आपकी एजेन्सी हो गई तो बस, अब घर बैठे-बैठे वह माल मिलेगा। उसमें कुछ सक्रियता रहती है ये बात अलग है लेकिन इसलिए **व्यस्तानि वा समस्तानि वा** ऐसा **सर्वार्थसिद्धिकार** ने कहा है। तात्पर्य यह है कि तीर्थकर प्रकृति बन्ध के लिए दर्शनविशुद्धि आवश्यक है पश्चात् पन्द्रह भावनायें हो भी सकती हैं और नहीं भी। एक बार तीर्थकर प्रकृति का बंध प्रारंभ होने के उपरान्त अनाहारक दशा में भी बंधती रहती है। मानलो दो समय वाली विग्रहगति है उस समय भी बंध होता है। उस समय वह सोलहकारण भावना तो नहीं भा रहा फिर भी बंध कैसे हो रहा है? उसी को समझने के लिए ऊपर दृष्टान्त दिया है कि एक बार एजेन्सी ले चुके हैं तो वह बंध रुक नहीं सकता—माल मिलता रहता है।

जो व्यक्ति राग-द्वेष नहीं करते हुए विषयों का सेवन करता है तो उसे तत्संबंधी बंध नहीं होता। निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञानी इसी योग्यता वाला साधक होता है, उसके विषय संबंधी राग-द्वेष भाव होते ही नहीं हैं। तीर्थकर प्रकृति का बंध चतुर्थ गुणस्थान में भी हो सकता है, यदि वह गर्भावस्था में है तो भी उसके बंध निरन्तर होता रहेगा, बंध रुकेगा नहीं। उस अवस्था में भी कैसा भाव रहता होगा जिससे निरन्तर बंध होता रहता है। हाँ, यह बात अलग है कि अनुभाग बंध हमेशा एक सा नहीं होगा। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों के अनुसार स्थिति और अनुभाग में तारतम्य देखा जाता है, यह तारतम्य होते हुए भी तार टूटता नहीं है।

दृष्टान्त—जैसे—हारमोनियम का तार थोड़ा ढीला हो जायेगा तो संगीत में कमी आ जायेगी लेकिन संगीत का अभाव नहीं माना जायेगा। तबला वगैरह बजाने के पहले प्रशिक्षण लेते हैं या देते हैं तो पहले ढोलक या तबले वगैरह को ठोक-ठाक कर ठीक करते हैं लेकिन जब संगीत प्रारंभ हो जाता है तब बीच में नहीं ठोकते। एक बार बोल प्रारंभ कर देते हैं फिर तो एक लय में बजता चला जाता है। इसी प्रकार एक बार तीर्थकर प्रकृति बंध के योग्य परिणाम हो गये तो फिर वह बंधती रहती है, किन्तु एक बार स्वसंवेदन ज्ञान हो गया तो उस समय फिर आप विषयों का सेवन करो या न करो, बंध नहीं होगा किन्तु जब निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान नहीं रहेगा तो बंध होगा। लेकिन तीर्थकर प्रकृति का बंध प्रारम्भ होने पर वह छूटता नहीं, निरन्तर होता ही रहता है लेकिन नरकायु संबंधी बद्धायुष्क जीव के एक अन्तर्मुहूर्त तक मिथ्यात्व अवस्था होने से बंध रुक जाता है तत्पश्चात् बंध पुनः प्रारंभ हो जाता है।

प्राकरणाक संबंधी विषय चल रहा है इसे समझने के लिए आचार्यों ने उदाहरण दिया है कि—

दृष्टान्त—१. जैसे—विवाह में या बारात में कोई व्यक्ति आया है वह विवाह के कार्य जैसे—मण्डप सजाना, दूल्हे को सजाना आदि कर रहा है लेकिन अपने लिए नहीं कर रहा है। बाराती बनकर आया है तो कर्तव्य किया जाता है लेकिन वह प्राकरणाक नहीं होता।

२. जैसे—नगर में नेता आता है उसके स्वागत हेतु अनेक लोगों के हाथ में फूलमालायें हैं, उनकी

सुगन्ध का अनुभव पहले स्वागत करने वाले करते, पहले फूलमाल इनके हाथ में आती हैं बाद में नेता जी के गले में फूलमाल पहनाते हैं, फूलों की सुगन्ध भी उन्हें बाद में आती है। चूँकि नेता जी यहाँ प्राकरणिक हैं अतः फूलमाल उनके ही गले में पहनाई जाती है। नेता जी अकेले हैं, स्वागत करने वाले अनेक हैं। नेता जी सोच रहे हैं कि ये सभी लोग मुझे माला पहनाने वाले हैं। उनका बेग भी उठाना हो तो दूसरा व्यक्ति चाहिए, लेकिन मानलो एक किलो की एक माला है तो बीस-पच्चीस मालायें यदि पहनाई जायेंगी तो बीस-पच्चीस किलो का वजन गले में होने से गले में दर्द होता होगा लेकिन उस समय तो वह सब चल जाता है फिर भी वे उन्हें उतार-उतार कर रखते जाते हैं। उनकी गाड़ी में ड्राइवर बैठा है जिसके माध्यम से नेता जी यहाँ तक आये हैं तो तीन-चार मालायें उसे ही पहना दें लेकिन ऐसा नहीं होता क्योंकि ड्राइवर **पगरणचेट्टा ण** प्राकरणिक नहीं होता, प्राकरणिक तो नेता जी हैं। जो व्यक्ति प्राकरणिक हो जाता है उसमें राग-द्वेष हुए बिना नहीं रहता। किसी भी वस्तु का सेवन करने मात्र से कोई प्राकरणिक नहीं होता किन्तु सेवन नहीं करते हुए भी प्राकरणिक हो जाता है जैसे कि-दूल्हा अथवा नेता।

विवाह में शामिल होने वाले अपने आपको स्वामी के रूप में या नायक के रूप में स्वीकार नहीं कर रहे हैं। जिसका विवाह होता है उसे मारवाड़ी में कुँवर साहब कहते हैं, यहाँ क्या बोलते हैं-दामाद। जो दाम को आमद कर देता है वह दामाद कहलाता है वह प्रकरण का स्वामी होता है। जो स्वामी होता है वही उसका भोक्ता भी होता है।

द्रव्यसंग्रह में कहा है कि आत्मा कैसी है? इसके उत्तर में कहा गया है कि आत्मा कर्ता, भोक्ता तथा स्वामी है। कर्तृत्व, भोक्तृत्व और स्वामित्व इन तीनों के ऊपर संसार चल रहा है अथवा इन तीन पायों पर संसार टिका है। यदि यह तिपाई का स्टूल लुढ़क जाये तो फिर सब धराशायी हो जाता है। लेकिन आज तक यह लुढ़क नहीं पाया। कोई कहे कि महाराज! मोक्षमार्ग में क्या करना है हमें बता दो? तिपाई लुढ़का दो बस (हँसी) फिर सब ठीक एक हो जाता है।

दृष्टान्त—जैसे-भीड़ में हजारों लोग हैं, सबके सिर-सिर दिख रहे हैं। यदि इनका फोटो निकालेंगे तो केवल सबके सिर का फोटो आयेगा। यदि सभी लोग एक के बाद लाईन से खड़े होंगे तो पहले वाले की पूरी मुद्रा आयेगी बाकी सबके सिर-सिर की फोटो आयेगी। उस भीड़ में माना कि एक व्यक्ति को ऊँचाई पर खड़ा कर रखा है तो वह मुख्य अतिथि के रूप में माना जाता है। कोई जब तक राष्ट्रपति पद पर है तब तक राष्ट्रपति है, उसके बाद वो भी सामान्य नागरिक के समान हो जाता है। यह बात अलग है कि पूर्व में राष्ट्रपति थे इसलिए उनका प्रबन्ध अलग ढंग से होता है लेकिन सामान्य नागरिक माना जाता है। इसी प्रकार आप अपने को पृथक् रखना चाहते हैं तो कर्ता, भोक्ता, स्वामी की व्यवस्था करनी पड़ती है नहीं तो नहीं, क्योंकि मन के अनुरूप ही उपयोग परिणत होता है, तब उसका कर्ता, भोक्ता, स्वामी होता है और यदि मन में कर्ता, भोक्ता, स्वामीपना नहीं रहता है तो केवल उपयोग रह

जाता है।

अपने आपको देखने-जानने वाला कभी पर का कर्ता, भोक्ता, स्वामी नहीं होता है वही ज्ञानी कहा जाता है, लेकिन जब वह भीतर से बाहर आ जाता है तो पर के साथ कर्तृत्व आदि से जुड़ जाता है। स्व के साथ जुड़ेगा तो अपने साथ निष्ठ होकर रहेगा, इसलिए निर्विकल्प समाधि से बाहर आने के उपरान्त कर्ता-भोक्ता स्वामी होते हुए भी यदि राग-द्वेष नहीं करता है तो निश्चित रूप से तत्संबंधी बंध नहीं करता है। जिस पदार्थ का आप त्याग करते हैं तो उसके प्रति फिर आप रागी नहीं होंगे क्योंकि आपने मन, वचन, काय से बुद्धिपूर्वक उसका त्याग किया है अतः आप उसके कर्ता, भोक्ता, स्वामी नहीं बनते इसलिए वह पदार्थ आपके लिए मात्र ज्ञेयरूप हो सकता है।

द्रव्य तीन प्रकार के भी होते हैं—१. ज्ञेयात्मक, २. हेयात्मक, ३. उपादेयात्मक। ज्ञेयात्मक शुद्ध धर्मादि चार द्रव्य हैं और हेयात्मक-पुद्गल द्रव्य जो पञ्चेन्द्रिय का विषय ख्याति, लाभ, पूजात्मक होता है। अब उपादेयात्मक द्रव्य के दो भेद हैं—१. शुद्ध उपादेय-सिद्ध परमेष्ठी हैं किन्तु ये ध्यान-ध्येय की अपेक्षा से हैं। प्राप्ति की अपेक्षा से तो ये भी पर हैं। सिद्ध परमेष्ठी के समान अपना ही होनहार आत्म-द्रव्य प्राप्ति की अपेक्षा से उपादेय है। इस प्रकार हेय-ज्ञेय-उपादेय के बीच में एक और आता है जिसे उपाय बोलते हैं। जिसको प्राप्त करना चाहते हैं उसका जो साधन होता है वह उपाय कहलाता है। उसे भी तात्कालिक उपादेय के रूप में स्वीकार किया जाता है।

दृष्टान्त—जैसे—किसी रोगी को नीरोग बनना है तो दवाई का सेवन करना होगा। दवाई का सेवन मात्र ही नीरोगता नहीं है लेकिन नीरोगता की प्राप्ति दवाई के सेवन पर निर्भर है इसलिए उसको तात्कालिक उपाय के रूप में स्वीकार करते हैं तो वह भी तात्कालिक उपादेय के रूप में स्वीकार किया जाता है। निरोगी होना है तो दवाई का सेवन करना ही होगा। दवाई के अलावा बाकी जितनी भी वस्तुएँ हैं वे या तो ज्ञेय होंगी या हेय होंगी। उपाय के माध्यम से जिसे प्राप्त किया जाये उसे उपेय कहते हैं, उसे ही ध्येय कहते हैं। अपना आत्मतत्त्व ही ध्येय है, वही प्राप्तव्य है, वही उपेय है। कभी-कभी उपेय भी तात्कालिक साधन होता है। साधन को साधन के रूप में स्वीकार करो साध्य के रूप में नहीं, किन्तु उसे हेय की दृष्टि में भी नहीं रखना क्योंकि वह तात्कालिक उपादेय है। जिस समय साध्य सिद्ध हो जाता है तो जो तात्कालिक साध्य होता है वह पीछे छूट जाता है। इस प्रकार जो व्यक्ति प्राकरणिक बनता है वह या तो कर्ता के रूप में अथवा भोक्ता व स्वामी के रूप में उभरकर सामने आता है। इन तीन प्रत्ययों में से कोई न कोई एक प्रत्यय तो रहेगा भले ही गौण या मुख्य रूप में हो।

जिसे आप V.I.P. कहते हैं वह सामान्य नहीं है क्योंकि सामान्य में तो सब भीड़ आ जाती है लेकिन जो V.I.P. है तो बस! वह स्वयं आता है। जैसे—V.I.P. में तीन अक्षर हैं तो प्रत्यय भी तीन हैं..बस। आप अपने आपको इनसे पृथक् समझना चाहते हैं तो स्व को समझो तो यह संभव हो सकता है लेकिन जिस समय हम अपने आपको विशिष्ट व्यक्ति के रूप में स्वीकारते हैं तो येन केन प्रकारेण

उक्त तीन प्रत्ययों से जीवन जुड़ जाता है तब हम अज्ञानी कहलाने लगते हैं। मतलब V.I.P. एक प्रकार से अज्ञानी कहलायेगा तो सबसे पृथक् हो ही गया। प्रकरण शब्द से प्राकरणिक बना है जिससे वह प्रासंगिक होता है। साधन साधक के बिना नहीं होता। चश्मा या उपनयन कहने से नयन वाला व्यक्ति दिमाग में आता है क्योंकि उपनयन अन्धे को तो लगता नहीं है। कभी-कभी उपनयन ललाट पर भी जाता है। जब कोई पढ़ाई करने वाले को पढ़ना नहीं होता है या सिरदर्द करने लगता है या आँखों को मलना होता है तो वह चश्मे को ललाट पर रख देता है। तो प्राकरणिक कौन है? चश्मा है क्या? नहीं।

मुख्य-गौण कथन पद्धति—जैनाचार्यों का कथन मुख्य-गौणता को लेकर होता है। द्रव्य से गुण पृथक् नहीं रहता है इसलिए उस गुण को ही कभी-कभी प्राकरणिक कह दें तो कोई बाधा नहीं होती। जैसे—श्वेतो धावते इसका सन्धि-विग्रह दो प्रकार से हो सकता है। प्रथम श्वा इतः धावते और द्वितीय श्वेतः धावते। प्रथम विग्रह में द्रव्य वाचक कथन है और द्वितीय विग्रह में गुणवाचक कथन है। इस प्रकार न्यायग्रन्थों में उदाहरण आया था। प्राकरणिक को नहीं समझ पा रहे थे इसलिए वहाँ का उदाहरण यहाँ लाकर कहना आवश्यक था और प्रासंगिक भी था। आपका प्रश्न प्रासंगिक था और उत्तर भी प्रासंगिक हो गया। उपनयन स्वयं आँख नहीं है किन्तु आँखों के ऊपर लगाया जाता है इसलिए कभी-कभी आँख लाओ ऐसा कह देते हैं उसका अर्थ यह है कि चश्मा लाओ। जिसके पास नेत्र नहीं है यदि उसे कोई चश्मा दे देगा तो वह उसका क्या करेगा? जो दर्शन जैनदर्शन से पृथक् हैं, वे गुणों को द्रव्य से पृथक् मानते हैं और गुणों को साधन के रूप में पृथक् रूप से स्वीकार करते हैं उनके लिए वह प्राकरणिक नहीं बन सकता क्योंकि गुण द्रव्य से बिल्कुल पृथक् होता है। जैनदर्शन में भाववाचक और गुणवाचक शब्द भी कर्ता के रूप में स्वीकार किए गए हैं। जैसे—**जो जाणदि...तं णाणं...। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने नियमसार ग्रन्थ में कहा है कि जो जानता है वह ज्ञान है। यः आत्मा जानाति सः ज्ञानी कथ्यते** ज्ञान को कहीं भी ज्ञानी नहीं कहा गया। इससे जैनाचार्यों का यह रहस्य व्याकरण की दृष्टि से भी उद्घाटित हो जाता है कि **ज्ञानं यस्य वर्तते आधिक्येन सः ज्ञानी** अर्थात् जिसके पास अधिक रूप से ज्ञान है वह ज्ञानी है। अधिक रूप से ज्ञान को क्यों कहा? क्योंकि यदि ऐसा नहीं लेंगे तो लब्धपर्याप्तक निगोदिया जीव भी ज्ञानी हो जायेगा क्योंकि उसके पास भी ज्ञान है।

दृष्टान्त—जैसे—जिसके पास पैसा है, धन है वह धनी है यदि यह सामान्य कथन करेंगे तो जिसके पास पंजी (पाई) है वह भी धनी कहलायेगा। वह भी कहेगा कि मैं धनी हूँ जबकि स्थिति यह है कि खाने को धनिया नहीं है और धनी हूँ ऐसा कहता है। जैनाचार्य कहते हैं कि जिसके पास ज्ञान होता है वह जीव तो है लेकिन ज्ञान की अधिकता न होने से अथवा आत्मज्ञान न होने से उसे प्रसंग में ज्ञानी नहीं कहेंगे किन्तु लब्धपर्याप्तक जीव का जब विकास होता चला जाता है और अन्यत्र की अपेक्षा विपुल एवं सम्यक् हो जाता है तब ज्ञानी कहलाता है। मात्र ज्ञान होने से इणन्त प्रत्यय नहीं लगता है। ज्ञानी की दूसरी विवक्षा निर्विकल्प ज्ञान से भी है। जिसका ज्ञान विकल्प नहीं करता, राग-

द्वेषादि नहीं करता, किसी के द्वारा अज्ञानी कह देने पर भी विकल्प नहीं करता तब भी उसे ज्ञानी कहा जाता है। यदि वस्तुतः आप ज्ञानी होना चाहते हैं तो राग-द्वेषादि से रहित हो जाओ।

निर्विकल्प दर्शन—ज्ञान विकल्पात्मक होता है। आचार्य कहते हैं कि ज्ञान है अतः विकल्प आ जाता है, विकल्प के साथ संकल्प भी हो जाता है लेकिन राग में संकल्प-विकल्प दोनों होने के बाद भी दर्शन विकल्प का कारण नहीं बनता। दर्शनोपयोग को आज तक विकल्प वाला सिद्ध नहीं किया गया। कोई भी दर्शनोपयोग हो वह निराकार ही रहेगा, वह मिथ्यात्व से भी प्रभावित नहीं होता। प्रश्न उठता है कि फिर दर्शनोपयोग के समय बन्ध भी नहीं होना चाहिए लेकिन ऐसा नहीं है क्योंकि बन्ध तो प्रत्येक समय होता है और वह राग-द्वेष की प्रणाली के द्वारा होता है। चारित्र मोहनीय कर्मोदय में होता है लेकिन वह दर्शनोपयोग को मिथ्या या राग-द्वेष रूप नहीं करता। फिर भी आचार्य कहते हैं कि दर्शनोपयोग मिथ्या रूप नहीं है। तो क्या वह सम्यग्दर्शन रूप हो गया, ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि प्रथम गुणस्थान में मिथ्यात्व प्रत्यय विद्यमान है। मिथ्यात्व का उदय होते हुए भी वहाँ दर्शनोपयोग मिथ्यारूप में परिणत नहीं होता तो भी उस समय सोलह प्रकृतियों का बन्ध होता रहता है। अतः बन्ध को उपयोगकृत नहीं कह सकते। उपयोग कभी चेतना से रहित नहीं होता। जीव के हमेशा कभी ज्ञानोपयोग कभी दर्शनोपयोग होता रहता है, दोनों का काल अन्तर्मुहूर्त होता है तो भी दर्शनोपयोग में कोई विकार नहीं दिखता है किन्तु साकारोपयोग ही ज्ञान और अज्ञान रूप में प्ररूपित होता है इसलिए न्यायकारों ने ज्ञान को सम्यक् व मिथ्या कहकर मिथ्या से छूटने का तथा सम्यग्ज्ञान को ग्रहण करने का उपदेश दिया है। हम यदि अपने आत्मा के स्वभाव की ओर आ जाते हैं तो ज्ञान भी निर्विकल्प-निराकार हो जाता है।

उपयोग को छोड़कर आत्मा के जितने भी गुण की परिणतियाँ हैं, वे सब अचेतन हैं। यदि उपयोग में मिथ्याज्ञान की संशय, अज्ञान आदि पाँच प्रकार की परिणति नहीं होती है तो वह मिथ्यारूप नहीं हो सकता। दूसरी बात दर्शन में कोई विकल्प उत्पन्न नहीं होता वह तो निर्विकल्प है, उसका स्वरूप ही ऐसा है।

दृष्टान्त—देखो! आप लोगों को कई बार उदाहरण दिया है कि उजाले में ही कई प्रकार की वस्तुएँ दिखती हैं, विकल्प होते हैं। अन्धकार में कोई विकल्प नहीं होता क्योंकि उजाले में ही आप भिन्न-भिन्न प्रकार के आकार-प्रकार देखते हैं किन्तु उजाला समाप्त होने पर अन्धकार में ढेर सारे पदार्थ विद्यमान होने पर भी कोई विकल्प के कारण नहीं होते। उस समय मन को विकल्पों से शान्ति मिलती है। उसी प्रकार दर्शनोपयोग के समय विकल्प नहीं होने से एवं उपयोग शान्त होने से आत्मा को भी शान्ति मिलती है।

ज्ञानोपयोग में विकल्प होने के उपरान्त अन्तर्मुहूर्त में विश्राम अनिवार्य है अन्यथा माथा गरम हो जायेगा। ज्ञान के द्वारा बहुत सोचते हैं तो माथा गरम हो जाता है। दर्शनोपयोग में तो कुछ सोचा नहीं

जाता यह ऑटोमेटिक स्वतः सहज कार्य होता रहता है। मानो प्राकृतिक चिकित्सा जैसी ठण्डी पट्टी गरम पट्टी जैसा उपयोग का उपचार चलता रहता है। यदि उपयोग को दर्शनोपयोग काल में विश्राम नहीं मिलेगा तो उपयोग बहुत त्रस्त हो जायेगा और सुनो केवली भगवान् को भी अनन्तज्ञान के साथ अनन्त दर्शन रहता है इसलिए उन्हें अनन्त शान्ति रहती है। आप लोगों को भी दर्शनोपयोग के माध्यम से प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में अन्तर्मुहूर्त के लिए शान्ति मिलती रहती है, आप नहीं भी चाहते हो तो भी विश्रान्ति आयेगी ही। यहाँ पर आप थोड़ा सा जानते हैं तो अन्तर्मुहूर्त के उपरान्त विश्राम अनिवार्य होता है फिर केवली भगवान् तो प्रतिसमय अनन्त को जानते हैं इसलिए उनके साथ विश्राम स्वरूप अनन्तदर्शन साथ ही रहता है। छद्मस्थ अवस्था में उपयोग क्रमिक होता है जबकि सर्वज्ञ अवस्था में युगपत् होते हैं साथ में अनन्तवीर्य भी सहयोगी होता है अतः उनमें जानने की योग्यता भी अनन्तरूप होती है, दर्शन का सपोर्ट भी अनन्त है।

दर्शन व ज्ञान में कारण-कार्य विवक्षा—ज्ञान-दर्शन आत्मा के भिन्न-भिन्न गुण हैं इनमें कार्य-कारण संबंध नहीं होता। जिस प्रकार दर्शनावरणी व ज्ञानावरणी कर्म में कार्य-कारण की व्यवस्था नहीं है उसी प्रकार अनन्तदर्शन एवं अनन्तज्ञान में भी कारण-कार्य की व्यवस्था नहीं है क्योंकि दोनों युगपत् हैं। जो युगपत् होते हैं उनमें कारण-कार्य की व्यवस्था नहीं होती। किन्तु छद्मस्थ अवस्था में चूँकि दर्शन पूर्वक ज्ञान होता है इसलिए कथञ्चित् इनमें कारण-कार्य रूप कहा है। जैसे—अवग्रह का कार्य ईहा है, ईहा का कार्य अवाय, अवाय का कार्य धारणा है उसी प्रकार दर्शनोपयोग का कार्य अवग्रह माना जा सकता है इसमें कोई बाधा नहीं। लेकिन अनन्तदर्शन के साथ अनन्तज्ञान युगपत् होने के कारण इनमें कारण-कार्य की व्यवस्था नहीं बनती है। सामान्य से आधार पहले होता है आधेय बाद में होता है लेकिन तादात्म्य अवस्था में आधार-आधेय की व्यवस्था पूर्वोत्तर क्षणवर्ती नहीं होती है उसी प्रकार केवली भगवान् के दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग में कारण-कार्य की व्यवस्था घटित नहीं है।

दृष्टान्त—पण्डित दौलतरामजी ने सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति के बारे में लिखा है कि—**युगपत् होते हु प्रकाश दीपक तैं होई।** पण्डितजी ने युगपत् अवस्था में भी कारण-कार्य का अच्छा उदाहरण दिया है। इस उदाहरण की ओर आप लोगों को देखना चाहिए कि पहले बुझा हुआ दीपक लाओ, यह कारण हो गया फिर आप दिया सलाई के द्वारा दीपक जला लेते हैं तो जलता हुआ और दीपक ये दोनों एक साथ सिद्ध होंगे लेकिन बुझे हुए में दीपक को विवक्षित करते हैं तो उसमें कारण-कार्य की व्यवस्था होती है। जिस दीपक में तेल बाती नहीं है तो फिर वह किस काम का? जलता हुआ दीपक और प्रकाश दोनों युगपत् हैं तो भी कारण-कार्य व्यवस्था है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ होते हैं फिर भी सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है। स्व-पर प्रकाशक करने की क्षमता ज्ञान के पास है न कि सम्यग्दर्शन के पास। **स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं** ऐसा कहा है। यदि सम्यग्दर्शन को पूर्वक्षणवर्ती मानेंगे और सम्यग्ज्ञान को उत्तरक्षणवर्ती कार्य

तो दोनों के बीच में जितने समय का अन्तराल होगा उतने तक वह सम्यग्ज्ञान से रहित है ऐसा मानना पड़ेगा जबकि यह ठीक नहीं है। इससे भी अच्छा एक उदाहरण और दिया जा रहा है उसे सुनो।

दृष्टान्त—पति-पत्नि, माता-पिता कब बनते हैं? जिस समय पुत्र का जन्म होता है। मतलब दोनों की उत्पत्ति का समय युगपत् है। पुत्रोत्पत्ति के समय ही माता-पिता का जन्म होता है अब इनमें कौन बड़ा, कौन छोटा है? माता-पिता बड़े और संतान छोटी है ऐसा है क्या? नहीं...। यह धारणा मत बनाईये। जिस समय से बालक गर्भ में आया, माँ ने गर्भ धारण किया उसी समय से उन्हें माता-पिता कहेंगे यह एकसमयवर्ती है फिर भी यह व्यवहार कथन होता है कि पहले माता-पिता का जन्म हुआ बाद में सन्तान का जन्म हुआ। यह **बालबोधाय कथ्यते** अर्थात् यह तो बाल बोध के लिए कहा जाता है। न्याय के क्षेत्र में पक्ष रखने की, सपक्ष की, विपक्ष की व्यावृत्ति आदि की आवश्यकता नहीं होती है किन्तु मात्र एक हेतु काफी होता है।

छद्मस्थ अवस्था में दर्शन पूर्वक ज्ञान उदाहरण—छद्मस्थ अवस्था में दर्शन और ज्ञान दोनों उपयोगों सम्बन्धी दोनों कर्मों का क्षयोपशम एक साथ रहता है तो भी दोनों एक साथ उपयोग रूप नहीं होते किन्तु क्रम से होते हैं। उदाहरण के लिए—उसे फोटो उतारने की प्रक्रिया से समझा जा सकता है। जिस समय आप किसी वस्तु या व्यक्ति का फोटो लेना चाहते हैं तो सर्वप्रथम आप उस व्यक्ति या वस्तु का एंगल बनाकर, फोकस बनाकर उसे साईज और शेप देते हैं। यह साइज और शेप देना ही एक प्रकार से दर्शनोपयोग की दशा है। कैमरे का बटन दबाने से पहले केवल नेगेटिव कॉपी आती है बाद में नेगेटिव से पॉजीटिव बनाई जाती है। पॉजीटिव फोटो जैसी ज्ञानोपयोग की दशा है। जिस तरह पहले नेगेटिव फोटो बाद में पॉजीटिव फोटो क्रम से तैयार होती है उसी प्रकार छद्मस्थ अवस्था में क्रम से दोनों उपयोग होते हैं। यह उदाहरण मात्र दिया है। नेगेटिव स्वयं का परिणमन पॉजीटिव रूप नहीं होता किन्तु नेगेटिव की साईज व शेप तो वही रहता है, उसी में कलर भरा जाता है। नेगेटिव का इन्लार्जमेन्ट नहीं होता, वह वहीं पर रहता है केवल रिफ्लेक्शन की बात होती है। देखो! ध्यान रखिये वस्तु फिल्म के रूप में है उसका क्या रिफ्लेक्शन? उसका कोई रिफ्लेक्शन नहीं होता लेकिन उसके बिना भी कलर नहीं भरा जा सकता क्योंकि उस फिल्म में कोई आकार-प्रकार नहीं होता। छवि नेगेटिव में नहीं आती पॉजीटिव में आती है हम यह कहना चाहते हैं कि यदि ऐसा है तो आगम में क्रम नहीं रखा जाता, क्यों रखा क्रम? सर्वज्ञ भगवान् के आवरण का पूर्ण अभाव हो चुका है इसलिए उनके ज्ञान दर्शन उपयोग एक साथ होते हैं। यह निश्चित बात है।

दृष्टान्त-२—आप लोग समझते हैं कि जो फोटो कॉपी या झेरॉक्स होती है उसमें नेगेटिव पॉजिटिव दो प्रकार से करने की आवश्यकता नहीं होती। ज्यों की त्यों प्लेट पर कागज रख दो और बटन दबा दो तो ज्यों का त्यों छपकर आ जाता है। यहाँ तक कि आप ये मार्क नहीं कर सकोगे कि झेरॉक्स कॉपी कौन सी है और मूल कॉपी कौन सी है? उसी प्रकार केवली के ज्ञान में युगपत् तीनों लोक की

अनन्त वस्तुएँ एक साथ स्वतः झलक जाती हैं नेगेटिव-पॉजिटिव जैसा क्रम नहीं होता। छद्मस्थ अवस्था में वस्तु की ओर जाना पड़ता है इसलिए पहले नेगेटिव फिर पॉजिटिव जैसे दर्शन और ज्ञान कार्य करता है अथवा यूँ कहो कि दो बार छापने की आवश्यकता पड़ती है। क्रम से जानना यही हमारी कमजोरी है, केवली भगवान् के उपयोग को वस्तु की ओर जाना नहीं पड़ता किन्तु वस्तु स्वयं उनके उपयोग में आती है, उनका उपयोग क्षायिक होता है अतः उनके उपयोग की व्यवस्था इस प्रकार होती है।

जिज्ञासा—यदि कोई कहता है कि जिस प्रकार हमें इन्द्रिय ज्ञान क्रमिक होता है उसी प्रकार केवलज्ञानी को भी क्रमिक ज्ञान होना चाहिए अथवा जैसा केवलज्ञानी को युगपत् ज्ञान होता है वैसा हमें भी होना चाहिए ऐसा कहने पर क्या दोष आता है?

समाधान—केवली भगवान् को इन्द्रिय ज्ञान नहीं होता उनको तो अतीन्द्रियज्ञान होता है और हमें इन्द्रियज्ञान होता है। इन्द्रियज्ञान क्रमिक होता है, अतीन्द्रियज्ञान युगपत् होता है। यदि हमारे जैसा क्रमिक ज्ञान उन्हें होना चाहिए ऐसा कहेंगे तो उन्हें इन्द्रियज्ञान मानना पड़ेगा फलतः वे छद्मस्थ ही माने जायेंगे, वे सर्वज्ञ नहीं माने जायेंगे। तथा हमें उनके जैसा युगपत् ज्ञान होना चाहिए ऐसा मानेंगे तो हमें अतीन्द्रिय क्षायिक ज्ञान मानना पड़ेगा जो कि संभव नहीं है यदि संभव है ऐसा कहेंगे तो हम ही सर्वज्ञ हो जायेंगे। यह आगम से और प्रत्यक्ष ही असंभव दोष आयेगा। अतः छद्मस्थ दशा में ही दर्शन पूर्वक ज्ञान होता है क्षायिक दशा में नहीं। दोनों आवरण कर्मों का क्षय भी क्रमिक नहीं होता किन्तु युगपत् क्षय होता है अतः पहले दर्शन गुण बाद में ज्ञान गुण उत्पन्न होता हो ऐसा भी नहीं है। **तत्त्वार्थसूत्र** में सूत्र आता है—**मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्**। जिससे यह ध्वनि आ रही है कि मोहनीय कर्म के क्षय होने के उपरान्त ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनों का एक साथ क्षय होता है अतः अनन्तज्ञान, दर्शन एवं वीर्य गुण का उद्भव भी एक साथ होता है। यदि दर्शनावरणीय कर्म का क्षय पूर्व में मानेंगे तो सूत्र भी पलटना पड़ेगा एवं उसके क्षय के लिए द्वितीय और तृतीय शुक्लध्यान के बीच पृथक् ध्यान को मानना पड़ेगा जबकि चार शुक्लध्यान के अतिरिक्त अन्य पाँचवा शुक्लध्यान आगम में स्वीकृत नहीं है।

दर्शनगुण का पृथक् अस्तित्व आगमिक है—कुछ ऐसे भी दर्शन (मत) हैं जो कहते हैं कि जिसका कार्य नहीं देखा जा रहा है उसका कारण भी नहीं होना चाहिए। उनके लिए भी हम यही युक्ति और आगम देते हैं कि उक्त मान्यतानुसार यदि दर्शन का कार्य नहीं दिखने से उसे अस्वीकृत करते हैं तो दर्शनावरणीय कर्म का भी अभाव मान लीजिए, सात कर्म मान लीजिए और वैसा आगम ले आइये। **चैतन्य चन्द्रोदय** में यही एक विवक्षा बनाकर कथन किया है कि यदि दर्शन गुण को नहीं मानते और आठ कर्म मानते हैं तो फिर ज्ञानावरण-दर्शनावरण दोनों कर्म ज्ञान गुण को ढकते हैं तथा उनके क्षय होने पर अकेला ज्ञान गुण प्रकट होगा यह सिद्ध हुआ। जबकि आगम में ऐसा कथन स्वीकृत नहीं है।

वस्तु सामान्य विशेषात्मक होती है। दोनों उपयोगों का कार्य वस्तु को विषय बनाने का है। हालाँकि आत्मा को विवक्षित करके कथन करेंगे तो यही कहा जायेगा कि आत्मा सामान्य विशेषात्मक वस्तु को जानती है लेकिन आत्मा स्वयं ज्ञान-दर्शन दोनों गुणों के माध्यम से जानती है। दर्शनोपयोग के द्वारा आत्मा स्व अथवा पर कोई भी वस्तु हो उसके सामान्य को विषय बनाती है और ज्ञानोपयोग के द्वारा विशेष को विषय बनाती है। निश्चय नय से आत्मा स्व को और व्यवहार नय से पर को विषय बनाती है ऐसा **आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी** ने **नियमसार** ग्रन्थ में व्याख्यायित किया है। वस्तु सामान्य-विशेष युक्त समग्र रूप होती है उसमें दोनों पहलू विद्यमान रहते हैं। दोनों टुकड़े रूप में हों ऐसा भी नहीं है किन्तु जैसे-एक रुपये का सिक्का है उसमें एक तरफ सन् व प्रशस्ति लिखी होती है और दूसरी तरफ चक्र का या राजा का चित्र आदि होता है। जिस प्रकार सिक्के में दोनों तरफ प्रशस्ति व चित्र अनिवार्य हैं तभी बाजार में वह मान्य होगा उसी प्रकार वस्तु वही मान्य है जो सामान्य-विशेष दोनों पहलुओं से सहित है। इसी को आत्मा विषय बनाती है, चाहे छद्मस्थ हो या वीतरागी केवली हो। सामान्य को विषय बनाने वाला दर्शन है और विशेष को विषय बनाने वाला ज्ञान है। छद्मस्थ अवस्था में दर्शनोपयोग पहले होता है ज्ञानोपयोग बाद में जबकि केवली के दोनों उपयोग एक साथ होते हैं फिर भी छद्मस्थ और केवली दोनों वस्तु को समग्र रूप से ही जानते हैं अन्तर मात्र क्रमिक और युगपत् का है। इस प्रकार उक्त कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि वस्तु को विषय बनाने वाले दोनों उपयोगों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व आगम में है। जो व्यक्ति ज्ञान के द्वारा ही सामान्य-विशेष दोनों को विषय बनाने वाला मानते हैं वह धारणा गलत है। इस विषय में एक बात ध्यान देने योग्य है कि एक सामान्य वह होता है जिसे दर्शनोपयोग विषय बनाता है और एक सामान्य वह होता है जिसे ज्ञानोपयोग विषय बनाता है। जैसे-अवग्रह मतिज्ञान का जो विषय है वह दर्शनोपयोग की अपेक्षा तो विशेष है फिर भी ईहा मतिज्ञान की अपेक्षा सामान्य है क्योंकि आगे-आगे ज्ञान में वही विषय विशेष होता जाता है। अवग्रह में जो सामान्य है ईहा में वही विशेष होता जाता है। ईहा में जो सामान्य है अवाय में वही और विशेष रूप से विषय बनता है। जब अवग्रह, ईहा आदि में भेद-भिन्नता स्वीकार है तो वस्तु के बारे में भी भेद-भिन्नता स्वीकार करना चाहिए। इस विषय को उदाहरण से और अधिक स्पष्ट समझ सकते हैं।

दृष्टान्त—जैसे-कोई सफेद वस्तु है वह पताका है या बलाका। इसको जानने की प्रक्रिया में छद्मस्थ अवस्था में दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग क्रमिक जानते हैं। अवग्रह के पूर्व जो उपयोग होता है वह दर्शनोपयोग होता है वह उस वस्तु को सामान्य रूप से जानता है उसमें वह वस्तु सफेद है इसे नहीं जानता। वस्तु सफेद है इसे सामान्य जानने वाला तो अवग्रह मतिज्ञान होता है। दर्शनोपयोग में वस्तु सफेद है या कैसी इसका प्रतिपादन नहीं होता। सफेदी आने के पूर्व दर्शनोपयोग ने सामान्य रूप से ग्रहण किया था जब उसका कार्यकाल समाप्त हो जाता है तब बाद में ज्ञानोपयोग आता है वह

सर्वप्रथम अवग्रह रूप में होता है जो वस्तु को सफेद रूप से ग्रहण करता है लेकिन वह सफेद पताका है या बलाका? यह दीवार है या सफेद धोती-दुपट्टा पहनकर कोई व्यक्ति आया है? क्या है? यह विशेष जानने में ईहा मतिज्ञान प्रवृत्त होता है पश्चात् निर्णय के लिए अवाय ज्ञान होता है अन्त में निर्णीत वस्तु की धारणा होती है। इससे सिद्ध हुआ कि अवग्रह के पूर्व वस्तु सामान्य रूप से विषय बनती है उसमें वस्तु तो है लेकिन सफेद है यह विषय नहीं बनता। उस सफेदी रहित वस्तु को सामान्य रूप से ग्रहण करने वाला ही दर्शनोपयोग है। यह आगमिक कथन है।

उत्थानिका—आगे सम्यग्दृष्टि जीव स्व और पर का स्वरूप कैसा जानता है अथवा सम्यग्दृष्टि स्व को किस रूप में स्वीकारता है तथा पर को किस रूप में स्वीकारता है? यह बतायेंगे—सम्यग्दृष्टि स्व को भी अपने ज्ञान का विषय बनाता है और पर को भी लेकिन स्व को स्व के रूप में और पर को पर के रूप में स्वीकार करता है। वह सम्यग्दर्शन को सम्यग्दर्शन के रूप में तथा मिथ्यादर्शन को मिथ्यादर्शन के रूप में स्वीकारता है। सम्यग्दर्शन को अच्छा और मिथ्यादर्शन को बुरा मानकर स्वीकारता है क्या? नहीं क्योंकि अच्छा-बुरा भाव सम्यग्दृष्टि को नहीं आता किन्तु जो जैसा है वैसा सही-सही स्वरूप मानता है। हित-अहित के रूप में जानता है लेकिन अच्छे-बुरे रूप में नहीं। प्रायः करके हेय के प्रति ललाट पर झुर्रियाँ आ जाये तो वह घृणा का या द्वेष का अवबोधन प्राप्त करा देता है और अच्छे के प्रति फूल के समान फूल जाये तो राग का अवबोधन प्राप्त होता है। यह हेय-उपादेय का वास्तविक ज्ञान नहीं है। हेय-उपादेय बुद्धि में ज्ञान की समीचीनता होनी चाहिए, निमित्त को निमित्त के रूप में और उपादेय को उपादेय के रूप में स्वीकारना चाहिए। जजमेन्ट देते समय जज कभी भी अपराधी के प्रति क्रुद्ध होते हों और जो अपराधी नहीं हैं उनके प्रति फूल जाते हों ऐसा नहीं होता किन्तु सही को सही और गलत को गलत रूप में जानकर निष्पक्ष होकर निर्णय देते हैं। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव वस्तु को जैसी है वैसी स्वीकारता है। इसी को आगे की गाथा में बताया जा रहा है—

पुगलकम्मं कोहो तस्स विवागोदयो हवदि एसो।

ण दु एस मज्झभावो जाणगभावो दु अहमिक्को ॥२०७॥

अन्वयार्थ— (कोहो) क्रोध (पुगलकम्मं) पुद्गल कर्म है (एसो तस्स) यह उस क्रोध के (विवागोदयो) विपाक का उदय (हवदि) है (दु एस) और यह (मज्झभावो ण) मेरा स्वभाव नहीं है क्योंकि (दु) निश्चय से (अहमिक्को) मैं तो एक हूँ (जाणगभावो) ज्ञायक स्वभाव वाला हूँ।

अर्थ—सम्यग्दृष्टि विरागी जीव ऐसा जानता है कि क्रोध या राग नाम का पौद्गलिक कर्म है उसके विपाक का उदय ही मेरे अनुभव में प्रतीति रूप में आया करता है सो यह मेरा स्वभाव नहीं है। मैं तो निश्चय से एक ज्ञायक स्वभाव रूप हूँ इसमें संदेह नहीं।

होता यदा उदय पुद्गल क्रोध का है,

तो भाव क्रोध उगता रिपु बोध का है।

होगा नहीं यह विभाव, स्वभाव मेरा, ज्ञानी निरामय निरा नित मैं अकेला ॥२०७॥

व्याख्या—यह द्रव्य क्रोधादि पुद्गल कर्म रूप होता है। यह पहले ही कहकर आये थे कि जो पुद्गलात्मक होता है वह द्रव्यकर्म माना जाता है और जो ज्ञानात्मक होता है वह चेतनरूप होता है अर्थात् जो चेतनात्मक है वह जीव की परिणति है तथा रूप, रस, गन्धात्मक पुद्गल की परिणति है। जब पौद्गलिक क्रोध कर्म का उदय होता है तभी जीव क्रोधी होता है। यह बात अलग है कि क्रोध को उखाड़ने के लिए कोई निमित्त मिल सकता है लेकिन वह उखड़े ही ऐसा कोई नियम नहीं है। इसलिए क्रोध क्या वस्तु है? यह समझना चाहिए कि हमें क्रोध आ रहा है तो भी क्यों आ रहा है? अपने में क्रोध आ रहा है तो हमेशा आता रहेगा क्या? यह कभी जायेगा नहीं क्या? यह क्यों आता है? तो कहते हैं कि—आत्मा के साथ जिस कर्म का संबंध हो चुका है उसके उदय में क्रोध आता है। उदय का अर्थ उदयावली नहीं लेना किन्तु उपयोग में जब क्रोध आता है वह उदय विवक्षित है। कर्म उदयावली में आने पर उपयोग में भाव उत्पन्न नहीं करता। क्रोध कर्म का उदय आये बिना क्रोध भाव नहीं होगा यह निश्चित बात है लेकिन उदय में आ गया तो क्रोध हो ही यह भी कोई नियम नहीं है क्योंकि ऐसा भी देखा जाता है कई व्यक्तियों के जीवन में क्रोध के कई निमित्त मिलने के उपरान्त भी उनकी क्षमाभाव की थोड़ी सी भी मात्रा घटती नहीं है या यूँ कह दो कि उनके पास एडवांस डिपार्टमेंट में क्रोध है ही नहीं।

आचार्यों ने कहा है कि क्रोध का उदय तो उपशम और क्षपक श्रेणी में भी रहता है लेकिन कषाय की चौकड़ी कौन सी है उसके अनुसार प्रभाव पड़ता है। क्रोधादि चार कषायें तो सामान्य हैं लेकिन अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान आदि चौकड़ी के अनुसार उदय होता है। उनमें से कषाय के मन्दोदय में जीव यदि अपना ऐसा पुरुषार्थ करता है कि क्रोधादि तो विकारी भाव हैं मेरा स्वभाव क्रोधादि भावों से रहित है। क्रोध रूप परिणमन मेरा स्वभाव नहीं है यह तो पुद्गल कर्म के उदय से होने वाला परिणमन है। इस प्रकार जो अपना श्रद्धान होगा वही वर्तमान में पुरुषार्थ कर सकेगा। वह विचार करेगा कि जब क्रोध करना मेरा स्वभाव नहीं है तो मैं क्रोध क्यों करूँ? उस कर्म से प्रभावित क्यों होऊँ? दूसरे व्यक्ति से प्रभावित होने की बात तो दूर किन्तु अपने कर्म के उदय से भी प्रभावित नहीं होना इसी का नाम पुरुषार्थ है। यह आत्म-साधना मानी जाती है। दूसरों के ऊपर टूट पड़ना तो सबको आता है लेकिन क्रोधादि कर्म पर टूट पड़ना यह विरलों का ही कार्य होता है। दूसरों पर टूट पड़ोगे तो भी वह पकड़ में नहीं आयेगा कहाँ-कहाँ टूटोगे आप? हाथ पैर ही टूटेंगे।

दृष्टान्त—जैसे—रणांगन में देखा जाता है कि एक योद्धा दूसरे के ऊपर टूट पड़ता है उसी प्रकार क्रोध आया है तो उस पर टूट पड़ो उसकी टाँग-कमर तोड़ दो। सही पूछा जाए तो यही सही बदला लेने का भाव है बाकी जितने भी व्यक्तियों से बदला लेने के भाव हैं वे सभी अज्ञान के परिणाम हैं।

सही बदला लेना है तो अपने अंतरंग के क्रोध, मान आदि कषाय भावों से लो ताकि बाहर किसी से बदला लेने का अवसर ही नहीं आयेगा। **ण दु एस मज्झ भावो** यह मेरा भाव नहीं है ऐसा सोचने वाला अपने आत्मा के कितने निकट में जीवन जी रहा है। इसी का नाम सही जानकारी है। यही सम्यग्ज्ञान और भेदविज्ञान का फल है।

दृष्टान्त—जैसे—जजमेंट देने वाले के पास दोनों पक्ष के प्वाइन्ट रहते हैं। उस समय वह किसी के प्रति क्रोध, राग या द्वेष नहीं करते हुए दोनों की स्थिति-परिस्थिति को सही-सही समझता है क्योंकि दोनों को सुनते समय किसी से भी राग-द्वेष होगा तो एक को भी अच्छे से नहीं सुन पायेगा। दोनों को एक साथ बुलाकर निष्पक्ष होकर बात सुनी जाती है, दोनों को आगे-पीछे अलग-अलग सुनने से किसी एक के पक्ष में यदि झुकाव या राग और दूसरे के पक्ष में द्वेष हो जायेगा तो किसी की भी सही जानकारी नहीं ले पायेगा और निर्णय भी सम्यक् रूप से नहीं दे पायेगा। सामने वाले के भाव क्या हैं? यह समझने के लिए जब जज चला जाता है तो उसे क्रोधादि आ ही नहीं सकता। यदि क्रोध आ रहा है तो सामने वाले से दोस्ती नहीं है अथवा कषायभाव है यह सिद्ध होता है। सही स्वीकारता और निर्णय तभी हो सकता है जब न्याय करने वाला दोनों से मध्यस्थ हो।

ज्ञानार्णवकार आचार्य शुभचन्द्र स्वामी से किसी ने प्रश्न उठाया कि आप प्राणायाम आदि को महत्त्व क्यों नहीं देते? तब उन्होंने लिखा कि प्राणायाम अर्थात् श्वासोच्छ्वास जड़ (पुद्गल) की परिणति है। मात्र श्वासोच्छ्वास को जानने वाला यदि ध्यानी हो जाये तो बहुत सारे लोग ध्यानी हो जायेंगे। आज भी अण्डर-ग्राउण्ड में छह-छह माह तक योग साधना को करने वाले श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया को जानते हैं लेकिन उन्हें योगी नहीं कहा जाता क्योंकि **वीतरागात् भवेत् योगी** यह पहली शर्त है बिना वीतरागता के योगी संज्ञा कैसे दी जा सकती है? ध्यान के लिए प्राणायाम की कोई आवश्यकता नहीं है फिर भी ध्यान के समय इसका कथन क्यों किया जाता है? तो मन की एकाग्रता की दृष्टि से श्वासोच्छ्वास का कथन किया जाता है। यह योग की परिणति तो है पर उपयोग की परिणति नहीं है, यह प्राणों का आयाम है उसको श्वासोच्छ्वास का रूप दे दिया है। एक कर्म का आयाम भी होता है। कर्म का आयाम क्या है? तो जिस समय कर्म उदय में आता है उस समय वह अपने को समझ में आता है। वह आँखों से देखने में नहीं आता लेकिन संवेदन या अनुभव से समझ में आयेगा कि क्रोध का उदय चल रहा है इसलिये भीतर से ही तिलमिलाहट होती है।

दृष्टान्त—जैसे—आप रात में कमरे में लेटे हैं, अन्धेरा है कुछ दिख नहीं रहा है, उसी समय मानलो एक खटमल ने काट दिया तो किसी ने काट दिया इसका संवेदन आपको हो गया। उसने एक सेकंड में काटा और चला गया बाद में जो संवेदन हो रहा है वह स्वभाव रूप संवेदन नहीं है। यदि स्वभाव रूप होता तो हमेशा होना चाहिए। स्वभाव को कभी पकड़ नहीं सकते इसको मिटा नहीं सकते क्योंकि यह खटमल के द्वारा काटने पर होने वाली तिल-मिलाहट तो क्षणिक होती है। उस समय हमारा

उपयोग कितना निकट चला जाता है। अब देखो! प्राणायाम से कर्म के निकट आयाम को भी हम अपनी दृष्टि में रख सकते हैं। क्रोध के उदय समय में क्रोध आया और अन्तर्मुहूर्त में क्रोध का उदय आकर जब चला गया तो उसकी स्मृति नहीं रहनी चाहिए जबकि उसकी याददाश्त घंटों, महीनों, वर्षों क्या भवों-भवों में भी रह सकती है जिसके कारण वह उबलता रहता है। मानलो किसी से आठ-दस वर्ष पुराना द्वेष था, द्वेष होने के उपरान्त वह व्यक्ति तो चला गया और इसने बदला लेने का भाव कर लिया और उसने द्वेष छोड़ दिया या नहीं भी छोड़ा और आगे जाकर मानलो उसका विदेहक्षेत्र में जन्म हो गया। उसका सात माह में जन्म हो गया और आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त में संयम ले लिया पश्चात् आत्म पुरुषार्थ ऐसा फलित हुआ कि अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान व मुक्ति को प्राप्त हो गया लेकिन यह द्वेष रखने वाला अपनी तैयारी कर रहा है कि मैं उसको देखूँगा। यह अज्ञान चलता रह सकता है। हाँ, यह हो सकता है और वह वहाँ से अपने केवलज्ञानरूपी दर्पण में उसकी ये सभी तस्वीरें देख रहा है। देखो! यह कैसा अज्ञान का कार्य कर रहा है। क्या यह हो सकता है? आचार्य कहते हैं, हाँ यह सब हो सकता है।

सिद्धान्त में आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त उपरान्त केवलज्ञान हो सकता है ऐसा बताया गया है। सामान्य से भद्र मिथ्यादृष्टि यहाँ से विदेह जा सकते हैं। यहाँ से विदेह जाने वालों की संख्या १२३ है। यहाँ से विदेह जाने वाला मनुष्य से मनुष्य हुआ तो वह मिथ्यादृष्टि तो होगा लेकिन भद्र मिथ्यादृष्टि होगा और वहाँ आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त में सम्यग्दर्शन व स्तत्रय को धारण कर केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है। उसके प्रति वैर रखने वाला रडार से देखेगा कि वह कहाँ पर है तो भी वह नहीं मिलेगा। जहाँ पर वह गया है यदि वहाँ पर वह जाना चाहता है तो बदले का भाव छोड़कर जाना पड़ेगा। द्वीपायन मुनि को देख लो! उन्होंने अपराध भी कर लिया, प्रायश्चित्त भी ले लिया और चले गये फिर भी सामने वाला यदि कहता है कि दोनों मिलकर प्रायश्चित्त करते तो उनका अपराध दूर हुआ माना जाता। वे हमसे क्षमा माँगते क्षमा क्यों नहीं माँगी? कोई भी परिणाम हों उसके संस्कार बने रहते हैं। जैसे—किसी को अभी सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ, अन्तर्मुहूर्त बाद समाप्त हो गया वह मिथ्यादृष्टि हो गया तब से उसका वेदक काल प्रारम्भ हो गया। मिथ्यात्व में पहुँचने पर जब तक पल्य का असंख्यातवाँ भाग काल व्यतीत नहीं होता तब तक वेदक-काल माना जाता है। उस समय मिथ्यादर्शन रूप दो प्रकृतियों की उद्वेलना होती रहती है अथवा उद्वेलना पूर्ण हो या न हो किन्तु पल्य का असंख्यातवाँ भाग काल व्यतीत होना अनिवार्य है तब तक वेदक-काल माना जायेगा।

जिज्ञासा—वेदक काल का अर्थ क्या है?

समाधान—कोई उपशम सम्यग्दृष्टि सम्यक्त्व से च्युत होकर जब मिथ्यात्व गुणस्थान में पहुँचता है उस समय त्रस जीवों में रहकर जिसने सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन दो प्रकृतियों का उद्वेलन किया है वह जीव सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व की स्थिति के सत्त्वस्वरूप सागरोपम पृथक्त्व

काल के पश्चात् उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, यदि इससे ऊपर की स्थिति रहने पर सम्यक्त्व को ग्रहण करता है तो निश्चय से वेदक सम्यक्त्व को ही प्राप्त होता है। चूँकि वह इस काल में वेदक सम्यक्त्व को ही ग्रहण करने के योग्य होता है इसलिए वह वेदक काल कहलाता है। इस काल में सम्यग्दर्शन के संस्कार रह जाते हैं तो शीघ्रता से पुनः सम्यग्दर्शन हो जाता है, वही ज्यों का त्यों होता है ऐसा तो नहीं है लेकिन फिर भी संस्कार तो काम करता है। जैसे—यदि हमने वैर का त्याग नहीं किया हो तो जिस व्यक्ति से हमारा वैर है उस व्यक्ति के मिलते ही हमारे तत्सम्बन्धी भाव हो जाते हैं।

दृष्टान्त—जैसे—दस लाख वनस्पति हैं उसमें से आपने यदि सीमा नहीं बनाई है कुछ हरी का त्याग नहीं किया है तो भले ही आप सभी का उपयोग करो या न करो लेकिन तत्सम्बन्धी बन्ध तो होगा। जैसे—आप भाव करेंगे वैसा बन्ध होगा। उसी प्रकार मानलो किसी ने अणुव्रतों को नहीं लिया है, चोरी का त्याग नहीं किया है और चोरी भी नहीं करते हैं तो तत्सम्बन्धी दोष तो होता है। वह कहता है—जब चोरी करते ही नहीं हैं तो त्याग की क्या आवश्यकता है? उसके लिए आचार्य कहते हैं कि—यह आचार संहिता है। आप चोरी नहीं करते लेकिन समय आने पर छोड़ते भी नहीं, इसीलिए कहा है कि जब तक पाप नहीं छोड़ेंगे तब तक असंख्यातगुणी निर्जरा भी नहीं होगी। अब आप ही देख लो—कैसा क्या हिसाब-किताब चलता है आपने त्याग नहीं किया है तो बन्ध तो होगा ही। वैसे भाव नहीं कर रहे हैं तो संकल्प लेओ—यही तो तप है, संयम है इसी के साथ आपकी कर्म निर्जरा होगी और बढ़ेगी।

मानलो, आपने मौन का संकल्प नहीं किया और बोलते भी नहीं हैं तो मौन रूप तप का फल आपको मिलेगा क्या? नहीं...। हम यह कहना चाहते हैं कि मौन लेना और नहीं बोलना इसमें बहुत अन्तर है। आप अकेले बैठे हो तो किसके साथ बोलोगे। दीवाल से थोड़े ही बोलोगे लेकिन फिर भी मौन लेने का साहस नहीं करते। संकल्प ही तो संयम है, यदि ऐसा नहीं है तो गूँगे का तो हमेशा मौन ही हो जायेगा। कोई गूँगा है—वह कभी भी नहीं बोलता तो उसका मौन है क्या? नहीं...। यह स्थिति बड़ी अद्भुत है। संयम का महत्त्व तब ज्ञात होता है जब हम संयम को संकल्प पूर्वक लें। संकल्प पूर्वक कोई भी व्रत-नियम लेने से पता चलता है कि उसका कितना महत्त्व है? संकल्प लेने पर परीक्षा होती है। जैसे—आपने मौन लिया तो मौन लेते ही परीक्षा प्रारंभ हो जाती है। मानलो, आप आहार चर्या के लिए श्रावक के यहाँ पहुँचे तो वहाँ जिन चीजों का आप त्याग करके आए हैं वही-वही चीज आपको बार-बार बतायेंगे और कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जिस चीज का आप त्याग करके नहीं गए हैं तो श्रावक उसे दिखाने के उपरान्त भी नहीं दे पाते। अब आपकी परीक्षा है उसमें पास तभी होंगे जब उस वस्तु के प्रति कोई विकल्प न आए, दे रहा है तो ठीक, नहीं दे पा रहा तो भी ठीक है इसीलिए तो हम कहते हैं कि त्याग का महत्त्व अपने आप में अद्भुत है और यह स्वाश्रित है।

दृष्टान्त—एक पौराणिक प्रसंग है कि एक मासोपवासी मुनिराज आहारार्थ नगर में आए। आहारचर्या में निकले विधि नहीं मिली तो चले गए, मात्र एक राजा के यहाँ पड़गाहन हो रहा था। दुबारा

आए तो एक हाथी पागल हो गया, वह उसी समय दौड़ रहा था तो कोई पड़गाहन करने नहीं खड़े थे, अतः मुनिराज चले गए और पुनः एक महिने का उपवास कर लिया। तीसरी बार आए तो मात्र एक राजा के यहाँ पड़गाहन को खड़े थे उन्हें अग्नि दिख गई तो फिर लौट गए। सभी लोग हाथ जोड़कर खड़े हैं, सोच रहे हैं क्या करें? श्रावकों से रहा नहीं गया तो कहते हैं कि—ये कैसा राजा है? स्वयं पड़गाहता नहीं और हम लोगों को भी पड़गाहने नहीं देता। मुनिराज ने लौटते में यह सुन लिया तो उन्हें क्रोध आ गया। आहार नहीं हुआ इसलिए क्रोध नहीं आया तथा एक या दो ही चौके थे इससे भी उन्हें मतलब नहीं था क्योंकि उनका तो नियम था कि हमें तो सीधा आँगन तक जाना है, विधि मिल गई तो चले जाना है अन्यथा वापस आना है। नवधाभक्ति पूर्वक विशुद्धि से आहार देते हैं तो मुनिराज आहार लेते हैं। श्रावक ने शुद्धि बोल दी बस...आहार ले लिया। उस समय ये सब बातें नहीं होती कि ये दूध आदि सामग्री कहाँ से खरीदी थी? आटा कौन सी चक्की से पीसा था? कौन सी गाय का दूध है? पानी किसने खींचा? रस्सी कौन सी थी? बाल्टी भवर (कड़े) वाली थी या नहीं? इन सभी को उपदेश में कह सकते हैं। श्रावक को विवेकपूर्वक चर्या का उपदेश तो दिया भी जाना चाहिए ताकि वे स्वयं भी निर्दोष चर्या कर सकें, शुद्धाशुद्ध का विवेक रख सकें और साधु की चर्या भी विवेकपूर्वक करा सकें। श्रावक को उपदेश दो उससे इधर-उधर की बात न करो, उसको विवेक, शुद्धाशुद्धि की बात समझाओ तो बहुत अच्छी बात है। चातुर्मास के चार-पाँच महीने का समय भी कभी-कभी यँ ही बीत सकता है लेकिन आप लोगों को शुद्ध भोजन करना चाहिए, शुद्ध व्यवसाय करना चाहिए आदि सभी बातें आगम के अनुकूल बतायें ताकि वे अपने जीवन में कुछ सीख लें। उनकी कोई गलती हो गई हो और आकर पूछें तो बता दें जिससे धीरे-धीरे सुधार आ जाता है।

उक्त कथन के अनुसार दिनचर्या के माध्यम से श्रावक को तो लाभ होता ही है किन्तु मुनियों की निर्दोष आहारचर्या होने से उन्हें भी लाभ होता है। जिससे श्रावक और मुनि अथवा दाता और पात्र दोनों की कर्म निर्जरा होती है। कहा भी है—“**विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः**” अर्थात् विधि, द्रव्य, पात्र, दाता की विशेषता से दान के फल में विशेषता होती है। श्रावक और मुनि दोनों धर्म की अच्छी प्रभावना हो जाती है, इससे दूसरे लोग भी सीख लेते हैं। एक दाता की क्रिया को देखकर दूसरा भी सीख लेता है तथा एक पात्र की निर्दोष चर्या देखकर दूसरे पात्र भी सीख जाते हैं कि ऐसी चर्या होनी चाहिए। एक चौका, दो चौका क्यों लगे? ऐसा कहना हम लोगों का काम नहीं है। दूसरी बात—पंचमकाल के अन्त में एक श्रावक, एक श्राविका रहेगी, उन्हीं के यहाँ मुनिराज और आर्यिका के आहार होंगे कि नहीं? वर्तमान में ही नहीं, भविष्य में भी यह होने वाला है। यह घटना निश्चित घटेगी, यह शास्त्रों में पहले से लिखा हुआ है, उसके पीछे और भी कोई मन्तव्य होगा, उसे लेखक ने नहीं लिखा होगा। ज्यादा चर्चा महाराज जी के निमित्त से मत करवाओ। महाराज इस विषय में विधि-निषेध कुछ नहीं कहते क्योंकि उनके कहने से चौके लगेंगे तो और उद्दिष्ट हो जायेगा। होता क्या है कि लेखक

लिखते समय भावुकता में लिख देता है और वक्ता भी अपने ढंग से भाव व्यक्त कर देता है जिससे पात्र के ऊपर दोष आ जाता है। यही तो बात है—प्रासंगिक विषय का स्पष्टीकरण लेखक या वक्ता के ऊपर आधारित है। प्रसंग जब स्पष्ट किया जाता है उसी समय कोई प्रश्न पूछता है तो निश्चित रूप से स्पष्टीकरण हो जाता है। एक ही चौका लगता है तो उद्दिष्ट का दोष होगा ही यह कोई नियामक नहीं है क्योंकि उद्दिष्ट दोष तो साधु की अनुमोदना से होता है। यदि साधु कहते हैं कि एक चौका लगेगा तो हम नहीं आयेगे, दो लगेगे तो आयेगे तो वह कह सकता है कि महाराज! यह तो पंचमकाल की विशेषता है। शास्त्र स्वाध्याय बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इस प्रकार चर्चा का विषय बना देंगे तो सामान्य व्यक्ति इसको समझ नहीं पायेगा। विधि, द्रव्य, दाता, पात्र सभी को सही-सही जानेंगे तभी पूर्ण रूप से लाभ उठा पायेंगे हम इसके बारे में कुछ नहीं कह सकते। हमारा इससे मन, वचन, काय से कृत, कारित, अनुमोदना से कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

दृष्टान्त—विधि आदि के बारे में हम एक दृष्टान्त से समझ सकते हैं। जैसे—वैद्य रोगी को देखकर सर्वप्रथम निदान करके कौन सी औषधि किसके साथ देना है? यह बात देश, काल, द्रव्य के अनुसार विचारणीय होती है। यदि छोटा बालक है तो उसे घी के साथ औषधि न देकर उसको दूध के साथ देते हैं और कोई पहलवान हो तो घी के साथ दे देते हैं लीवर कमजोर है तो घी, दूध के साथ न देकर पानी के साथ घोलकर देते हैं अथवा दूध में पानी मिलाकर दे देते हैं। सामान्य रूप से तो नियम एक रहता है फिर भी उसमें रोगी के अनुसार थोड़ा बहुत अन्तर करके देते हैं यह विधि मानी जाती है। दूसरी बात—यदि दवाई विशेष आवश्यक है और दाँत नहीं हैं तो क्या करेंगे? मूँगफली पीसकर देंगे तो मुनि के लिए उद्दिष्ट हो जायेगा और दवाई पीसकर देंगे तो भी उद्दिष्ट हो जायेगा ऐसा कहना ठीक नहीं है। घर में भी इसी प्रकार करते हैं, मानलो, घर में एक बेटा कमजोर है तो उसके लिए उसकी दाल पहले से निकालकर रख लेते हैं बाद में उसमें बघार/छोंक लगा देते हैं। अतः लोग दाल में बघार देकर उसे बिगाड़ देते हैं—जो कुछ भी कह दो लेकिन उस कमजोर बालक के लिए तो उबला ही मिलेगा। किसी का पित्त भड़क जाता है तो किसी का कफ। अतः इस विधि में यदि विवेक नहीं रखेंगे तो फिर उनके लिए हमारा सहयोग क्या रहेगा?

जैसे—मानलो, कोई मुनि महाराज रस का त्याग करके गये हैं तो अब आप क्या करेंगे? आप कहेंगे कि—महाराज! हम जो खाते हैं वही आपको खाना पड़ेगा तो फिर महाराज का रसपरित्याग तप तो पल ही नहीं सकेगा। ऐसी-ऐसी बहुत सारी बातें हैं, उस समय श्रावक विवेक रखेगा अर्थात् सामग्री को अलोना रखेगा। श्रावक के पास अलोल्य आदि अनेक गुण हैं लेकिन उसमें विवेक गुण प्रमुख है। वह यह नहीं कहेगा कि—हमारे पास तो अलोल्य गुण है महाराज! आपको हलवा लेना पड़ेगा। यदि ऐसा समझेंगे तो त्याग कैसे चलेगा, इस विषय में विवेक तो रखना ही पड़ेगा। कोई यथालब्ध आहार लेने वाले मुनिराज आ गये और उनके हाथ में यदि त्यागी हुई वस्तु आ गई तो महाराज बैठ जायेंगे।

वह पूछेगा क्या हो गया? कौन-सी गलती हो गई महाराज! कौन सी अशुद्धि हो गई? तो महाराज कहेंगे हमारा इस वस्तु का त्याग है वह हाथ में आ गई इसलिए बैठ गया, तब वह कहता है—पहले से बता देते तो अन्तराय नहीं होता। महाराज कहेंगे— बताने के उपरान्त अन्तराय कैसे होता? यह थाली दिखाने की पद्धति अब हो गई है। वस्तुतः ये कोई विधि नहीं है किन्तु जो अंजलि में दे दिया लेने योग्य है तो ले लिया..बस..हो गया।

परिणामों को संयत रखो—शक्यानुष्ठान अलग वस्तु है। अनेक प्रकार के परिणाम होते हैं। कर्मोदय में जान बूझकर भी परिणाम होते हैं। उस समय कर्मों को हम अनुपस्थित मानते हैं, उस ओर दृष्टि नहीं रखते हैं इसीलिए ऐसा होता है। यह ज्ञान की कमी है इतना समझ लो न! यदि अपने को ही थोड़ा बुरा लग रहा है तो यह हम ही लोगों की कमी मानी जायेगी। सामने वाला अज्ञान से यदि कुछ कार्य कर रहा है तो हमें ऐसा समझ करके चलना चाहिए कि यह उसका अज्ञान है। यदि स्वयं के भी परिणाम बिगड़ रहे हैं तो अपना भी अज्ञान हो गया ऐसा समझना चाहिए। यदि वह सुनने के लिए तैयार है तो सुनाओ अन्यथा वह चार बातें आपको सुना देगा तो क्या करोगे? बताओ। हम यह कहते हैं कि **अपने परिणामों को हमेशा संयत रखो** इतना तो कर सकते हैं। हम दूसरों के बारे में कुछ नहीं कर सकते तो कोई बात नहीं लेकिन अपने परिणामों को भी संयत नहीं रख पाते, ऐसा क्यों? उसकी कमी है तो अपनी भी कमी है, वह गृहस्थ है, हम तो श्रमण हैं, ऐसा सोचो कभी-कभी पेपर चेक करते-करते वह व्यक्ति सोचता है कि हमने कभी इतनी सी उम्र में ऐसा पेपर लिखा था क्या? सही-सही चेकअप (जाँच) करने वाला निश्चित रूप से सोचता होगा। अन्यथा टिक मारना और क्रास लगाना तो सबको आता है—समझे नहीं...। समझ गए तो ठीक है। अतः तुलना की जाती है कि कौन सी अवस्था में कौन से दोष सम्भाव्य हैं, आप लोग अपने आप में यह देखो, उन्हीं-उन्हीं को देखने चले जाओगे तो यह हमारी कमी हो रही है ये मानो। उतने पीरियड में हमने अपने दर्पण को कहाँ देखा? अपने परिणामों को कहाँ देखा? इसमें हमारी कमी नहीं हुई क्या? संयत होकर अर्थात् नियन्त्रण में रहते हुए कुछ बताना चाहो तो बता दो, यदि नियन्त्रण खो देते हो तो मत बताओ। बताने के पूर्व ही यदि वह मानलो गुस्सा होने लगा तो मत बताओ वहाँ रहो ही नहीं...नहीं तो नशा चढ़ने लग जाता है क्योंकि निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध ऐसे ही रहते हैं। इसलिए **कषाय क्या वस्तु है? इसे जानो, इसे जानने वाला व्यक्ति उस समय कषाय नहीं कर सकता, कषाय करने के बाद तो बहुत लोग पश्चाताप कर लेते हैं। अब तो चिड़िया भी नहीं है.. खेत भी नहीं है बाद में मात्र पश्चाताप शेष रह जाता है। बाद में पश्चाताप करने वाला तो अज्ञानी है फिर भी वह अज्ञानी ज्ञान की ओर आ सकता है लेकिन जो पश्चाताप ही नहीं करता उसके बारे में क्या कहें? इसलिए हम सतर्क रहें। दूसरों को कुछ कहने की अपेक्षा जो व्यक्ति स्वयं नियन्त्रित रहता है तो अड़ोस-पड़ोस वाले अपने आप नियन्त्रित हो जाते हैं। हम मात्र दूसरों को नियन्त्रण में रखना चाहेंगे तो सामने वाला कहेगा—पहले**

अपना देखो हाँ, वह भी कम थोड़े ही है। वह कहता है कि हमें बताने को आ गये—**पहले अपने आपको देखो** यह सूत्र बहुत अच्छा है। भले ही आपको उसके ऊपर गुस्सा आ सकता है लेकिन उसने तो खरा जबाब दे दिया फिर भी आप अपनी तरफ नहीं देखते हैं तो फिर दुबारा कहेगा—**अपनी तरफ देखो** हमें मत बताओ, हमें भी सब समझ में आता है। तो ज्यादा गुस्सा न आ जाये इसलिए तो हम कह रहे हैं **अपना देखो** हमारी तरफ मत देखो क्योंकि हमने तो एक बार ही गलती की थी आपने तो हमारे सामने-सामने ही तीन बार गलती कर दी। **अपना देखो** यह बड़ा विचित्र सूत्र है महाराज! “करना और कहना” दोनों में बहुत अन्तर है। जो कुछ भी होता है पर निमित्त से ही होता है यह भी नियम नहीं बल्कि अपनी उपादान की कमजोरी से होता है यह देखना है।

जाणगभावो दु अहमिक्को मैं कौन हूँ? आचार्य कहते हैं कि मैं जानने वाला हूँ। जानने वाला क्रोध, मान, मायाचारी करने वाला नहीं हो सकता। जानना तो स्वभाव है, क्रोध करना स्वभाव नहीं है। जब क्रोध किया जा रहा है तो उस समय स्वभाव से विमुख हो रहा है मात्र जानने का कार्य नहीं हो रहा है। ऐसी कितनी पीड़ियाँ निकल जाती हैं जिसमें हम स्वभाव से विमुख होकर चलते हैं। अपने स्वभाव की ओर आप देखो तो कषाय नहीं होगी इसलिए आचार्यों ने कहा है कि—प्राणायाम के समय कषाय नहीं होती लेकिन उस समय कषाय नहीं हो रही है इसलिए आपने कषाय को जीत लिया और स्वभाव को जान लिया ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। आपने उस समय मात्र योग से श्वासोच्छ्वास को जाना है। उससे भी निकट अपना कर्म है तथा उससे भी निकट आत्मा में होने वाला भाव है उस भाव को जानो और फिर भी भावों में यदि विकार हो रहा है तो सोचो—कि यह मेरा स्वभाव नहीं है। ऐसा कौन सा समय आयेगा जब भावों में विकार न हो...क्योंकि कषाय के अनुसार कुछ न कुछ तो विकृतियाँ होंगी इसलिए ऐसा सोचना कि—यह मेरा स्वभाव नहीं है। यही तो आत्म-साधना मानी जाती है। यही स्वस्थ भाव है, यही सबसे निकट है। अपनी ही कमजोरी के कारण अपने परिणामों में विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, इसको अपन देखते रहेंगे तो उस समय अपने आप निमित्त पर टूटना तो दूर किन्तु उसे याद भी नहीं करेंगे इसलिए ज्ञानी बाहर आया तो कुछ सम्बन्ध हो जाता है और भीतर जाता है तो सब सम्बन्ध टूट जाते हैं। भीतर जाने के उपरान्त भी बाहर क्या-क्या हुआ यदि यही लेखा-जोखा करेगा तो भीतर जाने का कोई मतलब ही नहीं रहेगा। उस समय वह पाँच इन्द्रियों की अपेक्षा तो भीतर गया लेकिन मन की अपेक्षा से और भीतर नहीं जा पाया।

जाणगभावो दु अहमिक्को यह अपने आप में महत्वपूर्ण साधना है। हम अपने आपकी पहचान तब कर सकते हैं जब ये स्वीकार करेंगे कि मैं **ज्ञायक स्वभावी मात्र हूँ** बाकी कुछ भी मेरा नहीं है। जानने के लिए कोई न कोई चीज या विषय चाहिए तो अपने स्वभाव के बारे में सोचो। यदि स्व के बारे में कोई परिचय नहीं है और भीतर उथल-पुथल मच रही है तथा पर को जानना अनिवार्य हो गया है तो पर को पर के रूप में जानो-देखो। सम्यग्दृष्टि पर को पर के रूप में एवं स्व को स्व के

रूप में विशेष रूप से जानता है।

पौद्गलिक द्रव्य कर्म रूप द्रव्य क्रोध है जो कि जीव में पूर्व से बंधा हुआ है जिसके उदय में नवीन भाव क्रोध होता है उससे पुनः कर्म का सम्पादन होता रहता है। यह क्रम अनादि से चल रहा है। इसे निम्न दृष्टान्त से समझा जा सकता है।

दृष्टान्त—आप लोग जिसे रहट बोलते हैं, उसमें डिब्बों की माला जैसी होती है, जो ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर घूमती रहती है। घूमने से एक डिब्बे का पानी खाली होता है, उधर दूसरे डिब्बे में पानी भरता है। पानी का खाली होना इसे कर्म उदय की अवस्था कह सकते हैं, पानी का भरना इसे नवीन कर्म बंध रहा है ऐसा समझ सकते हैं तथा बीच में जो डिब्बे हैं, जो खाली होने के क्रम में हैं उसे उदयावली कह सकते हैं। यह खाली होने का और भरने का क्रम कभी रुकता नहीं है। इसी तरह पूर्व में बंधा कर्म उदय में आकर विशेष रूप से पाक अर्थात् फल देता है। उदय हमेशा फलरूप होता है इसीलिए **विपाकोदयः** कहा है। बद्ध कर्म का ही उदय होता है। उदय शान्त आत्मतत्त्व से पृथक् है। द्रव्य प्रत्यय का उदय हुआ नहीं कि शान्त परिणाम नहीं बन पाते। यदि चाहते हैं तो पुरुषार्थ मूलक आप अपनी भूमिका के अनुसार शान्त परिणाम कर सकते हैं।

दृष्टान्त—जैसे—किसी के यहाँ गमी हो गई, सदस्यों की कमी हो गई तो उसके घर पर दो-चार व्यक्ति समझाने आते हैं और कहते हैं—यह तो संसार की रीत है, शान्ति रखो, लेकिन जिसके ऊपर बीतती है वही जानता है। उस समय हमारे ऊपर बीती थी आज आप पर बीती है। उस समय आपने हमें समझाया था इसलिए आज हम भी आ गये। **परस्परोग्रहो जीवानाम्** कहा है। आपको समझाने के लिए आए हैं तो आपको मानना चाहिए। यह बात सम्यग्ज्ञानी को समझ में आ जाती है। यह सब लोगों के यहाँ पर घटित होता है पूर्व में भी हुआ था, आगे भी होगा। किस जीव के जीवन काल में कर्म उदय में नहीं है मुझे बताओ। यह जीव कर्मों के उदय होते हुए भी यदि आँख बन्द करके बैठ जाता है तो उन क्षणों में वह कर्मों से प्रभावित नहीं होता हुआ, अपने आपको देख सकता है। बस.. उतने ही क्षण जीवनकाल में मूल्यवान हैं। बाकी काल में तो महाराज! वही मैदान..वही घोड़ा है..और कुछ नहीं।

त्रिसन्ध्याकाल की घड़ी के अलावा जब साधक को शुद्धोपयोग की भूख लग जाती है तो वह दीवाल की तरफ मुख करके बैठ जाता है या सामने आकर कोई व्यक्ति बैठ जाये तो स्वयं आँखें बन्द करके बैठ जाता है लेकिन एक इंच का भी अन्तर न रहे ऐसा कोई आकर बैठ जाये तो हम कैसे करें? कुछ नहीं करो बस..एक परदा लगा लो, लेकिन यह सायवान नहीं है। सायवान तो उसे बोलते हैं जिसमें आँखों पर परदा होता है, दृष्टि अपने पास करना होती है, इसमें तो आँखों का दरवाजा बिल्कुल बन्द होता है फिर भी वह कहेगा कि देखो! हमारे आने से आँखें बन्द कर लीं तो अब हम उसकी यह बात सुनेंगे भी नहीं। वह अब आपकी आँखों में नहीं किन्तु मन में आ सकता है तो अब मन को भी

बन्द कर दो फिर तो कोई भी व्यक्ति इसको खोजकर अन्दर नहीं जा सकता, यह एक ऐसा वज्रकपाट है। उपयोग करना है तो ये क्षण हैं—कर सकते हैं। मन में लगता है कि कल से करेंगे लेकिन ध्यान रखना—कल कभी आता नहीं। संसारी प्राणी अच्छे कार्यों को प्रातः, मध्याह्न, सायंकाल पर टालता है आलस कर जाता है। रात में दो-तीन बजे अलार्म बजता है तो अंगुली से दबा देता है। यह क्या है? अभी और सोना चाहता है। आधा-एक घण्टे बाद उठेंगे ऐसा सोचकर पुनः सो जाता है लेकिन आप देख लो, ऐसा करने से कभी प्रमाद टलेगा नहीं। जब कभी भी आप जल्दी उठना प्रारंभ करेंगे तो दिक्कत तो होगी। इसलिए बुद्धि पूर्वक अपने संयम के माध्यम से जो पुरुषार्थ करता है उसे ही उस समय कुछ हासिल होता है। बाकी सब समयों पर कुछ नहीं होता है। हाँ, वह नहीं हो रहा है इस अपेक्षा से ये शुभ प्रवृत्ति करो...निषेध नहीं लेकिन जो ज्ञायक भाव के क्षण हैं वे तो तभी मिलेंगे जब हमारी बाह्य प्रवृत्ति से मन, वचन, काय सब स्तम्भित हो जायेंगे। यह वातावरण को स्तम्भ करने की प्रक्रिया है। एक व्यक्ति गंभीर होकर बैठ जाता है तो सब शान्त हो जाते हैं, कहते हैं कि भैया! गम्भीर मामला है—शान्त हो जाओ।

दृष्टान्त—जैसे—मास्टरजी यदि क्लास में गंभीर हैं तो फिर हँसकर देख लो। कोई नहीं हँसते—उस समय सब गंभीर हो जाते हैं इसलिए यह नियम है कि एक व्यक्ति अपने आप के नियन्त्रण में नियन्त्रित हो जाता है तो सारे के सारे लोग शान्त हो जाते हैं। वे बैठे हैं तो बैठे रहने दो, शान्त हो जाओ—देखना भी नहीं, सुनना भी नहीं। यदि ज्यादा डिस्टर्व (व्यवधान) होने लग जाये तो वहाँ से उठकर दूसरे स्थान पर चले जायें तब वे कहेंगे कि ये नहीं चाहते हैं तभी तो उठकर चले गये, उन्हें कहने दो क्योंकि वहाँ बैठे रहते और उन्हें देखते नहीं तो भी यही कहते कि महाराज तो हमें चाहते नहीं। तो क्या चाहना? स्वयं को चाहते नहीं तो एक-दूसरे को चाहने से क्या? तभी यह साधना हो सकती है इसीलिए तीर्थकरों की साधना बड़ी अच्छी लगती है वे किसी से कोई मतलब नहीं रखते जबकि उनके माध्यम से कितनों का कल्याण हो सकता है यह भी उन्हें मालूम है तो भी वे सोचते हैं कि जब मेरा ही कल्याण नहीं हुआ तो मेरे द्वारा सबका क्या कल्याण होगा? उनका दीक्षित होते ही मौन का संकल्प रहता है। कोई रोवे-धोवे इससे उन्हें कुछ नहीं।

दृष्टान्त—मानलो, यूनिवर्सिटी में बीस-तीस प्रतिशत छात्र पास होंगे, ऐसा पहले से ही ज्ञात है इसलिए फेल होने वालों के प्रति प्रोफेसर को दया तो होती ही नहीं है क्योंकि पहले से ही ज्ञात है कि कितने प्रतिशत रिजल्ट मिलने वाला है? फेल होने वाले बच्चे रोयेंगे यह उन्हें ज्ञात है। क्लास लेंगे तो भी उतने ही बच्चे पास होंगे और क्लास नहीं लेंगे तो भी उतने ही पास होंगे, फिर भी क्लास लेते हैं इससे ज्यादा क्या कर सकते हैं? लेकिन छात्र यदि चाहे कि हमारे नम्बर नहीं कटना चाहिए तो वह पुरुषार्थ करता है उसी प्रकार मैं भी विचार करता हूँ कि मोक्षमार्ग की परीक्षा में हमारे नम्बर नहीं कटना चाहिए। दूसरा हमारी नकल करके पास होना चाहे तो नकल कर ले और पास हो जाये। यहाँ मोक्षमार्ग

की परीक्षा में पहले से ही घोषित है कि आप नकल करके भी पास हो जाइये लेकिन अभी नकल करने की अकल नहीं है तो नकल करना क्यों सिखायें। समझे! जब खाना ही नहीं चाहते तो खाना क्यों सिखायें? भूख लगेगी तो अपने आप भोजन करना आ जायेगा, आहार संज्ञा स्वयं बता देगी। नकल करना सिखाने की कोई आवश्यकता नहीं, अकल आ जायेगी तो नकल करने लगेगा और फिर यह अकल में आ जाये कि नकल करने से नम्बर कट जायेंगे या क्लास से निकाल दिया जायेगा तो अपने आप ही ठीक हो जायेगा, उस समय विशेष कुछ बताने की आवश्यकता नहीं रहेगी। ये तो हमारी कमजोरियाँ हैं। आ जाइये, बैठिये...अच्छे ढंग से सुनिए, हम सब लोगों की ये बात है तीर्थंकरों की नहीं।

मेरा स्वरूप क्या है? शान्त-प्रशान्त है और क्षमा से विपरीत क्रोध मेरा स्वभाव नहीं है। क्यों? मैं एक टंकोत्कीर्ण (टांकी से उकेरी हुई लकीर के समान) स्वभाव वाला हूँ। टाँकी के द्वारा मतलब पत्थर के ऊपर एक वज्र की लकीर खींच दी जाती है वह कभी मिटती नहीं, पोंछने पर पुछती नहीं ऐसा ही मेरा ज्ञायक स्वभाव टंकोत्कीर्ण है। मैं क्रोध रूप नहीं हो सकता। पुद्गल पिण्ड रूप द्रव्य कर्म के माध्यम से ही भाव क्रोध होता है। द्रव्य कर्म के उदय बिना भाव कर्म संभव नहीं है क्योंकि यह उसका कार्य है। द्रव्य कर्म निमित्त है भाव कर्म नैमित्तिक है।

दृष्टान्त—जैसे—परदे के ऊपर जब फिल्म छोड़ दी जाती है वहाँ पर चित्र दिखने लगता है। पर्दे पर चित्र कहाँ से आया? जहाँ मशीन में रील है वहाँ से चित्र की यात्रा प्रारम्भ हुई है। वह यहाँ से पर्दे तक गया है यदि कोई कहे कि चित्र तो पर्दे के ऊपर ही था। तो बिना रील के भी चित्र उभरकर दिखना चाहिए इससे स्पष्ट है कि चित्र का नोकर्म पर्दा है उस पर चित्र स्पष्ट दिखाई देता है यदि पर्दा न हो तो चित्र दिखाई नहीं देता। उसी प्रकार द्रव्य क्रोध रील के समान है भाव क्रोध चित्र के समान एवं पर्दा नोकर्म रूप है। भाव क्रोध के समय द्रव्य क्रोध नहीं दिखता मात्र नोकर्म दिखता है बस...। व्यक्ति उसके ऊपर टूट पड़ता है लेकिन द्रव्य क्रोध क्या काम करता है यह देखने में नहीं आता है—यह स्थिति है। पर्दे को फाड़ दो तो भी कुछ नहीं दिखता। पर्दे और रील के बीच में जो गेप (अन्तर) है उसमें भी कुछ नहीं दिखता किन्तु पर्दे पर आते ही सब कुछ दिखने लगता है। तात्पर्य यह है कि भाव क्रोध के समय कुछ नहीं दिखता किन्तु भाव क्रोध के कारण जीव नोकर्म के ऊपर तिलमिला उठता है। यही तो गहल भाव है। क्रोध करने वाला कारण-कर्म की व्यवस्था नहीं समझ रहा है। कार्य कहाँ पर हो रहा है तथा इसका वास्तविक कारण क्या है? यह सब नहीं जानने के कारण ऐसा हो रहा है। देखो! कितना सूक्ष्म परिणमन है? आचार्य कहते हैं कि जिस द्रव्य में कर्म का उदय है उससे अन्यत्र उसका प्रभाव नहीं हो सकता।

जिज्ञासा—साधारण शरीर वालों में ऐसा है कि एक निगोदिया जीव के मरण होने पर सभी जीव मरण को प्राप्त हो जाते हैं तो एक जीव जिस कर्म को जैसा बाँधता है वैसा ही सभी जीवों को बाँधना

चाहिए। मानलो उनमें से किसी एक जीव ने मनुष्यायु का बन्ध कर लिया तो सभी को मनुष्यायु का बन्ध होना चाहिए क्योंकि एक जीव आहार करता है तो सबका भोजन हो जाता है सबका पेट भर जाता है, एक श्वासोच्छ्वास लेता है तो सबकी पूर्ति हो जाती है इसी का नाम साधारण है तो उसी प्रकार एक जीव जिस आयु को बाँधता है वही सभी को बंधना चाहिए?

समाधान—इस विषय में आचार्य कहते हैं—ठहरो-ठहरो! यह केवल उपरिल बाह्य क्रियाओं की अपेक्षा बात कही जा रही है क्योंकि यह नोकर्म शरीर सबका एक ही है किन्तु भाव कर्मों में तारतम्य है और भावकर्मों के द्वारा द्रव्यकर्मों का जो बन्ध हो रहा है उसमें और इन क्रियाओं में जमीन-आसमान का अन्तर है। एक जीव एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय बन रहा है और एक एकेन्द्रिय से एकेन्द्रिय ही बन रहा है। एक संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मनुष्य बन रहा है दूसरा तिर्यञ्च बन रहा है। नारकी या देव तो साधारण जीव बन नहीं सकते किन्तु दो गतियों में यानि मनुष्य-तिर्यञ्च में इनका विकास क्रम संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक हो सकता है लेकिन एक का विकास हुआ तो दूसरे का भी हो यह नियम नहीं है। यहाँ मोक्षमार्ग में आकर यह ज्ञान करना आवश्यक होता है कि हमारे द्रव्य की व्यवस्था कितनी स्वतन्त्र है और कितनी पर के आश्रय से विमुख है। जितना अन्तर जमीन-आसमान में है उतना ही अन्तर साधारण शरीर वाले अनन्त जीवों में भावों का है। अंगुल के असंख्यातवें भाग में यह सब परिणमन भिन्न-भिन्न चल रहा है। एक जीव के कर्म का उदय दूसरे के उदय का प्रभावक नहीं हो सकता। बन्ध-व्यवस्था भिन्न-भिन्न और उदय-व्यवस्था भिन्न-भिन्न उदयावली, संक्रमण आदि सारे-सारे भिन्न-भिन्न हैं। यह द्रव्य की स्वतन्त्रता है इसमें आप लोग क्या कर सकते हैं? रावण का जीव नीचे नरक में है, सीता का जीव स्वर्ग में है, वहाँ से वह नरक में जाता है तो वहाँ जाकर वह उपदेश के अलावा क्या कर सकता है? हाँ कुछ करने के भाव तो कर्म के उदय में हो सकते हैं, उनका लगाव था इसलिए कुछ हो सकता है। लगाव में कमी आ जाये तो किसी के साथ कुछ नहीं हो सकता। आँखों में पानी भी आता है तो लगाव के कारण आता है। यदि किसी की आँखों में पानी नहीं आता तो लोग ऐसा कहते हैं कि इनकी आँखों में पानी तक नहीं आ रहा है। मुझे ये बताओ कि भगवान् जो कि करुणावान, करुणानिधान, अक्षय-अनन्त करुणा के भण्डार हैं, दीनानाथ दया की मूर्ति हैं, दया के अवतार हैं, अनाथों के नाथ, त्रिलोकनाथ हैं उनकी आँखों में दुःखी व्यक्ति को देखकर आँसू क्यों नहीं आते? तो इसमें वस्तु स्थिति क्या है? यह ज्ञात होने पर ही उसे यह समझ में आ सकता है कि मैं कुछ करने के भाव भूमिका के अनुसार कर सकता हूँ किन्तु उसको मैं अपने अनुसार ढाल नहीं सकता। सोचिए कितनी स्वतन्त्र और स्वाधीन द्रव्य की व्यवस्था है। वर्तमान में स्वाधीन नहीं होते हुए भी अर्थात् कर्माधीन होते हुए भी एक द्रव्य में जो भाव चल रहा है वह चाहे कि दूसरे द्रव्य में कुछ कर दे तो कुछ नहीं कर सकता। दोनों के बीच ऐसी रेखा खिंची है कि उसका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। अनन्तशक्ति के माध्यम से भी यह कार्य संभव नहीं है। यदि ऐसा होता तो आज तक सारी की सारी निगोदिया जीव राशि मुक्त हो

जाती।

जिस प्रकार डॉक्टर के द्वारा नोकर्म शरीर का ऑपरेशन करके शरीर की सारी विकृति बाहर निकाल दी जाती है वैसा यदि जीव में होता तो अनन्त जीवों के भीतर का राग-द्वेष का मलवा या कर्म-कालिमा निकालकर बाहर कर दी जाती लेकिन तेरहवें गुणस्थान में जो बैठे हैं वे भी अनन्तशक्तिधारी होने पर भी अपना स्वयं का ऑपरेशन नहीं कर पा रहे हैं तो दूसरों का कहाँ कर सकते हैं। यह कैसी क्या व्यवस्था है? यह सब जानने योग्य ज्ञेय मात्र है और यह सब जानेंगे तभी पर द्रव्य के भीतर की कमी निकालने व कुछ करने की भावना समाप्त हो सकती है अन्यथा नहीं। हाँ, कुछ हद तक भावना तो की जा सकती है और भावना होना ही चाहिए लेकिन मात्र भावना से कुछ होने वाला नहीं है। अपने बारे में अपने से ही कुछ हो सकता है। हाँ, अपने को देखकर सामने वाले पर कुछ प्रभाव पड़ सकता है लेकिन प्रभाव पड़े ही यह नियामक नहीं है।

क्रोध के भेद—क्रोध के दो भेद हैं—१. द्रव्यक्रोध, २. भावक्रोध। पुद्गल पिण्ड रूप द्रव्य क्रोध है और **तस्सत्ती भावकम्मं तु** उसमें जो क्रोध की शक्ति है वह भाव कर्म है। भावकर्म भी दो प्रकार का है—१. एक क्रोध कराने की क्षमता रूप भाव क्रोध, २. उसके कारण आत्मा में जो क्रोध रूप भाव उत्पन्न हुआ वह भाव क्रोध। यह जीवगत है, चेतन रूप है और प्रथम वाला कर्मगत है। कर्मगत जो शक्ति है वह भी पौद्गलिक है यह भी ध्यान रखना।

द्रव्य की कथञ्चित् परतन्त्रता—क्रोध कर्म ही क्रोध करा सकता है यह भी ध्यान रखना। मान कषाय का उदय क्रोध नहीं करा सकता यह भी उतना ही सत्य है। इससे उपयोग व्याघात को प्राप्त हो सकता है यह बात अलग है लेकिन क्रोध के उदय में मान नहीं हो सकता। मान के उदय में आप क्रोध नहीं कर सकते, मायादि के उदय में आप क्रोध नहीं कर सकते, करना चाहें तो भी नहीं कर सकते। नरकों में जीव हँसना चाहें तो भी नहीं हँस सकते। जो-जो चीजें चाहते हैं तो वे सभी चाहने मात्र से नहीं मिलतीं। वे विक्रिया अच्छी करना चाहते हैं लेकिन विपरीत ही विक्रिया होती है, वे परिणाम को सुधारना चाहते हैं लेकिन परिणाम गलत ही होते हैं। ऐसा क्यों? तो यह उस क्षेत्र का प्रभाव है। वहाँ ऊपर स्वर्गों में रोना चाहते हैं तो रो नहीं सकते, रोना आ ही नहीं सकता क्योंकि वहाँ अरति की उदीरणा बहुत कम मात्रा में होती है उनकी बारी ज्यादा आती ही नहीं, आप रोने का नाटक करना चाहें तो भी नहीं कर सकते। हाँ, यह बिल्कुल फेक्ट (सत्य) है कि हास्य की उदीरणा के साथ अरति संभव नहीं। तथा यहाँ १०६-१०७ डिग्री बुखार आ जाये तो उस समय मुस्कान गायब हो जाती है। ऊपर से मुख-मुद्रा बनाने मात्र से नहीं किन्तु मुस्कान तो भीतर से आती है। जब चाहें तब नहीं आती क्योंकि वह भी कर्मायत्त है। आप जैसा चाहो वैसा हो नहीं सकता, आप जिस समय चाहे उस समय भी हो नहीं सकता। यह द्रव्य की परतन्त्रता तथा स्वतन्त्रता है। इसको ध्यान में रखेंगे तो अपने आप ही कर्तृत्व भाव शान्त हो जाता है और कर्तव्य की ओर आ जाता है। जीव के असंख्यात लोक प्रमाण परिणामों

के भेद हैं। यह सामान्य कथन अलग है तथा विशेष कथन अलग होता है, वैरायटी भिन्न-भिन्न होती हैं। भिन्न-भिन्न परिणामों के लिए भिन्न-भिन्न कर्म नियुक्त होते हैं।

दृष्टान्त—जैसे—मूल में पाँच रंग होते हैं लेकिन एक-दूसरे के मिश्रण से, (कॉम्बिनेशन से) लाखों की तादात में रंग बन जाते हैं। बाजार में जो वस्त्र आते हैं वे मूल में पाँच रंगों में से ही कोई न कोई एक रंग के होते हैं फिर भी रंग मिश्रण से बने अनेक नवीन-नवीन रंग के वस्त्रों को देखकर जेब के पैसे नाचने लग जाते हैं। **बढ़ै सो पावै** यह वस्त्र कल मिलने वाला नहीं है—ले लो! भैया ले लो! बहुत ही चमक वाला है ये वस्त्र। दुकानदार ने दुकान में लाइट लगा रखी है, उसके कारण कपड़े पर चमक अधिक दिख रही है तो भी लड़का पिता से कहता है मुझे तो यही चाहिए और अभी चाहिए। जब उस वस्त्र को लेकर बाहर जाता है और पहनता है तो कहता है कि मेरे मित्र का इससे अच्छा है—इससे ज्यादा चमक रहा है। अब क्या करें? यह फटेगा नहीं तब तक दूसरा नहीं मिलेगा। तो कहता है—ठीक है, कल ही फट जायेगा वो क्योंकि अब मित्र का अच्छा लगने लगा। बस वैचित्र्य है महाराज! भाव से तो वह वस्त्र फट ही गया। इस प्रकार असंख्यात लोक प्रमाण विभाव परिणाम हैं जो हमारे लिए वर्णनीय हैं।

उत्थानिका—यदि कोई सम्यग्दृष्टि से पूछता है कि यह सब तेरा स्वभाव क्यों नहीं है तो वह इसका उत्तर भेदज्ञान-भावना के द्वारा इस प्रकार देता है—

कह एस तुज्झ ण हवदि विविहो कम्मोदयफलविवागो।

परदव्वाणुवओगो ण हु देहो हवदि अण्णाणी ॥२०८॥

अन्वयार्थ—(एस विविहो) यह विविध (कम्मोदयफलविवागो) कर्मोदय फल विपाक एवं (देहो) शरीर (तुज्झ कह ण हवदि) तेरा कैसे नहीं है? (परदव्वाणुवओगो) परद्रव्य में उपयोग (अण्णाणी) अज्ञानी के अर्थात् कर्मोदय और शरीर के (ण हु हवदि) नहीं होता है और शुद्धात्म अनन्तज्ञानादि गुणस्वरूप है।

अर्थ—यदि कोई सम्यग्दृष्टि जीव से पूछता है कि नाना प्रकार के कर्मोदय के फल का विपाकरूप विभाव परिणाम तेरा स्वभाव क्यों नहीं है तो वह कहता है कि कर्म स्वयं पर द्रव्य हैं जिनके द्वारा उत्पन्न हुए क्रोधादि भाव औपाधिक हैं, वे मेरे स्वभाव कैसे हो सकते हैं? देह तो स्पष्ट ही जड़ स्वरूप है, मुझसे भिन्न है।

रागादि भाव तुममें जब हो रहे हैं,

कैसा कहो फिर उन्हें पर वे रहे हैं।

भाई 'विभाव' न 'स्वभाव' अतः निरे हैं,

कायादि भी पर अतः मुझसे घिरे हैं ॥२०८॥

व्याख्या—सम्यग्दृष्टि विचार करता है कि पर द्रव्य के संयोग से जो कोई भी भाव होता है वह

मेरा स्वरूप नहीं हो सकता। यह शरीर भी पर द्रव्य के संयोग से ही हुआ है मेरे साथ उसका सम्बन्ध भले ही हो किन्तु वह मेरा स्वरूप नहीं हो सकता। पाँचों प्रकार के शरीर मेरे स्वरूप नहीं हो सकते ऐसा समझने पर ज्ञानभाव दृढ़ हो सकता है इसलिए इसे अन्यत्व भावना के अन्तर्गत किया जाता है। शरीर को अन्यत्व भावना में लेने से यह हमसे पृथक् है, यह अपने आप सिद्ध हो जाता है। **निर्जराधिकार** में अपने परिणामों को ही स्वरूप नहीं कहा किन्तु पर के ऊपर जो निर्धारित भाव हैं उनको भी पर रूप कहा है। इसको आगे जाकर कथञ्चित् अजीव तत्त्व भी घोषित किया है। जीव की विकृतियाँ भी अजीव तत्त्व के अन्तर्गत आ जाती हैं। जीव का जो ज्ञान-दर्शन स्वरूप है वही जीव तत्त्व के अन्तर्गत आ जाता है। जैसे-भव्यत्व भाव भी जीव का स्वरूप नहीं है तो ऐसी स्थिति में औदयिक आदि भाव जीव के कैसे हो सकते हैं?

जिज्ञासा—अष्टमी-चतुर्दशी आदि तिथियों में समयसार की वाचना कर सकते हैं क्या?

समाधान—सिद्धान्त ग्रन्थों को पढ़ना है तो अष्टमी-चतुर्दशी, पूर्णिमा-अमावस्या, अष्टाह्निका तथा ग्रहणादि में एवं जब माथा दर्द हो, संक्लेश आदि हो तो मत पढ़ो ऐसा कहा है लेकिन समयसार आदि अध्यात्म ग्रन्थों की वाचना एवं अध्ययन के लिए ऐसी कोई भी पाबन्दी नहीं रखी है, क्योंकि ये ग्रन्थ बहुत सरल होते हैं, इनमें आत्म-तत्त्व की बात अन्य-अन्य शब्दों के माध्यम से कही जाती है, फिर भी कब, कहाँ, कैसे पढ़ना इसका विवेक न खोयें।

अजीव तत्त्व का सम्बन्ध होने के कारण वह मेरा स्वरूप नहीं हो सकता। मेरा स्वरूप नहीं है अतः जीव तत्त्व नहीं हो सकता इससे वह अपने आप अजीव तत्त्व घोषित हो रहा है। आचार्य देव कह रहे हैं कि—अज्ञान यह जीव का स्वरूप नहीं है। जो-जो स्वरूप नहीं है वह शुद्ध जीव रूप नहीं है यह कहा जा रहा है। इसीलिए तो कहते हैं कि बारह भावनाओं के चिन्तन के समय एकत्व व अन्यत्व की भावना विशेष रूप से भाओ। यहाँ समयसार में यह कहा जा रहा है कि जो प्रतिसमय अपनी अनुभूति में आ रहा है वह जीव का स्वरूप नहीं है, ऐसा आप विचार करेंगे तभी आपको ज्ञानादि का मद नहीं आयेगा अन्यथा **ज्ञानं पूजां कुलं...** आदि आठों ही मद आ जायेंगे। इन आठों को लेकर उसी को मद होता है जो जीव के स्वरूप को नहीं समझता। आज वर्तमान में हमारा जो ज्ञान है वह स्वरूप है क्या? नहीं...। जब यह स्वरूप नहीं है तो इनको लेकर इतनी अकड़ क्यों? ज्ञान के विषय में ऐसा मद क्यों? कि मैं सब कुछ जानता हूँ तुम कुछ नहीं जानते। कुछ सुना करो ताकि सुनकर कुछ तुम्हें भी ज्ञान हो जाये ऐसा कहता है। जब तक यह भेद-ज्ञान प्राप्त नहीं होता तब तक अलग प्रकार की वेदना होती है और ज्ञान प्राप्त हो जाये तो अलग प्रकार की संवेदना होती है। जिसे ज्ञान नहीं है वह तो एक कोने में जाकर बैठ जायेगा-छुप जायेगा। तो जो छुपे हुए हैं उन्हें ज्ञान के माध्यम से ढूँढ़ते हैं कि यह क्यों छुप रहा है? स्वभाव को देखो—आत्मा का स्वभाव ज्ञान है। ज्ञानी अकेले में नहीं रह सकता फिर भी वह अकेले में ही रहता है। एक छुप रहा है और एक भाग रहा है दूसरे के पीछे कि तुम भी आ जाओ,

तुम भी आ जाओ..इसके बिना उसका भोजन ही हजम नहीं होता उसे चैन ही नहीं पड़ती। यह सब मन लगाने की अपेक्षा करते हैं तो वो बात अलग है लेकिन दूसरों को सुनाने के लिए करते हैं तो उचित नहीं है क्योंकि यदि कोई सुनना नहीं चाहेगा तो क्या होगा हमारा? टेंशन...फिर कौन से इन्टेंशन के साथ पढ़ा-लिखा? फिर आपकी धारणा क्या रहती है? देख लो...। यदि कर्ता का परिचय नहीं दिया जाता है तो यह कहता है कि—हमने कितनी मेहनत की, परिश्रम किया फिर भी हमारा परिचय ही नहीं दिया। कविता तो है लेकिन...अज्ञात...। ऐसा कहने से अनेक व्यक्ति और उसके बीच आ जाते हैं और उस नाम को ही निकाल देते हैं। हमारा जो कोर्स लिखा गया उसमें यही तो गलती हो गई थी। यदि श्लेषात्मक अपना नाम रख देता तो जीवित रह जाता। किसी ने सोचा कि प्रशस्ति में रख दूँ और प्रशस्ति बदल दी गई, बाकी नाम थोपा गया—आज तक वह रहस्य मालूम नहीं और सुनने में यह आता है कि नाममाला के कर्ता धनञ्जय कवि हैं। अक्षर-अक्षर मिलकर शब्द बनते हैं, शब्द-शब्द से वाक्य, वाक्य-वाक्य से छन्द और छन्द-छन्द के समूह से अध्याय आदि बनते हैं। यह सब **सिद्धो वर्णसमाम्नायः** है। बहुत कठिन होता है।

आचार्य कुन्दकुन्द देव की महानता—आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी द्वारा रचित चौरासी पाहुड हैं उनमें कहीं भी उनका नाम नहीं है लेकिन **द्वादशानुप्रेक्षा** के अन्त में कैसे? कहाँ से। भूलकर के नाम आ गया? बाकी कहीं उनका नाम नहीं है। कुछ विद्वानों का कहना है कि यह गाथा उद्धरण रूप में है लेकिन आज तक वह वैकल्पिक ही है क्योंकि उन्होंने किसी भी ग्रन्थ में अपना नामोल्लेख नहीं किया है अतः **द्वादशानुप्रेक्षा** में भी नहीं हो सकता ऐसा कुछ विद्वानों का कहना है। कुछ भी हो लेकिन इतनी बड़ी-बड़ी कृतियाँ लिखने के बाद भी कहीं पर भी अपना नामोल्लेख नहीं किया..कितनी निस्पृहता है! बहुत कठिन है...। इसलिए आचार्य कहते हैं कि सिद्धान्त ग्रन्थों को पढ़ना और ये भावना करना इसमें बहुत अन्तर है। **समयसार** ग्रन्थ शब्दों की अपेक्षा सरल है लेकिन प्रयोग की अपेक्षा से पसीना आ जाता है। क्योंकि पूरा जीवन खपाया और किसी ने नहीं पूछा..तो। विचार तो करो..आत्मा का नाम कौन-सा है? पहले हमें यह बताओ। आपने कुछ लिखा और थोड़े समय बाद आप ही उस कृति के खिलाफ हो गये तो कैसे सुधारोगे? उसके खिलाफ ही लिखोगे तो कैसे क्या होगा? यही भूल है कि उन्होंने हमारी बात मानी नहीं...सही बात तो यही है, भूल सुधार की तो कोई बात ही नहीं है...ऐसी धारणा बन जाती है तो क्या करोगे? बताओ और यह सब संभव भी है। अतः बचने के लिए यह कहा है कि यह सब स्वरूप रूप नहीं है। बड़े-बड़े ज्ञानी महाराज हुए। कहाँ चले गए? कुछ पता नहीं..क्योंकि यह द्वादशांग तो ह्रास की ओर ही है। विचार करो...अभी अपने को या आपको आता क्या है? यह बताओ...। आगम तो ह्रास की ओर ही है वह सुरक्षित रहने वाला नहीं है। विकल्प या कल्पना के माध्यम से कुछ भले ही लिख लो किन्तु आगम के आधार से या परम्परा से लिखो तो हम एक शब्द नहीं लिख पायेंगे। आगम में क्या आया है, इसे आप क्या लिखोगे? उसमें तो पहले से ही

सब कुछ लिखा है..बताओ? बताइये—तेईस वर्गणाओं के बारे में आप क्या लिखोगे हमें बताओ? वैज्ञानिक दिमाग लगाओ? चौबीसवीं वर्गणा आयेगी नहीं और तेईस प्रकार की वर्गणाओं में पाँच प्रकार की शरीर की वर्गणायें भी गर्भित हैं, ये ग्राह्य वर्गणायें हैं ऐसा कथन भी किसी न किसी आगम के आधार से कहेंगे, बाहर से नहीं। शब्द के बारे में, प्रकाश के बारे में, वर्गणाओं के बारे में गवेषणा करो..तो जो कुछ भी है वह कहीं और बाहर से नहीं आयेगा और जितना ज्ञान प्राप्त है वह भी दिनों-दिन कम ही होता जायेगा, यह निश्चित है। इसलिए यह दुर्लभ जिनवाणी है ऐसा उसकी आराधना करने वाले आचार्य कहते हैं।

प्रतिसमय जो कर्मोदय हो रहा है वह भी आत्मा का स्वरूप नहीं है। इसे समझने के लिए जिनवाणी पढ़ने में ज्यादा मेहनत करने की आवश्यकता नहीं लेकिन जब प्रयोग करते हैं तो एक ही शब्द में उस सिद्धान्त का अनुभव कर सकते हैं। जब प्रतिसमय उदय में आने वाला कर्म मेरा स्वरूप नहीं तो ज्ञानी उसके ऊपर अभिमान कैसे कर सकता है क्योंकि यह उसका स्वरूप है ही नहीं। सम्यग्ज्ञान होते हुए भी वह स्वभाव नहीं है। मतिज्ञान आदि चार ज्ञान सम्यग्ज्ञान तो हैं लेकिन जीव का स्वरूप नहीं। जो सम्यक् है वह सब स्वरूप रूप ही होना चाहिए ऐसा कोई कहे तो आचार्य कहते हैं कि—मतिज्ञानादि सम्यक् तो हो सकते हैं लेकिन स्वरूप नहीं हो सकते। केवलज्ञान आत्मा का स्वरूप है लेकिन वह आज है ही नहीं..तो अभिमान किसके ऊपर करें? केवलज्ञान होने के उपरान्त अभिमान नहीं होता लेकिन सम्यग्ज्ञान होने पर अभिमान होने की संभावना होती है इसलिए ये स्वरूप नहीं है ऐसा कहा जाता है। अतः **दीनता भी नहीं तो अभिमान भी मत करो**। ज्ञान नहीं है इसलिए दीनता करो तो यह गड़बड़ है और ज्ञान है इसलिए अभिमान करो तो और भी गड़बड़ है क्योंकि ये सब जीव के स्वरूप नहीं है। ज्ञान की कमी असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा के लिए कारण हो सकती है यदि समता भाव है तो। कोई व्यक्ति थोड़ा बहुत ज्ञानी हो तो उछलने लगता है तो उसके लिए भी कह देते हैं कि तेरी यह उछलन ठीक नहीं है, यह उछलन भी विभाव है। अज्ञान अवस्था में यह उछलन भी उसका स्वभाव सा है।

दृष्टान्त—जैसे—नर्मदा नदी को आप लोगों ने भेड़ाघाट में देखा होगा कि किनारे-किनारे वह ऊधम मचाती है और बीचों-बीच शान्त रहती है, वहाँ लहर तक नहीं उठती है। जहाँ गहराई होती है—भूल-भूलैया कहा जाता है, वहाँ नदी बिल्कुल शान्त होती है वहाँ लहरों की उछलन आदि कुछ नहीं होती। उसी प्रकार जहाँ ज्ञान की गहराई होती है वहाँ विकल्पों की उछलन नहीं होती। इतना ज्ञान भरा हुआ है फिर भी वहाँ उछलन आदि कुछ नहीं है ऐसा क्यों होता है? तो यह स्वभाव है। मतिज्ञान आदि चार ज्ञान स्वभाव नहीं है।

किसी को मानलो ये जिज्ञासा होती है कि सामने वाले के मन में क्या है? वह क्या सोच रहा है? यह जानना हो तो उसे जब मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त होगा तब जानेगा, भूतकाल में उसके मन में क्या

था और अपने मन में क्या था? आगे क्या सोचूँगा या अन्य कोई भविष्य में क्या सोचेगा? यह सब मनःपर्ययज्ञान से जान पायेगा। सब भूत या भविष्य के जानने के विकल्प में रहते हैं लेकिन वर्तमान क्या है? इसे सोचो तो सब विकल्प शान्त हो जाते हैं। केवलज्ञान तो बहुत दूर की बात है जब मनःपर्ययज्ञान भी होगा तो वह ऊटपंटाग कार्य नहीं करेगा कि किसके मन में क्या है? किन्तु यदि वह शान्त बैठ जाता है तो **समयसार** का अर्थ यह है कि मन को स्वरूप की ओर ले जाकर आत्म-तत्त्व में स्थिर करना। इसी के द्वारा प्रत्येक समय में असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। इस आत्मतत्त्व का चिन्तन करने वाला व्यक्ति सोचता है कि दुनिया में इस आत्मतत्त्व का अनुभव सभी करें लेकिन ऐसे विरले लोग ही होते हैं। ज्ञान की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि असंख्यात होते हैं लेकिन समयसार की अनुभूति करने वाले तो विरले (संख्यात) ही होते हैं क्योंकि मुनिराजों में ही यह परिणति होती है और वे संख्यात ही होते हैं उनमें भी छठवें गुणस्थान की अपेक्षा सातवें गुणस्थान वाले तो और भी कम होते हैं। अप्रमत्त में भी प्रवृत्ति करने वाले ज्यादा और निवृत्ति करने वाले कम होते हैं। क्षपक श्रेणी वाले १०८ तथा उपशम श्रेणी वाले ५४ ही होते हैं बाकी सब छद्मस्थ अवस्था में उम्मीदवार होते हैं। छद्मस्थ अवस्था में स्वरूप का चिन्तन करने वाले अँगुली पर गिनने लायक अर्थात् अल्पमात्रा में ही हैं। जब सी.ए. वगैरह का रिजल्ट निकलता है तो कितना निकलता है? बहुत कम निकलता है, यह इसका अर्थ है।

इस **समयसार** ग्रन्थ को हमेशा सिद्धान्त ग्रन्थ रूप में नहीं देखना, यह तो भावनात्मक अध्यात्म ग्रन्थ है। **सिद्धान्त ग्रन्थ** मानने रूप है तो **समयसार ग्रन्थ** प्रयोगपरक है। जो प्रयोगपरक होता है वह बड़ा अद्भुत होता है। छोटे बच्चों जैसी बातें करना सरल है कि—यह मेरा स्वभाव नहीं है। यह शरीर पर द्रव्य से उत्पन्न हुआ है परन्तु उसमें विरक्ति होना दुर्लभ है। औदायिक आदि पाँच शरीर होते हैं, यह विस्मसोपचय रूप है आदि सैद्धान्तिक बातों को चोटी के विद्वान् ही जानते हैं लेकिन समयसार में जो कह रहे हैं कि यह शरीर पर द्रव्य के संयोग से मिला है यह मेरा स्वभाव नहीं है क्योंकि यह अज्ञानी है, जड़ स्वरूप है, इसे तो बाल-बोध वाला भी कह सकता है। आत्म-तत्त्व का अनुभव नहीं होने के फलस्वरूप जो पृथग्भूत पर द्रव्य है उसके माध्यम से जीवों में कर्मोदय का फल प्राप्त होता है। पहले जो कर्म बंधे हैं वे ही उदय में आते हैं जिससे औपाधिक भाव होते हैं, विकारी भाव होते हैं लेकिन ज्ञानी जीव उससे प्रभावित नहीं होता। जैसे—स्फटिक मणि के सामने लाल या गुलाबी रंग का कोई पदार्थ फूल आदि लाकर रख दिया जाये तो वह उसी समय उसी रूप परिणत हो जाती है, परन्तु वीतराग सम्यग्दृष्टि किसी को देखकर उसकी वैभाविक परिणति से प्रभावित नहीं होता किन्तु उसका जो वीतराग भाव है उसी ओर उसकी दृष्टि जाती है। किसी भी वैभाविक स्थिति में वह यही विचार करता है कि यह सब कर्मोदय के कारण हो रहा है, तो सब विकारी भाव शान्त हो जाते हैं।

दृष्टान्त—जैसे—मानलो, भगोनी में दो किलो दूध है तब तो आधा तपेली दिख रहा था लेकिन जब उसे उबलने के लिए चूल्हे पर रख दिया, वह गरम हुआ, उबलने लगा, उसमें उफान आ गया तो

तपेली के ऊपर तक आ गया, तपेली पूरी भरी हुई दिखने लगी तो क्या वह चार किलो हो गया? यदि हो गया तो कितना अच्छा लाभ हो गया कि थोड़ा सा कोयला खर्च करने पर दो किलो दूध बढ़ गया लेकिन वास्तव में ऐसा होता है क्या? भगोनी में कहीं गेप आ गया हो, नीचे खाली हो गया हो ऐसा भी नहीं है तो फिर ऐसा क्यों हुआ? नीचे से अग्नि की उष्णता प्राप्त हुई उसके फल-स्वरूप दूध ऊपर आ गया, यह उफान दूध का स्वभाव नहीं है, वह तो अग्नि के संयोग से हुआ, यह उसका विभाव परिणमन है। इसी प्रकार जीव में कर्म के संयोग से विभाव रूप परिणमन होता है।

इसी दृष्टान्त में उफान की प्रक्रिया से समुद्घात की प्रक्रिया को भी समझा जा सकता है। खाली तपेली में उफान से दूध ऊपर आ गया अर्थात् तपेली पूरी भर गई। थर्मामीटर में भी ऐसा होता है कि जैसे तो उसमें पारा नीचे रहता है लेकिन उसमें बुखार की गर्मी चढ़ते ही वह ऊपर आ जाता है और गर्मी निकालते ही पारा पुनः अपने स्थान पर आ जाता है, अपने आप शान्त हो जाता है। समुद्घात के समय आत्मा के प्रदेश संकोच-विस्तार को प्राप्त होते रहते हैं जैसे तपेली में दूध ऊपर-नीचे होता है तथा थर्मामीटर में पारा ऊपर-नीचे होता है। केवली भगवान् के समुद्घात की क्रिया स्वतः सहज होती है, वहाँ कोई अग्नि की उष्णता जैसा संयोग नहीं होता। वह तो अन्य कर्मों की अधिक स्थिति को आयु कर्म के बराबर करने के लिए होता है। इस दृष्टान्त से समुद्घात की क्रिया को मात्र इतना ही समझना है कि खाली तपेली थी उसमें दूध जितना था उतना ही है फिर भी खाली तपेली भर गई उसी प्रकार केवली भगवान् के आत्मप्रदेश उतने ही असंख्यात प्रमाण में हैं फिर भी प्रदेशों में विस्तार क्रिया होने से वे पूरे लोक में फैल गए।

मन की स्वस्थता कैसे हो ?—इस प्रकार वैभाविक परिणति को देखकर स्वरूपनिष्ठ का जिसको परिचय है वह शान्त रहता है। शारीरिक उद्वेग व मानसिक उद्वेग में बहुत अन्तर होता है। हमेशा उछल-कूद करने वाला मन कभी स्वस्थ नहीं हो सकता। मन को स्वस्थ बनाए रखने के लिए आन्तरिक साधना की बड़ी आवश्यकता है। जैसे-जैसे वास्तविक ज्ञान होता है जैसे-जैसे वह धीरे-धीरे शान्त होता चला जाता है फिर वह पर पदार्थों से या आपसे प्रभावित नहीं होता। अन्त में वह यही कहेगा कि—**वैराग्यमेवाभयं** वैराग्य ही अभय स्वरूप है। सारी दुनिया देख ली, कहीं अन्य कुछ भी अभय स्वरूप नहीं है। आज तक ज्ञान का प्रयोग नहीं किया जबकि प्रयोग बहुत महत्त्वपूर्ण है। क्रोधादिक ही नहीं, देह भी मेरा स्वरूप नहीं है। बाहर जो कुछ भी दिख रहा है वह मेरा स्वरूप नहीं है। देखिए—योगियों की दृष्टि कितनी गहराई को लिए रहती है, वे बाहर देखते हैं तो भी भीतरी स्वरूप के बारे में सोचते रहते हैं फलतः पर पदार्थ उन्हें प्रभावित नहीं करता। शरीर, शरीर में है...आत्मा, आत्मा में है...इस प्रकार और अधिक गहराई में चले जाते हैं। लहर से अलग बिल्कुल भीतर चले जाते हैं। पानी में लहर की भाँति भीतर स्पन्दन तो रहता है लेकिन लहर नहीं रहती। स्पन्दन का ही कार्य है लहर लेकिन भीतर स्पन्दन होते हुए पानी में जैसे ऊपर लहर दिखती है वैसी वहाँ नहीं दिखती। द्रव्य दृष्टि

होने से पर्याय अपने आप गौण हो जाती है और पर्याय गौण होते ही राग-द्वेष सब शान्त हो जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टि में मृत्यु सामने दिखने लग जाये तो किसी को कोई कषाय रह ही नहीं सकती। शरीर-शरीरी प्ररूपण एवं शरीर-विस्रसोपचय प्ररूपण यह भी अपने आप में महत्त्वपूर्ण है लेकिन इसके समय में भी मैं अनन्तज्ञानादि स्वरूप वाला हूँ यह लक्ष्य में रहता है।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वभाव को जानता हुआ और राग-द्वेषादि भावों को छोड़ता हुआ ज्ञान और वैराग्य से सम्पन्न होता है—

एवं सम्मादिद्वी अप्पाणं मुणदि जाणगसहावं।

उदयं कम्मविवागं मुअदि य तच्चं वियाणंतो ॥२०९॥

अन्वयार्थ—(एवं) इस प्रकार (सम्मादिद्वी) सम्यग्दृष्टि जीव (अप्पाणं) अपने को (अपनी आत्मा को) (जाणगसहावं) ज्ञायक स्वभाव वाला (मुणदि) जानता (मानता) हैं (य तच्चं) और तत्त्व के यथार्थ स्वरूप को (वियाणंतो) जानता हुआ (कम्मविवागं उदयं) कर्म विपाक के उदय को (मुअदि) छोड़ता है।

अर्थ—इस प्रकार वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानता हुआ जो जीव अपने आपको ज्ञायक स्वभाव मानता है और कर्म के उदय को कर्म का विपाक जानकर उसे छोड़ता है वही सम्यग्दृष्टि होता है।

होता वही श्रमण है समदृष्टि वाला,
पीता सदा परम पावन बोध प्याला।
है डूबता बहुत भीतर-चेतना में,
देता न दृष्टि उदयागत वेदना में ॥२०९॥

व्याख्या—मैं ज्ञायक स्वरूप हूँ ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव अपनी आत्मा को जानता-मानता है तथा अनुभव करता है और कर्म विपाक जो उदय में आया है उसकी ओर दृष्टि नहीं ले जाता है। अगर वहाँ उपयोग जाता भी है तो वह मेरा स्वरूप नहीं है, ऐसा जानता है क्योंकि **तच्चं वियाणंतो** अर्थात् जो तत्त्व को जानता है, उसका जानकार होता है कि यह मेरा स्वरूप नहीं है, मेरा स्वरूप तो त्रैकालिक होता है और अभी मैं तात्कालिक हूँ। जो तात्कालिक होता है उस ओर न देखकर जो त्रैकालिक स्वरूप होता है, अनादि-अनिधन होता है उस ओर दृष्टि करके देख लो तो कितना अद्भुत सा लगने लग जाता है। वर्तमान में जो नाम रखा है उस ओर दृष्टि रखोगे तो अतीत-अनागत ध्यान में आता ही नहीं लेकिन ज्यों ही ज्ञानधारा-उपयोगधारा की ओर उपयोग को ले जाते हैं तो यह सब फेल हो जाता है। वर्तमान के नाम तो वर्तमान पर्याय के लिए रखते हैं, अनागत पर्याय में किसका क्या नाम होगा क्या पता? अतीत में उसका क्या नाम था? यह भी क्या पता? फिर भी अतीत में ज्ञानधारा थी, वर्तमान में भी है और आगे भी रहेगी उसका नाम क्या रखें? सामान्य का नामकरण नहीं होता विशेष का नामकरण

होता है क्योंकि सामान्य तो त्रैकालिक होता है अतः उसका नामकरण नहीं होता, विशेष तात्कालिक होता है इसलिए विशेष को छोटने के लिए नामोल्लेख की आवश्यकता होती है। जब कभी हम सामान्य का अनुभव करते हैं वह हमें बहुत दूर तक ले जाता है और बहुत दूर तक ले जाने के कारण कषायें अपने आप उपशमित हो जाती हैं और विशेष जो होता है वह तात्कालिक तथा बहुत सीमित होता है अतः वहाँ राग-द्वेष होने की पूरी संभावना रहती है। जब कभी भी आपको राग होगा तो सामान्य से हटने के उपरान्त ही होगा। सामान्य से भी जब विशेष की ओर जाते हैं तो प्राथमिक दशा में राग नहीं होता क्योंकि पहली दृष्टि—विराग दृष्टि होती है। मुहु—मुहुर्दृष्टि सो राग दृष्टि होती है क्योंकि आप बार-बार उसे देख रहे हैं। सामान्य दृष्टि अखण्ड दृष्टि मानी जाती है यह प्रमाद में भी संभव है। जैसे—आपने एक बार किसी को देखा, रागपूर्वक नहीं देखा लेकिन दूसरी बार—तीसरी बार देखा तो यह निश्चित होता है कि आप उसे पहचानना चाहते हैं। आपकी चेष्टायें ही यह बता देती हैं कि आपकी भीतरी चाह क्या है? भैया! तुम्हें क्या चाहिए है? जै खूबई दुकानें लगी हैं तुम्हें का चाहने है? नगद चाहिए या उधार चाहिए बताओ बड़ा विचित्र है। आप अपने आपको बहुत जल्दी डाइवर्ट (अलग) कर सकते हैं।

अवग्रह से आगे मत बढ़िये—आप अपने में नहीं रह पा रहे हैं कोई बात नहीं लेकिन अवग्रह के बाद ईहा की तरफ मत दौड़ो। सम्यग्ज्ञानी व ध्यानी अवग्रह से आगे बढ़ना नहीं चाहता क्योंकि अवग्रह से आगे बड़ा नहीं कि विग्रह हो जाता है। हम पुरुषार्थ करना चाहते हैं तो उपयोग पर लगाम लगाना आवश्यक है। उपयोग पर लगाम लगाना महत्त्वपूर्ण साधना है। यदि हम राग-द्वेष से बचना चाहते हैं तो उपयोग को अवग्रह से ईहा की ओर मत ले जाओ। सामने वाला अपना परिचय देने तैयार है लेकिन आप सुनेंगे ही नहीं तो क्या सुनायेगा। यदि अवग्रह के बाद ईहा की इच्छा न हो तो वह अवग्रह विग्रह पैदा करने वाला नहीं होता। अवग्रह सामान्य है यह प्रमाद मूलक भी हो तो आगे ईहा मत करिये क्योंकि ईहा करते ही राग-द्वेष होना लगभग निश्चित सा होता है। इसीलिए आचार्य कहते हैं कि पाँचों इन्द्रियों को रोकना फिर भी ठीक है, वे रुकी हुई ही हैं, लेकिन मन नहीं रुक पाता है क्योंकि मन तो इतनी जल्दी कूदता है कि कोई एक बात कहता है तो वह पचासों बातें सोच लेता है, माथा फेल हो जाता है। मन के नहीं रुकने से वह इन्द्रिय-विषयों की ओर धावमान होने लगता है फिर वह व्यक्ति अनेक प्रकार की उलझनों में फँस सकता है इसलिए अवग्रह से आगे मत जाइये बल्कि अवग्रह से पीछे दर्शन में आ जायें तो फिर कहना ही क्या? इसी का नाम समयसार है कि ज्ञान को दर्शनवत् बना देना। दर्शन निराकार-निर्विकार होता है अतः अवग्रह के आगे ईहा की संभावना न करके अवग्रह से रिवर्स (पीछे) होकर आप दर्शनोपयोग की ओर आइये बहुत शान्त लहर है यह? संसार में भले कुछ भी हो जाये लेकिन दर्शनोपयोग में आते ही सब शान्त...**अवग्रह से आगे मत बढ़िये** साधना के क्षेत्र में यह मन्त्र है, महामन्त्र है।

प्राथमिक दशा में अवग्रह ही ठीक है—जब आप सिद्धान्त ग्रन्थ पढ़ते हैं तो उनका अवग्रह,

ईहा, अवाय, धारणा तक करते जाईये लेकिन समयसार में तो अवग्रह हुआ और बस, इतना पर्याप्त है...। कोई भी व्यक्ति सामने आ गया...आ गया...बस इतना ही ठीक है, वह कौन है? इस परिचय की ओर जायेंगे तो या तो राग होगा या द्वेष, चाहो तो देख लो। उपयोग बहुत महत्त्वपूर्ण है उसे लब्धि में लाईये अथवा उस विषय को भूलने का प्रयास कीजिये। आया है—तो कोई भी आया होगा—क्या मतलब? कोई न कोई आयेगा ही क्योंकि आपको जाना नहीं है और उसको जानना चाहोगे तो फिर उसका कोई अन्त नहीं है। नोकर्म से बचना संभव नहीं क्योंकि नोकर्म तो अनन्त हैं, वे आपके पास आयेंगे यह निश्चित है क्योंकि ऐसा बाना ही आपने धारण किया है जो अन्यत्र मिलने वाला है नहीं। वह तो आयेगा, वह मोह से आता है ऐसा नहीं, किन्तु आस्था—श्रद्धा से आता है। वो आपसे राग की बात करना नहीं चाहता फिर भी आप उससे बात करेंगे तो सामने अतीत तो आयेगा ही। क्यों ब्रह्मचारियो? बात समझ में आ रही है...हाँ महाराज! आत्मा की बात समझ में क्यों नहीं आयेगी? परिचित वस्तु के बारे में अवग्रह के बाद ईहा, अवाय, धारणा होने लग जाती है। देखो— जब कोई अपरिचित व्यक्ति आता है तो उस समय आपका उपयोग कैसा क्या होता है? देख लेना और परिचित आ जाये तो क्या होता है? परिचित में भी दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं। १. मित्र, २. सामान्य परिचित। महाराज! अवग्रह के बाद वह ज्ञान हमारे लिये अभिशाप सिद्ध होने लग जाता है। यदि वीतरागता कायम है तो हमारा उससे कुछ नहीं होगा, उससे हमारी असंख्यात गुणी निर्जरा होगी, यह निश्चित बात है। आचार्य कहते हैं—प्राथमिक दशा में अवग्रह ही ठीक है, प्रौढ़ ज्ञान होने पर फिर कुछ भी आ जाये, तो कुछ नहीं होता। १२०० विद्याएँ आकर खड़ी हो जाएँ तो भी सम्यग्दृष्टि विचलित नहीं होता है। वह कहता है कि हमें इनकी कोई आवश्यकता नहीं है। कैसे आवश्यकता नहीं? आप फिर आराधना क्यों कर रहे हो? तो सम्यग्दृष्टि कहता है कि—हमने आप लोगों की आराधना नहीं की है, हमने तो पञ्चपरमेष्ठी की आराधना की है। विद्याएँ कहती हैं कि हम यहाँ तक आये हैं हम आपको स्वामी समझते हैं, आप हमारे महान् हितु हैं, हमारे लायक कोई सेवा हो तो बता दीजिये। तो वह सम्यग्दृष्टि आँख बन्द करके बैठ जाता है या कहता है—चुप बैठ जाओ, जितना कहता हूँ उतना करो। हमसे यदि काम लेना चाहते हो तो जैसा मैं कहता हूँ वैसा करो, हम आपके अनुसार कुछ नहीं करेंगे, हमारी आराधना में कोई बाधा नहीं आना चाहिए, नीचे बैठ जाओ। इस प्रकार विद्याओं को वही साधक कह सकता है जो निस्पृह होता है, जो उनसे आकृष्ट नहीं होता है लेकिन जो विद्याओं के पीछे लगा हुआ है वह क्या करेगा? धड़ाम से नीचे गिर जायेगा, उसके पास महाव्रत रहेंगे ही नहीं, ऐसा आचार्यों का कहना है।

णमो ओहि जिणाणं अर्थात् जिनके पास स्तत्रय है, महाव्रत है जो उनसे स्वलित नहीं होते उन्हें हमारा नमोऽस्तु, लेकिन जिनके पास स्तत्रय नहीं है, महाव्रत नहीं हैं उनको नमोऽस्तु नहीं किया। अवधिज्ञान तो अविरत के पास भी होता है। **णमो ओहि जिणाणं** सूत्र बता रहा है कि महाव्रती होकर

जो अवधिज्ञान के स्वामी हैं उनको मेरा नमोऽस्तु..। साधर्मी का वात्सल्य अलग है, यहाँ पर लिहाज वाली बात नहीं है।

दृष्टान्त—किसी के घर अतिथि आता है तो उसका सत्कार किया जाता है। सत्कार में यदि भोजन के समय आता है तो भोजन कराते हैं। जब उससे भोजन शुरू करने को कहते हैं तो वह उससे कहता है कि आप भी साथ में भोजन करिए, नहीं, मैं तो कर चुका हूँ तब भी अतिथि कहता है कि जब तक आप भोजन नहीं करोगे तब तक हम भी नहीं करेंगे तो वह कहता है—भोजन के समय देर से क्यों आये हो? हम तो अभी पाँच मिनट पहले ही भोजन करके बैठे हैं। हाँ, मैं यहाँ पर बैठ सकता हूँ, इतना तो कर सकता हूँ तो यही साधर्मी का वात्सल्य है कि सामने वाले को संकोच न हो अतः वहाँ बैठकर उसका साथ दें, उठकर कहीं अन्यत्र न जायें। मानलो, दो जन आहार कर रहे हैं, एक का पेट भर गया है तो भी व्यवहारिकता के नाते जान बूझकर वह थोड़ा-थोड़ा ले रहा है, या दो महाराज आहार कर रहे हैं तो एक महाराज का हमेशा जल्दी आहार हो जाता है तो भी उनके साथ धीरे-धीरे थोड़ा-थोड़ा आहार करके साथ देते हैं, कहीं हमारे वजह से वो महाराज भी कहीं जल्दी अंजुलि न छोड़ दें तो ऐसा ख्याल रख लेते हैं, यही तो वात्सल्य है। थोड़ा बहुत देख लो! लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि हम बैठे हैं मेहमानगिरि करने...। यह मेहमानगिरी मुक्ति के मार्ग में नहीं हुआ करती। यहाँ ऐसा नहीं होता कि हम अपने आवश्यक कार्य छोड़कर किसी के पीछे लग जायें, इसको यहाँ वात्सल्य नहीं कहा। आप प्रश्न पूछते रहें और हम उत्तर देते रहें यह वात्सल्य है क्या? हाँ, एकाध प्रश्न पूछ लो ये बात अलग है इसीलिए ज्यादा समय नहीं देते हैं। आज समयसार का अनुभव क्यों नहीं हो रहा है? हाथ में पिच्छिका आ गई, दीक्षित हो गए तो सब काम हो गया, ऐसा समझते हैं लेकिन अनुभव इतने में कहाँ होगा? अभी तो प्रवेश किया है, अभी तो आगे बहुत कुछ करना है, मात्र सुनना ही सब कुछ नहीं है, सुनने के जो क्षण हैं वे अनुभव के क्षण नहीं माने जाते। अवग्रह तक सीमित रखिये..इतना करके तो देखिए..नासा दृष्टि रखिए।

जिज्ञासा—स्मरण करने और स्मरण आने में कितना अन्तर है?

समाधान—उक्त दोनों में बहुत अन्तर है। स्मरण होने में सहजता होती है, जबकि स्मरण करने में बुद्धि का आयाम होता है। स्मरण होने वाला विषय शीघ्र विस्मृत हो जाता है जबकि जो स्मरण किया जाता है वह जल्दी विस्मृत नहीं होता। स्मरण करने में सहजता नहीं होती किन्तु स्मरण में जो सहजता में आता है वह सहजता से चला भी जाता है। स्मरण में आए हुए विषय को फेल भी किया जा सकता है। स्मरण तो अवग्रह से धारणा तक होने वाले ज्ञान से आगे का ज्ञान है। धारणा कारण है स्मरण कार्य है। आचार्य कह रहे हैं कि स्मरण ज्ञान तो बहुत आगे का आयाम है, अपने को तो अवग्रह से आगे नहीं बढ़ने की साधना करना है। यदि **समयसार** का अनुभव करना चाहते हो तो अवग्रह से आगे मत बढ़िये क्योंकि आगे जाकर स्मृति रूप मतिज्ञान को भी अज्ञान कहा है। मति, स्मृति, चिन्ता आदि से

सभी ज्ञान अध्यवसान रूप हैं ये सारे के सारे विकल्प की ओर ले जाने वाले हैं और अभिमान के कारण भी हो सकते हैं।

कषाय किससे? परिचित से या अपरिचित से—आप लोग मुझे ये बताओ कि जब कभी भी कषाय होती है तो अपरिचित व्यक्ति से होती है या परिचित से? परिचित व्यक्ति से होती है न! क्योंकि परिचित होने से अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा आदि सभी जुड़े रहते हैं। अपरिचित व्यक्ति को देखेंगे तो सर्वप्रथम अवग्रह होगा कि—यह मनुष्य है। यह कौन से गाँव का है क्या पता? इसलिए हमें सबसे अपरिचित होना चाहिए। जब हम अपरिचित व्यक्ति के यहाँ आहार करने चले जाते हैं तो आहार देने की विधि कैसी होती है? यह वो नहीं जानता जिससे आहार दान की विधि में उसके द्वारा कुछ गड़बड़ हो जाती है तो भी हमें गुस्सा नहीं आयेगी। बुरा न मानना..परिचित होगा तो बुरा मानेगा, गुस्सा भी आयेगी। इसलिए आप उनसे ज्यादा परिचित मत होईये। वह आपसे परिचित हो जाये तो बाधा नहीं। आप उससे क्यों बोलते हो? परिचय क्यों बढ़ाते हो? अपनी चर्या से मतलब रखो, परिचय से क्या मतलब है? पर्चे बाँटते रहते हैं इसलिए गड़बड़ होता है। आग्रह और प्रार्थना अलग-अलग है। परिचित व्यक्ति ही ज्यादा आग्रह करते हैं लेकिन वह उसका वात्सल्य है ऐसा नहीं है। इसलिए आचार्यों ने कहा है कि—दाता के पास सात गुण होना चाहिए—श्रद्धा, विनय, विवेक, संतोष, अलोभ्य, क्षमा आदि लेकिन मर्यादित भी होना चाहिए। इसी से कर्म निर्जरा ज्यादा है। ज्यादा खिलाने से ज्यादा निर्जरा नहीं होती है महाराज! स्वयं अपरिचित हो तो बहुत सीमित रहता है। परिचय ज्यादा हुआ नहीं कि कमियाँ आना प्रारंभ हो जाती हैं। कमियाँ आये ही नहीं, ऐसा हो ही नहीं सकता। इसलिए सम्यग्ज्ञानी हो या श्रमण हो तो वह ज्यादा परिचय में आयेगा ही नहीं, उसको तो भक्ति महत्त्वपूर्ण है। यदि ऐसा नहीं है तो एक स्थान पर रहकर साधना कर ही नहीं सकते। वात्सल्य की बात समझ में आ गई कि नहीं? यदि श्रावक अंजुलि पूरी भर देगा तो महाराज शोधन ही नहीं कर पायेंगे...यह भक्ति का अतिरेक ही नहीं किन्तु अविवेक माना जायेगा। विवेक गुण का प्रतिशत घटता ही जा रहा है। विवेक रखना और ज्ञान रखना इसमें बहुत अन्तर है। आहार दान देते समय विशेष भक्ति-आस्था के साथ किस क्रम से कैसे देना यह विवेक होना चाहिए। कई बार ऐसी भीड़ हो जाती है कि कोई टस से मस अर्थात् यहाँ से वहाँ भी नहीं खिसक सकता।

प्रसंग—एक बार की बात है उपदेश देने वाले (पण्डितजी) बीच में आकर घुस गये। उन्होंने सोचा, महाराज जी ने मुझे देख लिया है अब तो महाराज जी हमसे आहार नहीं लेंगे तो एक मिनट में ही गायब हो गये। बाद में आए, चर्चा के बीच हमने पूछा—आप आए तो थे...तो वे कहते हैं कि आपने देख लिया था अतः मैं बाहर आ गया। भक्ति में ऐसा होता है लेकिन भक्ति के साथ-साथ विवेक भी रखना चाहिए। यदि आप मान लो दूसरे के चौके में जाते हैं तो अङ्गमणे-णिगमणे अर्थात् जल्दी-जल्दी आना-जाना होता है तो नीचे चींटी वगैरह दिखती नहीं, देखते भी नहीं और जल्दी से घुस जाते

हैं और कहते हैं—महाराज! मैं इसी चौके का हूँ और थाली लेकर खड़े हो जाते हैं। ऐसा नहीं करना चाहिए किन्तु दाता के सात गुणों का पालन अवश्य ही करना चाहिए।

समयसार का आनन्द—यदि समयसार का आनन्द लेना चाहते हो तो अवग्रह के बाद ईहा, अवाय आदि नहीं करना चाहिए। इसमें जो आनन्द आता है वह और कहीं नहीं आ सकता। यह अपने आप में बहुत अद्भुत है। इसके द्वारा राग-द्वेष में ब्रेक लगे बिना रह नहीं सकता, भले तात्कालिक होगा। अपने दिमाग को अवग्रह के आगे मत दौड़ाइये। इससे आपकी स्मृति कमजोर होगी ऐसा मत समझिए बल्कि इस अवग्रह के द्वारा ज्ञान और अधिक सम्यक् होता चला जायेगा। इन प्रयोग के क्षणों को आप भूल नहीं पायेंगे तथा अभ्यास से प्रयोग की मात्रा बढ़ती ही जायेगी। तात्पर्य यह है कि **जितना-जितना परिचय होगा उतना-उतना हमारे लिए हानिकारक है।** यह समझना चाहिए। वह कहता है—महाराज! लोकव्यवहार में बहुत सी कमियाँ जैसी लगती हैं। यदि लोकव्यवहार आपस में नहीं है तो...? लो फिर अपने पास बाँटने को पर्चे रख लो...लेकिन ऐसा अच्छा नहीं। इस प्रकार ज्ञानी अपने ज्ञायक स्वरूप आत्मतत्त्व को जानता है और मानता है। यह कर्म का विपाक है, मेरा स्वरूप नहीं है ऐसा सोचकर कोई विकल्प नहीं करता। राग भी नहीं करता और द्वेष भी नहीं करता तथा त्रिगुप्ति में लीन होता हुआ, निर्विकल्प- समाधि में लीन होता हुआ नित्यानन्द ज्ञायक परमानन्द स्वभाव को जानता है इससे ही समयसार की साक्षात् अनुभूति होती है। सिद्धान्त-ग्रन्थ पढ़ते समय इसकी अनुभूति नहीं हो पायेगी, सोच लो...आप लोग। अध्यात्म-ग्रन्थ पढ़कर जब हम इसके प्रयोग करते हैं तब वह अनुभूति होती है जो अद्भुत है। सिद्धान्त-ग्रन्थ तो मन को लगाने के लिए है और अध्यात्म-ग्रन्थ पर पदार्थों से मन को हटाने के लिए है। इन दोनों में यह बहुत अन्तर है। सिद्धान्त ग्रन्थों में शुद्धात्मतत्त्व की बात ही नहीं है किन्तु उनमें तो पाप-पुण्य, आस्रव, बंध-उदय-सत्त्व व्युच्छिन्ति आदि की बात की जाती है—कर्मातीत आत्मतत्त्व की बात नहीं। **समयसार ग्रन्थ भावनात्मक है** इसमें ध्यान की बात है, एकाग्रता की बात है। स्वाध्याय करते समय कभी भी शुक्लध्यान नहीं होता क्योंकि ध्यान का बीज शुद्धात्मतत्त्व है जो परम पारिणामिक भावस्वरूप है। यह बात निश्चित है कि राग भाव हटात् हमारे उपयोग में नहीं आता किन्तु ज्योंहि हम अवग्रह से आगे बढ़ते हैं त्योंहि हमारा ज्ञान उन प्रत्ययों से प्रभावित होता हुआ उस गुणस्थान के योग्य राग रूप परिणत हुए बिना नहीं रहता फिर भी हमेशा-हमेशा राग रूप परिणति ही रहती है ऐसा भी नहीं है। यही तो हमारा संयम है, यही साधना है, प्रयोग है। हम बचना चाहें तो बच सकते हैं।

दृष्टान्त—जैसे—आपने मन में सोच लिया कि किसी से कुछ बोलना नहीं है इसलिए आपने मौन ले लिया तो फिर बोलने की इच्छा नहीं हो सकती। फिर भी बोलने की इच्छा कब हो सकती है? जब आप किसी परिचित व्यक्ति को देख लेते हैं तो कुछ प्रतिशत में संभावना हो सकती है अतः उस तरफ देखो ही नहीं क्योंकि देखेंगे तो बोलने के भाव संभव हो सकते हैं। मानलो, आपने सामने व्यक्ति

को देखा और नहीं बोलने का संकल्प है अतः बोलना नहीं चाहा फिर भी वह तो बोलने की इच्छा करेगा। वह सोचेगा कम से कम एक बार देखा तो..उतने में भी सन्तुष्ट हो सकता है लेकिन सभी ऐसा सोचें यह निश्चित नहीं है। एक व्यक्ति उठता है तो दूसरा उसे हाथ पकड़कर बिठा लेता है, हम उसका इशारा देख लेते हैं। वह समझता है कि महाराज नहीं देख रहे हैं—महाराज को अभी अवग्रह भी नहीं हुआ है। इसी प्रकार अपने मन में भी ऐसा भाव हो सकता है। देखा तो संभव है वह बोलेगा..कुछ कहेगा। हम देखते भी चले जायें, हूँ- हाँ भी करते चले जायें तो फिर वह कहेगा कि हूँ-हाँ से क्या मतलब? इससे अच्छा तो थोड़ा बोल दीजिए। ध्यान से सुनिए कि—**शिक्षक विद्यार्थी से उतना ही बोलता है जितना उसे समझाने के लिए आवश्यक है इससे ज्यादा नहीं। यदि उसके साथ हमेशा जब कभी बोलते रहेंगे तो वह उनसे कुछ सीख नहीं पायेगा।**

प्रायश्चित के योग्य समय—कभी-कभी उपदेश देने के उपरान्त तुरन्त कोई प्रायश्चित लेने आ जाये तो यह उचित समय नहीं होता क्योंकि प्रायश्चित देते समय उपयोग अलग लगाना पड़ता है। उपदेश के माहौल में प्रायश्चित नहीं दिया जाता इसलिए आचार्यों ने प्रायश्चित के दोषों में कहा है कि आचार्यों को भुलावे में डालकर या कुछ सामग्री उपकरण आदि देकर, अछार बिछारकर, कवर चढ़ाकर शिष्य कहे कि—महाराज! थोड़ा सा प्रायश्चित दे दीजिए तो आचार्य गुरुदेव समझ जाते हैं और वे कह देते हैं अभी नहीं, बाद में..। अतः प्रायश्चित देने के लिए उपयोग को एकदम नहीं बदला जा सकता।

दृष्टान्त—जैसे—आप बाहर धूप से, गर्मी से गरम होकर अन्दर आए हैं और आपको ज्वर है, तो तुरन्त टेम्पेरेचर नहीं लेंगे किन्तु पहले पाँच-दस मिनट विश्राम करने को कहा जायेगा, तदुपरान्त ही डॉक्टर आपका टेम्पेरेचर लेगा क्योंकि गर्मी के दिनों में अपने आप ही टेम्पेरेचर बढ़ा हुआ रहता है। गर्मी में आप थर्मामीटर को भी झटका दो तो भी तुरन्त फिर चढ़ जाता है अतः उसको पहले पानी में रख देता है उसे ठण्डा कर लिया जाता है बाद में टेम्पेरेचर मापा जाता है तभी सही ज्वर मापा जाता है। इसी प्रकार प्रायश्चित लेने-देने वाले का भी जब उपयोग शान्त हो तभी प्रायश्चित होता है। यह उपयोग का खेल है।

प्राथमिक दशा में हों तो अवग्रह से आगे मत जाओ- ज्यादा छानबीन मत करो। छानबीन करोगे तो तत्संबंधी ज्ञान तो बढ़ेगा और अच्छा भी लगेगा लेकिन वह ज्ञान सम्यक् नहीं माना जायेगा।

प्रसंग—दो प्रकार के रक्षक होते हैं—१. पुलिस के रूप में, २. सेना के रूप में। पुलिस के ऊपर जो रहता है वह गृहमंत्री माना जाता है और जो सेना के ऊपर होता है वह राष्ट्रपति होता है अर्थात् वह उनका सर्वेसर्वा होता है। पुलिस के साथ आप कितना भी परिचय कर लो लेकिन वह आपके ज्यादा काम में नहीं आयेंगे, आप लड़-भिड़ जायेंगे, माहौल शान्त हो जायेगा, उस समय पुलिस आकर खड़ी हो जायेगी लेकिन सेना (मिलिट्री) की बात अलग होती है। उनको तो आर्डर बस मिला फिर तो वे कुछ नहीं देखते कि आक्रमण करने वाला कौन है? क्या पता? फिर भी आर्डर मिला है तो—बस धावा बोल

देते हैं।

अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा ये मतिज्ञान के ऐसे भेद हैं कि इनके साथ सम्यग्ज्ञानी टिक नहीं सकता इसलिए सामान्य रूप से जो ज्ञान है उसको अपना विषय बनाओ। उसमें बीच में कोई दूसरी बात मत लाओ। स्वभाव को भी मत लाओ, क्षायिक ज्ञान को भी मत लाओ मात्र ज्ञानधारा को लाओ क्योंकि क्षायिक ज्ञान तो सादि है, अभी उत्पन्न हुआ है उसकी तो आदि अर्थात् शुरुआत है लेकिन आदि-अन्त से रहित ज्ञान है उसको विषय बनाओ तो उसमें आप टिक सकोगे, यह प्रवाह रूप है, इसमें सिरदर्द नहीं होता किन्तु अवग्रह से ईहा आदि में बढ़ने पर आधि है...सिर दर्द संभव है। केवलज्ञान और सम्यग्ज्ञान में अंश-अंशी का सद्भाव नहीं है। सामान्य कथन अलग वस्तु है और विशेष कथन अलग वस्तु होती है।

सम्यग्दृष्टि अपने स्वभाव को जानता है उस समय जो भी संयोगीभाव हैं उनको अपना स्वभाव नहीं समझता और उस भूमिका से बाहर आने के उपरान्त स्तत्रयधारी मुनि भी कर्म-नोकर्म से प्रभावित होकर अपने स्वरूप-चिन्तन से स्खलित हो जाते हैं। नैमित्तिक भावों को नैमित्तिक समझना। श्रद्धान करना अलग है किन्तु उससे प्रभावित नहीं होना अलग है। जो प्रभावित नहीं होता उसी का यहाँ पर कथन किया गया है। राग-द्वेषादि भावों का होना ही इस बात को सिद्ध करता है कि वह नैमित्तिक भावों से प्रभावित है क्योंकि जो निमित्तों से प्रभावित नहीं होता वह राग-द्वेषादि भाव कर ही नहीं सकता यह अकाट्य नियम है क्योंकि निमित्त मिलना और निमित्त से प्रभावित होना ये दो बातें हैं। निमित्त मिलने मात्र से राग-द्वेषादि भाव नहीं होते किन्तु निमित्तों से प्रभावित होने पर राग-द्वेष भाव होते हैं।

सम्यग्दृष्टि स्व-पर स्वभावं अनेक प्रकारेण जानाति अर्थात् सम्यग्दृष्टि आत्मस्वभाव को एक रूप में नहीं जानता किन्तु अनेक प्रकार से जानता है। दोनों के मिश्रण को स्वभाव रूप नहीं जानता है यही उसके स्वरूप का सही बोध माना जाता है।

दृष्टान्त—जैसे स्वर्णकार जो होता है वह स्वर्ण में कितना बट्टा है यह जानता है लेकिन वह यही कहता है कि यह एक तोले की अँगूठी है, यह दो तोले की चैन है। उससे पूछा जाये कि—इसमें बट्टा है क्या? तो कह देता है कि बिना बट्टे के तो आभरण बनते ही नहीं है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि भी आत्मा को निश्चय नय से एक रूप तथा व्यवहार नय से अनेक रूप जानता है।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि सामान्य रूप से अपने और पर के स्वभाव को अनेक प्रकार से जानता है—

उदयविवागो विविहो कम्माणं वणिणदो जिणवरेहिं।

ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को ॥२१०॥

अन्वयार्थ—(कम्माणं) कर्मों के (उदयविवागो) उदय का रस (जिणवरेहिं) जिनदेवों के द्वारा (विविहो) अनेक तरह का (वणिणदो) कहा गया है (ते मज्झ सहावा) वे मेरे स्वभाव साथी

(ण दु) नहीं है (अहं दु) मैं तो (इक्को) एक (जाणगभावो) ज्ञायकस्वरूप हूँ।

अर्थ—योगी जानते हैं कि जिन भगवान् ने कर्म के रस का उदय अनेक प्रकार का बतलाया है, वह सब मेरा स्वभाव नहीं है। मैं तो एक ज्ञायक स्वभाव वाला हूँ।

विश्वास हो विविध हैं विधि के विपाक,
ऐसा कहें जिन, जिन्हें मम ढोक लाख।
होगा नहीं यह विभाव, स्वभाव मेरा,
ज्ञानी निरामय निरा, नित मैं अकेला ॥२१०॥

व्याख्या—यह बहुत अच्छी गाथा है। जिसमें बताया है कि उदय में आया हुआ, जो कर्मों का विपाक है, वह अनेक प्रकार का है। ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने वर्णित किया है, वह मेरा स्वभाव नहीं है, क्योंकि मैं एक ज्ञायक मात्र हूँ। ज्ञायक इसलिए कहा है कि दर्शनोपयोग के अभाव में एक मात्र आत्मा में संकल्प-विकल्प का कारण ज्ञानोपयोग होता है। यदि ज्ञानोपयोग दर्शनोपयोग के समान हो जाता है, तो साधक की बहुत महत्त्वपूर्ण साधना मानी जायेगी। ध्यान में जो निर्विकल्पता होती है, वह दर्शनोपयोग के समान नहीं किन्तु ज्ञानोपयोग होते हुए भी उसके सामने ज्ञेय पदार्थ का संयोग होने पर भी कोई संकल्प-विकल्प नहीं करना यह अपने आप में बहुत महत्त्वपूर्ण है। सामने रूपी पदार्थ है वह ज्ञेय रूप में दिख रहा है फिर भी उसके बारे में अच्छ-बुरा, छोटा-बड़ा, गाढ़ा-पतला भी नहीं सोच रहा है, सामान्य धुँधला-सा रूप दिख रहा है। अवग्रह के उपरान्त ज्ञानोपयोग को कोई आदेश न हो अथवा आत्मा में अवग्रह के बाद उस पदार्थ के बारे में विस्तार से जानने की जिज्ञासा न हो। यह एक प्रकार से उपयोग को नियंत्रित करने की प्रक्रिया है। विस्तार से जानने के लिए अपने आपको उद्यम नहीं करने देना यह बहुत बड़ी साधना है। अवग्रह के उपरान्त तो सब खिचड़ी मच जाती है, खलबली मच जाती है। चिंतन करके श्रुतोपयोग की ओर तो जाना ही नहीं किन्तु ईहा अवाय की ओर भी नहीं जाना बल्कि बुद्धि पूर्वक लौट कर अवग्रह में आना यह आवश्यक है। 'गोम्मटसार' में चार-पाँच गाथा आई हैं, उनमें कहा है कि दर्शनोपयोग का समय अल्प है। ज्ञानोपयोग में मतिज्ञान, मतिज्ञान में भी अवग्रह आदि में अल्प-बहुत्व घटाया जा सकता है। श्रुतज्ञान में अवग्रह आदि नहीं होते लेकिन उसकी धारा बहुत लम्बी चलती है, उसमें सारे के सारे विकल्प होते हैं किन्तु मतिज्ञान में विकल्प होते हुए भी यदि अवग्रह तक अपने उपयोग को संयत बनाए रखते हैं तो वह कार्यकारी होता है। किसी पदार्थ का जब अवग्रह होता है तो उसके पूर्व में सामान्य आभास होता है, इस प्रकार हमारे उपयोग में अवग्रह, ईहा आदि नहीं होने के कारण और श्रुतज्ञान में भी प्रवृत्ति नहीं होने के कारण तथा तर्क व्याप्ति आदि का उपयोग नहीं करने के कारण हम विस्तार में नहीं जाकर उपयोग को शान्त रख सकते हैं।

दृष्टान्त—पहले ब्लैक एण्ड व्हाइट फोटो निकलता था तो ठीक था अब तो रंगीन के लिए दो-

तीन प्रकार की व्यवस्था और कई प्रकार के विकल्प हो गए हैं, हम तो ये चाहते हैं कि ब्लैक एण्ड व्हाइट भी न होकर केवल निगेटिव रह जाए तो और अच्छा है, जिसको कि कोई खरीदता नहीं है। दुनिया का कोई विकल्प उसके पीछे होता ही नहीं है सो यही दर्शनोपयोग है। किसी को यदि अवग्रह मात्र होता है तो हम उसे अज्ञानता की पहचान में लेते हैं और कहते हैं कि इसके पास कोई बुद्धि नहीं है। अवग्रह के उपरान्त एक कदम भी आगे नहीं जा पाया, जबकि यहाँ पर तो यह कहा जा रहा है कि द्वादशांग के जो पाठी होते हैं वे भी इन सारे के सारे शास्त्रों को जो विकल्प के स्रोत हैं, उन्हें बाँधकर रख देते हैं, क्योंकि जब तक बस्ता बंद नहीं होगा तब तक शुद्धात्मानुभूति नहीं हो सकेगी। शुद्धात्मानुभूति उस बस्ते में नहीं है, मस्तिष्क में भी नहीं है, वह तो मन का विषय है। आगे इसी ग्रन्थ में कहेंगे कि—

असुहं सुहं च दव्वं ण तं भणदि बुज्झ मंति सो चेव ।

ण य एदि विणिग्गहिदुं बुद्धिविसयमागदं दव्वं॥४०९॥

अर्थात् द्रव्य व गुण दोनों बुद्धि के विषय होते हैं, उनको हम ग्रहण नहीं कर सकते, मतलब उन पर स्वामित्व नहीं कर सकते। हाँ, ज्यादा से ज्यादा उसे ज्ञान का विषय बना सकते हैं, उसके आगे कुछ है ही नहीं फिर हम उसे स्वामित्व भाव में क्यों स्वीकार करने की कोशिश करें। वह पदार्थ तो कह नहीं रहा है, कि—“तुम मुझे जानो” वह तो जहाँ है वहीं पर है, मात्र आपके माइंड (मन) में आ गया है, जिसे यूँ कह सकते हैं कि ज्ञान में ज्ञेय बन कर आ गया है लेकिन वह द्रव्य नहीं आया वह तो आ भी नहीं सकता क्योंकि यदि वह आ जाए तो माथा ही फूट जाएगा। जैसे—यदि आपके माइंड में पर्वत आ गया, वह तो बहुत बड़ा होता है, माथा फूट जाएगा। उसी प्रकार यदि अग्नि, नदी-नाले आ गए तो दिमाग जल जायेगा या भीग जायेगा लेकिन आचार्य कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है वह द्रव्य दिमाग में चल कर नहीं आता बल्कि यूँ कहो कि दिमाग ने उसे अपने ज्ञान का विषय बना लिया है।

ज्ञान का क्षयोपशम प्राप्त करके दुनिया के सारे पदार्थों को अपने माइंड में रखना चाहता है और सोचता है कि सबकी मेमोरी (स्मृति) होना चाहिए इसलिए मेमोरी बढ़ाने में लगा है अर्थात् मैं—मोरी अर्थात् मैं और मेरे में लगा हुआ है। दुनिया का पदार्थ तो दुनिया में रहेगा लेकिन यहाँ बैठे-बैठे कहाँ तक पहुँच जाते हो, यह अज्ञानी की खोपड़ी मानी जाती है, ज्ञानी की नहीं। ज्ञानी की खोपड़ी तो शुद्धात्मा को प्राप्त करती है बाकी सबको वह गौण कर देती है, जिसको अपना विषय बनाना है उसी की मात्र फोटो ले लेती है। ज्ञानी आत्मा इस संसार में रहते हुए भी अनन्त पदार्थों को विषय बनाते हुए भी शुद्धात्मा की ओर लक्ष्य रखता है। श्रुतज्ञान पूर्ण हो गया है, तो बैठे-बैठे सबको विषय बना सकता है लेकिन वह किसी को विषय बनाना नहीं चाहता है, सब बाँधबूँध कर रख देता है और केवल अपने शुद्धात्मा को ज्ञान का विषय बना लेता है। यदि वह विषय नहीं बना पाता है तो चला करके किसी की फोटो नहीं लेता, फिर भी रिफ्लेक्टिड (प्रतिबिम्बित) होकर आ जायेगी तो बात अलग है। सामने रखने मात्र से फोटो थोड़े ही आ जायेगी, जब बटन दबायेंगे तभी तो आयेगी। हम बुद्धि पूर्वक

बटन दबाते हैं तब चित्र आता है अपने आप नहीं आ सकता है। अब ज्ञानी कभी-कभी क्या करता है कि बटन तो नहीं दबाता है लेकिन फ्लेस चमकाता है, तो लोगों को लगता है कि इसने फोटो ले लिया, इसी प्रकार लोग समझते हैं कि महाराज ने मेरी ओर देख लिया जबकि उनकी ये कला होती है कि देखते हुए भी नहीं देखते हैं कहा भी है—“**पश्यन्नपि न पश्यति**” यानि ज्ञानी देखते हुए भी नहीं देखते। लाइट जलने मात्र से फोटो नहीं आती बटन दबाने से आती है। कभी-कभी कोई ऐसा भी करता है कि रील निकाल लेता है और ऐसे ही बटन दबा देता है, फ्लेस चमकाता है तो भी फोटो नहीं आती है। तात्पर्य यह है कि हम जब जो चाहेंगे तभी उसमें वह आयेगा अन्यथा नहीं आ सकता है और अपने आप भी नहीं आ सकता, उपादान चाहेगा तभी आयेगा।

“**उदय विवागो विविहो**” अर्थात् कर्मों के उदय का विपाक अनेक प्रकार का है। यदि उस विपाक की ओर उपयोग जायेगा तो नवीन कर्म द्रव्य आयेगा, नहीं तो नहीं। आत्मा के प्रदेशों में कर्म का उदय परमुख से होने पर भी उपयोग में नहीं आना यह उदयाभावी क्षय है। कर्म का उदय होने पर भी उसे अपना नहीं समझना? यह ज्ञानी की बात है।

जिज्ञासा—दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग में क्या अन्तर है?

समाधान—इसे एक उदाहरण से समझ सकते हैं फोटोग्राफर जब फोटो लेता है तो इसमें पहले नेगेटिव निकालता है बाद में पॉजीटिव, इसमें रंगीन, ब्लैक एण्ड व्हाइट जैसा चाहता है वैसा निकालता है तो नेगेटिव और पॉजीटिव में जो अन्तर होता है वही अन्तर ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग में होता है। नेगेटिव में छाया मात्र, परछाई जैसा निकालते हैं और पॉजीटिव में उसे गाढ़ा कर देते हैं, इसी तरह दर्शनोपयोग में आभास मात्र होता है, जबकि ज्ञानोपयोग में पदार्थ ज्ञेय के रूप में उभरकर आता है। यही दोनों में अन्तर है।

“**ण दु ते मज्झ सहावा जाणग भावो दु अहमिक्को**” कोई भी पदार्थ जिसे हम बुद्धि पूर्वक जानते हैं वह पदार्थ, पदार्थ में ही रहता है वह न तो हमारे ज्ञान में आता है और न ये कहता है कि तुम मुझे जानो और यदि हम ज्ञान भी लेते हैं तो उसे पकड़ नहीं सकते क्योंकि “**णयएदि विणिग्गहिदुं**” ऐसा कहा है। कोई कहता है कि मैंने तो उन्हें कैमरे में बंद कर दिया या कैद कर लिया है लेकिन क्या वह वस्तुतः कैद हो गया, यदि इस प्रकार कैद हो जाए तो कैद करने वाला पहले दण्डित होगा ध्यान रखो...। आचार्य कहते हैं कोई किसी को कैद नहीं कर सकता, हाँ, कैद करने के भाव जरूर कर सकता है क्योंकि पदार्थ ज्ञान में कैद करने योग्य ही नहीं है वे तो हमारी पकड़ से बाहर हैं। अनन्तचतुष्टय से युक्त केवलज्ञानी भी किसी पदार्थ को पकड़ नहीं सकते, ग्रहण नहीं कर सकते, केवल उसे ज्ञान का विषय बना सकते हैं। उन्हें तो विषय बनाने की भी जरूरत नहीं क्योंकि उनके ज्ञान में ज्ञेय स्वयं आ जाता है।

दिमाग को कचरा घर मत बनाओ—छद्मस्थ प्राणी अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्त में परिवर्तन चाहता

है। एक पदार्थ को जान लिया फिर दूसरे को, फिर तीसरे को ऐसा करते हुए सबकी मेमोरी (स्मृति) बनाए रखना चाहता है। आचार्य कहते हैं रखलो कूड़ा-कचड़ा बनाकर दिमाग में रखना चाहो तो रख लो लेकिन वहाँ किसी का कोई अस्तित्व है ही नहीं, स्मृति में बहुत दिनों से रखी है, इसलिए उसे बहुत बड़ा ज्ञान है ऐसा है क्या? नहीं, ये तो क्षयोपशम ज्ञान की एक पद्धति है, शुद्धात्मा की अनुभूति के समय तो द्वादशांग के ज्ञान को बाँधबूँधकर रख देते हैं। स्मृति में रखा हुआ कुछ काम में नहीं आता है, इसमें तो सब बासा (पुराना) निकलेगा। “**बास मारे सो बासा**” यानि स्वादहीन है। मुझे ये बताओ अतीत का कोई स्वाद आता है क्या? नहीं, वह तो एक्सपायरी डेट है इसका अर्थ क्या हुआ? श्रुतज्ञान के माध्यम से जो लिखा है वही आपके दिमाग में आता है लखा हुआ नहीं आता तथा दूसरे ने जो लिखा है या लखा है यानि अनुभव किया है वह हमारे काम में नहीं आता किन्तु संकेत के माध्यम से भीतर अवश्य पहुँच जाता है बस इतना ही लिखे हुए का योगदान होता है, इसलिए हम सभी द्वादशांग की भक्ति करते हैं क्योंकि इनके संकेतों के अनुसार हम चलेंगे तो हम हमारी यात्रा अपनी तरफ कर सकते हैं, इनके संकेतों से अपने भीतर पहुँचो। ज्ञायक पिण्ड हमेशा प्रभावित रहता है चाहे वह मतिज्ञानात्मक हो या श्रुत, अवधि, मनःपर्यय ज्ञानात्मक हो, कोई भी हो...किन्तु कुछ ज्ञान ऐसे रहते हैं जो पर को दिखाते हैं। आत्मा यदि स्व को जानना चाहे, तो स्व को जान सकता है। यह उसका आत्म पुरुषार्थ माना जाता है।

दृष्टान्त—आप लोग अखबार छापते हैं उसको पढ़ते हैं। ध्यान देना यदि किसी ने सम्पादकीय लिखा है तो अखबार पढ़ने पर उसकी दृष्टि सम्पादकीय पृष्ठ पर ही जायेगी। कोई दुकानदार है तो गल्ला बाजार भाव कहाँ है उस पेज को देखता है, खेल कूद वाले उससे संबंधित पृष्ठ को पढ़ता है। देश-विदेश की जानकारी का पृष्ठ अलग होता है, इस प्रकार सब कॉलम अलग-अलग बने हुए रहते हैं, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि क्या देखता है? सब पदार्थों में से केवलज्ञायक मात्र आत्मा को देखता है, उसको वह पकड़ लेता है, बाकी सब तो ठीक है। ज्ञेय को नहीं ज्ञायक को पकड़ता है, ज्ञान कभी ज्ञायक नहीं कहलाता है, ज्ञायक तो आत्मा होता है। ज्ञान के माध्यम से ये ज्ञायक कहलाता है, ये अलग बात है, इसे लिख कर रख लो। ज्ञान यह एक शक्ति है इसके माध्यम से आत्मा वस्तु को अपना विषय बनाता है, यदि उस शक्ति का उपयोग नहीं करना चाहो तो बस्ते को बांध करके रख दो। यहाँ आचार्य कह रहे हैं कि अपने ज्ञान को बस्ते में बंद करके रख दो आत्मन्! फिर बहुत आनन्द आयेगा। जिस प्रकार परीक्षा के समय पर बांध करके रखो ऐसा कह देते हैं क्योंकि कहीं वह नकल न कर ले। कई बच्चे तो अपने हाथ पर ही टीप करके ले जाते हैं और फुल साइज का शर्ट पहन लेते हैं, ताकि कोई पकड़ न पाए, ये बाहरी नकल करना तो बहुत अच्छे से आता है, लेकिन भीतरी नकल करो, फिर शुद्धात्मानुभूति की कथा लिखने की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। गाथा लिख कर सामने रखने की भी कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। भीतर देखो तो मात्र ज्ञायक पिण्ड रूप आत्मा दिखेगा।

ज्ञान कभी ज्ञायक नहीं होता—आत्मा ज्ञायक है, ज्ञान कभी ज्ञायक नहीं हो सकता हाँ, ज्ञान के माध्यम से आत्मा ज्ञायक माना जाता है। हर बार ज्ञान को ही महत्त्व देना क्यों आवश्यक है? उसको विवक्षित किए बिना भी आत्मा का अस्तित्व है या नहीं? महत्त्व देने वाले ज्ञान को महत्त्व देते होंगे, लेकिन एक बार आत्म तत्त्व पर विश्वास हो गया तो फिर बार-बार आत्मा है कि नहीं ये जानने की आवश्यकता नहीं रहेगी। विश्वास तो विश्वास है, जब एक बार आत्मा पर विश्वास हो चुका, तो फिर बार-बार क्यों? “दूसरे की हमें चाह नहीं है, ये तो पढ़-पढ़ करके रटे हुए शब्द हैं।” ज्ञान के अतिरिक्त आत्मा के शेष सभी गुण बहुत सभ्य हैं। वे बार-बार चिल्लाते नहीं हैं, लेकिन ये ज्ञान गुण हमेशा चिल्लाता रहता है, इसी के कारण सब कुछ गड़बड़ हो रहा है, यह हमेशा-हमेशा अपनी बात करता है, दूसरे गुण भी तो हैं।

समयसार में आगे कहा है कि आत्म श्रद्धान एक बार होने के उपरान्त मैं हूँ...मैं हूँ ये कहने की क्या आवश्यकता है, वह तो रात के बारह बजे भी लाइट के अभाव में भी मैं हूँ... इसका संवेदन होता रहता है, मात्र आँख खुलने के उपरान्त...मैं हूँ...ऐसा थोड़ा ही है। देखो! श्रद्धान गुण अपने आप में भव्य है, वह कभी नहीं कहता कि मेरे द्वारा श्रद्धान करो और जब श्रद्धा गुण के द्वारा विश्वास हो गया कि “मैं ज्ञायक पिण्ड हूँ” फिर बार-बार क्यों कहते हो। वीतराग सम्यग्दर्शन वह है जिसमें कोई विकल्प ही नहीं होता, ज्ञान के द्वारा मैं हूँ या नहीं ये देखने की आवश्यकता नहीं होती, वहाँ तो उसकी अनुभूति होती है। यदि कोई कहता है कि महाराज ये तो बार-बार बुद्धिपूर्वक इसलिए करना पड़ता है जिससे अबुद्धि पूर्वक राग हट जाए। यह नौबत क्यों आयी? यह नौबत उसी व्यक्ति के लिए आती है जिसमें अस्थिरता रहती है, यदि श्रद्धा प्रत्यय की ओर देखें तो ये ज्ञान से भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में तो ज्ञान के कारण उछलकूद हो रही है इसी की वजह से आत्मा का वैभव नहीं दिख रहा है। ज्ञान का वैभव है ऐसा आचार्यों ने नहीं कहा, किन्तु आत्मा का वैभव है ऐसा कहा है क्योंकि ज्ञान तो गुण है और आत्मा द्रव्य है, गुण बड़ा है कि गुणी, द्रव्य बड़ा है कि गुण, तो आत्मा द्रव्य बड़ा है क्योंकि आत्मा मात्र ज्ञान रूप नहीं है, उसमें अनन्त गुण हैं। इसको आप समझो, परन्तु प्रदेशों की अपेक्षा दोनों बराबर है, कोई छोटा बड़ा नहीं है।

जीव का लक्षण उपयोग है लेकिन कब तक? जब तक हमारा लक्ष्य परद्रव्यों में घुला हुआ है तब तक उस तत्त्व को छँटने के लिए है, फिर बाद में तो उसकी कोई आवश्यकता नहीं रहती है, मात्र शान्त हो करके बैठ जाइए, क्योंकि यह तो ज्ञात हो ही गया है कि अनन्त द्रव्यों के बीच अपना आत्म द्रव्य अकेला है, यह पहचानने में आ गया, अब बार-बार पहचानने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि अब तो वह कहीं भटकेगा ही नहीं, अब तो उपयोग को भी काम में मत लाओ शान्ति से बैठ जाओ, कोई विचार अपने आप आए तो आने दो...उसमें कोई विकल्प नहीं करना। ऐसा नहीं करना कि ज्ञानोपयोग आ गया इसलिए अब बटन दबा दो किन्तु पहले अपनी क्षमता देखो क्योंकि ज्ञानोपयोग

वाला अपनी क्षमता देखकर ही बटन दबाता है।

दृष्टान्त—जैसे आपने देखा होगा कि फोटोग्राफर गले में कैमरा लटकाकर घूमता है और फोटो खींचने की परमीशन (अनुमति) मिलती है तो एकाध बार पोज ले लेता है, बटन दबा देता है फिर शान्त बैठ जाता है। इसी प्रकार आत्मा को भी थोड़ा विश्राम दो। फोटोग्राफर जब नया-नया कैमरा ले आता है तो एक-दो बार में ही बहुत जल्दी-जल्दी रील पूरी कर देता है, ये उसका मनचलापन है, बाद में सोचता है भैया इसमें तो बहुत खर्चा है अब विवेक से काम करना होगा, इसी प्रकार मोक्षमार्ग में बार-बार मैं हूँ...मैं हूँ ये कहता रहता है, वह अभी ककहरा पढ़ रहा है, अर्थात् प्राइमरी केजी वन या टू में है यह बिल्कुल सही है, कौन कहता है कि तुम नहीं हो? फिर बार-बार कहने की क्या आवश्यकता? जो पहुँचे हुए साधक होते हैं वे, दूसरा व्यक्ति कुछ कह दे या भीतर का मन भी कुछ कह दे तो उसके अनुसार काम नहीं करते उनके सामने तो एक ही प्वाइंट होता है, कि “**अवग्रह से आगे न बढ़िए**” तो बहुत जल्दी निर्विकल्पता आ जायेगी। अवग्रह के बाद यदि ईहा आदि को रोक देंगे तो आप ईहा आदि को भूल ही जाओगे “**किमिदं कीदृशं कस्य**”...ये विकल्प भी समाप्त हो जायेंगे।

निर्विकल्पी साधक की साधना—तीन लोक के जानने वाले जो सर्वज्ञ हैं उन्हें **किमिदं कीदृशं** ये विकल्प नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानी निर्विकल्पी मुनि को भी नहीं होता। **इदं-इदं** यह बुद्धि के द्वारा विकल्प नहीं आता है किन्तु केवलज्ञानी के ज्ञान में **इदं-इदं** सब कुछ स्वतः सहज ही झलक जाता है, उसी प्रकार आप अपने में भी झलकने दो, साधना करो...क्या बात हो गई, आप में झलकन है तो अवग्रह तक ही है, यदि ज्यादा झलकन हो जाये, तो उतनी ही परेशानी है। ज्यादा ज्ञान निर्विकल्पता में बाधक होता है, हाँ, इतना अवश्य है कि स्थिरता चाहते हैं तो ज्ञान के माध्यम से भी स्थिरता ला सकते हैं, अन्तर्मुहूर्त में जब दर्शनोपयोग होता है तो अपने आप ही स्थिरता आ जाती है। उस समय आप जानना चाहोगे तो भी नहीं जान पाओगे, क्योंकि जानने का कार्य ज्ञानोपयोग के द्वारा होता है, दर्शनोपयोग के द्वारा क्या जानोगे? उस समय भी तो कुछ संवेदन होता होगा? हाँ, लेकिन उसका क्लॉसीफिकेशन या उसका वर्णन नहीं कर सकते, यही बात यहाँ पर कही गई है।

कर्मों के भेद मेरे स्वभाव नहीं हो सकते, दूसरे अन्य कोई विकल्प लायेंगे तो भी आप उस रूप नहीं होंगे और विकल्प नहीं लायेंगे तो भी आप जो हैं वही रहेंगे, बार-बार किताब वही देखता है जिसके दिमाग में पुस्तक में वर्णित विषय स्थिर नहीं हुआ है, किन्तु जिसको विषय आत्मसात हो चुका है तो फिर पुस्तक देखने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। जैसे कषाय कुशील जो मुनि होते हैं उनके संज्वलन मात्र का उदय होता है और किसी कषाय से वे प्रभावित नहीं होते फिर उनके लिए कौन-सा ग्रन्थ पठनीय है, यह मुझे बताओ। सोचो, उनका उपयोग कितना स्थिर होगा, न तो वे कषाय से प्रभावित होते हैं और न नोकषायों से। कोई-कोई कहता है कि वे महाराज तो कभी समयसार ग्रन्थ को हाथ में ही नहीं उठाते, हाँ, ठीक है भैया! उनके भीतर समयसार पहुँच चुका है, उनको समयसार आत्मसात

हो गया है, तो अब हाथ में लेने की क्या आवश्यकता? ऐसे वैद्य भी होते हैं जो नाड़ी भी नहीं देखते, मात्र रोगी को देख करके ज्वर नाप लेते हैं और बता देते हैं कि कितना ज्वर है? उसी प्रकार जिनके पास संज्वलन कषाय मात्र है वे किसी से प्रभावित नहीं होते उनकी साधना कितनी ऊँची है, उनके लिए हाथ में शास्त्र लेकर स्वाध्याय करने की क्या आवश्यकता है?

समाज के बीच में रह कर भी जो साधक नव नोकषायों से प्रभावित नहीं होते वे अपने उपयोग को कितना स्थिर रखते हैं, उनका स्वाध्याय कौन-सा है? देख लो! वे न दिन में, न रात में कभी प्रभावित नहीं होते, ये बड़े ऊपर के साधक माने जाते हैं। शोध छात्र जो कि शोध कर रहा है उसके लिए किताब की आवश्यकता नहीं होती है, क्योंकि उसके माइंड में ही सब कुछ है, इसी तरह यह बार-बार कहा जा रहा है कि जिसे आत्मतत्त्व का संवेदन बार-बार हो जाता है फिर उसे कहने की कोई बात ही नहीं है। मैं तो ज्ञायक मात्र हूँ, उदय में जो कुछ आया है, वह संयोगज भाव है, इसके पीछे कर्म का उदय निमित्त रूप में निश्चित है और उससे आत्मा में जो भाव उत्पन्न हुआ है वह भी मेरा स्वरूप नहीं है, इस प्रकार जो अनुभव कर रहा है, वह जानता है कि ये सब भाव औपाधिक हैं। मैं तो एक ज्ञायक मात्र हूँ।

इसके लिए अभी तो उदाहरण दिया था कि उनकी साधना इतनी तगड़ी है कि उन्हें सहारा लेने की आवश्यकता नहीं होती, कषाय का भी उनके ऊपर कोई प्रभाव नहीं होता “खुद आत्मतत्त्व की ओर जाने वाले की पहचान अपने आप में अलग हुआ करती है, जैसे कि कॉलेज इत्यादि में प्रतिभा सम्पन्न विद्यार्थी जो कि फर्स्ट क्लास फर्स्ट (प्रथम श्रेणी) आने की उम्मीद रखता है उसका रहन-सहन, खान-पान, बोल-चाल, उठने-बैठने आदि क्रिया से उसकी प्रतिभा को आप लोग पहचान जाते हैं, उसी प्रकार जिन का उपयोग बार-बार कषायों से प्रभावित नहीं होता है, वही व्यक्ति इस झलकन का अधिकारी होता है, प्रत्येक व्यक्ति इसका अधिकारी नहीं होता है।”

दृष्टान्त—वैसे सबके हाथों में कैमरा नहीं होता है, यदि सबके हाथों में कैमरा आ भी जाये तो सभी की फोटो ग्राफी अच्छी हो यह नियामक नहीं है, जिसके हाथ काँप रहे हैं वह फोटो खींचेगा तो कैसा आयेगा? बताओ। कैमरे में जिस समय बटन दबाया जाता है उस समय हाथ में स्थिरता रहनी चाहिए तभी फोटो सही आती है, उसी प्रकार केवल शास्त्र रखने मात्र से कोई ज्ञायक नहीं होता, यह सब कैमरे हैं जब रिजल्ट आता है तब देख लो कि आपने किस ढंग से बटन दबाया है, बहुत कठिन होता है, इसके लिए अभ्यास अनिवार्य होता है। मैं क्रोधी हूँ, मानी हूँ, मायावी हूँ, पुलाक हूँ या बकुश हूँ.. इससे कोई मतलब नहीं, जब वह शुद्धात्मानुभूति की ओर जायेगा उस समय क्रोध, मान आदि रूप में हूँ...मैं हूँ ऐसा संवेदन नहीं करेगा। हाँ, क्रोध के उदय को जान सकता है कि यह सब मेरा स्वभाव नहीं है और जो स्वभाव को जानता है वह क्रोध कर नहीं सकता, क्योंकि वह निर्विकार हो जाता है, वह सामान्य हो जाता है, जहाँ विवक्षा का अभाव होता है वह सामान्य है। कहा भी

है—“विवक्षायाः अभावः सामान्यः ।” ज्ञान के द्वारा किसी को विवक्षित न बनाये तो वह निर्विकल्प रहेगा वहाँ सामान्य आयेगा। अवग्रह में ज्ञान सामान्य होता है, यहीं तक आप रहिए, इसी में सन्तोष रखिए, यह श्वेत क्या है? तो श्वेत है बस...। श्वेत आते ही अवग्रह हो गया, बस इसी में संतुष्ट कर दो, सफेद है बस...। यह सामान्य की परीक्षा बहुत अच्छी है, विवक्षा बनाने पर तो वह मुख्य हो जाता है। मुख्य और गौण ये ज्ञान का आयाम हुआ, ऐसे में तो वह निर्विकार व निर्विकल्प नहीं रह सकता, आप विवक्षा न बनाइये, मात्र सामान्य को पकड़िये, तो उपयोग की धारा प्रवाहित होती चली जायेगी। मतिज्ञान हो या मनःपर्ययज्ञान इससे कोई मतलब नहीं, इसे बोलते हैं ज्ञायक। इस प्रकार ज्ञान और वैराग्य का सामान्य वर्णन करने वाली पाँच गाथायें पूर्ण हुईं। आगे इसी के बारे में दस गाथाओं द्वारा विशेष वर्णन किया जा रहा है।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव रागी नहीं होता है—

परमाणुमित्तियं पि हु य रागादीणं तु विज्जदे जस्स ।
णवि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरोवि ॥२११॥
अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो ।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो ॥२१२॥

अन्वयार्थ—(हु जस्स) निश्चय से जिस जीव के (रागादीणं) रागादिकों का (परमाणुमित्तियं पि य) अंश मात्र भी (तु विज्जदे) मौजूद है (सो) वह जीव (सव्वागमधरोवि) सब शास्त्रों को पढ़ा हुआ होने पर भी (अप्पाणयं तु) आत्मा को (णवि) नहीं (जाणदि) जानता है।

(च) और (अप्पाणं) आत्मा को (अयाणंतो) नहीं जानता हुआ (अणप्पयं अवि) पर को भी (अयाणंतो) नहीं जानता हुआ इस प्रकार (जीवाजीवे) जीव एवं अजीव दोनों पदार्थों को भी (अयाणंतो) नहीं जानता है (सो) वह (सम्मदिट्ठी) सम्यग्दृष्टि (कह होदि) कैसे हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता है।

अर्थ—जिसके रागादिकों का लेशमात्र भी अस्तित्व है तो वह जीव सम्पूर्ण द्वादशांग शास्त्र का पारंगत होकर भी आत्मा को नहीं जान सकता और जब आत्मा को नहीं जान सकता तो वह अन्य को भी नहीं जान सकता एवं जो आत्मा और पर को नहीं जान सकता वह जीव और अजीव दोनों को भी नहीं जानने वाला सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है? कभी नहीं हो सकता।

तू राग को तनिक भी तन में रखेगा,
शुद्धात्म को फिर कदापि नहीं लखेगा,
होगा विशारद जिनागम में भले ही,
आत्मा त्वदीय कुछ औ भव में डुले ही ॥२११॥

आत्मा न आतम-अनातम को लखेगा,
सम्यक्त्व पात्र किस भाँति अहो बनेगा।
यों कुन्द-कुन्द कहते बन वीतरागी,
क्यों व्यर्थ दुःख सहता तज राग रागी ॥२१२॥

व्याख्या—जिसके उपयोग में परमाणु मात्र भी परिग्रह है तो वह आत्मा को नहीं जान सकता, भले ही उसे पूर्ण आगम का ज्ञान क्यों न हो। अर्थात् जिसके उपयोग में रागादि की कणिका भी तैर रही होती है तो भी वह आत्मा को नहीं जान सकता। जैसे—आपके पास आँखें हैं, आप उससे देख रहे हैं, जान रहे हैं लेकिन मच्छर आदि नेत्र के सामने आ जायें तो फिर कुछ जानने में आता है क्या? नहीं। मोतियाबिंद हो जाये तो ऑपरेशन आदि करना पड़ता है, इसी प्रकार किसी की थोड़ी-सी भी रागादि की कणिका रह गयी हो और भले ही सभी आगम का ज्ञान हो, तो भी वह अपनी आत्मा को नहीं जान सकता ऐसा **आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी** इस ग्रन्थ में कह रहे हैं। इसी प्रकार की भाव वाली गाथा **प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, अष्टपाहुड, मूलाचार** आदि ग्रन्थों में भी लिखी गयी है।

आगे कह रहे हैं कि **अप्याण मयाणंतो**—जो अपने को सही-सही नहीं जानता, वह पर को भी सही-सही नहीं जानेगा, क्योंकि वह राग सहित, विकल्प सहित ही इष्ट-अनिष्ट के रूप में या कर्ता के रूप में पर को जानेगा, धर्म द्रव्य को भी राग सहित ही इस प्रकार जानेगा कि यह गति के लिए कारण है, यह अधर्म द्रव्य स्थिति के लिए कारण है।

जिज्ञासा—कोई कहता है कि स्वयं आत्मा किसी के लिए कर्ता, कर्म नहीं हो सकता है तो दूसरे को क्यों जानेगा और अपनी आत्मा को व पर को नहीं जानता हुआ सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है?

समाधान—समयसार के रहस्य को दिखाने के लिए यह एक गाथा ही पर्याप्त है लेकिन सामने वाला व्यक्ति, श्रद्धान है तो राग नहीं करता “ऐसा कह करके घुमा देता है। यह घुमावदार रास्ता ठीक नहीं है।” यहाँ पर क्या कहा जा रहा है? इसको अपना विषय बनाने का प्रयास करना चाहिए क्योंकि आगम के धारक वैसे ज्ञानी तो हैं लेकिन जो स्तत्रय का धारी होता है, वही वास्तव में आगम को धारण कर सकता है लेकिन फिर भी जब तक वह राग में ढला हुआ है, प्रशस्त राग में या चर्या में ढला हुआ है तब तक शुद्ध आत्मा को नहीं जान सकता इसलिए द्रव्य श्रुतकेवली और भाव श्रुतकेवली में अन्तर होता है। जो श्रुतकेवली हैं, क्या उन्हें हमेशा शुक्लध्यान ही होता है या शुक्लध्यान ही करना चाहिए क्योंकि **तत्त्वार्थसूत्र** में “**शुक्लेचाद्ये पूर्वविदः**” ऐसा कहा है। इसमें **च** शब्द से धर्मध्यान को भी कहा है।

यदि आपके पास शुक्लध्यान के योग्य श्रुतज्ञान है तो मात्र आपको शुक्लध्यान ही करना चाहिए, क्योंकि आपके पास पात्रता है फिर धर्मध्यान को क्यों करते हो? छठवें गुणस्थान में आ गये

वहाँ पर भी शुक्लध्यान प्राप्त कर लो, तो आचार्य कहते हैं कि “यह बाहरी ज्ञान हमेशा शुक्लध्यान प्रदान कर दे ऐसा नहीं है क्योंकि जिसके पास यह द्रव्यश्रुत नहीं है वह जघन्यश्रुत के माध्यम से भी ऊपर पहुँच जाता है यही एक बात महत्त्वपूर्ण है।” अब यहाँ कहा जा रहा है कि **कह होदि सम्मदिट्टि** वह सम्यग्दृष्टि हो कैसे सकता है? स्तत्रय है फिर भी सम्यग्दृष्टि कैसे नहीं है? तो क्या कहा जा रहा है? कौन-सी भूमिका में कहा जा रहा है? ये भी हमें सोचना चाहिए, जो रागादि में परिणत हो गया वह जैसा आत्मतत्त्व है वैसा नहीं जानता है।

वैसे तो आत्मा को सब लोग जानते हैं लेकिन उसका महत्त्व नहीं है। सही तो यही है कि कर्म का मंदोदय हो या तीव्र उदय, आत्मा तो उससे प्रभावित होगा ही और प्रभावित होगा तो शुद्धात्म तत्त्व को नहीं पकड़ पायेगा, इसलिए एक मत यह है कि शुक्लध्यान उसी समय होता है जिस समय उसके पास कषाय का पूर्णतः अभाव है, अतः मोह का क्षय करो या उपशम करो तभी यथाख्यात चारित्र के साथ शुक्लध्यान हो पायेगा, यह विशेष वर्णन किया जा रहा है।

वीतराग दशा की भूमिका सातवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक बतलायी है, इस भूमिका में इस विषय को लगाओ, इसलिए एक-दो स्थानों पर कहा है कि जहाँ पर विशेष वर्णन होता है वहाँ पर यथाख्यात चारित्र लाओ अथवा शुक्लध्यान लाओ ऐसा कई बार कहा है और इसके अलावा यदि होता है तो अबुद्धि पूर्वक विवक्षा को लेकर सप्तम आदि गुणस्थान में घटित किया है लेकिन छठवें गुणस्थान में तो सराग दशा है, वीतराग दशा में तो विशेष वर्णन की बात होगी तो उस समय यही बात कही जायेगी। वह सम्यग्दृष्टि नहीं है तो फिर क्या है? तो जैसा हम चाहते हैं उस विवक्षा वाला नहीं है क्योंकि **सामान्यः विवक्षायाः अभावो** ऐसा कहा जाता है। यहाँ विवक्षा का सद्भाव है इसलिए यह सामान्य नहीं किन्तु विशेष कथन है। **वक्तुं इच्छा विवक्षा** कौन-सी इच्छा है यहाँ पर? विशेष इच्छा है ये इसका अर्थ है।

जो अनध्यवसाय से प्रभावित होता है वह रागादि से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता यह पहले ही कह करके आये हैं और यहाँ भी कह रहे हैं कि उसे परमार्थ तत्त्व के ज्ञान का अभाव है इसलिए शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव वाले आत्मतत्त्व को नहीं जान सकता अर्थात् उसका अनुभव नहीं कर सकता। जो स्वभाव का आधार लेता है वह कभी भी राग-द्वेष नहीं कर सकता। राग सहित स्वभाव का आधार लेता है तो वस्तुतः वह स्वभाव का आधार नहीं ले सकता।

दृष्टान्त—जैसे-जो व्यक्ति स्वर्ण का आभरण पहनता है तो वह शुद्ध स्वर्ण को नहीं पहन सकता है क्योंकि आभूषण बट्टा के साथ होता है बिना बट्टा मिलाये मात्र शुद्ध स्वर्ण से आभूषण नहीं बनता, उसी प्रकार जो स्तत्रय सहित हो परिग्रह से रहित हो यह अनिवार्य है, क्योंकि बाहरी परिग्रह के त्याग के साथ ही स्वभाव का आधार ले सकता है मात्र बाहरी परिग्रह त्याग से नहीं किन्तु स्तत्रय के साथ में रहते हुए व्यक्ति विवक्षित हो सकता है। रागसहित स्तत्रय तो धारण कर सकता है लेकिन वीतरागता

की अनुभूति के लिए राग का पूर्णतः अभाव होना अनिवार्य है।

उपयोग की स्थिरता ही ध्यान है—शुद्धात्मा की अनुभूति के लिए मात्र स्तत्रय ही कारण नहीं होता किन्तु उसके लिए ध्यान भी चाहिए। रागादिक का अभाव व उपयोग की स्थिरता भी चाहिए। **आचार्य कुन्दकुन्द देव** का कथन है कि जो श्रुतकेवली है वह उसके साथ शुक्लध्यान में नहीं रह सकता। क्योंकि उनका कहना है कि शुक्लध्यान भी करो और तीनलोक का ज्ञान भी करो ये संभव नहीं। हाँ, तीन लोक के नाथ का ध्यान करो ये संभव है। तीनलोक का ज्ञान करोगे तो शुक्लध्यान नहीं होगा संस्थानविचय के साथ तो हो सकता है लेकिन ऊपर वाले के साथ नहीं। कीचड़ की छोटी-सी कणिका भी सफेद वस्त्र को दागदार बना देती है ये इसका अर्थ है। ग्रहण तो ग्रहण होता है चाहे वह खग्रास हो या छोटे से किनारे में लगा हो इसलिए ऐसा कहा गया है कि थोड़ा-सा भी ग्रहण लग गया तो उस दिन स्वाध्याय मत करो। भरत, ऐरावत क्षेत्र में मान लीजिए १९०वाँ भाग और उसमें भी थोड़ा-सा ग्रहण लग गया तो लग गया, उसी प्रकार राग की एक कणिका भी रह गयी तो दाग लग गया।

तीस नम्बर से पास हो गये तो टी-पार्टी करा रहे हैं कि हम तो पास हो गये हैं। ऐसी स्थिति यहाँ पर है। हाँ विकासोन्मुखी आपका जीवन है इतना तो हम कह सकते हैं लेकिन विकसित तो नहीं है। डॉयरेक्ट आइ.एस. परीक्षा में शत-प्रतिशत नम्बर कोई नहीं लाता है महाराज! यहाँ पर यही कह रहे हैं कि डॉयरेक्ट का मतलब यहाँ पर तुलनात्मक निकाल लिया करो अर्थात् एक नम्बर भी यदि कम है, तो प्रवेश नहीं होता, कह दिया जाता है कि जाओ यहाँ से, उसी प्रकार द्रव्य श्रुतकेवली हो गये कोई बात नहीं है, उपदेश देने बैठ जाओ तो भी यहाँ पर सिलेक्शन (चुनाव) नहीं होगा, क्यों? ये मत पूछो क्यों? ये पूछ रहे हो इसलिए नहीं होगा। अभी आपको अपना वीक प्वाइंट (कमजोरी) ज्ञात नहीं है जाओ वहाँ चू-पिट भी कर दो तो कहते हैं सीधे जाओ। दस-बीस हजार बच्चे आये हैं और उसमें से एकाध का सिलेक्शन होना है, तो किसी से कुछ पूछा जाता है, किसी से कुछ। बीच में एक छात्र लाल लाइट के जलने पर भी अंदर आ जाता है, तो परीक्षक महोदय कहते हैं इधर आओ, आपको संकेत समझना था, लाल लाइट लगी हुई थी, फिर भी भीतर कैसे आ गये? आइ.एस. की परीक्षा देने आये हो, ध्यान रखो हमने जो कहा था आपने उसका ध्यान ही नहीं रखा, लाइट तो हम जलायेंगे क्योंकि आपका ध्यान किस ओर है? हमें ये देखना था।

हाँ! तो बात चल रही थी कि जो अपने आपको तथा परको नहीं जानता वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है? **‘सव्वागमधरोवि’** ये सोचने की बात है कि जो द्वादशांग का अधिकारी होता है, वह तो सम्यग्दृष्टि ही होता है, फिर ये प्रश्न कैसे पूछा जा रहा है कि वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है? उसका उत्तर तो ये है कि वह सराग सम्यग्दृष्टि हो सकता है, वीतराग सम्यग्दृष्टि नहीं होगा। वीतराग सम्यग्दृष्टि नहीं है इसलिए हम उसे सम्यग्दृष्टि कैसे कहें? इस प्रसंग में अनेक प्रकार की कल्पनायें चलती हैं। वास्तव में जो भी सम्यग्दृष्टि है वह निश्चय सम्यग्दृष्टि रहता है और उसका वीतराग

सम्यग्दर्शन नाम है ऐसा कई लोग कहते हैं। सराग सम्यग्दर्शन तो अभव्य को भी हो जाता है ऐसा सीधा ही उत्तर दे देते हैं। व्यवहार सम्यग्दर्शन कहो, सराग सम्यग्दर्शन कहो, ये तो मिथ्यादृष्टि को भी रहता है क्योंकि वह सात ही तत्त्वों को जानता है, आठ या नौ तत्त्व नहीं कहता। सात ही तत्त्व हैं, पाँच ही अस्तिकाय हैं, छह ही द्रव्य हैं, नौ ही पदार्थ हैं, लेकिन यहाँ प्रसंग में ऐसा कथन नहीं है। जो एक बार द्रव्यश्रुत को पूर्ण कर लेता है वह मिथ्यादृष्टि नहीं होता है, ऐसा भी एक प्रकरण आ जाता है लेकिन यह प्रकरण सार्वभौम नहीं है, फिर भी यदि इसे सार्वभौम मान लिया जाये, तो ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँच कर भी नीचे गिरकर निगोद की यात्रा करने वाले जीव भी तो पाये जाते हैं। **तत्त्वार्थसूत्र** के अनुसार ही यदि सोचते हैं तो वे ग्यारहवें गुणस्थान में पूर्वविद् वालों को शुक्लध्यान मानते हैं। अतः वह निश्चित रूप से पूर्वविद् होगा ही ऐसा भी आगम आता है। तात्पर्य यह है कि जो श्रेणी से नीचे गिरकर मिथ्यात्व गुणस्थान में चले जाते हैं वे निगोद की यात्रा कर सकते हैं लेकिन सम्यग्दर्शन से जो कभी च्युत नहीं होते और श्रुत को पूर्ण कर लेते हैं तो निश्चित ही वे दो-तीन भव में मोक्ष जा सकते हैं। उसमें उनका नम्बर आ जायेगा फिर भी यहाँ कहा जा रहा है कि आगम के ज्ञान का अधिकारी होने के बाद भी यदि परमाणु मात्र भी रागादि की कणिका विद्यमान है तो वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है? और यदि ज्ञानी के उपयोग में किसी भी पदार्थ सम्बन्धी राग विद्यमान है तो उसको वीतराग सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता।

यहाँ प्रसंग में “**सिद्धान्तसिन्धु पारगामी...या श्रुतजलधि पारगेभ्योऽपि..**” अर्थात् स्वसंवेदन ज्ञान के बल से, सहजरूप से आनन्द स्वभाव वाला जो शुद्धात्मतत्त्व है उसको नहीं जानता हुआ, उसकी भावना नहीं करता हुआ कोई सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है? क्योंकि राग करने वाला शुद्धात्मा की भावना कर ही नहीं सकता। शुद्धात्मा की भावना करे और रागादिक भाव भी करे ये संभव ही नहीं है अर्थात् शुद्धात्मतत्त्व से पृथक्भूत रागादि से युक्त जो अनात्मतत्त्व है, उसको भी वह सम्यक् नहीं जानता है। स्वसंवेदन ज्ञान का अभाव होने से वो सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता।

जिज्ञासा—कोई कहे कि यदि ऐसा है तो द्वादशांग का पढ़ना ही बेकार हो जायेगा, क्योंकि द्वादशांग को पढ़ने वाले को भी आत्मतत्त्व नहीं मिलता है और वह परतत्त्व को भी नहीं जान सकता है?

समाधान—**आचार्य कुन्दकुन्द देव** यहाँ कह रहे हैं कि द्वादशांग का ज्ञानी आत्मतत्त्व की अनुभूति नहीं कर सकता ऐसा नहीं लेकिन जिसके पास परमाणु मात्र भी राग की कणिका है वह सम्यग्दृष्टि, वीतराग सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता न **कथमपीति..** यह शब्द अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। जब गुण परक अर्थ निकाला जाता है तब अपने आप यह सारा विषय स्पष्ट हो जाता है इसलिए द्वादशांग का पढ़ना बेकार होगा ऐसा भी नहीं सोचना चाहिए।

वीतराग सम्यग्दृष्टि कौन हो सकता है? धवला जी में ये विषय आया था कि वीतराग

सम्यग्दृष्टि कौन हो सकता है? जो रागातीत हो, वह हो सकता है। कषाय सहित तो वीतराग सम्यग्दृष्टि हो ही नहीं सकता क्योंकि वीतराग सम्यग्दर्शन कषायातीत अवस्था में होता है ये पहले ही स्पष्ट कर दिया। छद्मस्थ वीतरागी कषाय सहित नहीं होते यह तेरहवीं किताब में आया था। छद्मस्थ वीतरागी यह उपाधि और इसका गुणस्थान ही बता रहा है कि उसके पास कषाय की कणिका भी नहीं रह सकती। कषाय की कणिका मात्र भी स्वसंवेदन ज्ञान के लिए बाधक हो जाती है तो मनोमन, टनोटन राग जिसके पास है, तो उसका कहना ही क्या? ऐसी स्थिति में वह वीतराग स्वसंवेदन की बात करता है तो उसे कुन्दकुन्द भगवान् की ये गाथा अच्छे ढंग से बिना किसी आग्रह के, बिना किसी पक्ष के पढ़ लेना चाहिए। वह मिथ्यादृष्टि हो गया ऐसा हम भी नहीं कह रहे हैं, लेकिन वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है? अर्थात् वीतराग सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है? राग की कणिका रखने वाला स्वसंवेदन ज्ञान से च्युत होगा तो उसे हम सम्यग्दृष्टि नहीं मानते। कोई कहे फिर क्या मानते हो? हम उसे स्तत्रय का धारक तो मानते हैं ?

जिज्ञासा—जब उसे सम्यग्दृष्टि नहीं मान रहे हो तो फिर उसके पास कौन-सा स्तत्रय है? बताइये।

समाधान—आचार्य कहते हैं—उसके पास भेद स्तत्रय है, जो कि वह मुक्ति प्रदान नहीं कर सकता, साक्षात् मुक्ति नहीं दे सकता। **प्रवचनसार** में **अमृतचन्द्र स्वामीजी** ने और **जयसेन स्वामी जी** ने उत्थानिका में और टीका में बार-बार स्पष्ट शब्दों में कहा है कि वह भेद स्तत्रय साक्षात् मुक्ति नहीं दे सकता। पहले ही यह कह करके आये हैं कि सम्यग्दृष्टि के पास अनन्तानुबंधी आदि चारों कषायों की चौकड़ी सम्बन्धी अध्यवसाय भाव नहीं रहते। चाहे कषाय हो, राग-द्वेष हो, चाहे अज्ञान हो ये प्रत्यय सम्यग्दृष्टि को नहीं हो सकते। यहाँ यह प्रसंग चल रहा है और उसी को हम सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मानते हैं, निश्चय मोक्षमार्ग है यह मानते हैं। जो निश्चित रूप से वीतराग सम्यग्दर्शन के साथ हो उसी स्तत्रय से कर्म निर्जरा होती है, संवर होता है इतनी ही बात नहीं किन्तु सीधा-सीधा मुक्ति का लाभ भी होता है। इस प्रसंग के अनुसार मुक्ति उसी को मिलती है जो कषायातीत दशा का अनुभव कर रहा है, इसलिए वहाँ पर दोनों आचार्यों ने '**अकिञ्चित्कर**' इस शब्द का प्रयोग एक बार नहीं दो-दो बार किया और एव शब्द का प्रयोग भी किया।

आज से एक हजार वर्ष पहले भी यह प्रश्न खटकता था कि रागी सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है? ग्रन्थ में **तर्हि** शब्द का प्रयोग किया है। तर्हि शब्द का दक्षिण में '**लाओ**' अर्थ होता है लेकिन यहाँ तर्हि का अर्थ '**तो**' लिया है। तीर्थंकर गृहस्थ अवस्था में कुमार, राम, भरत, सगर चक्रवर्ती आदि-आदि भी सम्यग्दृष्टि नहीं हैं क्या? कुमार से शिवकुमार आदि भी ले सकते हैं। **कुन्दकुन्द महाराज** के शिष्यों में एक बहुत प्रिय शिवकुमार हुए हैं, उन्हीं शिवकुमार के निमित्त से **प्रवचनसार** आदि ग्रन्थ लिखे गये। यदि वे शिवकुमार के निमित्त विदेह नहीं जाते तो सारा का सारा ज्ञान कैसे होता? ऐसा **प्रवचनसार**

में आया है। **कुन्दकुन्द स्वामी** की ख्याति अपने आप में अपूर्व-अपूर्व है, इन्होंने एक तहलका जैसा मचा दिया था, बिल्कुल खुल्लम-खुल्ला विषय को कहने वाले आचार्य थे कि ऐसा होता है, तो ऐसा नहीं हो सकता इत्यादि। अष्टपाहुड में ऐसी-ऐसी स्पष्ट गाथाएँ हैं कि उसके ऊपर टीका लिखने की आवश्यकता ही नहीं होती। वे कहते हैं कि लिंग तीन ही होते हैं, चौथा कोई लिंग होता ही नहीं है। वे स्पष्ट कहते हैं कि **वत्थधरो ण वि सिज्झांति...** तीर्थंकर व कुमार के बीच डैस दिया है तो पृथक्-पृथक् ही लग रहा है। कुमार से कौन-से कुमार लेंगे? बताओ वृषभकुमार की जब प्रौढ़ अवस्था आ गई, ८३ लाख वर्ष पूर्ण हो गये फिर भी उन्हें कुमार मानेंगे क्या? हम तो नहीं मान सकते। तीर्थंकर गृहस्थ अवस्था में पंचमगुणस्थान के समान प्रवृत्ति वाले हो जाते हैं चूँकि वे महापुरुष हैं तो क्या वो सम्यग्दृष्टि नहीं है? राम, भरत आदि को भी कहा है, तो यहाँ पर कौन से भरत को लेना? राम के भाई और बाहुबली के भी भाई दोनों भरत थे। यहाँ पर सगर चक्रवर्ती को पहले लिया है अर्थात् बाहुबली के भाई को ले लेना क्योंकि प्रसिद्धि भरत चक्रवर्ती की ही है उनके साथ-साथ राम के भरत को भी ले सकते हैं तो क्या ये सारे के सारे सम्यग्दृष्टि नहीं हैं? **आचार्य कुन्दकुन्द** का साहित्य बहुत मीठा है, हजम ही नहीं होता है, बहुत गरिष्ठ है, खाते चले जाओ अच्छा लगेगा लेकिन पेट कहता है कहाँ भेज रहे हो? बंद कर लो। जैसे-चक्रवर्ती का लड्डू। भारतवर्ष के जो कोई भी दार्शनिक हैं उनके यहाँ सभी प्रकार की बातें मिलेंगी इसका प्रवाह उनमें भी है।

उपनिषद्, गीता आदि-आदि में भी अध्यात्म पद भरे हुए हैं, इनमें भी अच्छी-अच्छी बातें आ सकती हैं लेकिन ये ध्यान रखो इनका पाचक कौन है? समन्तभद्र स्वामी, पूज्यपादजी, वीरसेनजी, पुष्पदंत-भूतबलीजी आदि सभी आचार्यों ने चतुर्थ गुणस्थान से सम्यग्दृष्टि कहा है-**सम्यग्दर्शन-सम्पन्नमपिमातंग देहजम्** ऐसा **रत्नकरण्डक श्रावकाचार** में **आचार्य समन्तभद्र स्वामीजी** स्वयं कह रहे हैं और **देवा वि तस्स पणमंति जस्स धम्मे सयामणो** प्रतिक्रमण पाठ में ऐसा भी कहा है, तो ये सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं? या तो इस विषय में आप नई चीज बता रहे हैं या कोई गूढ़ चीज है? हाँ! बिल्कुल, गूढ़ चीज ही है। ४३ प्रकृतियों के अभाव के कारण सरग सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं तो यह कैसे? तो चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव के अनन्तानुबंधी के क्रोध आदि चार तथा मिथ्यात्व के उदय में जो पाषाण रेखा के समान रागादि होते हैं, उनका अभाव हो जाता है और पंचमगुणस्थानवर्ती जीव के अप्रत्याख्याय सम्बन्धी चार कषाय जो कि भूमि रेखा के समान है, उनका अभाव है, इसलिए उनको भी सम्यग्दृष्टि कहा है लेकिन टीका में आचार्य जयसेन स्वामी जी लिखते हैं कि-

इस ग्रन्थ में पञ्चम गुणस्थानवर्ती जीवों से ऊपर के गुणस्थानवर्ती, वीतराग सम्यग्दृष्टि जीवों को ही मुख्यता से ग्रहण किया है। सरग सम्यग्दृष्टि को यहाँ गौण किया है जहाँ भी इस ग्रंथ में सम्यग्दृष्टि का प्रसंग आवे वहाँ सभी जगह ऐसा समझना चाहिए।

“अत्र तु ग्रन्थे पंचमगुणस्थानदुपरितन गुणस्थानवर्तिनं वीतराग सम्यग्दृष्टिनां मुख्यत्या

ग्रहणं सरागसम्यग्दृष्टिनां गौणवृत्त्येति व्याख्यानं सम्यग्दृष्टि व्याख्यान काले सर्वत्र तात्पर्येण ज्ञातव्यम्” अर्थात् वैसे तो आगम की दृष्टि से भरत, सगर, राम, पाण्डव आदि सम्यग्दृष्टि थे लेकिन इस ग्रन्थ में अध्यात्म की दृष्टि से कथन किया जा रहा है और यहाँ पंचमगुणस्थानवर्ती से ऊपर वीतराग सम्यग्दृष्टि को ग्रहण किया है। वीतराग सम्यग्दृष्टि की मुख्यता होने से उसी को ग्रहण किया है। सराग सम्यग्दृष्टि को गौण रूप से ग्रहण किया गया है, ऐसा सम्यग्दर्शन के व्याख्यान काल में सर्वत्र तात्पर्य को जान लेना चाहिए। छठवें गुणस्थान को भी यहाँ वीतराग सम्यग्दृष्टि की मुख्यता से नहीं लेना क्योंकि वहाँ पर भी सराग सम्यग्दर्शन होता है।

दृष्टान्त—किसी भी कक्षा में आप परीक्षा देते हैं तो परीक्षा देने के पूर्व में सप्लीमेंट्री नहीं आती वह तो परीक्षा देने के उपरान्त ही आती है, तो परीक्षा कहाँ देंगे? सातवें गुणस्थान में देंगे और सप्लीमेण्ट्री आयेगी तो छठवें गुणस्थान में आना पड़ेगा।

यहाँ वीतराग सम्यग्दृष्टि का ही ग्रहण है, वो भी कौन? तो पंचमगुणस्थान से ऊपर उठा हुआ होना चाहिए। अभी आपका घर है, बाहर रहते हुए ये लोग समझते हैं कि हम घर से ऊपर उठ गये हैं वहाँ का घर यहाँ बस जाता है फिर भी कहते हैं कि हम घर में कहाँ रहते हैं? सोचो, विचार करो कि हम भी रहते हैं लेकिन शून्यागार विमोचितावास में रहते हैं। आप लोग ऐसे नहीं रहते हैं। शून्य में एक दम अलग ढंग की आवाज आती है। अतः मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि है लेकिन वीतराग सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से हम उसको सम्यग्दृष्टि नहीं कह सकते। सुनो! छद्मस्थ वीतराग बनना आवश्यक है उसके बिना वीतरागता है ही नहीं अथवा खींचकर भी यदि अर्थ लेते हैं तो पहले आप छठवें गुणस्थान से ऊपर उठ जाओ या श्रावकपने से ऊपर उठ जाओ, मुनियों का छठवाँ गुणस्थान एक अपवाद वाला गुणस्थान है आप बोलते हैं ये भी अपवाद मार्ग है।

दृष्टान्त—जैसे—पिक्चर देखने के लिए पहले टिकट खरीद कर जाते हैं, प्रवेश करते समय पहले टिकट दिखाना पड़ता है टिकट देखने वाला टिकट देखकर आधा फाड़कर वापस दे देता है और आधा अपने पास रख लेता है, ऐसा सुना है। मान लो कोई आवश्यक काम आ गया और वहाँ से बाहर आना पड़ा तो फिर टिकट नहीं देखता किन्तु उसे एक पास दिया जाता है इससे पहले पास माँगो तो नहीं देंगे सुन रहे हो कि नहीं, नहीं तो उदाहरण समझ में नहीं आयेगा पहले आप भीतर चले जाइये फिर यदि कोई कारण से बाहर आ जाते हैं तो पास मिलता है, लेकिन तीन बार ही पास मिल सकता है इससे ज्यादा या बार-बार पास नहीं देते हैं पहले टिकट लेते हैं ये बात सबको समझ में तो आ रही है न! तो सर्वप्रथम मुनि बन जाओ यह टिकट बन गया फिर छठवें गुणस्थान में जाने के लिए पास लेओ अच्छा उदाहरण है कि नहीं इसलिए याद रख लेना छठवें गुणस्थान में आना यह अपवाद है सप्तम गुणस्थान वाले को ही छठवें गुणस्थान में जाने का मार्ग मिलता है पाँचवें गुणस्थान वाले को डॉयरेक्ट ये मार्ग नहीं मिलता ये निश्चित बात है यहाँ पर यह प्रसंग है इसको आप नहीं समझेंगे तो हम किसी

भी प्रकार से समझा नहीं सकते।

जिज्ञासा—हमें याद आ गया कल एक चिट्ठी आई थी, उसमें लिखा था कि आपका कहना है कि केवलज्ञान भी सम्यग्ज्ञान है और मतिज्ञान आदि चार भी सम्यग्ज्ञान हैं और सम्यग्ज्ञान की विवक्षा में इन चारों को हम केवलज्ञान की किरण मान कर चलें तो क्या बाधा है?

समाधान—प्रश्न बहुत अच्छा है उनका लेकिन इसमें बाधा ये है कि केवलज्ञान स्वभाव है किन्तु अन्य चार ज्ञानों को आचार्यों ने स्वभाव रूप में घोषित नहीं किया है। यदि कहीं आप लोगों के ग्रन्थों में स्वभाव कहा हो तो हमें बता देना कि कौन-से आचार्य ने इस ढंग से लिखा है और यदि नहीं लिखा है तो आपने कौन-से आधार से यह अर्थ निकाला है हम उस प्रसंग को देख लेंगे। बारहवें गुणस्थान तक जो विषय होता है वह परोक्ष रूप से होता है मति-श्रुतज्ञान का विषय आत्मतत्त्व भी बनता है तो वह भी परोक्ष होता है। शुद्धात्मा को विषय बनाया है वह श्रद्धान की अपेक्षा से है और उसका श्रद्धान जो हुआ है वह उपदेश से मिल रहा है केवलज्ञानी को विश्वास तो है पर उनका विश्वास परोक्ष नहीं है किन्तु पूर्णतः प्रत्यक्ष है उनका सम्यग्दर्शन परमावगाढ सम्यग्दर्शन होता है। उनके सम्यग्दर्शन में और आप के सम्यग्दर्शन में जमीन-आसमान का अन्तर होता है आप पदार्थ को इनडॉयरेक्ट (अप्रत्यक्ष) स्वीकार करते हैं और उनका पदार्थ से डॉयरेक्ट (प्रत्यक्ष) सम्बन्ध होता है उन्हें श्रुत का आलम्बन लेने की आवश्यकता नहीं होती और आपको श्रुत के बिना कुछ भी नहीं होता इसलिए आगमगम्य व अनुमानगम्य है किन्तु आपके लिए प्रत्यक्ष अनुगम्य नहीं है इसलिए दोनों में बहुत अन्तर है।

दूसरी बात मति आदि चार ज्ञान को सम्यग्ज्ञान घोषित करते हुए भी जब स्वभाव-विभाव की परीक्षा की जाती है तो उस समय **नियमसार** में कहा है कि ये चारों ज्ञान, वैभाविक गुण हैं। वैभाविक और स्वाभाविक गुण को एक मानते हो तो मानो **आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी** तो यह नहीं मानते हैं इसलिए आप **आचार्य कुन्दकुन्द** का यह हवाला तो नहीं दे सकते कि दोनों ज्ञान केवलज्ञान की किरणें हैं। स्वभाव की किरण स्वभाव रूप और विभाव की किरण विभाव रूप में होगी। जो व्यक्ति स्वभाव की किरण मान करके विभाव को मानता है तो ऐसा समझो कि उसे **आचार्य कुन्दकुन्द** का आशय ही अभी समझ में नहीं आया है। **आचार्य कुन्दकुन्द देव** ने गाथा में लिखा है कि— केवलज्ञान स्वभाव है और चार ज्ञान विभाव हैं। विभाव का विषय स्वभाव कैसे बन सकता है? केवलज्ञान जब होता है तब चार ज्ञान नहीं रहते इसलिए इन्हें विभाव की कोटि में रखा गया है और केवलज्ञान को स्वभाव की कोटि में लिया है। केवलज्ञान के अभाव में ये रह सकते हैं, लेकिन इनका अभाव पहले होना अनिवार्य है तब कहीं केवलज्ञान होगा। यदि ये चार ज्ञान स्वभाव रूप केवलज्ञान की किरणें हैं तो उनका भी अभाव नहीं होना चाहिए किन्तु किरणों को तो उसी में मिल जाना चाहिए लेकिन आचार्यों ने कहा है कि “**प्रक्षीण सकल ज्ञानावरणस्य केवल ज्ञानिनः**”... बहुत बड़ी बाधा आयेगी क्योंकि छद्मस्थ ज्ञान के समय सर्वघाति केवलज्ञानावरण का उदय चल रहा है। आचार्य कह रहे हैं कि आज आपके

पास केवलज्ञान नहीं है, क्यों नहीं है? क्योंकि केवलज्ञानावरण कर्म का उदय चल रहा है और सिद्धान्त में केवलज्ञानावरण को सर्वघाती घोषित किया है। सर्वघाति का अर्थ ही होता है कि जिसके उदय में गुण अंश मात्र भी प्रकट न हो, ऐसी स्थिति में आप किरण-किरण कहकर उसका प्रचार-प्रसार कर रहे हैं। कम से कम आज से इसका विरोध करना प्रारंभ कर दो। अंश कहना भी केवलज्ञान के महत्त्व को कम करना है अर्थात् सिद्धान्त ग्रन्थों के रहस्य को सही-सही नहीं समझना है तथा समझने का प्रयास भी नहीं करना है। ऐसा करेंगे तो बहुत गलत हो जायेगा दोनों तरफ से गलत हो रहा है इसलिए “**भाषा सुधारो और भाव सुधारो**” जिसने नहीं सुधारा उनके सामने यह सौ-सौ बार कह दो कि हमने भी ये सब समझा था लेकिन अब समझ में आ गया कि मतिज्ञानादि केवलज्ञान की किरणें नहीं हुआ करतीं ये निश्चित बात है क्योंकि उनकी क्वालिटी भिन्न है और इस केवलज्ञान की क्वालिटी भिन्न है, वे देशघाती प्रकृति के उदय के साथ चल रहे हैं और यह सर्वघाती के क्षय के साथ चलता है दोनों में बहुत अन्तर है। देखो! पढ़ने की बात मत करो पहले सिद्धान्त ग्रन्थों पर विश्वास रखो फिर पढ़ने की बात करो, पढ़ते तो सभी लोग हैं लेकिन खींचकर वही अर्थ निकालते हैं। हम तो यही कहना चाहते हैं कि सिद्धान्त प्रवेशिका पढ़ने से पहले सिद्धान्त पर विश्वास व आस्था करो और इसमें जो लिखा है उस पर विश्वास करो तो पढ़ना सार्थक होगा नहीं तो सब बेकार की बात है। जो व्यक्ति आगम सिद्धान्त को नहीं देखता और देखकर भी खींचकर के लिखता है तो भी वह ठीक नहीं क्योंकि जब वह किरण रूप होता ही नहीं है तो उसकी चर्चा क्यों? जब उनको वैभाविक कहा है तो स्वभाव की किरण वैभाविक होगी क्या? स्वभाव की शक्ति तो अभव्य के पास भी रहती है लेकिन यह मतिज्ञानादि यदि इसका स्वभाव है तो उसका कभी भी क्षय नहीं होना चाहिए क्योंकि स्वभाव का कभी क्षय नहीं होता यह ध्यान रखो।

दूसरी बात ये है कि वह केवलज्ञान पूर्णज्ञान है और ये मतिज्ञानादि अधूरे ज्ञान हैं कि नहीं? आप यह कहना चाहते हैं कि अधूरे ज्ञान हैं तो यह भी उसमें जाकर मिलेगा लेकिन वह नहीं मिल सकता क्योंकि दोनों की क्वालिटी भिन्न-भिन्न हैं। ये सब चर्चायें पहले हो चुकी हैं। केवलज्ञान को आप सामान्य मान रहे हैं जबकि उसे सामान्य नहीं कहना चाहिए केवल के दो अर्थ होते हैं एक ‘ऑनली नॉलेज’ और एक ‘परफेक्ट नॉलेज’ इनफिनिट नॉलेज (अनन्त शाश्वत ज्ञान) दोनों में बहुत अन्तर है केवलज्ञान को इनफिनिट नॉलेज कहते हैं तो वह सामान्य नहीं हुआ किन्तु पर्टीकुलर एक्स्ट्रा ऑडनरी (विशेष रूप) कहा जायेगा। हाँ, इसलिए इसमें उसको मिला ही नहीं सकते। मूल क्या है? पूर्ण ज्ञान क्या है? चार आवरणीय तो देशघाती के साथ हैं और पाँचवाँ जो है वह सर्वघाती से सहित है तो बारहवें गुणस्थान के अन्त तक वह ढका रहता है और वहाँ आवरण हट गया तो प्रकट हो जाता है। पाँचों ही आवरण समान हैं क्या? क्षयोपशम दशा की अपेक्षा चार आवरणीय को कथञ्चित् एक समान मान सकते हैं लेकिन ये सर्वघाती केवलज्ञानावरण तो उनसे भिन्न ही है। वह सर्वघाती प्रकृति कहती है कि

जब तक मेरी सत्ता रहेगी तब तक केवलज्ञान प्रकट हो ही नहीं सकता, वह कहती है कि वह रहेगा या हम रहेंगे और हम रहेंगे या वह रहेगा लेकिन ये चार ज्ञान ऐसे नहीं हैं। उनको भी ज्ञान तो कहा है लेकिन क्वालिटी अलग-अलग है।

दूसरी बात मतिज्ञानादि सम्यक् रूप तो हैं लेकिन सम्यक् होने से केवलज्ञान रूप हैं या उसके अंश हैं ऐसा नहीं समझना चाहिए अगर ये केवलज्ञान के अंश हैं तो जैसे केवलज्ञान समाप्त नहीं होता ऐसे ये भी नहीं मिटना चाहिए। आचार्य कहते हैं कि ये केवलज्ञान में नहीं मिल सकते क्योंकि दोनों की क्वालिटी बहुत भिन्न है। जैसे—कल सुबह आपने कोई विषय जाना था उसका क्या हुआ तो क्षयोपशम अवस्था के साथ समाप्त हो गया क्षयोपशम अवस्था समाप्त तो वह भी समाप्त।

दृष्टान्त—जैसे—टॉर्च है उसके सामने काँच लगा हुआ है कभी आप फोकस को फैलाना चाहते हैं और कभी आप उसे केन्द्रीभूत करना चाहते हैं तो उसका डॉयरेक्शन चेंज (दिशा परिवर्तन) कर देते हैं उसे राउंड में लेते हैं कभी राइट (दाँए) की ओर तो कभी लेफ्ट (बाँए) की ओर करते हैं जिस तरफ फोकस होता है उस तरफ प्रकाश आता जाता है और उसके अपोजिट में कालापन बढ़ता जाता है। पहले की बात कर रहा हूँ अभी बदल गया हो तो पता नहीं। टॉर्च का क्या सिस्टम (तरीका) है? अब ग्लास को ही निकाल दिया, फोकस (कैमरा) को ही निकाल दिया अब तो बल्ब मात्र जीरो प्वाइंट रह गया तो हमारा प्रकाश ही कहाँ जायेगा? आचार्य कहते हैं वह फोकस के साथ निकल गया, वह था ही नहीं इसी प्रकार क्षयोपशम ज्ञान का जो फोकस था या आवरणीय कर्म थे वे हट गये तो मात्र एक केवलज्ञान रह गया जो कि रंगरहित भाव है। उसके काँच नहीं, फोकस नहीं कुछ भी नहीं इसको निरावरण बोलते हैं। फोकस के साथ जो चल रहा था उसका नाम आवरणीय था इसकी क्वालिटी और उसकी क्वालिटी में इतना अन्तर है देखो। या तो आपने टॉर्च नहीं देखी ये फैक्ट (निश्चित) है या हम आपको समझा नहीं पा रहे हैं या आपकी जो धारणा बनी है उसी इरादे से आप बैठें हैं ये तीन पक्ष होंगे, चौथा कोई भी पक्ष नहीं है इसके अलावा कुछ नहीं, क्षयोपशम में इतना ही आता है इसका यदि अभाव नहीं हुआ तो इसे आप क्षायिक मानेंगे या क्षायोपशमिक मानेंगे, थोड़ा-सा बता देना।

वर्तमान में जो ज्ञान है वह क्षायोपशमिक है कि क्षायिक है? मतिज्ञानादि को ज्यों का त्यों रहना चाहिए। ज्यों ही ज्ञानावरण कर्म का क्षय होता है तो जो पहले सम्यग्ज्ञान था वह केवलज्ञान में मिल गया ऐसा मानेंगे तो प्रश्न उठता है कि क्षायोपशमिक ज्ञान क्षायिक ज्ञान हो सकता है क्या? प्रश्न उठता है सामान्य अवस्था कर्म निरपेक्ष हुआ करती है कर्म के कारण हमारे पास ज्ञान है ऐसा कहना गलत है। आत्मा का स्वभाव ज्ञान है, वह था, है और रहेगा इसमें न क्षयोपशम की विवक्षा है न क्षायिक की। निगोदिया जीव में जो नित्य उद्घाटित ज्ञान है वह भी कर्म निरपेक्ष है वह किसी भी प्रकार से कर्म सापेक्ष नहीं है ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि वह क्षायोपशमिक ही है, छद्मस्थ अवस्था में क्षायिक ज्ञान नहीं रह सकता इसलिए क्वालिटी कृत भेद नहीं मानते हैं तो क्या कहें फिर हम?

जिज्ञासा—श्रद्धा और ज्ञान में क्या अन्तर है?

समाधान—श्रद्धा और ज्ञान दोनों भिन्न-भिन्न हैं, जैसे—आँख को कान नहीं मान सकते हैं उसी प्रकार श्रद्धान को केवलज्ञान या ज्ञान नहीं मान सकते जैसे दाहिनी आँख को बायीं आँख नहीं कह सकते और दाहिनी आँख को बायीं आँख में नहीं मिला सकते दोनों भिन्न होती हैं वैसे ही श्रद्धान और ज्ञान दोनों को भिन्न-भिन्न मानना होगा। कभी-कभी प्रश्नकर्ता उत्तर के लिए सहयोगी बन जाते हैं। श्रद्धान की परिणति और दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से जो दर्शन रूप परिणति होती है उसमें बहुत अन्तर है। आप थोड़ा-सा सिद्धान्त ग्रन्थ को पढ़िये, आप उनकी तरफ से कह रहे हैं तो आपको भी कहना पड़ेगा कि दर्शनमोहनीय के क्षय के कारण जो सम्यग्दर्शन होता है वह और केवलदर्शनावरण के क्षय से जो दर्शन गुण होता है इन दोनों में बहुत अन्तर है। इतना अवश्य है कि प्रत्यक्ष सम्यग्दर्शन क्या होता है? इसके बारे में जो चिंतन करेगा तो ज्ञात होगा कि परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन का नाम प्रत्यक्ष सम्यग्दर्शन है। इसके पहले के सभी परोक्ष हैं, क्योंकि बारहवें गुणस्थान तक छद्मस्थ अवस्था रहती है। वहाँ पूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता किन्तु देव-गुरु-शास्त्र को रख करके ही श्रद्धान होता है इसलिए आगम के श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन को हम परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन नहीं कह सकते हैं, इतना तो कहा जा सकता है कि दोनों में बहुत अन्तर है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि कहने से सराग सम्यग्दृष्टि गौणवृत्ति में आते हैं। यहाँ मुख्यता वीतराग सम्यग्दृष्टि की है। तात्पर्य यह है कि सराग सम्यग्दृष्टि को वीतराग सम्यग्दृष्टि स्वीकार नहीं कर सकते।

दृष्टान्त—जैसे—कोई छात्र आया उससे पूछा क्या पढ़ते हो? तो वह कहता है बी.ए. यह तो तीन साल की होती है फाइनल हो गया है क्या? नहीं, जब हम पढ़ते थे उस समय बी.ए. का कोर्स चार साल का होता था आज सब मिलाकर तीन साल का कर दिया और एक साल माध्यमिक शिक्षण में बढ़ा दिया बात एक ही है कॉलेज के विद्यार्थी जल्दी हो गये लेकिन चार साल पढ़ना पड़ेगा। पहले मैट्रिक होते थे हम तो नॉन मैट्रिक हैं इसलिए हम कह रहे हैं कि इन कक्षाओं में बी.ए. कहा जाता है लेकिन वस्तुतः वह बी. ए. फाइनल में जब पास हो जाता है तब बी.ए. पूर्ण होगा, उसी प्रकार चतुर्थ गुणस्थानवर्ती को हम नॉन मैट्रिक मान सकते हैं, यहाँ पर गौणवृत्ति का यह अर्थ लेना कि वह मैट्रिक में नहीं पहुँचा लेकिन मैट्रिक के पास होने से नॉन मैट्रिक संज्ञा दी जाती है किन्तु कोई अभी प्राइमरी में ही कहने लग जाये कि मैं भी नॉन मैट्रिक हूँ तो वह नॉन मैट्रिक का महत्त्व कम कर रहा है अथवा कॉलेज का भी महत्त्व कम कर रहा है जबकि कॉलेज अपने आप में महत्त्वपूर्ण होता है।

दूसरी बात वैज्ञानिक द्वारा लिखित पुस्तक को कोई पढ़ ले तो उसे हम वैज्ञानिक कह दें क्या? नहीं कह सकते उनके ज्ञान में और जिसने पढ़ लिया है उसके ज्ञान में अन्तर है। उसने शोध किया है और इसने पढ़ा बस है ये दोनों जिस प्रकार एक नहीं हैं उसी प्रकार चतुर्थादि गुणस्थान में और वीतराग सम्यग्दृष्टि में अन्तर है, क्योंकि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि नॉन मैट्रिक है वैज्ञानिक की किताब

पढ़ने से जैसे कोई वैज्ञानिक नहीं होता है उसी प्रकार वीतराग की चर्चा करने मात्र से अथवा उनके मुख से वीतराग की चर्चा सुनने मात्र से कोई अपने आपको वीतराग सम्यग्दृष्टि मान ले ये उचित नहीं है। आप अपने आपको भी वीतराग सम्यग्दृष्टि मानने लग जाओ ये संभव नहीं है फिर भी मानते हो तो आप अपने घर में मान सकते हो। आगम किसी के घर का नहीं होता।

आगे की गाथा में बहुत अच्छा विषय आ रहा है कि जो समयसार के रसिक हैं, उनको हमेशा ये गाथा दिमाग में रखना चाहिए इसका हमेशा चिंतन करना चाहिए कि क्षायिक सम्यग्दृष्टि होते हुए भी यहाँ वीतराग सम्यग्दृष्टि उसको बोलते हैं जो अभेद रत्नत्रय के साथ है। **परमात्म प्रकाश** ग्रन्थ में एक विषय आता है कि **भरतादिनां तु वस्तु वृत्या व्यवहार सम्यग्दर्शनम्। यत्तु व्यवहार सम्यग्दर्शनम् तत्तु वस्तुतः सराग सम्यग्दर्शनम् इति। सराग सम्यग्दर्शनम् तु वस्तु वृत्या अज्ञानमेव...** ये पंक्तियाँ पठनीय हैं। सराग सम्यग्दृष्टि क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर भी जब तक राग का त्याग नहीं करता है तब तक वीतराग सम्यग्दृष्टि नहीं कहला सकता भले ही वह क्षायिक क्यों न हो? प्रायः करके चक्रवर्ती जितने भी होते हैं उन्हें क्षायिक सम्यग्दर्शन रहता है। तीर्थकरों में भी किसी-किसी को होता है। नीचे तीसरी पृथ्वी से आने वाले क्षयोपशम सम्यग्दर्शन के साथ ही आते हैं क्योंकि पहली पृथ्वी में ही क्षायिक सम्यग्दृष्टि रहते हैं इसका कारण क्या है? तो क्षायिक सम्यग्दृष्टि बद्धायुष्क होने से नरक में प्रथम पृथ्वी तक ही जाते हैं। क्षायिक सम्यग्दर्शन का नाम यहाँ पर वीतराग सम्यग्दर्शन नहीं है। **अकलंक स्वामीजी** ने जरूर मात्र **राजवार्तिक** ग्रन्थ में क्षायिक सम्यग्दर्शन को वीतराग सम्यग्दर्शन कहा है। वह इस अपेक्षा से कहा है कि वहाँ अनन्तानुबंधी सम्बन्धी राग समाप्त हो चुका है, अब वह पुनः नहीं आयेगा लेकिन फिर भी ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान वाले का जो वीतराग सम्यग्दर्शन है इसमें और उसमें बहुत अन्तर है यह उनका कहना है।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव भावी भोगों को नहीं चाहता है। चतुर्थ गुणस्थान से छठवें गुणस्थान तक सभी को ज्ञानी कहा है लेकिन यहाँ कौन-से ज्ञानी को लिया गया है आगे इसे बताते हैं—

जो वेददि वेदिज्जदि समये समये विणस्सदे उभयं।

तं जाणगो दु णाणी उभयमवि ण कंखदि कदावि ॥२१३॥

अन्वयार्थ— (जो) जो (वेददि) वेदन करता है जो (वेदिज्जदि) जो वेदन किया जाता है (उभयं) वे दोनों (भाव) (समये समये) समय समय पर (विणस्सदे) नष्ट हो जाते हैं (तं जाणगो दु) इसलिए वह जानने वाला (णाणी) ज्ञानी तो (उभयमवि) उन दोनों भावों की (कदावि) कभी भी (ण कंखदि) वांछा नहीं करता।

अर्थ—जो रागपूर्वक जानने वाला भाव है और जो उसके द्वारा जाना जाता है ये दोनों ही समय-समय पर विनष्ट हो जाते हैं। इन दोनों में से जो किसी को भी अंगीकार नहीं करता है किन्तु केवल

ज्ञायक मात्र होकर रहता है वह ज्ञानी होता है।

संभोग-भाव सब भोग्य पदार्थ भाई,
प्रत्येक काल मिटते न यथार्थ थाई।
ज्ञानी मुनीश इस भाँति जभी लखेगा,
कांक्षा पुनः किसलिए किसकी रखेगा? ॥२१३॥

व्याख्या—जो वेदित किया जा रहा है और जो वेदन कर रहा है ये दोनों ही समय-समय पर नष्ट होते हैं इसलिए इस रहस्य को जानने वाला ज्ञानी इन दोनों को जानता हुआ कदापि भावी भोगों की आकांक्षा नहीं करता है। भोक्ता और भोग्य दोनों प्रतिपल नष्ट हो रहे हैं यह रहस्य समझ में आ जाये तो बहुत अच्छा। इसलिए ज्ञानी लोग आकांक्षा नहीं करते, क्योंकि वे समझते हैं, जानते हैं कि जिस समय इच्छा हुई उस समय इच्छित पदार्थ नहीं मिलता और जब इच्छित पदार्थ मिलता है तब तक इच्छा समाप्त हो जाती है। अज्ञान दशा में आपने राग कर लिया और अब ज्ञान दशा में आ गये तो राग नहीं कर सकते क्योंकि आपको ये ज्ञान हो गया कि प्रतिसमय वस्तु परिवर्तित होती रहती है वह हमेशा उसी रूप में नहीं रहती, जिस रूप में होना चाहिए।

दृष्टान्त—जैसे—मानलो आपको भूख लगी है और समय पर भोजन मिलता है तो ठीक है अन्यथा थोड़ी देर से आने पर आप कह देते हैं कि जिस समय भूख लगी थी तब तो दिया नहीं अब तो भूख नहीं है। देवों में भी जिस समय इच्छा होती है तो उन्हें भी इच्छा होने के बाद बटन दबाना पड़ता है तब उनके गले से अमृत झरता है उसमें भी अन्तर्मुहूर्त का समय लग जाता है ऐसा कभी नहीं होता कि इच्छा होते ही तत्काल मिल जाये वह संभव ही नहीं है, पहले माँग करो फिर ऑर्डर दो तब तक अन्तर्मुहूर्त निकल ही जाता है, जस्ट वेट वाली बात है, वेटिंग (प्रतीक्षा) तो अनिवार्य है, इसलिए इच्छा करते ही नहीं मिलता और जब मिलता है तो दूसरी इच्छा प्रारंभ हो जाती है अतः ज्ञानी प्रतीक्षा नहीं करता वेटिंग में खड़ा होना ज्ञानी को पसंद नहीं। अज्ञानी और ज्ञानी दोनों उसी लाइन में खड़े हैं इसलिए असंयमवत् चर्या होती है ऐसा **वीरसेनस्वामीजी** ने धवला ग्रन्थ में कहा है। बिल्कुल सही है इसमें कोई संदेह नहीं, तीर्थकर भी परवश होकर चर्या को जा रहे हैं क्षुधा परीषह नहीं है लेकिन तत्सम्बन्धी इच्छा तो है और इच्छा है तो परीषहजय नहीं। इच्छा समाप्त नहीं होती है। हाँ, उनकी इच्छा कम है इसलिए कहने में आता है कि क्षुधा परीषह नहीं है। अन्तर्मुहूर्त निकलने में देर नहीं लगती, बहुत कम समय का भी अन्तर्मुहूर्त होता है। कहने में ऐसा ही आता है महाराज! इच्छा करने रूप बात एक समयवर्ती है या अन्तर्मुहूर्त की एक समय में इच्छा नहीं होती सिद्धान्त ग्रन्थ पढ़ लो संज्ञा या इच्छा एक समयवर्ती नहीं होती, कम से कम अन्तर्मुहूर्त तो चाहिए।

“न उभयं अपि कांक्षति” रागादि विकल्पों को करने वाला जो कर्ता है वह साता के उदय में जो ऑब्जेक्ट के रूप में अर्थात् कर्म के रूप में अपने सामने खड़ा है उसका वेदन करता है। रागादि

विकल्प के द्वारा जो अनुभव में आ रहा है उसे वेदयति अर्थात् अनुभव करता है ऐसा कहा जा रहा है उन दोनों में अर्थ पर्याय की अपेक्षा से समय-समय में नश्वरता है, इन दोनों के रहस्य को जानने वाला रागादि भाव, वेदक और वेद्य अर्थात् पदार्थ इन दोनों को विनश्वर, नाशवान जानता हुआ तत्त्वज्ञानी कभी भी आगामी आकांक्षा नहीं करता क्योंकि उसे ज्ञात है कि इससे मुझे कभी भी तृप्ति होने वाली नहीं है तथा वीतराग सुख तो “**सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा अहमिन्द्र के नहीं कहो**” अलौकिक सुख है इसका सब स्वाद नहीं ले सकते। इन्द्र के पास क्षायिक सम्यग्दर्शन है सो रहा आवे, सौधर्म इन्द्र को शक्र भी बोलते हैं। वह भी उस अलौकिक सुख का स्वाद नहीं ले सकता ऐसा **प्रवचनसार** ग्रन्थ में कहा है फिर उसे क्या स्वाद आयेगा? उसका स्वाद तो जोंक की भाँति है।

दृष्टान्त—जैसे-जोंक जो कि सड़े-गले खून को पीने वाला प्राणी है, गाय आदि के थनों में चिपकी रहती है वह वहाँ दूध न पी करके सड़े-गले खून को चूसती रहती है और इतना पीती है कि उसका पेट भी फटने लग जाता है बेहोश जैसी हो जाती है लेकिन दूध भी वहीं पर है उसका उसे स्वाद भी नहीं आता। इस प्रकार विषयी व्यक्ति भीतर तत्त्व रूपी दूध का सेवन न करता हुआ पञ्चेन्द्रिय के विषय रूपी सड़े-गले खून का अनुभव करता रहता है। अतः विषयी व्यक्ति के लिए यह जोंक का उदाहरण दिया गया है। तब हमें ज्ञात हुआ कि **आचार्य कुन्दकुन्द भगवान्** क्या कहना चाहते हैं?

सौधर्म इन्द्र के तो जीवन में एक सेकंड को भी संयम नहीं होता जिस समय जो चाहिए उसे इच्छा से प्राप्त कर लेता है। यह ध्यान रखना पंचकल्याणकों में उसका मूल शरीर नहीं आता है किन्तु टू कॉपी विक्रिया से ही आता है। भगवान् के सामने ताण्डव नृत्य करते समय भी उसे भूख लग सकती है, वह भूख से छुटकारा नहीं पा सकता, उसकी पृथक् विक्रिया होती है जिसके माध्यम से वह इस ढंग से काम करता है कि आपको पता ही नहीं चलता। जैसे-जादूगर खेल दिखाने वाले बाजार में आपके सामने सिक्के आदि रख देता है, फिर थोड़ी ही देर में कहता है कि देखो-सिक्का गायब हो गया, इसी प्रकार देव के पास इतनी ऋद्धियाँ होती हैं कि वह अपने सब काम समय-समय पर करता रहता है लेकिन आपको लगता है कि यह तो रात-दिन भगवान् की चाकरी में लगा हुआ है, उनकी पेशी ही अलग है उनके चतुर्थ गुणस्थान के अलावा कुछ नहीं होता असंयमी के बारे में संवर-निर्जरा की बात ही मत पूछो उनके लिए तो जोंक का उदाहरण दिया। वहीं पर भगवान् के चरणों में है लेकिन उसे वहाँ पर वीतरागता का रस अनुभव में नहीं आता जैसे जोंक को दूध का स्वाद नहीं आ रहा है और इतना सड़ा गला खून पी रहा है, वहीं चिपका रह जाता है और मर जाता है, इन उदाहरणों को हमेशा याद रखा करो जिससे विषय पकड़ में आ जाये।

आप लोगों को बुरा लग रहा होगा कि क्षायिक सम्यग्दृष्टि को ऐसा क्यों कहा जा रहा है, मैं क्या करूँ? **आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी** स्वयं कह रहे हैं, मैं क्या कहूँ? सुन लो! बुरा नहीं मानना, आप लोग भगवान् के सामने खड़े हो जाते हैं लेकिन आपका मन कहाँ चला जाता है बताओ इसमें रहस्य

है कि नहीं? आप भगवान् के सामने खड़े हैं फिर भी मन कहीं चला गया, इसी प्रकार वह भी असंयमी है। असंयमी होकर भी ऐसी रहीसी का अनुभव कर रहा है, क्या सोच रहे हो? ऋद्धिधारी तो है ही वह इन्हीं ऋद्धियों के माध्यम से ही तो इन्द्र ने एक और नीलांजना दिखा दी। यहाँ जो तप के द्वारा ऋद्धि होती है वे विवक्षित नहीं हैं। सोचो! अवधिज्ञान से जान लिया कि आदिनाथ को घर से बाहर निकालने में कौन निमित्त पड़ सकता है? उस नीलांजना को पकड़ो जिसकी उम्र अन्तर्मुहूर्त हो जिससे नाचते ही नाचते वह मरण को प्राप्त हो जायेगी। इन्द्र, आदिनाथ को नृत्य दिखाना नहीं चाह रहा था किन्तु उसका मरण दिखाना चाहता था और ये बताना चाहता था कि अमर होकर भी वह मर रही है यह रहस्य आप लोगों को नहीं दिख रहा था, जो अवधिज्ञानी है या जो वैराग्य से युक्त हैं उनकी दृष्टि में दूसरी नीलांजना आती है। संसारी प्राणी बेहोशी में जी रहे हैं, रागादि में झुलस रहे हैं, आग लगी हुई है, दाह हो रही है, तभी तो वे खेल वाले सभी को खेल दिखाकर चले जाते हैं।

कल जो प्रसंग आया था वेद्य-वेदक भाव का, उस विषय में कर्म सिद्धान्त में आता है कि ज्ञानावरणादि आठ कर्मों में एक वेदनीय कर्म ही वेद्य है बाकी नहीं हैं यानि उनका अनुभाग हमारे दिमाग में नहीं आता, उनके द्वारा न सुख का अनुभव होता है न दुःख का, यहाँ प्रसंग में वेदन का अर्थ सुख या दुःख से लेना। आठ कर्मों में वेदनीय को छोड़कर कोई भी कर्म सुख-दुःख रूप वेदन में नहीं आते हैं इसलिए इसमें जो वेद्य-वेदक भाव घटाया है, उसमें भी जिस समय वेदक है उस समय वेद्य नहीं अर्थात् जिस समय वेद्य की ओर उपयोग ले जाते हैं तो अपने वेदक का अनुभव नहीं हो पाता और जब अपनी ओर आ जाते हैं, तो उस समय वेद्य का अनुभव नहीं हो सकता। ये क्रम हमेशा-हमेशा बना रहता है आठ कर्मों में भी केवल वेदनीय कर्म का वेदन है। सूत्र में कहा भी है— **सदसद्वेद्ये** अर्थात् साता-असाता दो ही वेद्य अर्थात् वेदन के योग्य हैं बाकी सभी निश्चय नय की विवक्षा में अवेदनीय यानि वेदन में नहीं आने योग्य हैं। आचार्यों का कहना है कि निश्चय की दृष्टि से कोई भी कर्म वेदन में नहीं आते हैं। संसारी प्राणी दुःख से छूटना चाहता है और सुख को प्राप्त करना चाहता है। जो कुछ भी आप करते हैं, वह सब सुख के लिए ही करते हैं और सुख का संवेदन जो होता है वह साता कर्म के उदय में ही हो सकता है, बाकी जितने भी कर्म हैं वे वेदन में आते ही नहीं। आप ये बताइये कि आयु कर्म का क्या वेदन कर रहे हैं? गति का क्या वेदन कर रहे हैं? जब कभी भी माइंड में आता है तो सुख या दुःख इसके अलावा कुछ नहीं, स्पर्श भी हो रहा है तो अच्छा या बुरा ये दो ही भाव सामने आते हैं, उसमें भी जो सुख है उसी का या जो दुःख है उसी का अनुभव करते हैं। मूल केन्द्र में तो ये सुख-दुःख दो ही रहते हैं। दस-बीस बच्चों में मुझे अच्छा कहा गया, तो उसी का अभिमान हो जाता है, उसमें सुख जैसा लगने लगता है अथवा मेरे पास यदि कोई वस्तु नहीं है तो उसका दुःख रहता है। सुख की अभिलाषा के साथ कुछ दिन व्यतीत करता है अथवा दुःख की अनुभूति के साथ कुछ दिन व्यतीत करता है। असाता का उदय आ जाता है तो दुःख का वेदन करता है और माला जपता है कि

दुःख हट जाये और सुख प्राप्त हो जाये यह क्रम चलता रहता है, इस प्रकार केन्द्र में वेदनीय ही सिद्ध होता है और यह अनुभूत बात है।

कोई भी व्यक्ति आकर आपसे यह नहीं पूछता कि आपकी आयु ठीक है? आपका नाम ठीक है इत्यादि किन्तु सुख साता है..ऐसा ही पूछते हैं उस वेदनीय से हटने के लिए यहाँ उपक्रम बताया है, हमेशा उस वेदनीय में राग-द्वेष होते चले जाते हैं इसलिए वहाँ से मन हटाकर इसमें लगाया जाता है ताकि उतने काल तक तो कम से कम सुख-दुःख का विकल्प ना रहे और जिसको सुख-दुःख का विकल्प नहीं है उसका सारा समय चिंतन में ही निकल जाता है। “**वीतरागात् भवेत् योगी**” यह निचोड़ है, अध्यात्म है, यदि वीतरागी है, तो ध्यान लगाने की आवश्यकता नहीं, वीतरागी स्वयं योगी होता है वह कुछ भी करे सब ध्यान के अन्तर्गत आ जाता है। जिसने वेदनीय कर्म से अपने आपके उपयोग को प्रभावित नहीं किया तो बस अब उसे कोई और आवश्यकता नहीं रहती। मोक्षमार्ग में आप लोगों के ऊपर कोई विशेष बोझ रखा है ऐसा तो है नहीं, केवल इतना है कि सुख में हर्ष और दुःख में विषाद मत करो, **मन की तरंग मार ले, बस हो गया भजन**, बाकी ये जितना भी है सब उसी के लिए है, मूल में केन्द्र क्या है? ये बताया गया है। संसारी प्राणी व्यर्थ की बातें तो करता ही है लेकिन अर्थ की बात इतनी ही है अर्थात् प्रयोजन की बात इतनी ही है कि केन्द्र में वेदनीय है इसके अलावा कुछ है ही नहीं “**सुखं इच्छति दुःखात् बिभेति जीवाः**”, पंडित दौलतराम जी भी कहते हैं— “**सुख चाहें दुःख तैं भयवन्त...।**”

कल यह नहीं कह पाया था कि **कर्मतापन्नं** ऑब्जेक्ट के रूप में आया है। अर्थात् साता-असाता का उदय आता है, यह कह रहे हैं। अपध्यानभूत, निष्प्रयोजनभूत, शरीरादि के विषयभूत जो पदार्थ हैं उन्हें छोड़कर ज्ञानी जीव उपयोग को शुद्धात्मा की आराधना में लगाये हुए रहता है वह इनसे कोई भी मतलब नहीं रखता। देखो! कारण के कारण जोड़ते चले जाओ उसमें अपना एक स्वार्थ जुड़ा हुआ रहता है। नौकर-चाकर से क्या लेना-देना? उनसे हमें क्या मिलेगा? ये पहले देख लो। वणिक वृत्ति यही कहलाती है कि पहले अपना लाभ देखो और हानि देख लो यदि प्रॉफिट (लाभ) नहीं है तो उस कार्य को छोड़ दो। मूल केन्द्र में अपने लिए क्या है? किसी का किसी से कुछ हो जाता है तो क्या होता है? उससे जो मिलना था, वो नहीं मिलता। कोई भी बड़ा व्यक्ति है, सेठ साहूकार है, मुनीम जी को बुखार आ गया, तो सेठ जी सोचते हैं कि अब कौन बैठेगा? हम तो जा नहीं सकते, मुनीम जी बीमार हैं तो एक-दो दिन, पन्द्रह दिन, महीना भर हो गया तो फिर सोचते हैं कि मुनीम जी बदल दो, दूसरे को लगा लो, जो वर्षों से मुनीम जी थे उन्हें बदल दो..बस। इसी प्रकार ज्ञानी जीव जो शरीर आदि के विषयभूत पदार्थ हैं, उनसे उपयोग को हटाकर या बदलकर शुद्धात्मा की आराधना में लगा देता है।

संस्मरण—एक व्यक्ति आया और बोला महाराज! क्या करें, ऐसी स्थिति है हमारी कि कल्याण

की बात सोच ही नहीं सकता। क्यों? क्यों नहीं सोच सकते? क्योंकि मैं बीमार हो जाता हूँ तो घर के लोग अस्पताल में भर्ती कर देते हैं। क्यों कर देते हैं? क्योंकि सेवा अथवा देख-रेख करने का उनके पास समय नहीं है। उनका समय कहाँ पर खर्च हो रहा है? क्या पता? आखिर क्या है ये सब? कहने का मतलब ये है कि कितना विपरीत वातावरण है, वह धर्मध्यान करे या उसका धर्मध्यान बना रहे यह सोचा ही नहीं जाता, वह तो तीन लोक के नाथ की सेवा भी स्वार्थ से करता है तो फिर घर की तो बात ही क्या? मंदिर में एक माली रख दो, पुजारी रख दो बस..। उसके केन्द्र में पैसा ही काम कर रहा है। भगवान् के पास स्वयं जायें, अपने हाथों से झाड़ू लगायें, पानी भरें, द्रव्य धोयें, पूजन सामग्री तैयार करें, फिर पूजन करें, तब तो सही आनन्द है यह ध्यान रखो कि भगवान् के दरबार में सौधर्म इन्द्र भी स्वयं झाड़ू लगाने तैयार हो जाता है, जिनके इशारे से समवसरण की रचना होती है वह सौधर्म इन्द्र, भगवान् बालक को लेने के लिए नौकर जैसे उठक-बैठक कर रहा है। इसलिए केन्द्र में जो वैभव है, वह छूटता नहीं, यही दुर्दशा है इस संसारी प्राणी की “वृत्ति हमेशा स्वाश्रित रहना चाहिए पराश्रित नहीं” अब यह बात अलग है कि कभी कोई रोग हो गया हो, बीमार हो गया हो लेकिन तब भी पराश्रित हो करके नहीं जीयें, तभी वह साधना काम में आयेगी तो यहाँ पर यह बात कही कि परमात्म तत्त्व को जानने वाला कभी भी भोगों की वांछ नहीं करता है, इसी का प्रतिपादन आगे की गाथा में किया जायेगा।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो रागादि रूप अध्यवसान भाव हैं वे सभी दुर्ध्यानात्मक हैं अतः संसार में निष्प्रयोजन बंध के कारण बनते हैं उनमें से जो शरीर के सम्बन्ध को लेकर भोग के निमित्त बनते हैं उन सभी भावों को परमात्म तत्त्व वेदी जीव कभी नहीं चाहता है—

**बंधुवभोगणिमित्तं अञ्जवसाणोदएसु णाणिस्स।
संसारदेहविसएसु णेव उपज्जदे रागो ॥२१४॥**

अन्वयार्थ—(संसारदेहविसएसु) संसार एवं शरीर सम्बन्धी विषयों में (बंधुवभोग-णिमित्तं) बंध और उपभोग के निमित्तभूत (अञ्जवसाणोदएसु) अध्यवसान के उदयों में (णाणिस्स) ज्ञानी के (रागो) रागं (णेव उपज्जदे) उत्पन्न नहीं होता।

अर्थ—बंध व उपभोग के निमित्तभूत, ऐसे दो प्रकार के अध्यवसाय के उदय होते हैं जो कि संसार और देह विषयक होते हैं उनमें ज्ञानी जीव के कभी राग पैदा नहीं होता।

संसार-काय, विधिबंधन भोग द्वारा,
धारा प्रवाह चलते जग में सुचारा।
ज्ञानी तभी मुनि करें उनमें न प्रीति,
आश्चर्य क्या? जब हुई निज की प्रतीति ॥२१४॥

व्याख्या—बन्ध व उपभोग के निमित्तभूत ऐसे दो प्रकार के अध्यवसाय के उदय होते हैं जो कि

संसार और देह विषयक होते हैं उनमें ज्ञानी जीव के कभी राग पैदा नहीं होता। ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध अलग है और राग का सम्बन्ध अलग है। संसार और देह विषयक पदार्थों में अज्ञानी को राग इसलिए होता है कि वह उनमें स्वामित्व के साथ चलता है ज्ञानी को इसमें राग-द्वेष नहीं होता है क्योंकि वह उनमें स्वामित्व भाव नहीं रखता है। भोग सामग्री का आप अपने को स्वामी नहीं मानेंगे तो राग उत्पन्न होगा ही नहीं इसलिए स्वामित्व भाव को छोड़ दो मैं उसका स्वामी नहीं हूँ, भीतर से भी और बाहर से भी ऐसा सोचो, नहीं तो आपको एक-एक पाई सम्बन्धी बंध होगा, इसलिए सब कुछ बच्चों के नाम कर डालो। स्वयं आप हस्ताक्षर नहीं भी कर रहे तो भी जिस रूप में आप उसे स्वीकारते हैं भले पार्टनरशिप (भागीदारी) है तो भी उस सम्बन्धी बंध होगा, जब तक आप उसका बुद्धिपूर्वक त्याग नहीं करेंगे तब तक बंध तो होगा। महाराज! आज कल के बच्चे ऐसे हैं कि हमें ही बाहर निकाल दें तो... वे आपसे काम भी लेंगे और वहाँ रह करके भी आप की देख-रेख नहीं करेंगे तो बताओ क्या है ये सब? निरुपयोगी समझ लिया है माँ-बाप को...बड़ा वैचित्र्य है।

देखो! क्या दुर्दशा है?—इतिहास से ज्ञात होता है कि यदि क्षत्रिय है तो वह घर में नहीं रहता, रह गया तो कुणिक जैसे जेल में बंद कर दिया जाता है। भावी तीर्थंकर श्रेणिक को जेल में रखा उसके पुत्र कुणिक ने। देखो! यह पढ़ो न...। तीन लोक के नाथ! भरत क्षेत्र के भावी तीर्थ प्रवर्तक होंगे और आज अपने पुत्र के द्वारा जेल में बंद हैं। देखो! क्या दुर्दशा हो गयी? बहुत वैचित्र्य है इसलिए ज्ञानी जीव बंध के निमित्त, भोग के निमित्त संसार देह के विषय में जो अध्यवसाय है उनमें राग नहीं करता है। आपको रागद्वेष क्यों होते हैं? उसके पीछे क्या कारण है? मुझे बताओ...। मन को अच्छा लगे और इन्द्रिय को अच्छा न लगे ऐसा है क्या? ज्ञानी के मन को अच्छा नहीं लगता है, पाँचों इन्द्रियों के विषयों के वे त्यागी हो जाते हैं फिर भी उनके मन को ये अच्छे क्यों लगते हैं? हमें कुछ समझ में नहीं आता।

जिज्ञासा—जिस चीज का त्याग कर दिया उस तरफ देखते ही नहीं लेकिन फिर भी मन को अच्छा क्यों लगता है? इन्द्रियों को क्यों नहीं?

समाधान—बात यह है कि पाँचों इन्द्रियों को कोई भी चीज न अच्छी लगती है न बुरी, अच्छा-बुरा ये तो सब मन की प्रणाली है, अध्यवसाय क्यों होते हैं? उसके केन्द्र में क्या है? तो मन ही है। जिह्वा स्वाद लेती है लेकिन उसमें अच्छा या बुरा लगना मन का कार्य होता है अन्यथा नाक टेड़ी क्यों हो जाती है? बताओ। तो नाक को कह दिया मन ने किन्तु घोषित कर दे यह ठीक नहीं है, नहीं तो नाक टेड़ी क्यों हुई बताओ तो सही, ये क्या है? यह इन्द्रिय विजय नहीं है। विचार करो, सोचो?

संसारी प्राणी का अध्यवसान भाव संसार-देह विषयों में चलता ही रहता है, अब ज्ञानी की बात करो, कौन ज्ञानी रह गया? उबलने वाला ज्ञानी कैसे होगा? ज्ञानी में उबाल नहीं है, तो किसमें है? आचार्य कहते हैं कि भोक्तृत्व, कर्तृत्व व स्वामित्व ये गौण मुख्य भले ही हों, केन्द्र में भोक्तृत्व, कर्तृत्व तथा मानसिक व पाँच इन्द्रिय सम्बन्धी स्वामित्व रहता है तो वह छूटता नहीं, वही बात यहाँ कही जा

रही है कि अध्यवसान भले ही उत्पन्न हो क्योंकि गुणस्थान के अनुसार कषाय का उदय तो होगा ही लेकिन स्वसंवेदन ज्ञानी को राग कभी नहीं होता क्योंकि बंध के निमित्तभूत जो भाव है उनसे वह बचता रहता है अर्थात् कर्म उदय में आने पर भी संयम के माध्यम से वह संसार भोग विषयों में रागादि नहीं करता है। अन्यथा कर्म का उदय हठात् उसे राग करा ही दे, तो कोई रास्ता ही नहीं मिलेगा। कुछ प्रशिक्षण ऐसे कराये जाते हैं जिससे हम बहुत कुछ बच जाते हैं प्रशिक्षण लेने के उपरान्त भी यदि ऊपर-ऊपर से बचते हैं भीतर से नहीं बचते हैं तो वह प्रशिक्षण सही नहीं माना जायेगा। यदि प्रशिक्षण सही मिला हो तो वह राग नहीं करता बिना प्रयोजन जो बंध होता जाता है उससे वह बचता ही रहता है।

दृष्टान्त—जैसे—आपने किसी को फोन किया, उससे आधा घंटे तक बात की, आपको समय का पता ही नहीं चला और जब सामने बिल आता है तो दिमाग बिल में घुस जाता है। अरे! अब हरे-हरे नोट देओ, नहीं देते हैं तो वेतन में से उतना काट लेंगे। वह व्यक्ति ये नहीं समझ पा रहा है कि वेतन कट क्यों गया। आपने पहले तो बताया नहीं था, पहले से बता देते तो हम सावधान रहते, इस प्रकार वे लोग फिर भी नियंत्रण में रहते हैं लेकिन संसारी प्राणी तो भोग भोगता चला जाता है लेकिन जिस समय बिल सामने आता है कि तुम्हें बिल चुकाने के लिए वहाँ नरक में जाना है तो कहता है पहले आपने क्यों नहीं बताया अब नरक के बिलों में जाओ। ये बंध छूट नहीं सकता इस बात को ज्ञानी जानता है इसलिए हमेशा-हमेशा इससे बचता ही रहता है।

आज के युग में “ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्” का कार्य चल रहा है, आगे का क्या होगा? बच्चे करेंगे ये कहना तो व्यवहार है व्यवहार में तो चल जायेगा लेकिन निश्चय में तो हमने जो कर्म किये हैं वे हमको ही भोगना पड़ेंगे यह निश्चय है तो बहुत सोच समझ करके एक-एक शब्द बोलता है वह बनती कोशिश क्रिया पद को पूर्ण नहीं करता। कम सुनने के उपरान्त भी सामने वाला ये नहीं कहता कि ऐसा क्यों कर रहे हो? क्योंकि उसको इसके लिए भी बिल लग जाता है। इसी प्रकार मन, वचन, काय की चेष्टा को वह सावधानी से करता है क्योंकि उसके द्वारा बंध निश्चित है। यहाँ यह तात्पर्य है कि भोग के निमित्त वह बहुत कम पाप करता है लेकिन यह जीव निष्प्रयोजन अपध्यान के माध्यम से बहुत पाप कमा लेता है। भगवान् के चरणों में भी बैठे-बैठे शालीमत्स्य के समान कहाँ-कहाँ का ध्यान कर लेता है पता ही नहीं चलता। गृहस्थ एकदेश पापों को त्याग करता है इसका मतलब यह नहीं कि हमेशा-हमेशा पाप ही करता हो क्योंकि उसे भी ये ज्ञान है अतः संयम रखता है लेकिन जो उसको भूल जाता है वह तंदुल मत्स्य की तरह रात-दिन पाप करता जाता है और निष्प्रयोजन कार्य करता रहता है जिससे कि कोई ताल्लुक नहीं होता। बंध कैसा कहाँ कर लिया यह तो जब उदय में कर्म आता है तब पता चलता है फिर रोता है कि महाराज! ऐसे कौन से कर्म का उदय है जो इस प्रकार अनुभव में आ रहा है। जो आप चाहते हैं उसमें बाधा उपस्थित करने वाला कर्म का उदय है वह आशीर्वाद से कैसे नष्ट होगा? क्योंकि वही-वही किया जा रहा है राउंड वाला रास्ता है, राउंड में/ सर्किल

में जो रास्ता होता है वह कभी समाप्त नहीं होता और मोक्ष मार्ग घिरावदार नहीं है किन्तु सीधा है भले ही लंबा जैसा लगता है लेकिन ज्यादा लंबा नहीं है घिराव में ज्यादा लंबापन है। वह कहता है कि हमने किसको मारा था, हमने क्या किया था? **सेवंतो वि ण सेवदि...** प्राकरणिक हो जाता है। देख लो बैठे-बैठे निष्प्रयोजन कितने अपध्यान होते हैं और दो-तीन व्यक्ति बैठ जायें तो बातों में तो कितना समय यूँ ही निकल जाता है रात-रात बीत जाती है उत्कृष्ट सामायिक करना हो तो पीठ में, कमर में, सिर में दर्द हो जाता है लेकिन बातें करते समय दर्द कहाँ चला जाता है पता ही नहीं चलता है।

“**अपध्यान में समय मत खोओ**” वह भी ध्यान तो है लेकिन रौद्रध्यान है। जैनागम में अपध्यान का लक्षण ऐसा कहा गया है कि—

वधबन्धच्छेदादे - द्वेषाद्रागाच्चपरकलत्रादेः।

आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः॥

अर्थात् किसी भी प्रकार के वैर के कारण या अपने विषय साधने, राग के वश होकर दूसरों के स्त्री, पुत्र आदि को बांधना, मार डालना या नाक आदि छेद डालना आदि का चिंतन करना उसको जिनशासन में प्रवीण लोगों ने अपध्यान कहा गया है इससे यह जीव घोर कर्म बंध करता है। राग या द्वेष से किसी के बध-बंधन आदि के बारे में सोचना अपध्यान है अपने प्रियजनों के लिए क्षेम हो और वैरी है उसके यहाँ क्षोभ हो यह सोचना भी अपध्यान है। वैरी नहीं हो तो भी निष्प्रयोजन किसी के बारे में राग-द्वेष से कुछ भी सोचना यह अपध्यान है और इससे कर्म बंध होता है। “**कोर्स की किताब बार-बार पढ़ाने के उपरान्त भी नहीं पढ़ता है और ‘आउट ऑफ कोर्स’ की बात को बिना कहे ही पढ़ता चला जाता है तथा बहुत कुछ याद रखता है और जो कोर्स की बात है जिसके बारे में संकल्प लिया था कि मैं यह नहीं करूँगा उसको भी भूल जाता है। व्रत लेना दुर्लभ तो है ही लेकिन व्रत का निर्दोष पालन करना और दुर्लभ है।**” जो ओवर कॉन्फीडेंस (अति विश्वास) से चलता है उसे लगता है कि मैं सोलहवीं क्लास तक भागता हुआ चला जाऊँगा लेकिन जब हिम्मत हार जाता है तो कहता है कि अभी और कितनी कक्षाएँ हैं दिनों-दिन त्रस्त होता जाता है जबकि पहले तो सहज ही सब कुछ होता था।

दृष्टान्त—सनराइज और सनसेट की फोटो तो सभी ले लेते हैं लेकिन बारह बजे का सूर्य जब सिर पर रहता है उसका कोई फोटो नहीं लेते क्योंकि वह दुर्लभ है, कठिन है। उसी प्रकार तप-संयम का पालन करना पहले तो ऐसा लगता है कि हम कर लेंगे-हम कर लेंगे, लेकिन फिर बाद में कठिन हो जाता है और वह कठिन उसके लिए होता है जो लक्ष्य को ध्यान में नहीं रख पाता है। अपध्यान से घोर पाप बंध होता है इसके लिए लिखा भी है कि—

संकल्प कल्पतरु संश्रयणात् त्वदीयं, चेतो निमज्जति मनोरथसागरेऽस्मिन्।

तत्रार्थतस्तव चकास्ति न किञ्चनापि, पक्षः परं भवसि कल्मषसंश्रयस्य॥

यह बहुत अच्छी कारिका है कहा भी है—संकल्प-विकल्प रूपी कल्पवृक्ष आपके मन में लगा हुआ है उससे आप जैसा चाहो वैसा फल प्राप्त कर सकते हो अतः चित्त झम्पापात करता रहता है, बैठे-बैठे योजना बनती रहती है मकड़ी जैसे जाल बुनते ही रहता है रात-दिन रौद्रध्यान में लगा रहता है उसमें आपको कुछ भी सुख नहीं है किन्तु पाप का ही भार और बढ़ता चला जाता है जैसे दरिद्रता में ऋण बढ़ता चला जाता है उसका ब्याज बढ़ता ही चला जाता है तो वह निश्चित हो जाता है कि इस जीवन में ब्याज भी पूर्ण नहीं भर पा रहा है तो मूलधन तो कभी चुका ही नहीं पायेगा। वह दिवालिया घोषित हो जाता है दिवालिया का अर्थ क्या होता है? जानते हो दिवालिया अर्थात् दिन में देहरी पर दीपक रख करके और दुकान बंद करके ताला लगा दिया जाता है तो सब लोग समझ जाते हैं कि ये दिवालिया हो गया है फिर इससे कोई कुछ माँगेगा नहीं। दक्षिण में तो सुना है ऐसा ही होता है उसकी दुकान पर ताला लगा मिलेगा और वह जहाँ जायेगा उसे देखकर सब समझ जाते हैं कि दिवालिया हो गया। कोई उस दुकान का ताला यदि खोलेगा तो कुछ मिलेगा भी नहीं। **दौर्विध्यदग्ध-मनसोऽन्तरुपात्तभुक्ते, श्चित्तं यथोल्लसति ते स्फुरितान्तरंगम्।** अर्थात् दुर्भाग्य से जिसका मन विचलित हो गया या दग्ध हो गया झुलस गया है, तो वह भीतर ही भीतर प्रज्वलित अग्नि के समान है, अवा के समान है बाहर से कुछ नहीं दिखता। यदि उसी प्रकार हमारे भीतर परमात्म तत्त्व का दीपक जल जाये तो फिर क्या कहना?

सौभाग्यशाली कौन? सौभाग्यशाली तो वह होगा जिसके मन में परमात्मतत्त्व के बारे में बुद्धि काम कर रही है और दुर्भाग्य की बात ये होगी कि इतना ज्ञान, वैभव, मनुष्य पर्याय मिलने के बाद भी दुर्ध्यान करता है। दुर्लभ क्या है? तो परमात्म तत्त्व के बारे में सोचना दुर्लभ है, तत्त्व से तत्त्वांतर का सोचते हैं जिसका कोई प्रयोजन ही नहीं रहता है। आचार्य कहते हैं प्रयोजनभूत तत्त्व का चिंतन सम्यग्दर्शन का विषय बन सकता है, सात तत्त्व के बारे में सोचा लेकिन आत्म तत्त्व के बारे में नहीं सोचा तो उसका कोई महत्त्व नहीं है ये तो अभव्य भी कर लेता है। ग्यारह अंग तक का ज्ञान तो मिथ्यादृष्टि भी कर लेता है, दसवें पूर्व तक तो वह भी पहुँच जायेगा। सात-तत्त्व में भी आत्मतत्त्व मुख्य है प्रयोजन भूत है क्योंकि मुक्ति जीव को ही मिलती है। हम जीव तो हैं लेकिन दूसरों के बारे में सोच रहे हैं तो ये गलत हो जाता है अन्यत्र भी यही बात कही है कि “दूसरे के बारे में जितना चिंतन करते हो उतना ही यदि अपने उद्धार के बारे में चिंतन करते तो आज तक कल्याण हो जाता लेकिन ऐसा होता ही नहीं है। यह तभी हो सकता है जब अपना जीवन सफल बनाने का लक्ष्य हो।” और सफलता तभी है जब हम **परमात्म तत्त्व के बारे में ही बुद्धि का प्रयोग करते हैं** इसलिए आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने शुरूआत में ही कह दिया कि “**णवरिण सुलभो विहत्तस्स**”... अर्थात् एकत्व-विभक्त रूप जो आत्मा की कथा है यही तीन लोक में सबसे ज्यादा दुर्लभतम है इसके आगे कुछ नहीं। धन्य है वे साधक जो अपना प्रत्येक पल शुद्धात्म तत्त्व की अनुभूति में निकालते हैं उनका भविष्य

लाइटनेस (प्रकाशमय) होता है अर्थात् बहुत उज्ज्वल होता है। उज्ज्वलता का प्रतीक यही है कि वह विषय कषायों में बुद्धि को खर्च न कर उस बुद्धि का प्रयोग शुद्धात्म तत्त्व के विषय में कर रहा है। वर्तमान में बाहरी दृष्टि से भले ही वह दरिद्र हो किन्तु उसका भविष्य इतना वैभव-सम्पन्न होगा कि उसे माप नहीं सकेंगे क्योंकि वर्तमान में उसकी दृष्टि विषयों की ओर न होकर सही स्वरूप क्या है? उस ओर लगी हुई है।

किससे मेरा भविष्य उज्ज्वल बनने वाला है, सुख-शांतिमय बनने वाला है जो व्यक्ति ऐसा तत्त्वज्ञान के माध्यम से सोचता रहता है वही व्यक्ति स्व और पर के बारे में कुछ कर सकता है, लेकिन जिसका आपाधापी में मन लगा हुआ है, कषायों में मन उलझा हुआ है वह न स्व के बारे में कुछ कर सकेगा और न पर के बारे में। कषायवान् व्यक्ति मोक्षमार्ग में, तीन काल में स्व पर कल्याण कर ही नहीं सकता। वर्तमान में दुःख का वेदन करते हुए भी मार्ग तो यही है इसका संवेदन करता है तो आनन्द आता है। संसार से बाहर निकलने का यही एक मार्ग है, उसको यह जो अकाट्य श्रद्धान हो गया उसी की वजह से सब कर्तव्यों को करता है और उससे आगे का भविष्य निखरता चला जाता है इस प्रकार लाखों, करोड़ों, अरबों जीवों का तीर्थकरों के चरणों में कल्याण हो जाता है। मार्ग और कोई दूसरा है ही नहीं ऐसा सोचकर वो चलते हैं। यदि कोई दूसरा व्यक्ति कह देता है कि इधर से नहीं उधर से चलो तो वह कहता है तुमको भी आज नहीं तो कल इसी रास्ते से आना होगा। आज तक जो गये हैं वो भी इसी रास्ते से गये हैं फिर सीधा रास्ता छोड़कर क्यों लंबा रास्ता चलें ? किसी के कहने पर लगता है उधर ही चले जायेंगे लेकिन नहीं, ऐसा होता नहीं, वे साधक वास्तव में दृढ़ रहते हैं चढ़ते समय चढ़ जाते हैं उस समय गोड़ों-घुटनों में उतना दर्द नहीं होता जितना कि दर्द इस समय होता है।

देखो! महाराज आचार्य ज्ञानसागर जी ने लिखा है कि अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्पों में फँसकर तुम्हारा प्रयोजन कुछ सिद्ध नहीं होता उससे मात्र पाप का ही बंध करता है। हे भाई! इस शब्द के बिना उनका प्रवचन प्रारंभ ही नहीं होता था, **आचार शास्त्र** में भी लिखा है—

कंखदि-कलुसिद-भूदो, दु कामभोगेहिं मुच्छिदो संतो ।

ण य भुंजंतो भोगे बंधदि भावेण कम्माणि॥

अर्थात् कलुषित परिणामों से युक्त होता है तो आकांक्षा करता है, काम भोगों से सहित होता हुआ पुनः उसी की आकांक्षा करता है मन में कलुषित भाव हो गया तो उसका भोग करो या न करो बंध तो होता ही है।

दृष्टान्त—जैसे—माइनस मार्किंग होती है न! कि गलत पर निशान लगाया तो एक नम्बर और कट गया। मान लो आपको चार नम्बर मिलना थे लेकिन तीन जगह गलत टिक लगा दी तो तीन नम्बर कट जायेंगे इसलिए अपध्यान को त्याग कर शुद्धात्म तत्त्व के ध्यान में लग जाना चाहिए अन्यथा नम्बर कटते चले जायेंगे। भोगने से उतना बंध नहीं होता जितना भाव कर-करके बंध करता जाता है। मन

लग रहा है तो बंध है, मन नहीं लग रहा है और मात्र वचनों में है तो बंध कथञ्चित् नहीं भी होगा। जैसे किसी ने पूछा—आपने मारा है? तो वह कहता है हाँ, क्यों? क्यों मारा है? ये पूछा तो कहता है उनके कहने से मारा तो पड़ोसी जिसने मरवाया उसे पकड़ा जाता है, कुछ लोग बैठे-बैठे सलाह करते रहते हैं और दूसरे फँस जाते हैं, मन की अपेक्षा वचन में आने पर बंध कम होता है और उससे कम मात्र काय में आने पर होता है। तात्पर्य यह है कि मन के द्वारा बंध अधिक होता है अतः मन पर नियंत्रण रखो।

तत्त्वार्थसूत्र के छठवें अध्याय में एक सूत्र आया है **तीव्रमन्दज्ञाताज्ञात-भावाधिकरण-वीर्यविशेषेभ्यस्तद् विशेषः** इसमें सब कुछ आ गया, अपध्यान क्या है मिथ्यात्व रागादि है। त्यागी, तपस्वी रागादि से शोभित नहीं होते, उसमें उनकी शोभा नहीं होती किन्तु उनकी निष्कषाय भावों में शोभा होती है, कषाय भावों के साथ नहीं। जीव जितने भव्य परिणाम से युक्त हो उसका वातावरण उतना ही शान्त रहता है इसी में क्षण गुजरना चाहिए। यदि आप लोग जैसे घर में बातचीत का वातावरण रहता है वैसा ही मंदिर में बनाओगे तो घर और मंदिर में कोई अन्तर नहीं रहेगा। आज कल बच्चे कहने लगते हैं कि घर में एकाध कमरे में फिर भी शांति मिल जाती है लेकिन मंदिर में तो इतना हल्ला होता रहता है कि मन ही नहीं लगता। एकांत ही नहीं मिलता इसलिए आप लोगों को सोचना चाहिए। मंदिर में आ गये इसका मतलब ये नहीं आप कुछ भी करते रहो कर्म कटते रहेंगे, पुण्य बंध होता रहेगा, इस भूल में मत रहना क्योंकि ऐसा नहीं होता। अतः मंदिर में वैसा वातावरण बनाये रखना चाहिए जिससे पाप कर्म कटें और पुण्य का बंध हो। कई स्थान जैसे महावीरजी, पदमपुराजी, शिखरजी आदि में चहल-पहल बहुत रहती है लेकिन जो वहाँ पर अपने मन को शान्त रखता है, विशुद्ध करता है वही कर्म काट सकता है और वही पुण्य कर सकता है।

उत्थानिका—अब मिथ्यात्व आदि मेरा परिग्रह नहीं है और भेद ज्ञान शक्ति वह वैराग्य शक्ति की महिमा प्रकट करते हैं—

मज्झं परिग्गहो जदि तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज।

णादेव अहं जम्हा तम्हा ण परिग्गहो मज्झं ॥२१५॥

अन्वयार्थ—(जदि) यदि (मज्झं) मेरा द्रव्य (परिग्गहो) परिग्रह हो (तदो) तो (अहमजीवदं तु) मैं भी अजीवत्व को (गच्छेज्ज) प्राप्त हो जाऊँ (जम्हा) चूँकि (अहं) मैं तो (णादेव) ज्ञानी ही हूँ (तम्हा) इस कारण (मज्झं) मेरा (परिग्गहो ण) द्रव्य परिग्रह नहीं है।

अर्थ— यदि यह शरीरादि पर द्रव्य भी मेरा परिग्रह हो जाये तो फिर मैं भी अजीवपने को प्राप्त हो जाऊँ, किन्तु मैं तो ज्ञाता ही हूँ इसलिए यह सब कुछ मेरा परिग्रह नहीं है।

देहादि को यदि मदीय मनो! कहूँगा,

निःशंक चेतन, अचेतन मैं बनूँगा।

मैं तो सचेतन निकेतन हो तना हूँ?
मेरा नहीं पर परिग्रह, मैं बना हूँ ॥२१५॥

व्याख्या— मैं केवलज्ञान और दर्शन स्वभाव वाला हूँ मिथ्यात्व रागादिक शरीरादि परिग्रह मेरा नहीं है क्योंकि यदि यह शरीरादिक पर द्रव्य भी मेरा परिग्रह हो जाये तो फिर मैं भी उनके समान अजीवपने को प्राप्त हो जाऊँगा, किन्तु मैं तो ज्ञाता दृष्टा ही हूँ इसलिए ये सब कुछ मेरा परिग्रह नहीं है। मैं तो ज्ञान दर्शन स्वभाव वाला हूँ। जड़ आपका स्वभाव नहीं है, जो स्वभाव नहीं है वह आपका हो नहीं सकता यह श्रद्धान अकाट्य होना चाहिए। आज तक ज्ञान-दर्शन में आपस में कलह नहीं हुआ किन्तु रागादिक के कारण जड़ पदार्थ के प्रति जीव यह मेरा है, यह तेरा है इसी चक्कर में रात-दिन निकालता रहता है सोचो, ऐसा करेगा तो क्या होगा? **आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी** कहते हैं कि—तुम अजीव बन जाओगे इसी का नाम मूर्च्छा है, मूर्च्छा में कौन किसका है? ये ज्ञात नहीं होता है, स्वयं मैं कौन हूँ, दूसरा कौन है? यह भी ज्ञात नहीं होता, मूर्च्छा तो मूर्च्छा है अतः यह मेरा है, ऐसा कहेगा तो स्वयं अजीव हो जायेगा किन्तु मैं जानने वाला ज्ञाता हूँ, ऐसा जान लो। तिल-तुष मात्र भी मेरा परिग्रह नहीं है। यह तो बाहरी परिग्रह की बात हुई किन्तु भीतरी परिग्रह के बारे में भी सोचना चाहिए। जैसे—ये मेरा सम्यग्दर्शन है यह मेरा ज्ञान है, इसके बारे में भी जब हम वास्तव में सोचते हैं तो यह भी नैमित्तिक भाव हैं क्योंकि ये भी कर्मों के उदय में क्षयोपशम से प्राप्त होते हैं। ये मेरे स्वभाव नहीं हो सकते लेकिन इस ओर दृष्टि कहाँ जाती है। इसलिए जिस निमित्त से कषाएँ होती हैं उसके बारे में बार-बार सोचना चाहिए कि यह मेरे लिए घातक है। यह मेरे लिए घातक है कि नहीं? बोलो। लेकिन ऐसा सोचा क्यों नहीं जाता? जिसको हम हितु समझते हैं कि ये अपना है उसे भी आचार्य कहते हैं कि जिसके द्वारा मूर्च्छा होती हो, स्वभाव से च्युत हो जाते हो, उनसे तो पहले ही बचना चाहिए और उनको अपना हितु नहीं समझना चाहिए, स्वयं बचें और दूसरों को भी बचाने का संकेत दे देना चाहिए। यदि वह नहीं बचता है तो कोई बाधा नहीं स्वयं को तो बच ही जाना चाहिए। स्वयं बच जायेंगे तो दूसरा भी सोच सकता है कि इन्होंने बार-बार हमें संकेत दिए थे, कि मुझे ये नहीं करना चाहिए, फिर भी मैंने उनकी बात नहीं मानी, बाद में उन्होंने कहना ही बंद कर दिया, ये भी तो ठीक नहीं किया वह ये नहीं सोचता कि उनके बार-बार कहने के उपरान्त भी मैंने उस बारे में सोचा तक नहीं, अब कहने का अर्थ भी क्या निकलेगा? कहने वाले को भी कलुषित भाव होते होंगे, क्योंकि समय निकाल कर कुछ कह दें और उस बात पर सामने वाला गौर ही न करे, तो क्या बीतती होगी? सोचना चाहिए कि उन्होंने कहा है तो उनके मन को रख लो, लेकिन हम कुछ सोचते ही नहीं, अब हमने कहना बंद कर दिया तो कहते हैं कि महाराज! आज कल तो आप कुछ कहते नहीं, कल तो कहा था, आज नहीं कहा तो क्या हुआ? उन्हें अच्छा ही नहीं लगता, यह इनके चेहरे से ही ज्ञात हो जाता है, एक ही दृष्टि में मालूम हो जाता है कि हमारा कहना कहाँ तक असर कर रहा है। इसलिए मैं भी विराम ले लेता हूँ।

अब हम सोचते हैं कि वहाँ पर रिएक्शन हो रहा है और हम कहते चले जायें ये तो ठीक नहीं। वहाँ पर प्रसन्नचित्त थे और यहाँ पर आये तो प्रसन्नता ही गायब हो गई, यह जब बिल्कुल ही खुल्लम-खुल्ला दिख जाता है तो फिर क्या कहें? बताओ। कहते समय कहने वाले को बुरा लग जाये कि देखो! सामने वाला इसका उपयोग ही नहीं कर रहा है और हमारे उपयोग के जो क्षण थे, वह भी निकल गये तो फिर क्या होगा? सामने वाला कुछ कर ही नहीं रहा और हम कहते ही चलें जायें, यह ठीक नहीं है। आप ही बताइये कि मास्टर को पढ़ना है कि विद्यार्थी को? विद्यार्थी हमेशा हड़ताल में समय बिता रहा है तो मास्टर भी सोचता है कि हमें भी अब हड़ताल करना चाहिए। करुणा के सागर तो हैं लेकिन सामने कठोर सागर है तो क्या मतलब कहने से? वहाँ पर विपरीतता है तो कैसे करें? बहुत वैचित्र्य है। दवाई का प्रयोग करें तो कैसे करें? सुँघवा दें तो सुँघना नहीं चाहता, चटवा दें तो चाटना नहीं चाहता, दिखवा दें तो देखना नहीं चाहता, सब रास्ते बंद हैं, यहाँ तक कि मुख में डाल दें तो थूक देता है। दूध को दही बना देता है अब कैसे क्या करें? बताओ, उसका उपयोग हो ही नहीं रहा है।

इसलिए आचार्य कहते हैं कि अब तो कम से कम परिग्रह को जड़ समझो। जड़ को लेओगे तो निश्चित रूप से चित्त चैतन्य में नहीं रहेगा और वह उसमें घुल-मिल जायेगा। गाफिल हो जायेगा, अंधे को फिर भी रास्ता दिख सकता है लेकिन जो गाफिल हो जाता है उसे रास्ता नहीं दिखता। मैदान साफ-साफ है लेकिन कुछ दिख नहीं रहा, उससे कहते हैं कि चलो न! तो कहता है कुछ नहीं दिख रहा, जबकि वह देख ही नहीं रहा किन्तु घूम रहा है और जब मन की बात हो जाती है, मन के अनुकूल हो जाता है तो फिर सब दिखने लग जाता है। वह दृष्टि कहाँ चली गई थी? दृष्टि तो यही थी, निर्दोष दृष्टि थी लेकिन दृष्टा चला गया, जहाँ पर मन लग गया वहाँ पर चला गया। इसलिए आचार्य कहते हैं कि चारों ओर विषयों से भरा हुआ परिसर क्यों न हो फिर भी अध्यात्म दृष्टि को जो प्राप्त हो जाता है वह व्यक्ति उसमें रच-पच नहीं पाता है। कोई अस्सी वर्ष का वृद्ध हो गया फिर भी गाफिल हो सकता है और आठ वर्ष का बालक है फिर भी सही रास्ता चुन सकता है। यह तो दृष्टि का फेर है।

यदि आप यह परिग्रह मानकर सुन रहे हैं तो परिग्रह का अर्थ क्या है कि **परि आ-समन्तात् ग्रहणं परिग्रहणं** अर्थात् इसको ग्रहण के रूप में सुन रहे थे, कि मूर्च्छा के रूप में? प्रश्न करने के रूप में सुन रहे हैं तो परिग्रह है, यदि निर्विकार भाव से सुन रहे हैं तो निश्चित बात है कि प्रश्न उठ ही नहीं सकता। किस ढंग से हम स्वीकारते हैं इसकी विधायें बहुत प्रकार की होती हैं। कुछ लोगों को उत्तर नहीं आता लेकिन कुछ लोगों को प्रश्न करना इतना अच्छा आता है कि उत्तर देने वाला सोचता है कि किस ढंग से इन्होंने प्रश्न बनाया? जिस प्रकार प्रश्न बनाने में इनका उपयोग चलता है वैसा उत्तर बनाने में क्यों नहीं चलता? क्षयोपशम की विभिन्न दशायें हैं प्रश्नमति अर्थात् ईहामतिज्ञानावरण का क्षयोपशम जिसको ज्यादा होता है वह अच्छे प्रश्न करता है। बहुत अद्भुत है इसलिए आचार्यों ने कहा है कि शब्दों को सुन करके अर्थ की ओर दृष्टि जाना यह श्रुतज्ञान का विषय है।

हम अपने अनुरूप अर्थ निकालते हैं तो परिग्रह हो जाता है और शास्त्रों के अनुसार अर्थ निकालते हैं तो हमारे लिए बहुत महत्त्वपूर्ण चीज मानी जाती है। शब्दों को परिग्रह तो कहा ही है इसमें कोई संदेह नहीं। यदि ऐसा नहीं होता तो सर्वाधिकार सुरक्षित क्यों लिखते? यहाँ अर्थ को कभी किसी ने सर्वाधिकार सुरक्षित नहीं कहा क्योंकि अर्थ पकड़ में आता ही नहीं, यदि अर्थ की व्याख्या करेंगे तो भी शब्द ही लिखने में आयेंगे। शब्द के द्वारा ही आप उसे कहेंगे, इसलिए सर्वाधिकार सुरक्षित शब्द ही हुआ, अर्थ तो हमेशा-हमेशा चिपकता नहीं, हाँ जो अर्थ अपने अनुकूल होता है वही चिपकता है।

पर पदार्थ को मेरा है ये कहा नहीं कि जीव अचेतनवत् हो गया। अचेतन का अर्थ जड़ हो गया यानि समझदार नहीं रहा। ये इसका तात्पर्य है, लेकिन जो अपना स्वरूप नहीं छोड़ता है वही वास्तव में समझदार है, उसे ज्ञात है कि यदि ज्ञान-दर्शन स्वभाव को छोड़कर मिथ्वात्वादि मेरे होंगे तो मैं अचेतन हो जाऊँगा क्योंकि परमात्मज्ञान पद को छोड़ कर और कोई परद्रव्य मेरा हो ही नहीं सकता, इस प्रकार हमेशा-हमेशा यह बात उपयोग में लाना चाहिए। परद्रव्य तो परद्रव्य में ही रहते हैं लेकिन ज्ञान में यह फितूरी आ जाती है कि यह मेरा है। पेंसिल, पेंसिल में है, द्रव्य द्रव्य में है, सम्पदा-सम्पदा में है और जमीन, जायदाद, मकान आदि सब अपने-अपने में हैं, ये कभी भी अपने भीतर आ नहीं सकते फिर भी यह मेरे नाम से नहीं रहा, ये जो धारणा बन गई वह गलत है। उस स्थान पर दूसरे का नाम आ गया लेकिन मकान तो मकान में है, ऐसा सोचता है तो वह अच्छे ढंग से निद्रा ले सकेगा अन्यथा मखमल की गादी पर लेट कर भी करवटें बदलता रहेगा, एक को दर्द हुआ और एक का दर्द मिट गया, ऐसा क्यों? तो यह मात्र मान्यता के कारण ही होता है, इस मान्यता का नाम ही परिग्रह है। बड़े-बड़े समझदार भी इसमें उलझ जाते हैं। परिग्रह के प्रवाह में बड़े-बड़े हाथी भी बह जाते हैं और उस धारा को सीधे ही पार कर कुत्ता भी बिना नाव में बैठे उस पार पहुँच सकता है। तो यह एक कला है। हाथी तो बह जाये और कुत्ता पार हो जाये। आँखों के द्वारा देखा हुआ है मात्र उसकी चाल में ही अन्तर रहता है। वह धारा उसके लिए बाधक बनती ही नहीं उसी प्रकार यह परिग्रह का अम्बार देखकर सबके मुँह में पानी आ जाये और यह सबके लिए बाधक बन जाये ऐसा जरूरी नहीं। ये परिग्रह तो “इन्द्रजाल आकाश नगर सम जग सम्पति सारी” अर्थात् ये सब कुछ इन्द्रजाल के समान है। ये सोचते ही एक मिनट में विकल्प कहाँ चला जाता है, पता नहीं चलता?

स्वभाव को छोड़ करके जब यह आत्म तत्त्व पर की ओर चला जाता है तो स्व गौण होकर पर मुख्य हो जाता है और उसका प्रभाव उस समय आत्मतत्त्व पर पड़ जाता है, इसमें कोई संदेह नहीं। वह परिग्रह को अपना कहता है इससे स्पष्ट है कि स्व को उस समय वहाँ गौण कर जाता है। स्व को पर तो नहीं कहता लेकिन पर को अपना कह देता है, यह बात अपने आप में महत्त्वपूर्ण है कि स्व को तो नहीं भूलता लेकिन पर को अपना कह देता है। वह भी क्यों कहता है? तो स्व की भावना से च्युत हो जाता है तभी कहता है। पर के अध्यवसानों से प्रभावित होकर उन्हें अपना कहता है, अपने

कहने का ढंग अलग-अलग होता है, ये बात अलग है। जैसे-मुनिवरों का पर को अपना कहने का अलग-अलग ढंग होता है, संयमासंयमी का, अविरत सम्यग्दृष्टि का तथा नीचे-नीचे गुणास्थान वालों का अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार सबको अपना-अपना कहने का ढंग अलग-अलग होता है, इस प्रकार कहने में अनुभाग किसका कितना है? यह तो वही जाने लेकिन कहते अवश्य हैं अपने को नहीं भूलते हुए भी पर को अपना कहना ही एक प्रकार से औपचारिकता है और जहाँ औपचारिकता है वहाँ आचार्य कहते हैं कि “**मुख्याभावे औपचारिको गृह्यते**” अर्थात् मुख्य के अभाव में औपचारिक को ग्रहण करते हैं। अपनी तो पंचायत करते नहीं, दुनिया की पंचायत करने लगते हैं ये होता है, अपनी बात तो छोड़ देते हैं और दूसरे की पंचायत करते हैं कुछ न कुछ तो रस आता होगा तभी तो करते हैं, धीरे-धीरे उपचार का अपना महत्त्व दिखने में आ जाता है फिर उस उपचार में इतना रमता जाता है कि स्व का कार्य भी उसे उपचार जैसा लगने लग जाता है। स्व-पर का भान ही नहीं रह जाता।

उत्थानिका—अब आगे वह परमात्मपद क्या है? इसका समाधान आचार्य करते हैं—

आदम्हि द्रव्यभावे अथिरे मोत्तूण गिण्ह तव णियदं।

थिरमेगमिमं भावं उवलब्भंतं सहावेण ॥२१६॥

अन्वयार्थ—(आदम्हि) आत्मा में (अथिरे) अस्थिर रूप (द्रव्यभावे) द्रव्य-भाव रूप सभी भावों को (मोत्तूण) छोड़कर (णियदं) निश्चित (थिरमेगमिमं) स्थिर एक इस (प्रत्यक्ष अनुभवगोचर) (भावं) भाव को जो कि (सहावेण) स्वभाव से (उवलब्भंतं) ग्रहण करने योग्य है (अनुभव योग्य है) उसे (तव) जैसा (ज्यों का त्यों) (गिण्ह) ग्रहण कर।

अर्थ—आत्मा में जो द्रव्य और भावकर्म हैं उनको अस्थिर जान करके छोड़ दे और अपने ही निश्चित, स्थिर, एक, स्वभाव से अनुभवने योग्य इस प्रत्यक्षीभूत आत्मपदार्थ को ग्रहण कर।

ये द्रव्य-भावमय कर्म विभाव सारे,

छोड़ो इन्हें ध्रुव नहीं व्यय शील वाले।

शुद्धात्म से प्रभव भाव-स्वभाव धारो,

जो है अबाध ध्रुव केवल विश्व सारो ॥२१६॥

व्याख्या—अधिकरणभूत आत्म-द्रव्य में जो द्रव्य-कर्म और भाव-कर्म हैं उनको विनाश होने वाले अस्थिर जान कर छोड़ दे और हे भव्य! तू अपने स्वभाव को ग्रहण कर, जो कि तेरा स्वभाव निश्चित है सदा एक-सा रहने वाला है, पर की सहायता से रहित है और स्पष्ट रूप से तेरे अनुभव में आने वाला है। आत्मा में जो द्रव्य-कर्म और भाव-कर्म हैं उनको अस्थिर जान करके छोड़ दो और अपने ही निश्चित स्थिर अनुभवने योग्य इस प्रत्यक्षीभूत आत्म पदार्थ को ग्रहण करो अर्थात् **आदम्हि** अपनी आत्मा में जो द्रव्य-कर्म, भाव-कर्म, नोकर्म हैं ये अस्थिर हैं, ये मेरे नहीं हैं, ऐसा सोच कर अपने

में आ जाओ। द्रव्य कर्मादि अनेक हैं, अस्थिर हैं और यह आत्म-तत्त्व स्थिर व एक है। मुख्य गौण करते हुए भी अपनी स्वभाव की ओर ही हमेशा-हमेशा दृष्टि होनी चाहिए।

दृष्टान्त—जैसे—एक ही बाजार में सभी दुकानदार दुकानें चलाते हैं, आमने-सामने बहुत सी दुकानें होती हैं। दुकानों पर जब ग्राहक नहीं आते हैं तो उस समय दुकानदार अपने-अपने दुकान के सामने छज्जे पर आकर कुछ-कुछ बातचीत कर लेते हैं और उसी बीच यदि ग्राहक आ जाते हैं तो बात छोड़ कर दुकान पर चले जाते हैं और अपने काम में लग जाते हैं। कभी-कभी तो क्या होता है कि कोई दुकानदार अपने घाटे की बात भी बता देता है लेकिन पड़ोसी के नाते या मित्र के नाते उसकी कुछ पूर्ति कर दे ऐसा कुछ नहीं होता है। अतः अपने को घाटा नहीं हो ऐसा सौदा करना चाहिए, सीधी-सीधी बात है। संसारी प्राणी अड़ोस-पड़ोस के बारे में क्या-क्या सोचता चला जाता है। जैसे कि उसका मालिक यही हो या सर्वेसर्वा यही हो। मानो इसी के माध्यम से सब कुछ चल रहा हो। अपनी दुकान, अपना कार्य, अपना मकान, अपनी ड्यूटी को छोड़ करके दूसरे पर एहसान करने की बात दुनिया के लिए भले ही अच्छी लग जाये लेकिन सयाना अर्थात् जो बहुत होशियार होता है उसके बैल निठल्ले होते हैं ऐसा कहा जाता है। अर्थात् स्वयं का कार्य उससे करना होता ही नहीं है, बहुत सयाना है तो कभी पंचायत में लग जाता है। आचार्य कहते हैं कि अपना कार्य पहले करो, फिर कभी प्रवृत्ति होती है तो दूसरे के लिए योगदान दे दो, ये तो ठीक लगता है, लेकिन फिर भी महत्त्वपूर्ण तो ये ही है कि अपने बारे में सोचो, दूसरों के लिए आप उत्तर बता रहे हैं, नकल करवा रहे हैं और स्वयं के लिए परीक्षा में सप्लीमेंट्री आ रही है, तो सहयोग देना किस काम का? ऐसी दशा अपनी नहीं होना चाहिए।

अपनी आत्मा में द्रव्य-कर्म, भाव-कर्म, नोकर्म को अस्थिर समझते हुए उनका महत्त्व नहीं रखते हुए, उस ओर उपयोग नहीं ले जाते हुए जो स्थिर है, एक है ऐसा जो अपना स्वभाव है उसको प्राप्त करो। जिसका स्वभाव के साथ सम्बन्ध जुड़ा हुआ है वह अपनी दुकान का ही सब करते रहते हैं और उपचार से थोड़ा-बहुत पड़ोसी के शरीर का भी कर देते हैं। आचार्यों ने व्यवहार को इसलिए उपचार कहा है, कि आत्मा में जो द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म आदि हैं, वे विनश्वर हैं, उनमें कुछ समय उपरान्त परिवर्तन होना अनिवार्य होता है। हम उसे स्थिर रखना भी चाहें तो संभव नहीं। वहाँ पर परिवर्तन होता ही है तुम उसको स्थिर रखने की कितनी भी कोशिश करो किन्तु उसमें परिवर्तन होना अनिवार्य है। ऐसा जानकर हे भव्यो! तुम जो एक है, स्थिर है, नियत है ऐसे आत्मतत्त्व को स्वीकार करो। जिसको अपने स्वरूप का भान नहीं रहता है, वह व्यक्ति स्वरूप को उपलब्ध भी कैसे करेगा?

दृष्टान्त—जैसे—बाजार में हर प्रकार की बातें होती हैं, बहुत लोग बहुत प्रकार की बातें करते हैं, लेकिन कोई भी दुकानदार अपना जो व्यापार होता है, उसी सम्बन्ध में ही बात करता है, अड़ोस-पड़ोस में भी एक की बर्तन की, दूसरे की कपड़े की दुकान है, तो उससे भी यही पूछेगा कि, क्यों भाई? आज कल बर्तनों के रेट बढ़ गए हैं क्या? उसी प्रकार एक मुनिराज संयमासंयमी से उसकी पूछताछ करें यह

ठीक नहीं, श्रमण होकर उससे बातचीत क्यों करेंगे? कि आपका धर्मध्यान कैसा चल रहा है? आदि-आदि, क्योंकि उसके धर्मध्यान की चर्चा से उसे तो संतुष्टि हो जायेगी, लेकिन अपना तो विकास होने वाला नहीं है। हाँ इतना तो अवश्य है कि जो श्रमण चर्या में अपने से ऊँचे हैं उनसे सम्पर्क रखें, तो संभव है प्रवृत्ति के काल का उपयोग हो सकता है। श्रावक को ज्यादा प्रोत्साहन देने से वह पीछे ही लग जाये, तो ठीक नहीं।

दृष्टान्त—गाय अपने बछड़े को एकाध बार बुलाती है, फिर तो वह नहीं भी बुलाये तो भी पीछे-पीछे भागता रहता है, ज्यादा प्रोत्साहन देने से वह सोचता है कि हम यहीं ठीक हैं। वात्सल्य के बारे में **रत्नकरण्डक श्रावकाचार** में पढ़ा था और यहाँ भी उसका वर्णन आयेगा। **जो कुणदि वच्छलत्तं** इत्यादि गाथा में अर्थात् साधु जन आचार्य, उपाध्याय, साधु के विषय में ही यहाँ वात्सल्य की बात करेंगे। ऐसा नहीं है कि पहली दूसरी प्रतिमा वालों के साथ यहाँ प्रसंग हो। साधर्मियों के साथ ही वात्सल्य होता है, उन्हीं के साथ डॉयरेक्ट सम्बन्ध चलता रहता है। समवसरण में मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका ये चतुर्विध संघ है, लेकिन अपने लिए तो यही निर्धारण किया है कि ऋषि, मुनि, यति, अनगार ये चतुर्विध संघ हैं।

दृष्टान्त—जैसे-परीक्षा के उपरान्त जब रिजल्ट आते हैं तो विद्यार्थी अखबार में सर्वप्रथम अपना रिजल्ट देखता है और अपने क्लासफेलो के बारे में भी देख लेता है, लेकिन उससे नीचे की क्लास का नहीं देखता, उससे उसका ज्यादा विशेष कोई मतलब नहीं रहता, उसी प्रकार अपन जिनके साथ रहते हैं, उन्हीं में एक दूसरे के पूरक बनकर कार्य करना चाहिए वह ठीक भी लगता है। यहाँ ज्यादा और कम से मतलब नहीं, उतना ही ध्यान रखना होता है जितना आवश्यक है यहाँ ज्यादा तो कोई मतलब रखता ही नहीं है और रखना भी नहीं चाहिए, क्योंकि ये मोक्षमार्ग है।

दृष्टान्त—जैसे दस किलो दूध जमाना है, इसलिए उस दस किलो दूध में एक किलो मट्ठा जामुन के रूप में डालो, ऐसा होता है क्या? नहीं, ये तो कोई बात नहीं होती, ये तो अतिरेक हो जायेगा, मात्र उसमें एक चम्मच जामुन डाल दो, ये पर्याप्त होता है, इसी प्रकार दवाइयों के बारे में है कि किसी दवाई का निश्चय किया जाता है तो अनुपात को दृष्टि में रखना चाहिए, किसी भी वस्तु का मिश्रण एक प्रकार से अनुपात देखकर ही किया जाता है। उसकी केपेसिटी (योग्यता) के अनुसार ही किया जाता है, उसके परिणामन को दृष्टि में रखकर ही किया जाता है।

सामान्य स्थिर हुआ करता है, द्रव्य स्थिर हुआ करता है और कथञ्चित् गुण सामान्य, द्रव्य सामान्य और पर्याय सामान्य स्थिर होता है, किन्तु विशेष अस्थिर होता है, पर्याय अस्थिर हुआ करती है। गुण सामान्य में भी विकृति जैसी लगती है क्योंकि अन्य भी गुण हुआ करते हैं इसलिए द्रव्य जब सामान्य होता है तो अपने आप आत्मा में व्यापकता आती चली जाती है, एक ही गुण के बारे में हम क्यों सोचें? आज विकास होना चाहिए, ये कहने पर ज्ञान के विकास की ओर जल्दी सजग हो जाते

हैं, शेष गुणों के विकास के लिए इतना अनुपात नहीं दिया जाता, जितना कि देना चाहिए, इसलिए आचार्य कहते हैं, कि स्थिर क्या है? तो द्रव्य जो त्रैकालिक है, था और आगे भी रहने वाला है वही स्थिर है। स्थिरता के बारे में जब सोचते हैं तो उसकी विराटता के बारे में ज्ञान होता है और उसके आश्रित जो गुण होते हैं उनका परिणमन इतना महत्वपूर्ण नहीं होता। हमारा अस्तित्व पहले भी था अभी भी है और आगे भी रहेगा, ऐसी स्थिति में हम छोटे-बड़े कैसे हो सकते हैं? यह अच्छा यह बुरा कैसे हो सकता है? ये सब बातें सोचेंगे, तो जो वैमनस्य है, वह अपने आप समाप्त हो जायेगा। विषमताओं को समाप्त करने के लिए स्थिर भावों पर टिकना बड़ा आवश्यक होता है, उसमें अनगिनत संभावनायें होती हैं, अनगिनत संभावनायें हो चुकी हैं और आगे भी अनन्त संभावनायें और टिकी रहती हैं, ऐसा यह मूलभूत द्रव्य स्थिर माना जाता है, जिसके आधार पर भूत, भविष्यत निर्धारित है, उसके बारे में अपने को सोचना चाहिए।

दृष्टान्त—जैसे—बाजार में कभी घाटा होता है, कभी मुनाफा होता है फिर भी बाजार ज्यों का त्यों बना रहता है। कई सालों से चल रहा है, उसी प्रकार अपने को जो त्रैकालिक द्रव्य है और उस द्रव्य में भी जो स्वद्रव्य है उसको देखो, पर द्रव्य को देखेंगे तो निश्चित रूप से उपयोग में चंचलता आ सकती है। इसलिए स्वद्रव्य के बारे में और उसमें भी स्वभाव के बारे में सोचें तो बहुत अच्छा। सामान्य द्रव्य के अस्तित्व के बारे में सोचना चाहिए, तो निश्चित ही स्वाभिमान, गौरव जागृत हो सकता है तथा दीनता भी मिट सकती है, अभिमान भी गल सकता है।

न दीनता न अभिमान—साधक के सामने दीनता और अभिमान ये दो पहलू हैं या तो किसी को दीनता आती है या किसी को अभिमान आने लग जाता है, ये दोनों साधक के सामने रहते हैं, ऊपर वालों को देखते हैं तो दीनता आती है, नीचे देखते हैं तो अभिमान खड़ा हो जाता है। पैरलल देखते हैं तो समानता नजर आ जाती है, तो स्वसामान्य, परसामान्य, तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य दिखते हैं। अपनी तरफ से विगत में जो कुछ भी परिणमन हो रहा था, यह ऊर्ध्वता सामान्य में आ जायेगा और आजू-बाजू देखना तिर्यक् सामान्य माना जाता है। तो अपने द्रव्य के साथ अपने गुणों का, पर्यायों का समावेश करते हुए दूसरे किसी के साथ तुलना करते हैं, तो समानता आ जाती है, जहाँ समानता आ जाती है, तो न दीनता होगी, न अभिमान होगा, ये दोनों साधक के सामने बहुत अच्छे से काम करते रहते हैं। तो जो कोई आगे बढ़ते जा रहे हैं, वे दीनता की ओर नहीं देखते और जो आगे पहुँच चुके हैं वो नीचे वालों को देखकर अभिमान नहीं करते और ऊपर वालों को देखकर दीनता का अनुभव नहीं करते। चलने का उपक्रम उनका अक्षुण्ण बना रहता है, इससे ही उनकी गति अबाधित रूप से आगे बढ़ती जाती है, हम लोगों को भी यह सोचना चाहिए, परद्रव्य के बारे में सोचते हैं तो गुणों के बारे में देखते जाओ और जिन्होंने आगे कदम उठाये हैं उनके बारे में सोचते जाओ तो जल्दी-जल्दी समझने में आ जायेगा।

जिज्ञासा—कई बार हमसे कहा कि, महाराज ! हम विहार में पीछे रहते हैं, तो आधा कि.मी. पूर्ण करने में भी बहुत सारा समय लग जाता है और यदि आगे बढ़ जाते हैं तो उसमें कोई दिक्कत नहीं होती, ऐसा क्यों होता है?

समाधान—यह इसलिए होता है कि यदि आदर्श को लेकर चलते हैं तो गति अबाधित होती चली जाती है, कन्ट्र्यूनिटी होते हुए भी प्रमाद के साथ नहीं किन्तु उत्साह के साथ कार्य होना चाहिए। उत्साह होने से मोक्षमार्ग में गति बनी रहती है, हमेशा-हमेशा ऐसा ध्यान रखना आवश्यक है। उत्साह बनाये रखना अनिवार्य है, पीछे मुड़कर देखेंगे, तो बहुत लंबी-चौड़ी कतार मिलेगी। एक बार कहा था कि दीन-हीन मत होओ, अनन्त सिद्ध परमेष्ठी बन गये, ध्यान रखो तुम्हारे बाद भी अनन्त तीर्थकर होने वाले हैं आप सामान्य केवली बन जायेंगे तो भी आपके पीछे अनन्त तीर्थकर होंगे, तो उन अनन्त तीर्थकरों की अपेक्षा से आपकी सीनियरिटी है, हम सिद्धों की अपेक्षा सोचते हैं तो भविष्य में होने वाले जो सिद्ध होंगे उनसे तीर्थकर भी अनन्त होंगे और जो पीछे हो चुके हैं उनमें भी अनन्त तीर्थकर हो चुके हैं, यह सब सुन करके अभिमान न करियो। यह तो हमेशा-हमेशा ऐसा ही मिलेगा और ऐसा ही नम्बर आयेगा। तेरहवें गुणस्थान की अपेक्षा से तीर्थकर व सामान्य केवली दोनों की बात एक ही है, दोनों एक से हैं अनन्तचतुष्टय की अपेक्षा से उनमें क्या कमी-वेशी है ? बताओ। समवसरण का टीम-टाम किसलिए है और किसका है? जो तीर्थकर केवली स्वस्थ बैठे हैं वे अपने टीम-टाम की ओर देख रहे हैं क्या? नहीं, दुनिया तो विपरीत दिशा में बैठेगी तो देखेगी ही, लेकिन वे तीर्थकर केवली समवसरण में बैठ करके भी निजानन्द रसलीन हैं, किन्तु परानन्दलीन या टीम-टाम रस लीन हैं क्या? नहीं, ये देखने की एक पद्धति होती है। जो पर के लिए किया जा रहा है वह स्व के लिए नहीं होता है।

दृष्टान्त—जैसे—कपड़े की दुकान में जाओ तो अलमारी में कपड़े रखे रहते हैं उन्हें दिखाने के लिए वहाँ कई बल्ब या ट्यूबलाइट जलती रहती हैं तो कपड़ों में चमक के कारण कपड़ा अच्छा देखने में आता है। अब कपड़ा तो वही है, स्पर्श में भी वही आयेगा, लेकिन लाईट के कारण स्पर्श में कोई अन्तर आ रहा हो, तो मुझे बताओ। लाईट से स्पर्श में कोई अन्तर नहीं आता, किन्तु चमक में अन्तर आता है। बस उसी प्रकार तीर्थकर केवली, मूककेवली, सामान्यकेवली आदि में भी और कोई अन्तर नहीं है, बस तीर्थकरों के ऊपर लाइट लगाई गई है, बाकी सब अनन्त चतुष्टय की अपेक्षा तो उन तीनों में कोई अन्तर नहीं है। भगवान् ने ऐसा नहीं कहा कि तीर्थकर बन जाओ। कपड़े में कोई अन्तर नहीं है, लेकिन जिस कपड़े पर हाईलाइट कर दी जाती है तो ऐसा लगता है कि यह ज्यादा अच्छा है, लेकिन यों स्पर्श करके देखेंगे तो मुलायमता उतनी ही है जैसे उस कपड़े में थी, बच्चों को मिठाई बाँटते हैं तो जिस मिठाई पर रंगीन कागज लपेट दिया जाता है तो उस रंगीन को देखकर बच्चे कूदने लग जाते हैं। सामान्य मिठाई दो तो नहीं लेता, रंगीन कागज में लपेट कर दो तो कूद-कूद कर लेता है, दुकानदार तो समझता है कि मिठाई में कोई फर्क नहीं है, कागज तो बाहर जाकर फेकना ही है अतः दे देता है, आप

लोग भी अनन्तचतुष्टय की ओर देख रहे हो कि टीम-टाम की ओर देख रहे हो? दोनों के केवलित्व में कोई अन्तर नहीं है, यह बच्चों जैसा खेल हो गया। लोगों को समवसरण देखने में आनन्द आता है, लेकिन केवली में तत्सम्बन्धी थोड़ा-सा भी अन्तर नहीं होता है।

दृष्टान्त—जैसे—चार व्यक्ति के फोटो हैं लेकिन बीच वाले को हाईलाइट कर दिया है तो उसका पोज साफ आ गया, अब कागज को लेकर कोई कहने लग जाये, कि इस फोटो का कागज अलग है, तो ऐसा कुछ नहीं है, इसी प्रकार दोनों केवलियों के संवेदन में कोई अन्तर नहीं है। घातिया कर्म के अभाव में वेदनीय कर्म, सामान्य हो जाता है। अर्थात् वेदनीय कर्म का सामान्यीकरण हो जाता है, सर्वघातित्व तो पहले ही चला गया। बाह्य में देखें तो सामान्य केवली आदि की गन्धकुटी होती है और तीर्थकर केवली हैं तो समवसरण की रचना होती है, लेकिन अन्तरंग में दोनों के अनन्त चतुष्टय में कोई कमी-वेशी या अन्तर नहीं आता है।

दृष्टान्त—जैसे—भगवान् महावीर स्वामी जी का समवसरण एक योजन का था और वृषभनाथ भगवान् का बारह योजन का विस्तार वाला समवसरण था तो क्या उन्हें बारह गुना आनन्द आया होगा या आना चाहिए? तत्सम्बन्धी कुछ न कुछ तो सुख मिलता होगा लेकिन ऐसा कुछ नहीं है। दोनों के ही तीर्थकर प्रकृति का उदय था फिर भी एक की तीन हाथ की, एक की पाँच सौ धनुष की काया थी। महावीर भगवान् की ७२ वर्ष की उम्र थी और आदिनाथ भगवान् की ८४ लाख पूर्व कोटि प्रमाण आयु थी, ये दोनों में अन्तर आ ही गया। एक बात और है महावीर भगवान् के मात्र ११ गणधर थे और आदिनाथ भगवान् के ८४ गणधर थे तो क्या दोनों की पुण्य प्रकृति और तीर्थकर प्रकृति में अन्तर था? एक तीसरे ही काल में मोक्ष चले गये और एक चतुर्थ काल में मोक्ष गये, तो दोनों की पुण्य प्रकृति में अन्तर आना चाहिए, लेकिन ऐसा नहीं है। दोनों तीर्थकरों के अनन्तचतुष्टय में कोई फर्क नहीं है।

दृष्टान्त—जैसे—एक बार हमारे सामने इतना बड़ा व मोटा पेन किसी ने रख दिया डॉट पेन था, मैंने सोचा इतना बड़ा पेन हो या छोटा हो, लिखने का काम तो दोनों से एक-सा ही होता है, फिर ये पेन मोटा हो या पतला क्या फर्क पड़ता है? उन्हें देखने में अच्छा लगता हो, अतः ला करके भले ही रख दिया हो। उसी प्रकार दोनों तीर्थकरों के लिए पंचाश्चर्य होते हैं। ऐसा नहीं कि पाँच सौ आश्चर्य होते हों। हाँ, यह बात अलग है कि इनके ऊपर यानि प्रथम तीर्थकर के ऊपर बड़े-बड़े फूल आदि गिरते हैं। इसी प्रकार सभी दिशाओं में पच्चीस-पच्चीस कमलों की ही रचना होती है, हाँ, बड़े-छोटे कमल हो सकते हैं, लेकिन संख्या में कोई अन्तर नहीं होता है, हमारी दृष्टि में अन्तर होता है। दो सूर्यों को एक साथ देखा कभी आपने? नहीं, जब एक का काम पूरा हो जाता है, तभी दूसरा काम में आता है। सिद्ध बनने के बाद तो सभी एक साथ रह जायेंगे लेकिन यहाँ तो एक समय में एक से काम करना कठिन होता है, अतः अनुपात से काम करो। अनन्तचतुष्टय की ओर जिसकी दृष्टि रहती है वह बाह्य की ओर दृष्टि नहीं रखता। स्वभाव का अनुभव जिसको हो रहा है उसकी बात यहाँ पर कर रहे हैं। जिसमें

विभाव का मिश्रण नहीं है उस स्वभाव की बात कर रहे हैं, उस स्वभाव के साथ स्थिर हो करके रहेंगे तब ज्ञात होगा कि तत्त्व की विराटता क्या है? और तत्त्व की विशेषता क्या है? वे भगवान् तो अपने में निजानन्द रस लीन हैं, पर में आनन्द की अनुभूति की कल्पना तो बिल्कुल कोरी कल्पना है, इसको तो रात के स्वप्न में भी एक क्षण को नहीं सोचना चाहिए, क्योंकि यह कोरी कल्पना मात्र है।

अन्य दर्शन वाले इसे माया बोलते हैं, वस्तुतः ऐसा है ही नहीं किन्तु ऐसा लगता है या दिखता मात्र है। अनुभूति में वह नहीं आता, **मृगमरीचिकावत्** है। अनादि संस्कार के कारण ऐसा हो रहा है, यह असत्य है, मिथ्या है, माया है, पर की अपेक्षा तो हम हैं ही नहीं। अपने यहाँ दो प्रकार के चतुष्टय बताये हैं, एक स्वचतुष्टय की अपेक्षा से और एक परचतुष्टय की अपेक्षा से कथन किया गया है। स्वचतुष्टय की अपेक्षा से पर नहीं और पर चतुष्टय की अपेक्षा से हम नहीं हैं, क्योंकि पर में हम नहीं और हम में पर नहीं है, इसलिए तो दो प्रकार से कथन किया गया। जब यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो गई कि मेरा द्रव्य उनमें नहीं जा सकता तथा उनका द्रव्य मेरे भीतर प्रवेश नहीं कर सकता तो पर के बारे में चिन्ता, पर के बारे में विकल्प, पर के बारे में बहुमान या पर से अपना बहुमान हो ये जो कुछ भी बातें हैं वो समझ में नहीं आतीं, ऐसा कह कर हम पर की आलोचना, निंदा, उपेक्षा नहीं कर रहे हैं लेकिन स्व की ओर नहीं देखना यह भी एक प्रकार से स्व की उपेक्षा तो जरूर है। स्व में निष्ठ होने का अर्थ यह थोड़े ही है कि हम पर की निंदा, आलोचना कर रहे हैं बल्कि उनकी अपेक्षा ही नहीं है, क्योंकि वे हमें मिल ही नहीं सकते, जो मिल ही नहीं सकते, उनकी क्या अपेक्षा, क्या आशा? आप लोग भजन बोलते हैं न, कि **जो साथ में न जाये, क्या साथ उनके रहना या उनके साथ का क्या कहना?** यह आप लोगों का भाव भजन तक ही सीमित रहता है, वास्तविकता से वस्तु स्थिति समझ में आ जाये तो भजन में भी अपने आप में समयसार का रहस्य छुपा रहता है, भजन बोलकर भी समयसार की बात कर रहे हैं, भले ही गाते समय दूसरा साथ दे रहा है, ये बात अलग है। द्रव्यत्व में स्वभाव में किसी प्रकार की कमी नहीं आती, शुद्धत्व को अपना विषय बना लिया तो फिर उसमें कोई परिवर्तन आने वाला नहीं है, उसे श्रद्धान का विषय बनाकर चलते हैं तो सही रहता है।

दृष्टान्त—जैसे—सुनार स्वर्ण की ओर दृष्टि रखता है, बट्टे की ओर नहीं। उसकी दृष्टि स्वर्ण की ओर रहती है, बाद में आभरण बनाने के लिए उसमें बट्टा भले ही मिलाता रहता है, लेकिन उसकी दृष्टि तो स्वर्ण की ओर रहती है। आभरण बनने पर, मान लो पाँच तौले का है तो उतना ही बाद में रहेगा, क्योंकि बट्टे को वह गिनता नहीं, ये आभरण कितने तौले का है, तो सोने का ही माप किया जाता है, बट्टे को नहीं गिनते। इसी प्रकार स्वभाव की अपेक्षा से स्थिरत्व को देखा जाता है, परिणमन की अपेक्षा से नहीं, पर्याय की अपेक्षा से नहीं, यह दृष्टि में रखते हैं, तो बाकी सब गौण हो जाता है। ज्ञानी जीव पर द्रव्य को ग्रहण नहीं करता तथा उसे ग्रहण करने के भाव भी नहीं करता है।

उत्थानिका—आगे ज्ञानी परद्रव्य को जानता है ग्रहण नहीं करता, इस भेद भावना को बतलाते हैं।

**को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इदं हवदि दव्वं ।
अप्पाणमप्पणो परिग्गहं तु णियदं वियाणंतो ॥२१७॥**

अन्वयार्थ— (को णाम) कौन (बुहो) ज्ञानी पण्डित है जो (परदव्वं) पर द्रव्य को (इदं मम दव्वं) यह मेरा द्रव्य (हवदि) है (भणिज्ज) ऐसा कहेगा? (अप्पाणं तु) ज्ञानी तो अपनी आत्मा को ही (णियदं) नियम से (अप्पणो परिग्गहं) अपना परिग्रह (वियाणंतो) जानता हुआ प्रवर्तता है ।

अर्थ—कौन ज्ञानी है जो परद्रव्य को भी “यह मेरा द्रव्य है” इस प्रकार कहता रहे। क्योंकि वह तो नियम से अपने आप को ही अपना परिग्रह जानता रहता है ।

**ऊबा हुआ विषय से मुनि वीतरागी,
डूबा हुआ स्वयम में सब ग्रन्थ त्यागी ।
मेरा शरीर यह है तज बुद्धिमानी,
ऐसा भला कहत है वह कौन ज्ञानी? ॥२१७॥**

व्याख्या—ऐसा कौन ज्ञानी है जो परद्रव्य को भी यह मेरा द्रव्य है, ऐसा स्पष्ट रूप से कहता रहे, क्योंकि वह तो नियम से चिदानन्द स्वरूप अपने आत्मतत्त्व को ही अपना परिग्रह जानता रहता है । इसलिए ऐसा कौन विद्वान् व बुद्धिमान होगा जो पर द्रव्य को अपना कहे, क्योंकि जिन्होंने अपने आपको ही अपना परिग्रह समझा है, वह पर को अपना कैसे कह सकता है? वह नियत रूप से समझता है कि मेरे पास यदि रहेगा तो मात्र मेरापन ही रहेगा, दूसरा कुछ भी नहीं रहेगा । यह जो कुछ भी देख रहा है वह सब पराया है । जैसे—मिट्टी के ऊपर रंगरोगन कर दिया है, सफेदी कर दी है, एक बार वर्षा हुई कि सब धुल जाता है, यह उसका स्वभाव ही है । ऊपर कीचड़ से लेप कर दिया है, भीतर तो जो स्वरूप है वह रहता ही है, कुछ दिन के लिए भले ही यह दिखे लेकिन वास्तविकता जो है वह तो ज्यों की त्यों बनी रहने वाली है इसलिए चार दिन को संपदा आये, आपदा आये, कुछ भी आये, ये आना-जाना तो होता रहता है, यह जिसे ज्ञात होता है, उसकी उस ओर दृष्टि नहीं जाती, ओरीजनल (वास्तविकता) क्या है, स्थिर रहने वाला कौन है? उसको देखो ।

अरिहंत अवस्था भी आत्मा का स्वरूप नहीं है, क्योंकि अरिहंत अवस्था के साथ भी असिद्धत्व लगा हुआ है । जिसकी चमक-दमक के बारे में आप कह रहे थे, वह अरिहंत अवस्था का रूप है, वह अव्याबाध नहीं है, योग निग्रह के लिए भगवान् निकल जाते हैं तब भी तीर्थकर प्रकृति की उदीरणा होती रहती है, क्योंकि अभी वे चौदहवें गुणस्थान में नहीं पहुँचे । आगम का सिद्धान्त है कि तेरहवें गुणस्थान तक तीर्थकर प्रकृति की उदीरणा भी होती रहती है । अब सोचो विचार करो कि तीर्थकर प्रकृति की उदीरणा होते हुए समवसरण बिखर गया, कहाँ गई वह चमक-दमक? बताओ । उसका अनुभाग कम हो गया, ये कहना भी गलत है, क्योंकि अभी तीर्थकर प्रकृति की उदीरणा बराबर चल रही है । कर्म सिद्धान्त की अपेक्षा ये बहुत अच्छा उदाहरण मिल गया । एक महीने का योग निरोध है, एक महीने

पहले समवसरण छोड़ कर चले गये, समझ में नहीं आता, क्यों चले गये? हम यह कहना चाहते हैं, कि तीर्थंकर प्रकृति की उदीरणा के साथ समवसरण की रचना होती है तो वह एक महीने पहले क्यों बिखर गया, बताओ? इसलिए तो हम कह रहे हैं कि उनमें मोह है ही नहीं, उनकी दृष्टि में टीम-टाम है ही नहीं।

जिज्ञासा—महाराज! सही-सही बताओ, समवसरण की रचना होती है, तब भगवान् बैठते हैं या भगवान् बैठते हैं तब समवसरण की रचना होती है?

समाधान—हम ये कैसे बतायें हम तीर्थंकर तो हैं नहीं, वस्तु स्थिति है कि केवलज्ञान हो गया, तो वे किसी को डिस्टर्ब नहीं करते, इन्द्र या कुबेर को पूछो, चार अँगुल तो छोड़ना ही पड़ेगा, समवसरण में बैठते हैं, तब चार अँगुल ऊपर ही बैठते हैं भगवान्, **मायाचारोव्वइत्थीणं** ऐसा प्रवचनसार में **आचार्य कुन्दकुन्द भगवान्** ने कहा है, कि स्त्रियों में माता का आचार अर्थात् आचरण स्वभाव से हुआ करता है, वैसे ही तीर्थंकर केवली के उपदेश विहार आदि क्रियायें बिना इच्छा के सहज होती हैं। माया शब्द प्राकृत भाषा की अपेक्षा माता का भी माया शब्द बनता है। अतः स्त्रियों में ही माताचार होता है, पुरुषों में नहीं। इसलिए एक विद्वान् ने ऐसा ही अर्थ निकाला है। वस्तु स्थिति क्या है? वे जाकर समवसरण में बैठे हैं या बैठने के उपरान्त समवसरण बना है इसके उपरान्त भी वे सिंहासन में चार अँगुल ऊपर आकाश में ही रहते हैं, सिंहासन से अटैच नहीं रहते और उनके माध्यम से दुनिया का काम हो रहा है, तो क्या बाधा है उसमें?

जिज्ञासा—यदि तीर्थंकर प्रकृति के उदय से समवसरण की रचना होती है तो एक महीने पहले समवसरण बिखरना नहीं चाहिए था, क्योंकि योग निरोध के समय भी तीर्थंकर प्रकृति की उदीरणा और उदय दोनों चल रहे हैं?

समाधान—इस बात से ज्ञात होता है कि उन्होंने कुछ पूर्व प्रयोग किया है जिससे उन्होंने समवसरण छोड़ा है, यह अपने आप बिखरा नहीं है। देखो, जिस समय जो आवश्यक कार्य होता है वह करते हैं, लेकिन ज्ञानी लोग बताते नहीं, हम भले ही उनके बारे में कुछ सोच लें, किन्तु वस्तुतः वे बताते नहीं हैं। किन्तु **कर्तुं योग्यं कार्यं निष्पन्नं** अर्थात् उनका करने योग्य कार्य निष्पन्न हो चुका है, इसी को कृतकृत्य बोलते हैं, उन्हें यह ज्ञात है कि मुझे एक महीने पहले यहाँ से निकलना है। क्या यह आपको बता कर चले जायें? इन्द्र की एक सीमा होती है, वह हर कार्य नहीं कर सकता, पता लगे या न लगे, वे उतना ही कहते हैं, जितना काम आता है। जैसे—पंचकल्याणक में प्रतिष्ठाचार्य आप लोगों को कायोत्सर्ग करवाते हैं, जितनी देर आप लोगों की आँखें बंद होती हैं उतनी देर में वे भगवान् को उठा लेते हैं, क्योंकि निर्वाण कल्याणक है, आपको खाली स्थान दिखाना है तो कायोत्सर्ग करवा देते हैं। अब तो भगवान् को मोक्ष हो गया, निर्वाण कल्याणक हो गया, झालर, घंटी बजने लगी। हो गया निर्वाण, तो हम कहेंगे नहीं, कि यह करो, वह करो, उसी प्रकार उनका भी चलता है।

चिदानन्द स्वरूप मेरा स्वभाव है, ये निश्चित है। मैं अपना ही कार्य कर सकता हूँ, जिसको ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाता है वह मतिज्ञानादि को भी स्वभाव नहीं मानता है, उसे नियत स्वरूप नहीं मानता है। वह मतिज्ञानादि चार ज्ञान और सामायिक, छेदोपस्थापना, कायोत्सर्ग आदि इन सबको भी ये मेरे स्वभाव हैं ऐसा नहीं समझता। हाँ, मेरे निमित्त ये हो सकते हैं, इसलिए उन्हें मैं अपना कैसे कहूँ? बड़ा वैचित्र्य है, उन्हें अपने केवलज्ञान में समवसरण भी दिख रहा है और समवसरण में समय से पहले बिखराव भी दिख रहा है।

दृष्टान्त—जैसे—बच्चे खेल-खेल में रेत के घरोंदे बनाते हैं, पैर अंदर फँसाकर ऊपर से रेत छाप देते हैं और धीरे-धीरे पैर को बाहर निकाल देते हैं, उस दृश्य को देखकर बच्चे बहुत खुश होते हैं। लेकिन माँ-बाप इस दृश्य को देखते हैं और सोचते हैं कि ये घरोंदा गिरने वाला है, इसका भी अकाल मरण होता है। एक बच्चा दूसरे बच्चे का घरोंदा नष्ट कर देता है, तो वह रोने लगता है और कहता है कि मेरा घर गिरा दिया। तब माता-पिता समझते हैं और उसे समझाते हैं कि ये घर है ही कहाँ? उन्हें तो बनने से पूर्व ही बिखराव दिख रहा है, ये प्लानिंग है, कल्पना है, इसकी भी उम्र है, इसलिए गिरावट से उन्हें कोई रोष नहीं होता। समवसरण बनाने वाले कुबेर हैं और बिखराने वाले ये तीर्थकर स्वयं हैं। जब तक तीर्थकर प्रकृति का उदय चल रहा है, तब तक तो इन्द्रों को समवसरण बनाना चाहिए था। चाहे तीर्थकर कैलाश पर्वत पर जाकर बैठें या अन्यत्र, उन्हें तो जाकर वहाँ भी बनाना चाहिए, क्योंकि समवसरण यहाँ-वहाँ नहीं बनेगा, जहाँ तीर्थकर होंगे वहीं बनेगा, हम लोगों की दृष्टि में नहीं आता है कि वहाँ पर पुरुषार्थ किमात्मक है? इसलिए कह देते हैं लेकिन ऐसा कुछ नहीं है।

स्वयंभू स्तोत्र में **आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने धर्मनाथ भगवान्** की स्तुति करते हुए कहा है कि **नासमीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयो धीर तावकमचिन्त्यमीहितं...** अर्थात् हे भगवन! आपकी चेष्टा अपूर्व है, अचिन्त्य है, यद्वा-तद्वा नहीं है। हम उसे चिंतन का विषय नहीं बना सकते। ये बात अलग है। उनकी तो ज्ञान पूर्वक क्रिया हो रही है। हे भगवन्! आपका ज्ञान केवलज्ञान रूप है, उसे हम नहीं समझ सकते। तीर्थकर होने के उपरान्त आदिनाथ भगवान् ने एक लाख पूर्व तक विहार किया, समवसरण की रचना हुई, उन्होंने मोक्ष जाने के एक महीने के पूर्व समवसरण छोड़ दिया, तो क्यों छोड़ दिया? क्योंकि छोड़ना आवश्यक है, कोर्स पूर्ण होने के उपरान्त कभी-कभी परीक्षा के पूर्व ही छुट्टियाँ हो जाती हैं, इसी तरह यहाँ पर समझना चाहिए।

परिग्रह अर्थात् मूर्च्छा भाव। अपना क्या है? तो बाह्य में पिच्छी, कमण्डलु और अन्तरंग में स्मृतय या अपना ज्ञान दर्शन। बाह्य तो अविनश्वर नहीं है किन्तु अपना ज्ञान दर्शन अविनश्वर है इस प्रकार अब यह मेरा निश्चय है, निर्णय है कि देह और रागादि मेरे परिग्रह नहीं हैं, क्योंकि ये मेरे नहीं हो सकते हैं और जो मेरा है, वो परिग्रह नहीं हो सकता है, क्योंकि उसके प्रति मूर्च्छा नहीं होती। जो अपना है और स्वरूपनिष्ठ है, वह अपने लिए परिग्रह हो नहीं सकता, लेकिन अपना होकर भी जो वैभाविक

है वह जरूर परिग्रह कहा जायेगा। जैसे—ज्ञान की वैभाविक रूप में मतिज्ञानादि चार परिणति हैं तथा और भी जो कुछ संवेदनायें हैं, जैसे—सातावेदनीय का संवेदन है, यह भी कर्म के उदय में ही हुआ है, अतः वह भी मेरा परिग्रह है, किन्तु जो पारिणामिक भाव है, ज्ञान की शुद्ध परिणति स्वरूप है, जो कि कर्म निरपेक्ष है, औदयिक नहीं है, ऐसा भाव मेरे लिए परिग्रह नहीं हो सकता है, क्योंकि उसके प्रति मूर्च्छा नहीं होती है, मूर्च्छा तो हमेशा वैभाविक की अपेक्षा या परद्रव्य की अपेक्षा से हुआ करती है। जिसने परद्रव्य को अपना बना रखा है वह परिग्रह है। स्वभाव के प्रति मूर्च्छा रूप अपनत्व का भाव कभी नहीं होता, मूर्च्छा जब कभी भी होगी तब वैभाविक परिणति को लेकर ही होगी। अथवा वैभाविक परिणति के निमित्त से परद्रव्य को मूर्च्छा के रूप में स्वीकार किया जायेगा। यदि स्वभाव मूर्च्छा का कारण हो जाये तो फिर जो स्वभावनिष्ठ, अनन्तसिद्ध परमेष्ठी हैं, वे सभी अनन्तकाल के लिए मूर्च्छित हो जायेंगे, ऐसा मानना पड़ेगा, जबकि ये संभव नहीं हैं। अध्यात्म ग्रन्थों में मूर्च्छा को परिग्रह कहा है। जिस पदार्थ के कारण अपने को मूर्च्छा आती है उस समय हमारा ज्ञान सही—सही काम नहीं करता है, अतः उसको मूर्च्छा कहा है, परिग्रह कहा है और यह परद्रव्य के अलावा संभव नहीं। परद्रव्य के निमित्त से जो वैभाविक परिणति होती है, उसको भी हम मूर्च्छा कह सकते हैं। तीन प्रकार के गारव होते हैं, एक रसगारव, दूसरा ऋद्धिगारव, तीसरा सातगारव।

चारित्र की निर्दोषता के कारण तप के द्वारा ऋद्धियाँ उत्पन्न होती हैं, लेकिन उसमें भी कुछ गुदगुदापन आ जाये कि मेरे तीव्र पुण्य का उदय चल रहा है आदि—आदि। इस प्रकार का अनुभव होने लग जाये अथवा तपस्या के फलस्वरूप नहीं चाहते हुए भी ऋद्धियाँ मिल गईं, इस अभिमान के अलावा अकेलेपन में और कुछ भी भाव आ सकता है, ये सारे के सारे भाव मूर्च्छा के कारण बन सकते हैं, उसी प्रकार अच्छा ज्ञान है, चारित्र भी अच्छा है और मान लो अन्तर्मुहूर्त में किसी को ऋद्धियाँ प्राप्त हो गईं, तो ये विस्मय का कारण बन जाता है, क्योंकि कई लोगों ने जीवन भर तपस्या की तो भी ऋद्धियाँ प्राप्त नहीं हुईं। ये सारे के सारे मूर्च्छा के कारण हैं, किन्तु स्वभाव पर्याय की ओर हम देखते हैं, तो उसके प्रति कभी मूर्च्छा नहीं आती। यदि उसके द्वारा भी मूर्च्छा होने लग जाये तो फिर संसार में परिग्रह का त्याग तो संभव ही नहीं है। अपने परिणामों में भी कुछ वैभाविक परिणाम ऐसे हैं कि जिनको लेकर मूर्च्छा हो सकती है कि वह परिणाम हमेशा—हमेशा बना रहे। ऐसा यदि सोचता है, तो उसका यह सोचना भी गलत है, क्योंकि औदयिक या क्षायोपशमिक भाव हमेशा—हमेशा नहीं बने रह सकते। पर पदार्थ ही परिग्रह होता है ऐसा नहीं, किन्तु मूर्च्छा का नाम परिग्रह है और मूर्च्छा इन वैभाविक परिणामों को लेकर होती है, यदि स्वाभाविक परिणामों को लेकर मूर्च्छा होने लग जाये तो कोई मुक्ति का कारण ही नहीं बचेगा।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी की इस सम्बन्ध में क्या परिभाषा है? वो क्या कहना चाहते हैं? तो उनका भी यही कहना है कि बाहरी पदार्थ को लेकर ही मूर्च्छा भाव होता है, यह एकांत से नहीं है किन्तु

अपने भीतर जो भाव है, उनका भी अधिकरण आत्मा बनता है। उनमें भी मूर्च्छा हो सकती है, क्या बात हो गई? जैसे—हमारा कर्मोदय बहुत अच्छा चल रहा है, हमारा पुण्योदय चल रहा है, यह कहते हैं तो इसमें भी यह मूर्च्छा भाव आ गया, क्यों? हमारा क्यों कहते हैं? कर्म के उदय में हो रहा है, ऐसा कहो न, कभी साता उदय में आती है, तो कभी असाता। जिसके प्रति हमारे वैभाविक परिणाम होते हैं, वे सारे के सारे मूर्च्छा के कारण होंगे और मूल में अपना औदयिक कारण होता है अथवा क्षायोपशमिक भी कारण हो सकता है। जैसे—

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः ।

अष्टावाश्रित्यमानित्वं स्मय माहर्गतस्मयाः ॥

रत्नकरणडक श्रावकाचार में ये जो मद के आठ भेद बतलाये हैं, उनका आश्रय लेकर भी मूर्च्छा परिणाम होते हैं, उनमें से ज्ञान का भी मद हो सकता है, तो ये मद हमारे लिए परिग्रह हुआ, लगाव है तो मूर्च्छा है, मूर्च्छा है तो परिग्रह है तो यह परिग्रह ही तो छोड़ने योग्य है। जैसे—आठ कर्मों का अपना अनुभाग होता है उससे अलग-अलग भाव होते हैं, सबके बंधन एक से थोड़े ही होते हैं और सबके अनुभाग एक से थोड़े ही होते हैं, जैसे आयु कर्म के बारे में कोई पूछ ले, कि अनुभाग क्या काम करता है या किमात्मक होता है? तो कहते हैं, सबके आयु कर्म में तारतम्य रहता है।

दृष्टान्त—जैसे—यहाँ पर कुछ सामान्य जेल होती हैं और कुछ वी. आई.पी. जेल होती हैं। सामान्य जेल में तो सामान्य जनता अपराधी के रूप में जाती है, लेकिन वी.आई.पी. जेल नेता आदि के लिए होती है। सत्याग्रह करके नेता जेल गये, तो इसमें इतना समझो कि कोई जेल में राजनीति की दृष्टि से जाता है तो कोई अपराध करके जाता है, ये भिन्नता है। इसी प्रकार आयु कर्म के उदय में भिन्नता होती है। लेकिन मूर्च्छा भाव तो जब भी होंगे, वैभाविक परिणति को लेकर ही होंगे, स्वभाव को लेकर कभी मूर्च्छा नहीं होती है, क्योंकि स्वभाव की ओर देखने से मूर्च्छा टूटती है और विभाव की ओर देखने से मूर्च्छा जुड़ती है, इसलिए अध्यात्म ग्रन्थों में ममत्व भाव का नाम मूर्च्छा है। आठ मदों को लेकर रागद्वेषादि भाव अभिमानात्मक होते हैं, दीनहीन हो जाना, यह भी उसी प्रकार की एक परिणति है जो कर्म के उदय में होती है, फिर भी ज्ञानी का निश्चय अथवा उसकी सोच क्या होती है यह आगे की गाथा में बतायेंगे।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि शरीरादि पर द्रव्य मेरा परिग्रह नहीं है, इसी बात को और भी दृढ़ता से कहते हैं—

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं ।

जम्हा तम्हा गच्छदु तहावि ण परिग्गहो मज्झ ॥२१८॥

अन्वयार्थ—(छिज्जदु वा) छिद जाये अथवा (भिज्जदु वा) भिद जाये अथवा (णिज्जदु वा) कोई ले जाये अथवा (विप्पलयं जादु) नष्ट हो जाये (अहव) अथवा (जम्हा तम्हा) जैसे-तैसे

(गच्छदु) चला जाये (तहावि) तो भी (परिग्रहो) शरीरादि परिग्रह (मज्झ ण) मेरा नहीं है।

अर्थ—यह शरीरादिक पर द्रव्य भले ही छिद जावो, भिद जावो अथवा कोई इसे ले जावो, अथवा नष्ट हो जावो, जिस किसी दशा को भी प्राप्त हो जावो तो भी यह मेरा परिग्रह नहीं है यह निश्चित है। इस प्रकार विचार कर ज्ञानी तो अपने स्वस्थ स्वभाव में रहता है।

हो जीर्ण-शीर्ण तन पूर्ण सड़े गले ही,
भाई भले अनल से पल में जले ही।
हो खण्ड-खण्ड अणु होकर भी खिरेगा,
मेरा न राग तन में फिर भी जगेगा ॥२१८॥

व्याख्या—भले यह शरीर छिद जावे, भिद जावे अर्थात् भेद को प्राप्त हो जाये, भींग जाये या प्रलय को प्राप्त हो जाये अथवा जिस किसी दशा को भी प्राप्त हो जाये तो भी यह मेरा परिग्रह नहीं है, तो फिर मेरा क्या है? आत्मतत्त्व को छोड़ करके, ज्ञानदर्शन स्वभाव को छोड़ करके कुछ भी मेरा नहीं है। हमारे पास कुछ होना चाहिए तो मात्र ज्ञान, दर्शन, तप, वीर्य आदि ही होना चाहिए। यह परिग्रह नहीं है, ये तो हमारा वास्तविक धन है, इसके माध्यम से ही अपना अस्तित्व टिका हुआ है इसलिए इसको छोड़ करके शरीर की विवक्षा में अथवा अन्य कोई भी बाहरी द्रव्य की विवक्षा में जो परिणतियाँ हो जाती हैं तो हो जाने दो, हमें इससे कोई मतलब नहीं है, क्योंकि एकत्व भावना के साथ जो चलता है, उसमें ये कुछ भी घटित नहीं होता और यदि घटित होता भी है तो उसके प्रति मूर्च्छा नहीं होती अतः जिसके माध्यम से मूर्च्छा नहीं होती है, वह अपने लिए स्वभाव के रूप में स्वीकृत है, यही एक मात्र सहारा है।

आत्म तत्त्व का सहारा वास्तविक है—आज तक जो श्रमण मुक्त हुए हैं, हो रहे हैं अथवा आगे मुक्त होंगे उन सबका सहारा एक मात्र आत्मतत्त्व था, है और रहेगा। **णिज्जदु वा** अर्थात् इसे कहीं भी ले जाया जाये फिर भी वह मेरा परिग्रह नहीं है, किसी भी अवस्था को प्राप्त कराया जाये तो भी वह मेरा परिग्रह नहीं है। ऐसा विश्वास रख करके ही चलना चाहिए। बहुत कम अवसर ऐसे आते हैं जो हमारे श्रद्धान को डिगा सकें। श्रद्धा में तारतम्य होना अलग वस्तु है तथा श्रद्धा का पूर्णतः विचलित हो जाना अलग बात है। इसमें हमेशा-हमेशा तारतम्य बना रहता है। संसार में संक्लेश व विशुद्धि रूप परिणाम होना अनिवार्य है, वे तो होते ही रहते हैं। जैसे—दिन के बाद रात, रात के बाद दिन होता है। उसी प्रकार संक्लेश व विशुद्धि के बिना छद्मस्थ अवस्था चलती ही नहीं है। सत्त्व को लेकर जब तक कषाय का सम्बन्ध रहता है, तब तक श्रद्धा में भी तारतम्य पाया जाता है, यह छद्मस्थ अवस्था का नियम है। कहीं-कहीं पर यह लिख देते हैं कि कषाय सहित अवस्था में कषाय की हानि में ही लब्धि-स्थान होते हैं लेकिन **तत्त्वार्थसूत्र** की टीका इत्यादि में देखते हैं तो पुरुषार्थ के अभाव में भी असंख्यात संयम लब्धिस्थान से आगे जाकर यथाख्यात चारित्र होता है इसके बाद एक और संयम

लब्धि स्थान हो करके जिनेन्द्र भगवान् को परम-यथाख्यात चारित्र प्राप्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि यथाख्यातचारित्र के साथ भी संयम लब्धिस्थान होते हैं। उसका विकास असंख्यात रूप में होता है, ऐसा कहा है, जब तक कषाय है, तब तक लब्धिस्थान हैं और बाद में भी है, लेकिन चारित्र सम्बन्धी स्थिरता छद्मस्थ अवस्था के बाद ही होती है। इसमें भी यथाख्यात चारित्र और केवली का परम यथाख्यात चारित्र ऐसे दो भेद किये जाते हैं। ये भेद तो चलते ही रहते हैं, अन्यथा उसके द्वारा भिन्न रूप से संवर निर्जरा घटित नहीं होगी।

उक्त समस्त बातों को देखकर, जानकर जो चलता है, वह व्यक्ति इस ढंग से शरीर को गौण करके चलता है। वह कहता है यह मेरा दृढ़ निश्चय है, कि टंकोत्कीर्ण एक मात्र ज्ञायक स्वभाव वाला मैं हूँ। जैसे कि, वज्रलेप होता है, उसमें हजारों वर्षों तक कोई तबदीली नहीं आती है, उसी प्रकार का मेरा तो एक ज्ञायकपिण्ड रूप आत्म-तत्त्व है यही अनन्त शक्ति सम्पन्न, अनन्तवीर्य वाला है, जब अनन्तवीर्य वाला है, तो किसी भी प्रकार से मेरा आत्म-तत्त्व बिखरेगा ही नहीं। वह तो ज्यों का त्यों बना रहेगा, ज्ञान के कारण आत्मतत्त्व बिखरा हुआ रहता है, ऐसा भी नहीं है, उसके पास अनन्तशक्ति भी है, जिस वजह से आज तक कितने भी प्रलय हो गये उस समय भी पृथ्वीकायिक या जलकायिक आदि रूप में यह जीव रूप बदलता रहा, प्रलय में झुलसता रहा, ऊपर का मलवा जो है वह धूल-धूल होकर बिखरता गया, सात-सात दिन तक अग्नि आदि की ४९ दिन वर्षा होती रही, जिससे कि चित्रा पृथ्वी के गर्भ में जो मोती, माणिक आदि थे, सब समाप्त होते गये, कहते हैं कि सौ-सौ किलोमीटर के गड्ढे हो जाते हैं और सूर्य और ऊपर हो जायेगा और हिमयुग आयेगा तो कुछ भी नहीं बचेगा, ऐसा भी कहते हैं ये परिवर्तन भरत और ऐरावत क्षेत्र में ही होते रहते हैं, तो भी इन सब परिवर्तनों में वह आत्मतत्त्व बिखरता नहीं है, उसके रूप बदलते रहते हैं ये बात अलग है। अभी अवसर्पिणी काल चल रहा है तो यहाँ प्रलयकालीन स्थिति में ४९ दिन तक दुर्भिक्ष रूप वर्षा होगी और उत्सर्पिणी काल आने पर सुभिक्ष रूप ४९ दिन तक वर्षा होगी, यह प्रलय होना जिस प्रकार निश्चित है, उसी प्रकार इस शरीर को कितना भी सुरक्षित रखो, फिर भी एक दिन तो बिखरेगा ही, जब यह निश्चित है, तो इस शरीर में हमें कोई मूर्च्छा नहीं रखना चाहिए।

जिज्ञासा—श्रमण के पास ऐसा कौन-सा बल होता है, जिसके आधार पर आत्मतत्त्व के प्रति दृढ़ निर्णय कर लेता है और शरीर के प्रति मूर्च्छा नहीं करता?

समाधान—आचार्य कहते हैं संतोष गुण के कारण, संतोष की उपासना होने के कारण, तत्त्व-ज्ञान भेद-विज्ञान के कारण, वैराग्य के कारण यह सब संभव है। अतः हमें संतोष की उपासना सर्वप्रथम करना चाहिए। पहले के लोग संतोषी प्राणी थे, आज के लोग संतोषी तो हैं, लेकिन विघ्न संतोषी है अर्थात् दूसरे के कार्य में विघ्न उत्पन्न करने से उनको संतोष होता है, संतोष की लहर उन्हें आती है, लेकिन यहाँ तो अध्यात्म-ग्रन्थ में आत्मा में संतोष की बात चल रही है।

उत्थानिका—अब आत्म-सुख में ही संतोष है, ऐसा बतलाते हैं,
एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि।
एदेण होहि तित्तो तो होहदि उत्तमं सोक्खं ॥२१९॥

अन्वयार्थ—(एदम्हि) इस (ज्ञानस्वरूपी आत्मा में) (णिच्चं) सदा काल (रदो) लीन (होहि) होओ (संतुट्ठो) संतुष्ट रहो (एदम्हि) इसी में (णिच्चं) सदा होओ। (तित्तो) तृप्त (होहि) होओ (एदेण) इसी से तो (तो) तुझे (उत्तमं सोक्खं) उत्तम सुख (होहदि) होगा।

अर्थ—हे आत्मन्! यदि तू सुख चाहता है तो उसी आत्मानुभव रूप ज्ञान में तल्लीन होकर रह। उसी में सदा के लिए संतोष धारण कर और उसी के द्वारा तृप्त हो सब इच्छाओं को छोड़, तभी सदा बना रहने वाला उत्तम सुख प्राप्त होगा।

**सद्बोध रूप सर में डुबकी लगाले,
संतुप्त तू स्नपित हो सुख शांति पाले।
औ अन्त में बल अनन्त ज्वलन्त पाके,
विश्राम ले अमित काल स्वधाम जाके ॥२१९॥**

व्याख्या—हे भव्य! तू पञ्चेन्द्रियजन्य सुख को छोड़ कर निर्विकल्प स्वरूप आत्मध्यान के बल से सहज स्वाभाविक आत्म सुख में लीन हो। उसी में संतुष्ट बन एवं सदा के लिए तृप्त हो करके रह। इस आत्म-तत्त्व के सुख का अनुभव करने से तुझे शाश्वत मोक्ष सुख प्राप्त होगा। आचार्य कहते हैं हे आत्मन्! यदि तू सुख चाहता है तो उसी आत्मानुभव ज्ञान में तल्लीन हो कर रह और उसी में सदा के लिए संतोष धारण कर, उसी के द्वारा तृप्त होकर समस्त इच्छाओं को छोड़, तभी अविनाशी उत्तम सुख प्राप्त होगा, आत्मतत्त्व में रम जाओ, उसी में ही संतुष्ट हो जाओ, उसी में तृप्त हो जाओ, ऐसी दृढ़ धारणा बना लो तो उत्तम सुख की उपलब्धि भी इसी से सहज ही उपलब्धि हो सकेगी। चारों तरफ से आप उसी को देखो जानो, समझो, चर्चा भी उसी की करो, उस आत्म-तत्त्व को ही दृष्टि में लेकर सारी क्रियायें होना चाहिए।

दृष्टान्त—जैसे वर्ण चिकित्सा, रस चिकित्सा, स्पर्श चिकित्सा, गंध चिकित्सा आदि-आदि होती हैं, ये सारी की सारी चिकित्सायें एक-एक इन्द्रियों की अपेक्षा से हैं। शब्दों के माध्यम से भी चिकित्सा की जाती है, जिसके द्वारा धारणा परिवर्तित हो जाती है। आज तो योगा के माध्यम से भी रोगी को ठीक किया जा रहा है, रोगी के उपयोग को परिवर्तित करने के लिए सर्वप्रथम योगाभ्यास कराया जाता है। उसी प्रकार की बात यहाँ पर भी कही जा रही है कि उसी आत्मतत्त्व में संतुष्ट हो जा, रम जा, उसी से तृप्ति होगी और उसी के माध्यम से परम अविनश्वर तत्त्व की उपलब्धि होगी। यह बताइये ऐसा क्यों कहा जाता है? कि जब तक स्कूल, कॉलेज नहीं जाओगे, तब तक सही अध्ययन नहीं होगा, वह पढ़ा-लिखा तो है नहीं, क्या जानेगा? ऐसा उससे क्यों कहा जाता है? यह बच्चों को

परेशानी क्यों कराई जाती है, घर को ही स्कूल बना लो न? क्या बात हो गई? घर में रहते हुए भी घर मेरा नहीं है, इतना तो कहो और कोई मान लो, घर का स्वामित्व लेता है, तो आँखों में पानी और माथे में दर्द नहीं होना चाहिए, लेकिन ऐसा क्यों होता है? जब घर मेरा है ही नहीं तो किसी के नाम का भी कैसे हो सकता है? जब घर किसी का नहीं है तो किसी के नाम करने से उसका थोड़े ही हो जायेगा। मेरा नहीं, तो किसी का भी नहीं है। जैसे अपने नाम से था, वैसे उसके नाम से हो गया। घर, घर में है, हम, हम में हैं, तुम, तुममें हो, ये क्यों नहीं सोचा जाता है, घर छोड़ो, ये क्यों कहा जाता है? घर से आप किस रूप में चिपके हैं, चवत्री भी कम हो जाये तो माथा दर्द करता है, फिर ये ऊपर-ऊपर क्यों कहा जाता है कि कुछ भी परिग्रह मेरा नहीं है। यूँ कहना चाहिए कि गुमराह करने के लिए ऐसा कहा जाता है।

संस्मरण—एक व्यक्ति एक किताब ले करके आया और उसने कहा, महाराज! आपने ये किताब पढ़ी है क्या? हाँ, पढ़ी तो है, कैसी लगी? हमने कहा—आपको कैसी लगी? आपने भी तो पढ़ी होगी, तो वह गंभीर हो गया, मतलब वो हमें बताना चाहते थे, कि महाराज को पढ़ना चाहिए, हम तो इस तरह की पचासों किताबें पढ़ चुके हैं, फिर महाराज कैसा लगा? जब आप नहीं बता सकते, तो फिर मैं आपके सामने अपना अनुभव बता करके क्या करूँगा? संसारी प्राणी अनुकूलता चाहता है, सब कुछ अपने अनुकूल चाहता है, वह कहता है कि कुछ तो बताओ महाराज! तो फिर हमने कहा कि इसमें जो कुछ भी लिखा है या कहा गया है, उसका साधक कौन होगा? तथा उसके भीतरी व बाहरी प्रतीक क्या होंगे? बस...ये दो प्रश्न रखते ही वे हिल गये, क्योंकि भीतरी पहचान तो लिखी हुई है लेकिन इसका साधक बाहर से कैसा होता है? यह बताओ, इतना कहते ही वह कहने लगता है, कि महाराज देखो! आप किसका समर्थन करना चाहते हैं? तो हमने कहा कि आप इसके सम्पादक हैं, अध्येता हैं, प्रचारक-प्रसारक हैं, आपका इस पुस्तक के साथ बहुत सम्बन्ध जुड़ा है, तभी तो आपने हमसे पूछा, हमने तो कुछ कहा नहीं था, आपने जब हमसे पूछा, तो फिर हमने ये प्रश्न या जिज्ञासा रखी, कि इसका बाह्य रूप क्या होगा? बस इतना कहते ही बोला कि आप दिगम्बरत्व का आग्रह करते हैं। मैंने कहा कि मेरा दिगम्बर, श्वेताम्बर से कोई मतलब ही नहीं है हमारा तो इतना सा कहना है कि उस साधक का बाहरी विन्यास क्या होगा? यह बता दो। इसका साधक कौन है, इसके कुछ लक्षण हैं कि नहीं, यदि नहीं हैं तो आपने इससे क्या पाया? वह साधना कर रहा है, तो उसका बाहरी रूप क्या होगा? यदि केवल भीतरी रूप से ही सब कुछ होता है तो बाहर जो कुछ हो रहा है वह भीतर के बिना ही हो रहा है क्या? अपने आप हो रहा है क्या? उससे हो रहा है, या उसके बिना हो रहा है, यदि उसके बिना हो रहा है, तो कोई एतराज नहीं, क्योंकि भीतरी साधना को ही सुधारना है। अन्यत्र बाहरी रूप को स्वीकारा जा रहा है, तो उसका कुछ रूप वहाँ रेखांकित तो होगा? उसके बिना कार्य होता है, तो हमें कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है फिर भी यदि बाहरी रूप के बिना होता है तो अनेक प्रकार के जो बाहरी रूप

देखने में आते हैं वे कैसे संभव हैं? बाहर कुछ भी रूप हो उसका भीतर के साथ साम्य क्यों नहीं है? ऐसा भी कोई व्यक्ति पूछ सकता है। बाहर का तात्पर्य या उससे भिन्नता क्यों है? यह अन्तरंग के ऊपर डिपेण्ड (निर्भर) नहीं है क्या? जब उसके ऊपर डिपेण्ड नहीं है, तो घर को जोड़ो इसकी क्या आवश्यकता है, दोनों की आवश्यकता के बिना, ये चौबीसों घंटे गोरख धंधा क्यों हो रहा है? ये अपने आप हो रहा है क्या? ग्रन्थ सम्पादित होकर आ रहे हैं और उसमें प्रथम पृष्ठ पर लिखा जाता है कि **सर्वाधिकार सुरक्षित** ये सब क्या है? यह सेल्फ डिपेण्ड या वेल्थ डिपेण्ड है? कहते हैं बाहर का रूप कुछ भी हो उससे तो अपने को कुछ होने वाला नहीं है, फिर तो ये किताब बाहर की है, भीतर से आपका इससे सम्बन्ध नहीं है, तो फिर इस पुस्तक का कुछ भी होता रहे फिर विकल्प क्यों करो? **सर्वाधिकार सुरक्षित** रहे, पुस्तक के ऊपर ऐसा क्यों लिखा जाता है? इसे तो भीतर से सुरक्षित रखना चाहिए। भीतरी अन्तरंग में जाने से नहीं, बाह्य में आने व जाने पर पसीना ठंडा व गर्म आता रहता है। यदि बाहर का भीतर से कोई सम्बन्ध ही नहीं होता तो ये बताईये कि भरत चक्रवर्ती का युद्ध बाहर से हुआ कि भीतर से? तो किसी के रूप विन्यास के बिना भीतर पहुँच करके यह काम करने का जो भाव है वह कुछ ऐसा लगता है कि किसी न किसी उपदेष्टा का प्रभाव है। शब्द तो बाहर के हैं, शब्दों को सुनकर पीड़ा वाली बात भी नहीं है और नहीं होना चाहिए, क्योंकि अर्थ के ऊपर शब्द का कोई प्रभाव नहीं होता, लेकिन जिसने अर्थ को डायवर्शन करके ग्रहण किया है, अर्थात् बदल कर ग्रहण किया है, तो उसके शब्द सुनते ही कान खड़े हो जाते हैं, उनके अर्थ को धक्का लग जाता है, या शब्द के ऊपर डिपेण्ड जैसा लगता है। जिस प्रकार शब्द जो होता है, वह सही-सही अर्थ को इंगित करता है, उसी प्रकार बाहरी पदार्थ का रूप विन्यास भी भीतर का संकेत देता है, इसमें संदेह नहीं करना चाहिए। किसी का उपयोग यदि शब्द पर नहीं लगा है, तो वह उत्तर नहीं दे सकता, उपयोग लगा है तो दे देगा, लेकिन उपयोग लगा करके भी यदि भीतरी धारणा नहीं छोड़ता है, तो उसका उपयोग वहाँ लगा भी हो तो उससे क्या मतलब?

अर्थ तक जाने के लिए पैर चाहिए—शब्द के पास अर्थ तक पहुँचाने की क्षमता है, लेकिन पहुँचाने वाला लंगड़ा है तो नहीं जा सकता, क्योंकि अर्थ तक जाने के लिए पैर चाहिए। माइण्ड स्वस्थ भी हो, लेकिन पहले से धारणा कुछ और बनाकर रखी हो, तो भी नहीं जा सकता। सू+अ+स्थ=स्वस्थ और सु+अ=स्व बनता है, स्व बनने की प्रक्रिया ही सुप्रत्यय से प्रारंभ होती है। जब कभी भी इस शब्द का संधि विग्रह करेंगे, तो अर्थ निकालने में सुविधा होती है। जैसे कि स्वरूप उसको भी संधि विग्रह में लिखेंगे सु+अ+रूप=स्वरूप अर्थ निकलेगा। यदि यह बाहरी शब्दों पर डिपेण्ड ही नहीं है, फिर क्यों उलझ रहे हैं। लोग अर्थ तक ले जाना भी चाहते हैं और यह भी कहते हैं कि अर्थ किसी पर डिपेण्ड नहीं होता, फिर भी उसकी व्याख्या करते जाते हैं, हमें भी उसी रास्ते से चलना पड़ता है, तभी तो आदान-प्रदान होगा। बहुत कठिन है जो व्यक्ति किसी प्रकार का आग्रह नहीं करता, भीतर का ही सब

कुछ है ये जानता है, उसके उपरान्त भी बाहरी रूप विन्यास में थोड़ा-बहुत इधर का उधर हो जाता है, तो पसीना आ जाता है। इसका अर्थ ये है कि बाहरी विन्यास को स्वीकारते हुए भी वह गौण करना चाहता है बल्कि यूँ कहें कि कहीं न कहीं कमजोरी होने के कारण उसको अर्थात् बाहरी रूप को निगलेक्ट (निषिद्ध) करना चाहता है, यह इससे स्पष्ट होता है, इसलिए बहुत पढ़ने की आवश्यकता नहीं। निर्णय को पूछने के पहले आवश्यकता है कि उसका बाहरी रूप विन्यास क्या होगा? फिर बाद में हम किताब की बात करेंगे। जैन आचार्यों ने जहाँ कहीं भी कहा है तो यही कहा है कि **वक्तुः प्रामाण्यात् वचनं प्रमाणं** अर्थात् वक्ता की प्रमाणता से वचनों की प्रमाणता होती है। यहाँ टंकोत्कीर्ण स्वरूप है, वह कहीं भी हो, चाहे अमेरिका में हो, इंग्लैंड, रूस, जापान, जर्मन आदि-आदि कहीं भी हो लेकिन उसका बाहरी रूप विन्यास तो बताना होगा, क्योंकि **वक्तुः प्रामाण्यात् वचनं प्रमाणं** अर्थात् वक्ता की प्रमाणता से वचनों की प्रमाणता प्राप्त होती है। हमें वचनों की प्रमाणता सिद्ध नहीं करना है, किन्तु वक्ता की प्रामाणिकता सिद्ध करना है और देखना है कि जो वक्ता है उसका बाहरी रूप विन्यास क्या होगा? यह हम पूछना चाह रहे हैं, क्योंकि जैसे हम जिस किसी को वैज्ञानिक नहीं मान सकते। हम विज्ञान को मानना चाहते हैं तो वैज्ञानिक के माध्यम से ही मानेंगे, पुस्तक पढ़ने मात्र से नहीं, किन्तु वैज्ञानिक से सम्पर्क करने से ज्ञात होगा, कि उनकी अनुभूति चेष्टा व प्ररूपणाएँ क्या-क्या हैं? ये पहले देखना-सुनना चाहते हैं, तो वो क्या है? हम यह पूछना चाहते हैं और उससे उस पाठक का विश्वास अपने आप ही पहली बार के साक्षात्कार में हो जाता है।

शास्त्र तो बाद में आये, दिव्यध्वनि बाद में आयी, पहले तो जिनेन्द्र भगवान् बने हैं, तो जिनेन्द्र भगवान् का बाहरी रूप क्या है? ये बताना भी पहले आवश्यक है, इसको यदि गौण करना चाहते हैं, तो हम किसके आधार पर चलेंगे? अर्थ को हम पकड़ ही नहीं पाते हैं, क्योंकि शब्द के माध्यम से ही अर्थ की ओर जा सकते हैं और शब्द को देने वाला कौन है? यह हमें पहले सोचना चाहिए कि वह सामान्य पुरुष है या विशेष पुरुष है? यह ठीक है कि हम सामान्य पुरुष के बारे में एक दम जजमेंट नहीं दे सकते, न ही ले सकते हैं और जिनेन्द्र भगवान् बताना भी नहीं चाहते कि मैं जिन हूँ या जिनेन्द्र हूँ। मैं ही गुरु हूँ, मुझे ही मानो, ऐसा कोई भी नहीं कहते, ये तो हमारा कर्तव्य है कि हम उन्हें क्या मानें?

दृष्टान्त—जैसे—जो एम.डी. करके आया है वह डॉक्टर रोगी की परीक्षा नहीं कर सकता, फिर भी पूछना तो चाहिए तो किससे पूछें? डॉक्टर की बात डॉक्टर से पूछें या रोगी से पूछें? कहाँ से प्रारंभ करें? सभी डॉक्टर एक जुट हैं, तो किससे पूछोगे? वो तो कह देंगे कि यह भी ठीक है, वो भी ठीक है, तो फिर क्या करोगे? फिर निर्णय लेना होगा। हम आपसे यह पूछना चाहते हैं कि आपको अंदर का क्या दिख रहा है, हमें बताओ आप यदि मेरे ऊपर छोड़ देंगे तो फिर हम बतायेंगे। देखो! एक बार समर्पण तो करना होगा, यदि आप हमारी परीक्षा लेने आये हो तो पहले ही बता दो और परीक्षा लेने आये हो तो हम पहले ही कह देते हैं कि हम फेल हो जायेंगे, आप पास हो जाओगे। जाओ-जाओ

ये उलझन भरी सारी-सारी बातें बिना पेंदी के लोटे की तरह हो रही हैं।

प्रत्येक व्यक्ति अपने लेख आदि को सर्वाधिकार सुरक्षित करना चाहता है, क्योंकि इसमें जो लिखा है वह कहीं नहीं है, इसके बिना चिकित्सा संभव नहीं लेकिन इसके अलावा भी स्वयं अपने को गुरु कहने लग जायें तो गलत हो जायेगा। भगवान् कभी ये नहीं कहते कि मैं भगवान् हूँ, लेकिन भगवान् का स्वरूप क्या है? यह बताते हैं, ठीक है आप मत मानो, समवसरण से निकल जाये तो भी कोई बात नहीं। श्रद्धान को किसी में डाला थोड़े ही जाता है, ये तो होता है। निमित्त को निमित्त रूप में स्वीकार करो, यही निमित्त है ऐसा भी नहीं, अनेक प्रकार के निमित्त मिलते हैं, लेकिन जब कभी भी निमित्त मिलेगा, तो उसका बाहरी रूप क्या होगा? थोड़ा-सा निर्णय करना तो आवश्यक होगा, यही ठीक है ऐसा नहीं? बाहरी रूप क्या है? यह कहते ही आग्रह करने लगे, कि महाराज आप तो उस ओर ले जाना चाहते हैं, मैं किसी को कहीं ले जाना नहीं चाहता, लेकिन इसका बाहरी रूप क्या स्वीकार किया है? ये तो आपको बताना होगा। आज तक ऐसा कोई भी कार्य नहीं हुआ, कि केवल उपादान को कारण घोषित कर दे और निमित्त को कोई भी कारण के रूप में स्वीकार नहीं करे। यह बात ठीक है—कि निमित्त जो होता है वह उपादान की तरह कार्य रूप में नहीं ढलता लेकिन योग्य निमित्त क्या वस्तु है? यह भी तो आपको देखना होगा। योग्य उपादान तो कार्य रूप होगा, अर्थात् योग्य उपादान है तो वह कार्य में ढलेगा यह ठीक है, लेकिन योग्य निमित्त क्या है? यह भी अपने को देखना आवश्यक है। उसका रूप-स्वरूप निर्धारण करना आवश्यक है। क्योंकि वह निमित्त ही देखने में आता है। आज तक किसी को उपादान देखने में आया हो तो मुझे बताओ। आप कुछ करो या न करो, लेकिन बाहरी रूप ही नहीं होता, ये कहना तो बंद कर दो...।

निमित्त में जटिलता तो है, लेकिन निमित्त का बाहरी कोई रूप ही नहीं होता, ये जो कहा जाता है इसके पीछे अवश्य कुछ न कुछ रहस्य छुपा हुआ है, हमारा आग्रह नहीं लेकिन इसका रूप कुछ होता ही नहीं, यदि आग्रह कर रहा है तो उसके सामने हम भी यह आग्रह रखेंगे। यही होना चाहिए ऐसा तो नहीं कह रहे हैं, लेकिन इसका बाहरी रूप क्या है? देखो! आँखों के द्वारा देख करके भी, कानों के द्वारा सुन कर भी, सब कुछ होकर भी यहाँ पर जो बिल्कुल निष्क्रिय होना चाहता है, या हो रहा है उसका कोई निर्णय नहीं है, सब अपने आप से ऐसे निर्णय लेने वाले होते हैं। इसलिए उनको सबसे पहले सर्वाधिकार सुरक्षित ये लिखना बंद कर देना चाहिए। अधिकार की कोई बात ही नहीं है इसमें तो स्वरूप की बात है, आप तत्त्व की बात कर रहे हैं मूल्यांकन करने जा रहे हैं तो ध्यान दें कि—

साहित्य अपने आपमें बहुत महत्वपूर्ण होता है, जहाँ हजारों-लाखों साहित्य काम नहीं कर पाते, वहाँ कभी-कभी एक साहित्य काम कर जाता है, यह निश्चित बात है। लेकिन वह साहित्य कैसा होना चाहिए? हितेन सहितं तस्य भावो साहित्यं अर्थात् हित से सहित साहित्य को होना चाहिए। अब हित क्या है? किसमें निहित है? ये सोचना भी अनिवार्य है, सब अपने-अपने साहित्य को सही मानते हैं,

लेकिन भगवान् ने मैं भगवान् हूँ, ऐसा नहीं कहा, फिर भी उसका बाहरी रूप निर्धारित किया है और निर्धारित होना भी चाहिए क्योंकि यहीं से पृष्ठभूमि बनती है।

दृष्टान्त—माँ की पहचान आज का लड़का मात्र भावों से नहीं करता है उसका भी रूप विन्यास होता है—जैसे—हजारों मातायें बैठी हों और सभी घूँघट लेकर बैठी हों, उन सबके बीच में एक लड़का रोता हुआ पहुँचता है, अपनी माँ को ढूँढने के लिए, वह माँ की पहचान मात्र भावों से नहीं करता किन्तु माँ की पहचान उसके बाह्य रूप विन्यास से करता है और बाह्य रूप विन्यास से अपनी माँ की पहचान करके अपनी सही माँ के पास पहुँच जाता है। प्रश्न उठता है कि घूँघट में से उसे अपनी माँ कैसे दिख गई? तो उसका भी रूप होता है बाहरी विन्यास होता है, कुछ आवाज, कुछ निगाह हुआ करती है, जो अन्यत्र नहीं पायी जाती है, यह बहुत स्थूल बात कह रहा हूँ, क्योंकि रूप-स्वरूप विन्यास बाहरी व भीतरी दोनों प्रकार के होते हैं। भीतरी जो कुछ भी है वह परोक्ष है, हमारे प्रत्यक्ष बुद्धिगम्य नहीं है, श्रद्धा का विषय है, लेकिन बाहरी रूप श्रद्धा का विषय भी है और हमारे इन्द्रिय ज्ञानगम्य भी है। सर्वप्रथम भगवान् को आपने देखा है, सोचा नहीं, पहले आँखों के द्वारा देखा, तो वीतराग रूप दिखा, यह वीतरागता का प्रतीक है ऐसा बाद में मन के द्वारा सोचा। उनकी चेष्टायें गतिविधियाँ आदि निर्णय के योग्य हो जाती हैं, इसलिए आचार्यों का तो यही कहना है कि बाहरी रूप को धारण करने के साथ-साथ यह बाहरी रूप भीतरी स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए कारण है यह भी भूलना नहीं चाहिए। यही निमित्त की सार्थकता है।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी जी ने **बृहत् स्वयंभू स्तोत्र** में **कुन्थुनाथ भगवान्** की स्तुति करते हुए लिखा है कि—

**बाह्यं तपः परम दुश्चर मा चरंस्त्व।
माध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थं॥**

ऐसा कहा है। बाहरी तप को इसलिए स्वीकार किया है कि इसके द्वारा भीतरी तप की वृद्धि होती है और भीतरी तप के द्वारा निर्जरा होती है यह भी निश्चित है। भीतरी कर्मों की निर्जरा, भीतरी तपों के द्वारा होती है, लेकिन भीतरी तपों के लिए जो प्रतिपल संबल होता है वह बाहरी तप के माध्यम से मिलता है। तो बाहरी तप का भी कोई रूप विन्यास तो होगा, ये कहने का तात्पर्य है यदि ऐसा नहीं होता तो बताओ फिर क्या है?

शास्त्र व गुरु से प्रामाणिकता होती है तो सभी के पास शास्त्र हैं और गुरु हैं, लेकिन गुरु का लक्षण बांधने से वह इधर-उधर हिल-डुल नहीं सकता। अन्तरंग की बात मैं अभी नहीं कर रहा हूँ। बाहर कैसे भी हो अन्तरंग में विविधता होती है इसलिए उसमें यह भी है, कि राग-द्वेष से रहित अन्तरंग व्यवस्था है। ऐसा भी किसी का मानना है तो मानना पड़ेगा, हम यह कह रहे हैं कि अन्तरंग व्यवस्था में विविधता है तो बाहरी अवस्था में भी विविधता है, यह मेरी व्यवस्था ठीक है उनकी नहीं ये निर्धारण

कैसे किया? और कैसे होगा? या तो यूँ कह दो कि जो कोई भी रास्ते हैं सब मंजिल तक पहुँचाने वाले हैं, फिर मील के पत्थर क्यों लगाये जाते हैं? उनके ऊपर नाम क्यों लिखे जाते हैं? जब सभी मार्ग मंजिल तक ले जाने वाले हैं तो, नदियाँ जायेंगी तो समुद्र के पास ही जायेंगी, दूसरा रास्ता नहीं है तो हजारों रास्ते मत बताओ यूँ कह दो कि ढलान पकड़ो। आप एक तरफ तो विविधता कह रहे हैं और एक तरफ से यह भी कह रहे हैं एक ही रास्ता है, उसमें भटकन नहीं है।

दृष्टान्त—नदियाँ तो कहीं भी चली जायें और कभी भी जायें तो ढलान की ओर लुढ़कती चली जाती हैं, वो बहुत सयानी होती हैं, ढलान मिली और लुढ़की। सोन नदी पूर्व की ओर गई और नर्मदा नदी पश्चिम की ओर गई तो सोन नदी ने नर्मदा नदी से नहीं पूछा, कि तुम उधर उस दिशा में क्यों जा रही हो? वह तो ढलान मिली और भागी, एक को पूर्व में, एक को पश्चिम में ढलान मिली और चल दी और दोनों जाकर समुद्र में मिल गई, दूसरा कोई रास्ता नहीं है, तो ढलान को रास्ता कहो, फिर विविधता क्यों? भीतर में ढलान है कि नहीं यह देख लो, चढ़ाओ क्यों? भीतर में बहुत बड़े-बड़े चढ़ाव हैं, तो बाहर में भी बहुत बड़े-बड़े चढ़ाव हैं। आप आगे की बात सोच रहे हैं, पहले बाह्य स्वरूप विन्यास करना यह आवश्यक है।

दृष्टान्त—सभी डॉक्टर हैं जो रोग का इलाज करते हैं लेकिन प्रत्येक रोग से संबंधित अलग-अलग स्पेशलिस्ट डॉक्टर होते हैं, तो जैसा रोगी है उसकी चिकित्सा उसी रोग के स्पेशलिस्ट के पास होगी, इसमें पब्लिसिटी करने की क्या आवश्यकता है? वह तो रोगी ही जाने कि उसे कहाँ जाना है? वर्तमान में एक बार रोगी को भर्ती किया जाता है, मुँह माँगा पैसा भी लिया जाता है और सही चिकित्सा भी नहीं की जाती बल्कि कह देते हैं कि इसे बॉम्बे ले जाओ तब वह रोगी कहता है, पहले ही कह देते तो डॉक्टर कहता है कि पहले कैसे कह देते? फिर नोट कैसे आते? अब सर्वाधिकार सुरक्षित है, आपके जेब में से हमारे जेब में आ गये ठीक है अब जाओ, ऐसा करना ठीक नहीं है। यह बाहरी रूप विन्यास बड़ा महत्वपूर्ण है क्योंकि भीतर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र है या नहीं यह हम नहीं जान सकते लेकिन बाह्य में २८ मूलगुणों का पालन हो रहा है वह मुद्रा उनके लिए सम्यग्दर्शन का कारण बन जाती है, अथवा बन सकती है। बस, मूल तो यही है, बाह्य में दृष्टि है ही नहीं, दृष्टि तो हमेशा भीतर रहती है, लेकिन बाहर को देखकर ही भीतर का निर्णय होता है।

दृष्टान्त—जैसे—सिनेमा या ट्यूरिंग टॉकीज आदि जो होते हैं वो भीतर ही होते हैं, लेकिन बटन दबाकर पर्दे पर देखते हैं कि ठीक-ठीक है या नहीं, जो ऑपरेटर होता है वह केबिन में ही रहता है, वह बाहर से दिखता नहीं है, पर्दे पर चित्र को सुधारने के लिए वह बाहर नहीं आता। और पूरी लाइट भी बंद कर देता है। यह सब कार्य बाहर देख-देखकर करता है बाह्य दृष्टि आती है भीतर के साथ, उसको कभी छोड़ता नहीं है वो बाहर का सब ठीक है कि नहीं, ये एंगल बनाकर वह पहले देख लेता है कि यह मेरी छाया कहाँ जाकर पड़ेगी। बहिरंग विन्यास अपने आप में महत्वपूर्ण है। भीतर का ही बाहर

में परछाई के रूप में आया है। यदि ऐसा नहीं है तो आप कितना भी करते चले जाओ कभी भी यह निर्णीत नहीं हो सकेगा। भीतर के बारे में हम कुछ कह नहीं सकते उसमें हमारा अधिकार भी नहीं है किन्तु बाहर के बारे में हम कह सकते हैं कि उसका कुछ न कुछ रूप होना चाहिए, वह रूप क्या है? इसका हम आग्रह नहीं कर रहे हैं लेकिन इस प्रकार हमने प्रश्न रखे तो वे तिलमिला गये, तब हमने सोचा कि अब इनके सामने और क्या कहा जाये? दो-तीन बातें तो फिर भी कह दीं, तो उन्हें उससे भी ज्यादा तिलमिलाहट हो गयी, तब हमने सोचा कि ये सब क्या है? बस सर्वाधिकार सुरक्षित है।

परमात्म सुख में लीन हो जा—हे भव्य जीव! पञ्चेन्द्रिय विषयों के सुख से विराम ले लो और स्वाभाविक निर्विकल्प योग के बल से अपने स्वभाविक परमात्म-सुख में रत हो जाओ, तो वह कहता है, कुछ दिखे तो उसमें मैं रत हो जाऊँ, उसके बारे में बतायें तो कैसे बतायें? दिखायें तो कैसे दिखायें? और दिखाने की चीज तो है नहीं, शब्द ही काम कर सकते हैं लेकिन शब्द के पास सीमित शक्ति है यह शब्द जो है वह अर्थ उद्घाटित कर भी सकता है और नहीं भी और अर्थ को उद्घाटित कर भी दे, तो सामने वाला अर्थ तक पहुँच भी सकता है और नहीं भी कोई नियामक नहीं है। इस सिद्धान्त को जो व्यक्ति जानता है उसको मैं पहुँचा करके रहूँगा ही...ऐसा आग्रह नहीं कर सकता। यदि इसमें हठ या आग्रह हो जायेगा तो कर्तृत्व बुद्धि आ जायेगी तथा कर्तव्य फेल हो जायेगा। आत्मतत्त्व में जब तृप्ति होगी, तभी उत्तम सुख की उपलब्धि होगी यह निश्चित है, इससे यह सिद्ध हो गया कि ये आत्मिक-साधना के द्वारा या आत्मानुभव के द्वारा ही उत्तम, अक्षय, अविनश्वर सुख प्राप्त होता है। आत्मसुख में ही संतोष का अनुभव होता है अन्यत्र संतोष है ही नहीं। इस आत्मा का गौरव जिसे नहीं है, उसे कहीं भी संतोष का अनुभव नहीं होगा, क्योंकि अन्यत्र जहाँ भी चले जायेंगे तो पर ही मिलेगा और पर में संतोष कहाँ तक रख सकते हैं। आत्मा को छोड़ कर अन्यत्र संतोष है ही नहीं, ये कल गाथा में कहा ही गया था।

अब आगे जो पाँच ज्ञान हैं उसमें भी अभेद को लेकर ज्ञानी चलता है। ज्ञान आत्मा का त्रैकालिक स्वभाव है तथा केवलज्ञान आत्मा का प्राप्तव्य रूप स्वभाव है। मति श्रुत आदि चार ज्ञान वैभाविक होते हुए भी केवलज्ञान की प्राप्ति में सहायभूत होने से उपादेय भूत हैं। अतः कथञ्चित् यह भी स्वभाव है। इस प्रकार ज्ञान की तीन परिणतियाँ हो गईं, एक तो वह जो त्रैकालिक स्वभाव वाला है, यह किसी के ऊपर डिपेण्ड नहीं है, यह त्रैकालिक रूप से प्राणी मात्र में जो ज्ञान की धारा बह रही है वह स्वाभाविक है। दूसरा केवलज्ञान जो कि स्वभाव है वह सादिअनन्त होता है, इसे सादि अपर्यवसान बोलते हैं। यह साधना के फल स्वरूप प्राप्त होता है किन्तु साधना के समय पर कौन-सा ऐसा ज्ञान है जिसके द्वारा केवलज्ञान उत्पन्न होता है? उनमें मति और श्रुतज्ञान को मुख्य रूप से कारण माना गया है। अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान को भी जोड़ लें, क्योंकि वे भी सम्यग्ज्ञान हैं लेकिन केवलज्ञान उत्पन्न होने के समय ये उपयोगात्मक नहीं होते इस प्रकार स्वभाव की दृष्टि से देखते हैं तो ज्ञान की तीन

परिणतियाँ हो गईं। लेकिन प्रसंग में यहाँ पर पाँचों भेदों को इष्ट नहीं समझा है किन्तु सामान्य से जो ज्ञानधारा है उसी को यहाँ पर परमात्मपद प्रदायक माना है। यह परमात्मपद भूत है, मोक्ष के कारण भूत है और यह तब प्राप्त होता है जब जीव हर्ष-विषाद से रहित होता है। इसका अर्थ यह है कि मतिज्ञानादि चार ज्ञानों के साथ हर्ष-विषाद लगे रहते हैं। हर्ष-विषाद के साथ सम्यग्ज्ञान हमारे लिए मोक्ष का कारण नहीं होता है। ये चार ज्ञान हर्ष-विषाद के साथ भी देखे जाते हैं। अतः जो निर्विकल्प समाधि में ज्ञानधारा है, जो साक्षात् मोक्ष का साधन है उसकी यहाँ पर चर्चा कर रहे हैं। यह परमयोग अभ्यास से प्राप्त होता है। यह अखण्ड योग का अभ्यास जिसके जीवन में घटित होता है, वही व्यक्ति यहाँ पर आत्मा का अनुभव कर सकता है। यह आत्मा का अनुभव कराने वाला परमार्थतत्त्वभूत मोक्ष को देने वाला सम्यग्ज्ञान, सामान्य ज्ञान है। हम और आप क्षयोपशम ज्ञान के साथ क्षयोपशम दशा में बैठे हैं, यह ज्ञान विकासोन्मुखी भले ही हो लेकिन क्षायोपशमिक रूप है और यह पर की सहायता के बिना काम नहीं करता है और पूर्ण काम भी नहीं करता, यह तो काम चलाऊ है, चलाना है तो चलाओ। अभी हमने तीन बातें कहीं, उसमें कौन-सी सर्वोत्कृष्ट है? देख लो, क्योंकि मतिज्ञानादि को तो साधन रूप मानते हैं और ये हर्ष-विषाद के साथ भी होते हैं। अतः साधक इन को उपादेय नहीं मानते हैं। इसी बात को गाथा में **आचार्य कुन्दकुन्द देव** कह रहे हैं।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जिस परमार्थ रूप मोक्ष के कारणभूत पद हर्ष-विषाद आदि सभी प्रकार के विकल्प जाल से रहित है उस परमपद को यह आत्मा परम योगाभ्यास से ही अनुभव करता है—

आभिणिसुदोहिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं।

सो एसो परमट्टो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि ॥२२०॥

अन्वयार्थ—(आभिणिसुदोहिमणकेवलं च) मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान मनःपर्यय एवं केवलज्ञान इस प्रकार जिसके भेद किये जा सकते हैं (तं एक्कमेव) वह ज्ञान सामान्यतया एक ही (पदं होदि) पद है (सो एसो) जो कि (परमट्टो) परमार्थ है (जं लहिदुं) जिसे प्राप्त करके आत्मा (णिव्वुदिं जादि) मोक्षपद को प्राप्त होता है।

अर्थ—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान इस प्रकार जिसके भेद किये जा सकते हैं, यह ज्ञान सामान्यतया एक है जो कि परमार्थरूप है उसे प्राप्त करके ही आत्मा मुक्ति प्राप्त करता है।

**विज्ञान पंचविधि एक निजातमा है,
सत्यार्थ है निरखते अघ-खातमा है।
लेता सहाय निज का यदि चाव से तू,
लेगा विराम चिर चेतन छाँव में तू ॥२२०॥**

व्याख्या— मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान इस प्रकार जिसके भेद किये जा सकते हैं, वह ज्ञान सामान्यतया अभेद विवक्षा से एक है जो कि परमार्थ रूप है, उसे प्राप्त करके ही आत्मा मुक्ति को प्राप्त करता है अतः भेद-भिन्नता को ले करके नहीं सोचना चाहिए। यह भेद-भिन्नता एक प्रकार से विकल्प का कारण होती है।

**तवसिद्धे णयसिद्धे संयमसिद्धे चरित्तसिद्धे य
णाणम्मि दंसणम्मि य सिद्धेसिरसा णमंसामि।**

सिद्धभक्ति करते हुए यह कहा है कि चारित्र से भी सिद्ध होते हैं। चारित्र का अर्थ क्या है? किसी भी प्रकार का भेद किये बिना सामान्य से जो चारित्र है वह लेना। वह कौन-सा चारित्र है ये नहीं पूछना? बस, मात्र...चारित्र है। उसका नाम उल्लेख नहीं करेंगे। छेदोपस्थापना में भेद कल्पना की निरुक्ति की जाती है जहाँ पर भेदों की परिकल्पना की जाती है उसे छेदोपस्थापना के अन्तर्गत लिया जाता है। किन्तु जिसमें भेद की विवक्षा नहीं है वह चारित्र “**सर्वसावद्य विमुक्तं चारित्रम्**” अर्थात् सभी प्रकार के सावद्यों से जो मुक्त होगा उसका नाम चारित्र कहा है।

द्रव्यसंग्रह में भी आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी जी ने चारित्र की परिभाषा करते हुए लिखा है कि—“**असुहादो विणिवित्ति सुहे पवत्ती य जाणचरित्तं।**” अर्थात् अशुभ से हटकर शुभ में प्रवृत्ति करना भी चारित्र है। थोड़ा-सा इसका आविष्कार या परिष्कार हो गया उसके उपरान्त भेद कल्पना रूप सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात ये पाँच भेद हो गये। तो ये जो सामान्य रूप से चारित्र है उसके द्वारा मुक्ति मिलती है, उसी प्रकार यहाँ पर कह रहे हैं कि सामान्य रूप से जो ज्ञान है, जिन पाँचों में एक मात्र सामान्य रूप है उस ज्ञान की बात यहाँ पर की जा रही है। ज्ञान के जो पाँच भेद हैं उनमें तो विकल्प हैं, कोई क्षायिक है, कोई क्षायोपशमिक है, लेकिन इन पाँचों में अनुस्यूत रूप से जो सामान्यतया ज्ञानधारा है वह अभेद रूप है। उस अभेद को ही यहाँ पर ग्रहण किया है, क्योंकि अभेद को ग्रहण करने से रागद्वेष बंध नहीं होते हैं। जब कभी भी रागद्वेष उत्पन्न होंगे तो, वे भेद परिकल्पना में ही होंगे। रागद्वेष का ठिकाना भेद है, पर्याय है, विशेष है, ये तीनों एकार्थवाची हैं और सामान्य कहो, अभेद कहो इसमें किसी भी प्रकार का विकल्प उत्पन्न ही नहीं होता। सामान्य कथन में कोई विकल्प नहीं होता। छटनी नहीं होती, यही बात यहाँ पर कही जा रही है। ध्यान में छटनी करने से हमेशा-हमेशा विकल्प उत्पन्न हो जाते हैं, अतः सामान्य को ग्रहण करो। योगियों का ध्यान सामान्य को लेकर चलता है और सामान्य में थकावट भी नहीं होती है, विशेष में विशेष रूप से थकावट होती है।

जो हर्ष-विषाद से रहित ज्ञान है, उसको यहाँ पर सामान्य कहा है। जो कि मुक्ति के लिए कारण है। मति आदि चार ज्ञान, मुक्ति के लिए कारण नहीं हैं, ज्ञान विकल्प या हर्ष-विषाद सहित हों तो कारण नहीं बनते। यदि ये कारण होते, तो केवलज्ञान होने के उपरान्त भी ये पूर्वकोटि वर्ष तक रह जाते लेकिन

रहते नहीं हैं। ये चार ज्ञान स्वर्गादिक में कहीं न कहीं अटका देते हैं, इसलिए हर्ष-विषाद के साथ जो ज्ञान हैं, उसे सामान्य नहीं कहेंगे। वीतराग विज्ञान कहो या हर्ष-विषाद रहित ज्ञान कहो, एक ही है। वह कौन-सा ज्ञान है? सर्वावधि, परमावधि वाले को भी जब परम निर्विकल्प-समाधि मिले तभी केवलज्ञान होगा। आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त में सर्वावधि, परमावधि ज्ञान प्राप्त हो सकता है, होता भी है फिर भी किसी-किसी को केवलज्ञान प्राप्त होने में करोड़ों-वर्ष या पूर्व कोटि वर्ष तक लग सकते हैं। इस विषय में ये नियामक नहीं हैं किन्तु जो ज्ञान हर्ष-विषाद से रहित सामान्य ज्ञान है, उससे तो अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त हो सकता है। यहाँ पर उसी सामान्य ज्ञान की बात कही जा रही है।

दृष्टान्त—जैसे—मेघ से आवृत सूर्य के अनेक प्रकार के प्रकाश का तारतम्य देखने को मिलता है उसी प्रकार यहाँ भी तारतम्य को लेकर मति आदि पाँच ज्ञान हैं। प्रकाश के भेद होते हैं, तो प्रकाश में भेद न हो मात्र सामान्य प्रकाश हो, ऐसा भी विवक्षित हो सकता है, अभी तक कैसा प्रकाश था, अब कैसा लग रहा है? उपवास के उपरान्त गर्मी भड़क सकती है लेकिन शान्त हो तो कोई फर्क नहीं पड़ता, फिर भी उस स्थिति में देखने के लिए प्रकाश का भेद तो हो ही जाता है। मेघाच्छादन होने के उपरान्त इस प्रकार का वातावरण बन जाता है, क्योंकि क्षायोपशमिक ज्ञान है।

जैसे चारित्र की विवक्षा में पाँच चारित्र के साथ-साथ एक सामान्य चारित्र होता है। मनोयोगों में सामान्य मनोयोग, इसी तरह वचन योग में सामान्य वचन योग, काय योग में सामान्य काय योग को लिया जाता है, उसी प्रकार ज्ञान के भेदों में पाँच ज्ञान ले करके भी एक सामान्य ज्ञान होता है। उसी को यहाँ विवक्षित किया जा रहा है जो कि हर्ष-विषाद से रहित हो, बस। मति आदि चारों ज्ञान पर सापेक्ष हैं, इसलिए इनको हम गौण करना चाहते हैं, अपनी आत्मा का अनुभव करने वाले व अपनी आत्मा को विषय करने वाले ज्ञानी को चार ज्ञानों से मतलब नहीं रहता है। सामान्य जो क्षयोपशम होता है उसका भी कार्य अन्तर्मुखी होना है, बहिर्मुखी होना उसका कार्य नहीं है, इसलिए हम उसको चार-पाँच उजालों में बाँट नहीं सकते, जो सामान्य रूप है वह पाँच ज्ञानों में अभेद रूप से चल रहा है वही परमार्थ है जिसका आधार लेने से, जिसकी शरण में जाने से, अनुभव कर लेने से जीव निर्वाण को प्राप्त होता है। निर्वाण की प्राप्ति के लिए यह अभेद ज्ञान अनिवार्य है। केवलज्ञान भी निर्वाण के लिए साक्षात् कारण नहीं है। हालांकि वह हर्ष-विषाद से रहित है लेकिन वहाँ पर भी विकल्पात्मक है किन्तु जब वह ज्ञान ध्यानात्मक होता है, आत्मस्थ होता है, तभी वह ज्ञान मुक्ति के लिए कारण भूत होता है। केवलज्ञानी भी जब तक समवसरण में बैठे रहेंगे, तब तक मुक्ति को प्राप्त नहीं होंगे, यह बिल्कुल अकाट्य सत्य है क्योंकि वहाँ केवलज्ञान के द्वारा उपदेश में व्यस्त हैं। उन्हें भी उपदेश देना छोड़ना पड़ेगा, वे उपदेश छोड़ करके और अन्य सभी विहार आदि कार्य छोड़ करके, जब स्वस्थ व आत्मस्थ होते हैं तभी उन्हें मुक्ति का लाभ मिलता है, अन्यथा नहीं, यह भी अकाट्य नियम है।

केवल अपनी आत्मा को विषय बनाओ। समवसरण में जब उपदेश दे रहे हैं, उस समय वे

अपनी आत्मा को विषय नहीं बना रहे हैं, श्रुतज्ञान से ही मतलब नहीं है किन्तु केवलज्ञान होने के बाद भी योग निग्रह करके पहले बोलना बंद करो, क्योंकि श्रुत यानि शब्द का आधार ले करके बोल रहे हैं कि नहीं, यह आधार भी छोड़ दो, बोलना भी बंद कर दो, विग्रह गति में जैसे मनोयोग, वचनयोग नहीं होते हैं उसी प्रकार योग निग्रह करते समय मनोयोग, वचनयोग और बादर श्वासोच्छ्वास भी निकल जाता है, मात्र सूक्ष्म काय योग रह जाता है, तब सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक तृतीय शुक्लध्यान होता है पश्चात् चौदहवें गुणस्थान में जाने का फाटक खुलता है अन्यथा नहीं, जब तक समवसरण में रहेंगे तब तक मनोयोग, वचनयोग, काययोग में परिवर्तन तो होता ही रहेगा इसको कोई रोक भी नहीं सकता इसकी प्रक्रिया ही अलग है। इससे यह सिद्ध होता है कि केवली भगवान् सांसारिक कार्यों में व बाह्य क्रियाओं में रुचि तो नहीं लेते फिर भी भाग तो लेते हैं।

जिज्ञासा—महाराज! वे केवली भगवान् उपदेश आदि बाह्य कार्य में भाग लेते हैं तो रुचि पूर्वक ही लेते होंगे?

समाधान—नहीं, ये नहीं कह सकते, किसी भी कार्य में रुचि पूर्वक भाग लेना यह तो छद्मस्थ दशा में होता है, किन्तु जब तक योग निग्रह नहीं होता, तब तक केवलज्ञानी के उपदेश विहार आदि सहज प्रवृत्ति होती है इच्छा पूर्वक नहीं। अतः सहज ही भाग लिया जाता है फिर भी जो भाग ले रहे हैं, वे एकाग्र तो नहीं हैं, उनका कार्य अभी भी पराश्रित है। रागद्वेष नहीं होते हैं किन्तु साकार उपयोग तो होता है, हाँ हम लोग जैसा नहीं है किन्तु सविकल्प-दशा उनकी भी रहती है, योग से योगांतर होने रूप जो प्रवृत्ति है वह भी कथञ्चित् साकार-विकल्प रूप दशा है निराकार दशा योग निग्रह से प्राप्त हो जाती है यह फेक्ट (निश्चित) है, इसमें कोई शंका की बात नहीं है, इस प्रकार ज्ञान-शक्ति, वैराग्य-शक्ति का विशेष वर्णन करने रूप दस गाथाओं का यह प्रकरण समाप्त हुआ।

अब आगे आठ गाथाओं में उसी परमात्म पद को प्रकाशित करने वाले ज्ञान गुण का सामान्य रूप से वर्णन किया जा रहा है। जब कोई भी प्रतिभा सम्पन्न विद्यार्थी, जिस किसी भी विषय सम्बन्धी परीक्षा देने जाता है, तो उस विषय को छोड़ करके अन्य किसी विषय सम्बन्धी विचार करता है क्या? नहीं। अन्य किताबों को ढूँढ़ने में अन्य विषय सम्बन्धी चर्चा अपने क्लासफेलो के साथ करता है क्या? नहीं। यहाँ तक कि वह स्वयं किस कक्षा में है, इसका भी स्मरण नहीं के बराबर सा रहता है क्योंकि उसका उपयोग उस ओर नहीं जाता है।

दृष्टान्त—जैसे-प्रतिभासम्पन्न विद्यार्थी अन्य विषय सम्बन्धी पुस्तकों की चर्चा नहीं करता। कि कौन-सा विषय कमजोर है, कौन सा ठीक है आदि-आदि बल्कि सामने आये हुए पेपर में जो विषय होता है उसी को देखता है, उसी की ओर उसका ध्यान रहता है उसने पेपर को वांच लिया, पाँच मिनट किसके लिए दिए जाते हैं? पेपर पढ़ने के लिए दिए जाते हैं। इसके उपरान्त उसके दिमाग में यह बात आ गयी कि ये-ये प्रश्न हमें हल करना है। अब जिस प्रश्न को हल करने जा रहा है, उसके अलावा

पेपर के अन्तर्गत रहने वाले शेष प्रश्न भी उसके दिमाग में नहीं रहते उनको भी दिमाग से निकाल देता है। ये तो वही जानता है कि वह उनको दिमाग से क्यों निकाल देता है, क्योंकि अन्य दूसरे प्रश्नों को ध्यान में रखेगा, तो जो प्रश्न हल कर रहा है उसको हल नहीं कर पायेगा। अन्य विषय समाप्त तो पेपर सम्बन्धी अन्य प्रश्न भी समाप्त हो गये, जो तीन घंटे का समय मिल रहा है उसमें वह परीक्षार्थी एक सेकंड भी फालतू नहीं खोता, बल्कि एकाग्र हो जाता है। कोई कहे कि यह तो विद्यार्थी का लक्षण है ही नहीं कि अपने विषयों को भी भूल जाये, तो कहते हैं कि अभी वह विद्यार्थी नहीं है, अभी तो वह परीक्षार्थी है। उसे परीक्षा देना है, तो वह ऐसे ही दी जाती है, उसी प्रकार केवलज्ञान का भी प्रश्न ही नहीं उठता, केवलज्ञान तो हल हो चुका है, वह भी एक परिणाम था। परिणाम कभी दूसरे परीक्षा के परिणामों के लिए कारण नहीं हुआ करता, वह परिणाम तो निकल चुका, उन्हें केवलज्ञान हो चुका, वह एक प्रीवियस परीक्षा थी, केवलज्ञान तो छहमाही परीक्षा जो बीच में होती है, वैसी ही एक परीक्षा थी, यह छहमाही परीक्षा भी देना अनिवार्य है, उसकी तैयारी अलग है, लेकिन जब फाइनल परीक्षा की तैयारी की जाती है वह अलग है। इसलिए केवलज्ञानी को भी समवसरण रूप जो बस्ता है, उसे बांधबूँध करके रखना होता है। वह तो बांधने वाले नहीं थे, लेकिन छोड़ दिया, छोड़ने के उपरान्त अपने आपको समेट लिया और वे चले गये। कहाँ पर चले गये, युग के आदि में आदिनाथ भगवान् जो हुए हैं, वे कैलाशपर्वत पर चले गये थे। **धन्य हैं ! आदिनाथ भगवान् की जय।** कौन परीक्षा देने वाला और कौन परीक्षा लेने वाला, वहाँ पर कोई भी नकल नहीं कर सकता। युग के आदि में तृतीय काल था तब कैलाश पर्वत पर चले गये। फिर लौट करके नहीं आये और सुनते हैं उनको वहाँ एक महीने का समय लग गया। वह समय उनका योग निग्रह का समय माना जाता है। किसी को एक पक्ष का समय लगा, किसी को एक माह का। योग निग्रह करके पुनः समवसरण में लौटकर नहीं आते। इन्द्रों के माध्यम से सुनने में आया कि इन्होंने तो पंचम कल्याणक अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लिया। हो सकता है उस समय वहाँ कोई भी व्यक्ति उपस्थित न रहा हो, चक्रवर्ती वगैरह होंगे वे चले गये होंगे जो विद्याधर आदि होंगे वे विद्या के माध्यम से चले गये होंगे, अन्य कोई जा नहीं सकता, लेकिन उनकी यहाँ परीक्षा पद्धति कैसी भी? कैसी उनकी एकाग्रता थी? उनके सामने केवलज्ञान भी कोई वस्तु नहीं, क्योंकि केवली होने के बाद भी मोक्ष प्राप्त करने के लिए अर्थात् पंचमकल्याणक प्राप्त करने के लिए कुछ तैयारी शेष होती है, उसे भी करना अनिवार्य होता है, अतः केवली भगवान् भी कथञ्चित् विद्यार्थी तो हैं। मात्र केवलज्ञान की क्या महिमा गाना, उसकी महिमा गाओ जिसके माध्यम से साक्षात् मुक्ति मिल जाती है। केवलज्ञान होने के उपरान्त भी कुछ कम पूर्व कोटि काल तक यहाँ रह सकते हैं। यहाँ उस परमार्थ भूत ज्ञान की बात कही जा रही है जिस स्वसंवेदन ज्ञान के बिना या शुद्धात्मानुभूति के बिना मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती।

स्वसंवेदन ज्ञान के बिना सब व्यर्थ—तात्पर्य यह है कि यदि शुद्धात्मानुभूति रूप स्वसंवेदन

ज्ञान नहीं है तो कितने भी ब्रत करो, तपश्चर्या आदि करो, ये सारे के सारे स्वसंवेदन के अभाव में क्लेश का रूप धारण कर लेते हैं। सब कुछ भूलना अनिवार्य है, याद करके फिर भूलो, महाराज! किसी को यदि याद नहीं है, तो वह भूला ही है ऐसा नहीं, याद करके फिर भूलो, तब वह प्राप्त होगा, सब कुछ भूल जाओ, कोई भी व कुछ भी बीच में स्मरण में न आये, इन सबको भूलना और केवल अपने आपको देखते चले जाना, तब तो पास हो सकते हो। हमारे दिमाग में बहुत कुछ है, ठीक है, बहुत कुछ है, इसलिए परीक्षा में वही आना चाहिए, ऐसा तो नहीं है। बहुत ज्यादा आता है तो भी गड़बड़ हो जाता है, कुछ लोग तो एक प्रश्न पूछने पर दो-दो उत्तर दे देते हैं अथवा लिख देते हैं उनसे कहा जाता कि भैया! एक ही उत्तर पर्याप्त है, इसका अर्थ यह होता है कि दो में से एक उत्तर ले लो। दोनों में आपको आस्था नहीं है, इसमें भी संदेह है, उसमें भी संदेह है, ऐसा लगता है तब तो दो उत्तर लिखे। जैसे सौ शब्द का एक उत्तर दे दो, ऐसा भी कहा जाता है और सामने वाला सौ शब्द के स्थान पर दो सौ शब्द लिख दे, तो उसे कैसिल कर दिया जाता है, दो सौ शब्द लिखने में परिश्रम भी ज्यादा हुआ, समय भी ज्यादा लगा, इसलिए तो हमने सौ शब्दों में पूछा था, इस बात को ख्याल में क्यों नहीं रखा, इससे कम हो जाते हैं तो भी गड़बड़, ज्यादा होते हैं तो भी गड़बड़ हमें तो सौ शब्द चाहिए, ऐसा परीक्षक का कहना होता है, इसमें ध्यान एकाग्र होता है, कई लोगों को कहा जाता है कि पाँच माला फेर लेना, वो कहते हैं महाराज! हम तो भूल गये थे, दो-तीन माला और फेर ली, लेकिन ये ध्यान रखना, कि पाँच माला कहीं है तो आवश्यक है, कि पाँच ही माला फेरो, छह या चार माला फेरने के लिए तो कहा नहीं है, एक-दो ज्यादा कर लो ऐसा नहीं, पाँच माला के लिए कहा है तो उतनी ही फेरिये, पाँच किशतों में कहा है तो पाँच किशतों में फेर लीजिए, एक-एक माला पाँच दिन में फेरिये, तो वह ठीक माना जायेगा। जिस समय पर जितना कहते हैं, उतना ही करो, ज्यादा कर लिया तो इससे ज्यादा फल मिल जायेगा, ऐसा नहीं है। प्रायश्चित्त में जितना दिया जाता है, उतना किया जाता है। सात माला दी हैं, तो हमने ये तो कहा नहीं, कि एक ही दिन में फेर लो, पन्द्रह दिन में फेरो, पन्द्रह दिन का प्रायश्चित्त है, तो पन्द्रह दिन में फेरो न। एक साल का वार्षिक प्रायश्चित्त एक उपवास है, तो आगे आने वाली दीवाली के पहले कभी भी कर सकते हैं। कई लोग ऐसा भी करते हैं कि यदि भूल गये तो, तो जल्दी-जल्दी भी कर लेते हैं, साल भर का प्रायश्चित्त है तो हम कभी भी कर सकते हैं, तो कई लोग उसको आगे भी टाल जाते हैं और फिर भूलने की संभावना भी रह सकती है, चार महीने का प्रायश्चित्त है तो चार महीने के भीतर कभी भी कर सकते हैं, दैवसिक प्रायश्चित्त है तो रात होने के पूर्व में कर लो अर्थात् दिन-दिन में कर लो, रात्रिक है तो दिन होने से पहले कर लो। ऐसा नहीं है कि सप्लीमेंट्री आ गई है, तो अगले वर्ष दे दें, उसे तो उसी वर्ष के एग्जाम (परीक्षा) के पूर्व में देना आवश्यक है, इसको बोलते हैं पूरक-परीक्षा। इकट्ठी दोनों परीक्षा एक साथ दे दें ऐसा नहीं, ऐसा हो तो एम.ए. फाइनल में ही चौदह कक्षाओं की सप्लीमेंट्री दे दो, ऐसा कह दो, तो गड़बड़ हो जायेगा। ऐसा कभी आज तक किसी

यूनिवर्सिटी में हुआ है क्या? सागर यूनिवर्सिटी में ऐसा होता है क्या? नहीं। तो व्रत तपश्चर्या आदि जो हैं, यदि वे स्वात्मानुभूति के साथ नहीं हैं, तो कायक्लेश रूप ही हैं। स्वसंवेदन के बिना आत्मानुभूति को व परमात्म-तत्त्व को कभी भी प्राप्त नहीं किया जा सकता।

उत्थानिका—अब सबसे प्रथम यह बताते हैं कि मत्यादि पाँच ज्ञानों के द्वारा भी जिसका भेद नहीं हो पाता है, जो साक्षात् मोक्ष का कारणभूत है और परमात्मपद स्वरूप है, उस पद को शुद्धात्मा की अनुभूति से शून्य, केवल कायक्लेश आदि रूप, व्रत तपश्चरण आदि करने वाले प्राप्त नहीं कर सकते, क्योंकि वे स्वसंवेदन ज्ञान से हीन हैं—

णाणगुणेहिं विहीणा एदं तु पदं बहूवि ण लहंति।

तं गिण्ह सुपदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं ॥२२१॥

अन्वयार्थ—(णाणगुणेहिं) ज्ञान गुण से (विहीणा) रहित (बहूवि) बहुत से लोग (एदं तु पदं) इस ज्ञान स्वरूप पद को (ण लहंति) प्राप्त नहीं करते (तं) इसलिए हे भव्य! (जदि) यदि तू (कम्म परिमोक्खं) कर्मों से सर्वथा मुक्ति (इच्छसि) चाहता है तो (सुपदमेदं) ज्ञानस्वरूप पद को (गिण्ह) ग्रहण कर क्योंकि ज्ञानगुण से रहित बहुत पुरुष अनेक प्रकार के कर्म करते हुए भी मुक्त नहीं होते।

अर्थ—हे आत्मन्! यदि तू कर्मों से सर्वथा मुक्त होना चाहता है तो उस निश्चित ज्ञान को ग्रहण कर क्योंकि ज्ञानगुण से रहित बहुत पुरुष अनेक प्रकार के कर्म करते हुए भी इस ज्ञानस्वरूप पद को नहीं प्राप्त होते हैं।

होते कई मुनि, बिना निज बोध जीते,
पीते सुधा न निज की रह जाय रीते।
विज्ञान को भज अतः, विधि काटना है,
तू चाहता यदि निजी निधि छाँटना है ॥२२१॥

व्याख्या—हे आत्मन्! यदि तू कर्मों से सर्वथा मुक्त होना चाहता है, तो उस निश्चय-ज्ञान को ग्रहण कर, क्योंकि ज्ञान गुण से रहित, बहुत पुरुष अनेक प्रकार के कर्म करते हुए भी उस ज्ञान स्वरूप पद को प्राप्त नहीं होते हैं। बड़े-बड़े व्यक्ति भी, बड़ी-बड़ी बहुत सी बातें करके इसमें फेल हो जाते हैं। इस प्रासंगिक ज्ञान के अभाव में बहुत सारे लोग इस पद को प्राप्त नहीं कर पाते हैं। **आचार्य कुन्दकुन्द महाराज** आपके लम्बे-चौड़े ज्ञान रूप विशेष को नहीं चाहते, ज्ञान वृद्ध की बात करना नहीं चाहते, तपो वृद्ध की भी बात करना नहीं चाहते, वयोवृद्ध की भी वे प्रशंसा करना नहीं चाहते, किन्तु योगाभ्यास में जो वृद्ध हो गया है, आत्मानुभूति के लिए जो परिश्रमरत है, उसकी बात करते हैं। यह कायक्लेश के लिए कारण नहीं होता। आत्मानुभूति तो कायक्लेश को मिटाने के लिए कारण है, अतः उससे कायक्लेश होगा भी कैसे? हाँ, इस शुद्धात्मानुभूति के अभाव में तपश्चर्या क्लेश का ही कारण

होती है।

संस्मरण—एक साल तक पढ़ो, सुबह शाम पढ़ो। अब तो सुबह में ही एक ही बार स्कूल जाते हैं, आठ घंटे लगातार पढ़ते हैं, हम तो सात कक्षा पार होने तक, सुबह स्कूल जाते थे और शाम को भी जाते थे। आप लोगों की ट्यूशन के बिना पढ़ाई नहीं होती है, स्कूल भी जाओ और ट्यूशन भी, मास्टर से भी पढ़ो और अलग से भी पढ़ो, फिर भी परीक्षा में फेल हो गये, तो क्या उन्नति हो गयी, हम वृद्ध हैं, इस कक्षा के ... (हँसी) ३६५ दिन पुनः पढ़ेगा, हैरान हो जायेगा, ३६५ दिन का ये परिणाम निकला कि पास ही नहीं हुआ। पास क्यों नहीं हुआ बताओ? क्योंकि उस कक्षा में डेपथ में गया था क्या? कई लोग जो कक्षा में पढ़ते हैं लेकिन परीक्षा नहीं देते, उनसे पूछो कि परीक्षा क्यों नहीं दे रहे, तो कहते हैं कि अभी नहीं हम तो डिवीजन बनाना चाहते हैं, कौन-सा, कहाँ का डिवीजन बनाना चाहते हैं? सागर जिले का या गुना जिले का? क्या करें उस कक्षा से बाहर ही नहीं निकल पा रहा है, जो स्कूल से, कक्षा से बाहर ही नहीं निकलता वह बहुत होशियार माना जाता है ऐसा है क्या? नहीं, आचार्य कहते हैं तपस्या की भी और व्रत की भी एक अवधि होना चाहिए और उस बीच परीक्षा भी होना चाहिए। आज ही तपस्या अंगीकार करे और उसी दिन हाथों-हाथ परीक्षा दे सकता है क्या? हाँ यहाँ पर तो ऐसा हो सकता है, क्योंकि ऐसे कई पुराण पुरुष प्रसिद्ध हुए हैं जो दीक्षित हुए और ध्यान में बैठ गये, फिर उठे ही नहीं हाथों-हाथ परीक्षा देकर चले गये। उन्हें न पिच्छी लेना पड़ी न कमण्डलु लेना पड़ा, व्रतों को ले लिया बस...। फिर यह संयामोपकरण है, यह ज्ञानोपकरण है, इसे अच्छी ढंग से रख लो आदि-आदि कुछ विकल्प नहीं, नामकरण भी नहीं हुआ वे बैठे तो बैठे रहे, इसलिए आचार्य देव कह रहे हैं, कि एक सामान्य चारित्र के बल से उन्हें मुक्ति मिली है। उन्होंने सामायिक, छेदोपस्थापना आदि कुछ भी अंगीकार नहीं किया। पाँच समिति, पाँच महाव्रत, छह आवश्यक आदि २८ मूलगुण पालो, ऐसी चर्या करो, समाचार करो, वंदना करो, प्रतिक्रमण करो, प्रायश्चित लेओ आदि ये सब बातें उनके साथ घटित नहीं हुई, बस मात्र क्लास में भर्ती हुए और परीक्षा दे दी, तो कायक्लेश आदि ही व्रत रूप हो गये ऐसा कहना ठीक नहीं। जो फेल हो जाता है, उस विद्यार्थी से जाकर पूछो कि ३६५ दिन उसी क्लास में पुनः बैठना कितना कठिन होता है? बहुत कठिन होता है, अतः ऐसे मुनिराज भी होते हैं, जो आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त में दीक्षित हो गये और चले गये, पता तक नहीं लगता कि कहाँ से कौन से देव आये, उन्होंने कल्याणक मनाये और चले गये।

“**सर्व सावद्य से मुक्त होना**” यह सामान्य चारित्र है, उसका कोई नामोल्लेख नहीं करो, क्योंकि भेद परिकल्पना छेदोपस्थापना में होती है। जितने भेद होंगे वे उसी में आयेंगे। छेदोपस्थापना के साथ भी चारित्र तो आ ही जाता है लेकिन सर्वसावद्य का त्याग कर दिया वो सामान्य चारित्र है, पाँचों पापों का त्याग कर दिया, केशलोंच कर लिए दिगम्बरत्व को ग्रहण कर लिया बस...। पाँचों पापों रूप पोटली का भार ज्यों ही उतर जाता है तो बस...अब बुद्धि पूर्वक कोई भी वस्तु ग्रहण करना या

छोड़ना इसका कोई विकल्प उनके दिमाग में नहीं रहता। वे शीघ्र ही निर्विकल्प-समाधि को प्राप्त कर लेते हैं। यह पढ़ने से ही आपके दिमाग में बात आ रही होगी लेकिन वे गुणस्थान की ओर नहीं देखते हैं, कि ये अब छठवाँ गुणस्थान हो गया अथवा सातवाँ हो गया, सुना था कि हजारों बार छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान होता है, तब श्रेणी मढ़ती है, लेकिन वे तो ऐसा कुछ नहीं सोचते सब कुछ अन्तर्मुहूर्त में हो गया और ऊपर चले गये, यह सामान्य चारित्र होता है, उसका कोई नामोल्लेख नहीं करते क्योंकि ये नामोल्लेख करना विशेष का संकेत है। ज्यादा पढ़ने से ज्यादा विकल्प होते हैं, इसलिए तो कहा था ज्ञान सामान्य है तो मात्र अवग्रह तक रखो यदि उसके बाद ईहा हो गया तो इच्छा हो गई, अतः साकार उपयोग में भी अवग्रह मात्र रखो, आगे की ईहा, अवाय, धारणा आदि सब विकल्प के कारण हैं। यह सफेद है बस संतोष धारण कर लीजिए, अवग्रह हो गया बस..। सफेद क्या है? ये कहने की क्या आवश्यकता है, दुनिया में सफेद चीजें तो बहुत हैं, पताका, बलाका, चूना, धोती, बादल आदि-आदि कई प्रकार के सफेद होते हैं और आँखे भी सफेद हो जाती हैं, अब इसमें से क्या समझेंगे हम, बहुत लम्बी-चौड़ी लिस्ट है सफेद की..और ये सब दिमाग में भर लगे तो बहुत विकल्प होंगे इसलिए मात्र सफेद है यह अवग्रह हो गया **शुक्लोऽयं श्वेतोऽयं**..यह श्वेत है, सफेद है, इतना ज्ञान पर्याप्त है, क्या है? ये तो केवलज्ञान होने के बाद मालूम पड़ेगा कि कौन-कौन से कितने सफेद पदार्थ हैं, असंख्यात पदार्थ हैं बस इतना पर्याप्त है और यह सम्यग्ज्ञान है, यह भी ध्यान रखो।

यहाँ ज्ञान के संतोष की बात कही जा रही है, संतुष्ट ज्ञान क्या है? **श्वेतोऽयं** यह अवग्रह मात्र करना, विशेष करते जाओ तो कौन करेगा इतना ? ये तुम्हारे नहीं ऐसा क्यों? बल्कि **आत्मा एकोऽयं**, बस जब मैं अकेला हूँ, तो इसे कहने की क्या आवश्यकता कि ये तुम्हारे लिए है? मैं तो एकमात्र हूँ, बस। मैं अनेक हो नहीं सकता, हम बहुवचन में आ नहीं सकते, आना चाहें तो भी नहीं आ सकते क्योंकि ये निश्चय हो गया है कि मैं अकेला हूँ..तो शांति से बैठो, अकेले बैठो। दो साथ में हुए नहीं, कि चालू हो जाता है एक दूसरे को देखना, यह उसको देखता है, वह इसको देखता है, फिर कहता है कि पहचान लिया आपने, हाँ पहचान लिया, लेकिन दोनों ने एक-दूसरे को पहचानने के बाद भी अपने आपको नहीं पहचाना। एक-दूसरे को पहचाना है तो कहीं गुमोगे तो नहीं, जबकि दोनों अटके हुए हैं। एक-दूसरे की रक्षा करने की अपेक्षा अपनी-अपनी रक्षा करो न! स्वयंसेवक आते हैं उनकी सेवा और करो। ये क्या? जबकि स्वयंसेवक का अर्थ ही है, जिसका कोई सेवक नहीं, लेकिन हम स्वयंसेवक की बात भूल ही जाते हैं। कर्म से मुक्ति चाहते हो तो इस स्वपद को जो कि सुपद है अर्थात् श्रेष्ठ पद है, उसी को ग्रहण करो, इसी की शरण में जाओ।

साकार से निराकार होने के लिए नहीं कहा जा रहा है, किन्तु सविकारता से ऊपर उठने के लिए कहा जा रहा है। बहुत सारे विकल्प उत्पन्न होने लग जाते हैं तो फिर यही कहा जाता है कि निर्विकार बन जाओ, क्योंकि विकल्प का नाम ही एक प्रकार से विकार है।

दृष्टान्त—जैसे—कीचड़ होने के कारण कोई भी व्यक्ति अपने को अथवा उसके अन्तरंग को नहीं देख सकता, अपने चेहरे को भी नहीं देख सकता, उसी प्रकार जब लहरदार पानी हो जाता है, तब भी उसके भीतर क्या है? यह कोई नहीं देख पाता, उसी तरह विकल्प वाला व्यक्ति भी निर्विकल्प जब तक नहीं होता, तब तक वह अपने आपको उसमें अनुभूत नहीं कर सकता। **समाधिशातक** ग्रन्थ में **आचार्य पूज्यपादस्वामीजी** ने लिखा है कि “**रागद्वेषादि कल्लोलैरलोलं यन्मनोजलं**”। अर्थात् जिसके मन में रागद्वेष रूपी तरंगें नहीं आ रही हैं वही अपने आत्मा के यथार्थ स्वरूप को देखता है, उस आत्म स्वरूप को दूसरा कोई व्यक्ति नहीं देख सकता, न ही उसे जान सकता है। आत्म-तत्त्व को जानने वाला वही होता है, जिसके मानस सरोवर में रागद्वेषादि तरंगें नहीं उठतीं। उस सरोवर के अन्तरंग में जा करके वो ही व्यक्ति देख सकता है कि भीतर क्या है? विकल्प सहित ज्ञान वाला कभी अपने अन्तरंग में नहीं जा सकता।

दृष्टान्त—आप लोग भेड़ाघाट में धुआँधार देखने तो गये होंगे। सब लोग देखने में लगे हैं लेकिन कुछ व्यक्ति ऐसे हैं कि वहाँ जाकर भी अपने निर्विकल्प, निर्विकार संतोष गुण का परिचय देते हैं। जहाँ खूब तेजी के साथ जल प्रवाहित हो रहा है, बह रहा है, वहाँ पर धुआँ जैसा भी उठ रहा है, इसलिए तो धुआँधार कहा जाता है। वहाँ पर जाकर एक व्यक्ति कूदता है और कहता है अभी आ रहा हूँ, देखने वाले को लगता है कि ये कैसे इतनी तेज प्रवाह में कूद गया, तो संतोषी प्राणी ही कूद सकता है। मेरा क्या होगा? जिसे ये विकल्प नहीं होता, वही कूद सकता है, इतना संतोष रखना पड़ता है। जीवन को हाथ में लेकर कूद रहा है, मैं उस कूदने वाले की प्रशंसा तो नहीं कर रहा हूँ, लेकिन निर्विकल्प होने के लिए क्या-क्या कसरत करना पड़ती है, यह सुन तो लो पहले। तैराक तो बहुत सारे होते हैं, लेकिन सभी नहीं कूदते, इसलिए तो कहा था कि उसकी योगाभ्यास के अभ्यास से दुनिया छूटती है महाराज! हम यह कह रहे हैं सुना आपने और वह पचास कदम जाकर कूद गया और फिर वहाँ से पत्थर पकड़ कर वापस आ गया, इस प्रकार वे दस मिनट निर्विकल्प होकर निकालते हैं, तो देखने वालों में से कोई दस रुपये, कोई बीस रुपये, पचास रुपये, सौ रुपये दे देते हैं। इसी प्रकार आप लोगों को भी एकाध अन्तर्मुहूर्त योगाभ्यास के माध्यम से निर्विकल्प होकर भीतर में डूबना चाहिए। तैराक तो बहुत होते हैं लेकिन सही तैराक तो एकाध निकलता है अर्थात् **जिन खोजा तिन पाईया** वाली बात आ जाती है यह बड़े साहस का काम होता है।

संसार से नाता तोड़ करके अपने एकत्व के लिए समर्पित होना यह हर व्यक्ति के बस की बात नहीं है। इसे तो दुनिया नहीं दिखती है तो सोचता है कि अब तो मैं पागल हो जाऊँगा, एक बार हमने यही कहा था यदि आप सबके बीच अपरिचित हो गये अर्थात् कोई भी आपकी पहचान नहीं कर पा रहा है। आप उस समय स्वयं अपनी पहचान करो या ना करो आपको उस समय दर्द होगा जिस समय आपको एक भी व्यक्ति पहचान नहीं पा रहा है। आपके सामने से कई लोग आ रहे हैं, जा रहे हैं लेकिन

अपरिचित जैसे छोड़ करके चले जा रहे हैं। चार-पाँच दिन तो क्या? एक घंटा भी ऐसा निकाल लेते हैं कि मैं अपरिचित व्यक्ति हूँ किसी के परिचय में मैं हूँ ही नहीं, इस प्रकार समझकर आप बैठिये और इसका आनन्द लीजिए, यह अपने आप में बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि सामने वाला व्यक्ति आपको पूछना चाहता है या नहीं क्या पता? लेकिन उसके आते ही हम पूछना चाहते हैं कि यह कौन आ गया? वह इधर ही देख रहा है, ये देखो फोन आ गया? इससे आज बहुत दूरी को भी तय कर लेते हैं, पत्र तो आज कोई लिखता ही नहीं, मात्र हैलो-हैलो से काम चलता है, आपको बुलवाने का यह फास्ट तरीका है, यहाँ से चलो, महाराज तो बोलना ही नहीं चाहते हैं, दूसरा कहता है बोलने की बात तो दूर रही, देखत तक नहीं है इस ढंग से कह कर थोड़ा-सा उद्वेलित करने का प्रयास किया जाता है। फिर भी नहीं बोले तो एक पत्र रख देते हैं, कम से कम वो पढ़ तो लेंगे, क्योंकि उनकी आँखें तो खुली हैं, पत्र में ऊपर लिखा है ध्यान से पढ़िये। हाँ, पढ़ेंगे लेकिन ध्यान से पढ़ेंगे, जल्दी पढ़ करके भी ध्यान से पढ़ सकते हैं, यदि पढ़ते-पढ़ते विशेष ध्यान दिलाना चाहते हैं, तो उसमें अंडरलाइन कर देते हैं, यदि उसमें भी आप गड़बड़ी करते हैं, तो विशेष नोट लिख देते हैं, हाँ, तो यह सब क्या है? आचार्य कहते हैं कि जब हम निर्विकल्प दशा से दूर हो जाते हैं, तो ये सब बातें सामने आती हैं।

आत्मतत्त्व के अलावा जब और कोई दूसरा हमारा रहा ही नहीं तो संतोष हो गया, ये समझना चाहिए। अतः अवग्रह मात्र करके भी संतोष धारण किया जा सकता है तथा ईहा, आवाय, धारणा, तर्क, प्रत्यभिज्ञान, अनुमान आदि तक पहुँचने के बाद भी वह व्यग्र रह सकता है। निर्विकल्प होने के उपरान्त तो अन्तर्मुहूर्त पर्याप्त है, दुर्द्धर तप, दुष्कर तप जिसे और कोई नहीं कर सकता है अथवा दुर्द्धर यानि जो बहुत कठिनता से धारण किया जाता है। ऐसे-ऐसे तप करते हुए भी अभेद रूप जो भेद-विज्ञान है, जो कि मुक्ति का साक्षात् कारण है, स्वसंवेद्य है, दूसरे के द्वारा जो अनुभवगम्य नहीं है, उसका अनुभव आवश्यक है। जब तक आपके ज्ञान के द्वारा दूसरा कोई भी वेदन में आ रहा है, तब तक वह स्वसंवेद्य नहीं माना जायेगा। उसमें स्व के द्वारा वेदन तो किया जा रहा है, लेकिन स्व का संवेदन नहीं माना जायेगा। स्वज्ञान के द्वारा औदयिक आदि भावों का तो संवेदन हो रहा है, लेकिन वह स्व का संवेदन नहीं हो रहा है।

जिज्ञासा—स्व संवेदित और स्व संवेद्य में क्या अन्तर है?

समाधान—स्व के द्वारा जो संवेदित होता है उसका नाम स्व संवेद्य नहीं किन्तु वह स्वसंवेदित है जबकि स्व का ही संवेदन स्व संवेद्य है। इस प्रकार दोनों में बहुत अन्तर हो गया, जैसे प्रकाश में देखना और प्रकाश को देखना इन दोनों में जितना अन्तर है, उतना ही इन दोनों में अन्तर है। स्व संवेदन यानि अपना ही ज्ञान, अपना ही अनुभव। संवेदन तो ज्ञान के द्वारा होता है, वह ज्ञान अपने ही पास है फिर यदि कोई कहता है कि इसके संवेदन की क्या आवश्यकता है? तो उसके लिए आचार्य कहते हैं, कि हाँ ये बात तो ठीक है, ज्ञान अपने ही पास है लेकिन उस ज्ञान रूपी टॉर्च का मुख बाहर

की ओर है, तो उससे दुनिया के पदार्थ ही दिखेंगे। मैं देख रहा हूँ कि यह प्रत्यय या ज्ञान होते हुए भी किसको देख रहा हूँ, यहाँ पर यह प्रश्न उठ रहा है। ज्ञान के द्वारा ही जाना जायेगा, लेकिन अपने आपको जानना है।

यह जापानी छन्द जिसमें ऊपर पाँच, नीचे पाँच और बीच में सात ऐसे तीन चरण वाला एक पद्य होता है, जिसे हाइकू कहते हैं। एक हाइकू प्रसंग में मैं आपको दे रहा हूँ—

प्रकाश में न

प्रकाश को देखो तो

भूल ज्ञात हो

अर्थात् प्रकाश में तो समयसार दिख रहा है, लेकिन प्रकाश को देखो, क्योंकि प्रकाश को देखोगे तो प्रकाशित कुछ भी नहीं दिखेगा, हम प्रकाशित का मूल्य तो आँकते हैं, लेकिन प्रकाश का मूल्य नहीं आँकते हैं। एक दोहे में इसी बात को व्यक्त किया है—

प्रमाण का आकार ना प्रमाण में आकार।

प्रकाश का आकार ना प्रकाश में आकार ॥

हे भगवन्! जब मैं आपको देखता हूँ तो संसार नहीं दिखता और जब संसार को देखता हूँ, तो आप नहीं दिखते, जबकि यहीं पर आप हैं। जिस प्रकार सूर्य को देखता हूँ, तो संसार लुप्त हो जाता है, सूर्य का परिवार होते हुए भी, सूर्य अकेला रहता है, इसलिए सूर्य देवता पूर्व दिशा में पूज्य माना जाता है और पश्चिम दिशा में चन्द्रमा की उपासना की जाती है। चन्द्रमा को जब कभी देखते हैं तो निश्चित रूप से उसका परिवार भी साथ में दिखेगा, संसार दिखेगा, इसलिए हम प्रभु को देखते हैं, तो संसार लुप्त हो जाता है, अर्थात् आत्मा को देखो, तो प्रकाश के अलावा कुछ नहीं दिखना चाहिए, तभी हम संसार से मुक्त हो सकते हैं। कोई कहे अकेले को क्या देखें, तो यह गड़बड़ है, बस यहीं राग उत्पन्न हो जाता है। अपने स्वभाव को पहचानने के उपरान्त, दूसरे के स्वभाव को पहचानने की क्या आवश्यकता? ज्ञान तो इसी का नाम है कि जो स्वपर प्रकाशक है, ऐसा यदि कोई कहता है, तो उसको आचार्य कहते हैं कि परप्रकाशक ज्ञान की व्याख्या यहाँ पर नहीं की जा रही है, यहाँ तो स्वप्रकाशक की बात की जा रही है, जो मात्र स्व को ही प्रकाशित कर दे उसका नाम आत्मानुभूति रूप स्वसंवेदन ज्ञान है, जो अध्यात्म में पूजा जाता है।

दृष्टान्त—जैसे ग्रहण लग जाता है तो सूर्य का प्रकाश कम हो जाता है अथवा यह कह दो कि सूर्य का ग्रहण जब तक दूर नहीं होता, तब तक प्रकाश में कमी आती है, अंधेरा-सा छ जाता है, कई लोग उस समय आहार आदि नहीं लेते हैं, ये बिल्कुल ठीक है उसी प्रकार आत्मा को ग्रहण कब लगता है? अपना ज्ञान हो और उससे दूसरे को जानो तो ग्रहण लग गया है ऐसा मानो। स्व की कीमत नहीं जानी। स्व जानने में आ गया, तो पर की क्या आवश्यकता? यदि कोई कहे पर को जानकर बार-बार

तुलना करते हैं ताकि इसका महत्त्व बढ़ जाये लेकिन ध्यान रखो तुलना करने से महत्त्व बढ़ता नहीं बल्कि घट जाता है। एक अनन्य जो आत्मतत्त्व है, वही तीन लोक में दुर्लभ है, यह पहचानने के उपरान्त तीन लोक में और कौन-सी इच्छा रह जाती है?

दृष्टान्त—संसारी प्राणी की आदत पड़ी हुई है, वह बाहर ही जाकर रहता है, भीतर नहीं रह सकता। किसी को मान लो धन का लोभ है, तो धन जहाँ पर रखा रहता है वहीं पर चौबीसों घंटे रहना चाहिए, ऐसा है क्या? नहीं, फिर भी कोई कहे कि जो आया हुआ धन है, उसे तिजोड़ी में रखा गया है, तो उसे देखते ही रहना चाहिए, यदि कोई ऐसा करता है तो भविष्य में जो अपने जीवन को धन में खपाता है वह कुंडली मार करके उसी जगह पर बैठ जाता है। उसी का सही-सही लोभ है, उसी प्रकार आत्मानुभूति ही जिसका विषय है, वह व्यक्ति सब कुछ छोड़ करके बैठ जाता है, उसके लिए कोई परिवार आदि नहीं रहते हैं, उसका तो एक मात्र आत्मतत्त्व रहता है। सूर्य जब रहता है तो उसके परिवार के नक्षत्र, तारे आदि सब समाप्त जैसे हो जाते हैं, कुछ नहीं दिखता, सूर्य को देखोगे तो दूसरे कोई नहीं दिखेंगे, दूसरे को देखना है तो रात में देखो। सूर्य कहता है दूसरों को देखना चाहते हो, तो मैं जब जाता हूँ तब देख लो, क्योंकि मैं स्वयं बाधक हूँ उन चन्द्र, तारे आदि को देखने के लिए। आपको बाधा डालना नहीं चाहता हूँ, इसलिए बारह घंटे के लिए मैं जाता हूँ, तब देख लेना। सूर्य को देखोगे तो प्रकाश ही प्रकाश, इसी तरह आत्मतत्त्व को देखोगे तो **एगो मे सासदो आदा...** अर्थात् मैं एक शाश्वत आत्मा हूँ। मेरा क्या है? मेरा कुछ नहीं है, मैं तो एक अकेला हूँ, कितनी अच्छी गाथा है यह। चन्द्रमा के इर्द-गिर्द संसार बिछा हुआ है, सूर्य को दिनकर कहते हैं, तारापति नहीं कहा, इनका भी मंडल, परिवार तो रहता है लेकिन कहीं भी कोश में देख लो इसको नक्षत्रपति, तारापति आदि नहीं कहा, बल्कि दिनकर कहा है। यह तम को हरने वाला है, ऐसा कहा है, रजनीपति नहीं कहा। **“ज्योतिषकाःसूर्याचन्द्रमसौग्रह-नक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च”** तत्त्वार्थसूत्र में **उमास्वामीजी महाराज** ने चतुर्थ अध्याय के इस सूत्र में भी सूर्य को पहले कहा है, ज्योतिष मंडल में ये दो इन्द्र माने जाते हैं, इसलिए **“सूर्याचन्द्रमसौ”** कहा। यदि चंद्रमा इन्द्र और सूर्य प्रतीन्द्र हो, तो सूत्र में चंद्रमा को पहले रखना चाहिए, लेकिन ऐसा नहीं है, हाँ ऐसी परिकल्पना अन्यत्र की गई है, लेकिन मूल में तो कहीं पर देख लो, तत्त्वार्थसूत्र में ऐसा विवक्षित नहीं है, ऐसा लगता है, इसलिए सूर्य चन्द्रमा दो ही इन्द्र हैं ज्योतिष मण्डल में और आगे **“पूर्वयोर्द्वीन्द्राः”** दो-दो इन्द्र हैं, ऐसा भी कहा है, लेकिन ज्योतिष मण्डल में तो दो ही इन्द्र हैं, इसलिए सूत्र में **“सूर्याचन्द्रमसौ”** कहा है। प्राकृत भाषा में एक प्राचीन गाथा आती है—

भवणालय चालीसा व्यंतर देवाण ह्यंति बत्तीसा।

कप्पामरचउवीसा चंदोसूरो णरो तिरियो।

यह प्राकृत भाषा में है इसलिए प्राचीन है, ऐसा नहीं कह सकते लेकिन **उमास्वामी** से पहले

की गाथा है ये भी नहीं कह सकते। देवो में इन्द्र कितने होते हैं? तो इस गाथा में कह दिया कि पहले भवनवासी और व्यंतरों के क्रम से बीस और सोलह अर्थात् भवनवासी के बीस और व्यंतरों के सोलह इन्द्र तो छत्तीस, सोलह स्वर्ग के बारह इन्द्र, तो अड़तालीस तथा ज्योतिष मण्डल के इन्द्र दो हैं—सूर्य और चन्द्रमा, ये सब मिलकर पचास होते हैं और पचास ही प्रतीन्द्र होते हैं, तो शत इन्द्र इन्हें महा इन्द्र कहा है। णरो तिरियो भी कहा है, लेकिन ये देवेन्द्र नहीं माने जाते, इन्द्र माने जाते हैं। ऐसे तो बत्तीस देवेन्द्रों का प्रकरण आता है और वो भवनवासी के दस, व्यंतर के आठ, स्वर्गों के बारह और ज्योतिष में सूर्य चन्द्र, इस प्रकार बत्तीस महाइन्द्र देवेन्द्र माने जाते हैं, यह चतुर्विंशति तीर्थकर भक्ति की अंचलिका में कथन आता है। इसलिए प्रतीन्द्रों की परिकल्पना, यहाँ पर नहीं, बल्कि बत्तीस महाइन्द्र माने जाते हैं, पचास देवेन्द्र माने जाते हैं और प्रतीन्द्र जोड़ करके ९८ माने जाते हैं, नर, तिर्यच मिलकर १०० हो जाते हैं, लेकिन ये नर, तिर्यच देवों में नहीं आते, इन्द्र तो माने जायेंगे, क्योंकि मनुष्य और तिर्यचों में चक्रवर्ती और सिंह, इनको प्रमुख माना है, अतः इन्द्र कहा है देवेन्द्र नहीं। चन्द्रमा रजनी को करने वाला है, इसलिए महत्त्वपूर्ण नहीं माना जाता है। जो तम को फैला देता है या कर देता है उसमें वह अपनी लाइट भले ही रखता है, फिर भी रात तो रात ही है, उसी के साथ उसका सम्बन्ध है। ढाईद्वीप सम्बन्धी सूर्य और चन्द्रमा का परिवार कितना है? यह भी आगम में बताया है। हे भव्य! सुनो उस निर्विकल्प पद को ग्रहण करो, यदि कर्म से मुक्ति चाहते हो, कर्मों से छूटना चाहते हो, तो सामान्य ज्ञान को ग्रहण करो और इसकी प्राप्ति के लिए कहीं बाहर नहीं किन्तु अंदर आने का प्रयास करो।

अब विशेष कथन करते हुए कहते हैं कि ज्ञानी के धर्म का परिग्रह नहीं है।

उत्थानिका—आगे परिग्रह के त्याग कराने के अभिप्राय से उसी ज्ञान गुण का विशेष वर्णन करते हैं—

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे धम्मं ।

अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२२२॥

अन्वयार्थ—(णाणी) ज्ञानी (अपरिग्गहो) परिग्रह से रहित है (अणिच्छो) अतः परिग्रह की इच्छा से रहित (भणिदो) कहा गया है (य) और वह (धम्मं) धर्म को (णिच्छदे) नहीं चाहता (तेण) इसलिए (धम्मस्स) धर्म का (अपरिग्गहो) परिग्रह नहीं है (सो) वह ज्ञानी (जाणगो दु होदि) ज्ञायक ही है।

अर्थ—ज्ञानी जीव परिग्रह से रहित है—पर पदार्थों को ग्रहण किये हुए नहीं होता, क्योंकि वह इच्छा से रहित है ऐसा कहा है इसी कारण वह पुण्य कर्म करने की भी इच्छा नहीं करता इसलिए उसके पुण्य का भी परिग्रह नहीं है। वह केवल ज्ञायक होकर रहता है।

**धर्मानुराग शुभराग शुभोपयोग,
चाहे नहीं मुनि परिग्रह का सुयोग।**

त्यागी रहा इसलिए शुभ धर्म का है,
ज्ञाता निरन्तर, न बंधक कर्म का है ॥२२२॥

व्याख्या—जो इच्छा से रहित होता है वह अपरिग्रही होता है, जिसके बाह्य द्रव्यों की इच्छा नहीं होती अर्थात् बाह्य पदार्थों से उसका कोई लगाव नहीं होता। इससे स्वसंवेदन ज्ञानी जीव शुद्धोपयोग रूप निश्चय रूप धर्म को छोड़कर शुभोपयोग धर्म को अर्थात् पुण्य को नहीं चाहता है। इसलिए पुण्यरूप धर्म का परिग्रह न होकर किन्तु पुण्य मेरा स्वरूप नहीं है, ऐसा जानकर उस पुण्य रूप से परिणमन नहीं करता हुआ, तन्मय नहीं होता हुआ, दर्पण में आये हुए प्रतिबिम्ब के समान उसका जानने वाला मात्र होता है। ज्ञानी जीव परिग्रह से रहित है, वह परपदार्थों को ग्रहण नहीं करता है क्योंकि वह इच्छा से रहित है, उसे यह पता है। इसी प्रकार वह पुण्य करने की भी इच्छा नहीं करता। अतः उसके पुण्य का भी परिग्रह नहीं होता वह मात्र केवलज्ञायक होकर रहता है। एक व्यंग्यात्मक या बहुआयात्मक बात सूरत महुआ जी में कही थी कि आप लोगों की बाजार के ऊपर दृष्टि है ही नहीं। कोई कपड़े आदि के व्यापारी थे, बीच में एक हीरे का व्यापारी आ गया तो एक ने कहा महाराज, ये हैं सही व्यापारी तो, इनकी एक जेब में अरबों की कीमत रह सकती है, मैंने सोचा और कहा—इसी प्रकार एक सेकंड में शुद्धोपयोग रूप हीरे का व्यापार हो सकता है, इसके लिए इधर-उधर कहीं आना-जाना नहीं होता। बस, यहीं के यहीं आँख बंद कर अन्तर्मुखी हो जाओ, तो सौदा हो जायेगा। यह घाटे का सौदा नहीं है, बल्कि मुनाफे का सौदा है। अतः दुकान कौन-सी खोलनी है इसका विचार कर लो, एक व्यक्ति एक टोकरी में बाजरा लेकर बैठा है, उसके यहाँ कोई ग्राहक नहीं आ रहे हैं तो लोग कहते हैं कि उसका भाग्य फूटा है, बाजरा के व्यापार से क्या होगा? बा...जरा अर्थात् जरा सा मुनाफा आयेगा और जरा यानि बुढ़ापा आ जायेगा, कितना भी करते जाओ...। ऐसे ही व्यक्तियों के द्वारा हीरे की कीमत कम हो गई है। सही व्यापारी व सही रही वही होता है जो यह समझता है कि हमें किस व्यापार में लाभ है? किसमें नुकसान है? यह हीरा खाने की चीज नहीं है, हीरे को हाथ में लेते ही परिणामों में परिवर्तन आ जाता है। आज तक किसी के द्वारा उसकी सही-सही कीमत नहीं आँकी गयी। शुद्धोपयोग की बात भगवान् की बात है। सम्यग्दृष्टि ही उस हीरे की कीमत कर सकता है। जो निर्जरा का मूल्य समझता है, वही उसका बहुमान कर सकता है, निर्जरा के स्थानों का विवरण करते हुए **आचार्य उमास्वामी महाराज** ने 'तत्त्वार्थसूत्र' में नौवें अध्याय में एक सूत्र दिया है, कि **सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजक दर्शनमोह क्षपकोपशमकोपशान्तमोह क्षपकक्षीणमोह जिनाः क्रमशोसंख्येय गुणनिर्जराः...** अर्थात् सम्यग्दृष्टि श्रावक आदि इनके क्रमशः असंख्यात गुणी निर्जरा होती है।

शुद्धोपयोग की महिमा—**परमात्मप्रकाश ग्रन्थ** में एक जगह कहा है कि ज्ञानी जीव विचार करता है कि—यह पुण्य मुझे नहीं चाहिए जिसके कारण चक्रवर्ती, कामदेव हलधर आदि बनते हैं। हे भगवन्! ये पद मान, अभिमान के कारण हैं। इसलिए यह मुझे नहीं चाहिए। हे भगवन्! ये अभिमान

कराने वाला पुण्य नहीं चाहिए, फिर भी वह तो बँधेगा ही इस शुद्धोपयोग के द्वारा पुण्य की निर्जरा नहीं होती, बल्कि बहुत अच्छी से अच्छी क्वालिटि का पुण्य बंधता है और साथ ही साथ पाप कर्मों की निर्जरा भी होती है, जिसको हीरे जैसी वस्तु का मूल्य ज्ञात नहीं है, वही व्यक्ति उसे कौड़ी की कीमत से बेचने को तैयार हो जाता है। पञ्चेन्द्रिय विषयों के लिए, ख्याति, पूजा, लाभ के लिए इस मानव पर्याय का उपयोग करना बहुत बड़ा खतरा है, घाटे का कारण है। जिसे ज्ञात है वही व्यक्ति इस विकल्पात्मक शुभोपयोग रूप धर्म को परिग्रह कह सकता है तथा विकल्पात्मक जो भी धर्म है वह भी परिग्रह है ऐसा मान सकता है। **परमात्मप्रकाश** में तो सिद्ध परमेष्ठी को सचित्त परिग्रह कहा है। यहाँ पर **समयसार** में भी **अपरिग्रहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे धम्मं** अर्थात् इच्छा मात्र का नाम परिग्रह है और अनिच्छा का नाम अपरिग्रह है ऐसा कहा है। मिले या न मिले इच्छा सो परिग्रह है। सम्यग्दृष्टि को यहाँ पर ज्ञानी नहीं कह रहे हैं किन्तु जिसके पास इच्छा भी नहीं है, वास्तव में परिग्रह जिसके पास नहीं है, वह ज्ञानी है। सम्यग्दृष्टि सम्यग्ज्ञानी तो है पर यहाँ जो ज्ञानी विवक्षित है वह उससे भिन्न है। संग्रहणी रोग होता है, उसमें पहले ग्रहण ही होता है, मतलब भोजन स्टॉक में रहने लग जाता है, उसका रस नहीं बनता है, धीरे-धीरे संग्रहणी रोग का रूप धारण कर लेता है, वह पाँच-छह बार शौच जाता है, पेट खाली हो जाता है, कमजोरी न आ जाये अतः संग्रह करता जाता है, तो संग्रहणी रोग हो जाता है। इसी प्रकार जो संग्रहीत करके रखता है, उसको भोगने की भावना, इच्छा नहीं है क्या? यदि बच्चा कह दे कि मैं इस संपत्ति का भोग करूँगा, तो आपके पुण्य की वजह से यह इकट्ठा हुआ है अतः आपको इसका श्रेय तो है ही ऐसा उसका पिता कह देता है लेकिन एक दिन में एकाध बण्डल कोई गायब कर दे, तो बच्चे को पसीना आता है कि बाप को? क्योंकि संग्रहीत है, हमारा तो है ही नहीं, बच्चे के पुण्य के कारण हमारे पास संग्रहीत है अतः बच्चा उसको भोगता है, तो भोगने दो। यहाँ कह रहे हैं कि तिल-तुष मात्र की भी इच्छा नहीं करना, नहीं तो वह सम्यग्दृष्टि भी नहीं और सम्यग्ज्ञानी भी नहीं है। इसलिए तो हम कहते हैं कि निर्विकल्प-समाधि में कोई राग आदि भाव नहीं रहता, उस समय वीतरागता के साथ एक सैकण्ड भी गुजरता है तो अपने आप में उसकी अलग पहचान होती है, यह बहुत दुर्लभ है, घंटों इन बातों में व्यतीत करने की अपेक्षा, एक मिनट भी यदि जीवन में सुबह-शाम कभी भी निर्विकल्पता के साथ व्यतीत करता है तो उसका क्या कहना? लेकिन ऐसा समय बहुत कम आता है, ऐसे क्षण बहुत महत्वपूर्ण होते हैं।

दृष्टान्त—जैसे-कोई औजार है, उसे शान पर लगवाना है तो औजार को हाथ में लेने वाला उसे शान पर चढ़ाता है तथा जिसका औजार है उसे सामने बिठा देता है और उससे रस्सी खींचने के लिए कहता है। खींचते-खींचते उसकी कमर टेढ़ी हो जाती है, शान पर औजार लगाने वाला व्यक्ति जिस समय शान पर औजार लगाता है उस समय सामने वाले को जोर से खींचने के लिए कहता है, तो वह खींचता चला जाता है। उस समय औजार में से एकाध-एकाध क्षण को स्फुलिंगें निकलना शुरू हो

जाती हैं। औजार को बार-बार शान पर नहीं लगाया जाता है, बार-बार लगायेंगे तो झर जायेगा, अग्नि के कारण औजार पर काले-काले धब्बे पड़ जाते हैं, धार के ऊपर अग्नि लग जाती है, तो ज्यादा धब्बे पड़ जाते हैं, इसलिए वह शान पर उतना ही लगाता है जितना आवश्यक होता है। वह शान तो चलती रहती है लेकिन बार-बार उस पर औजार नहीं लगाता। दूसरी बात उसके पैरों में एक ईंट का टुकड़ा, या लाल खप्पर होता है, वह उसे अँगूठा व तर्जनी के बीच में रखता है और उसी के ऊपर से वह शान चलती रहती है और धीरे-धीरे वह औजार को उस पर दबाता रहता है। जैसे-घुड़सवार जो होता है वह घोड़े के पीठ या पैर में लगाम लगाता हुआ चला जाता है, उसी प्रकार वह शान पर यूँ करता रहता है, उस के ऊपर से औजार शान पर चलता रहता है उसमें से लाल रंग का धुआँ उठता रहता है, धुआँ के कण उड़ते रहते हैं और यह चलता रहता है। तीन स्थान पर यह काम चलता रहता है, किसी भी काम को देखना हो तो ऐसे देखना चाहिए कि जिसको समझ में नहीं आ रहा हो तो उसको समझाने पर समझ में आ जाये। जिस प्रकार वह एक ईंट का टुकड़ा खप्पर है उसी के ऊपर वह शान चलाता रहता है, उसी प्रकार यह शरीर भी एक शान है, यह कहीं गड़बड़ न हो जाये, इसलिए इस शरीर के लिए भी जो कुछ दिया जाता है, वह देते जाओ। इस प्रकार शान पर बार-बार औजार लगाते जाओ अर्थात् बार-बार आत्मा का स्पर्श करते चलो। अबुद्धि पूर्वक जो राग है उसे यदि छोड़ना चाहते हो तो बार-बार आत्मा का स्पर्श करना, आत्मा की अनुभूति में लगना आवश्यक है, इस ढंग से होगा तो काम चलेगा।

आप लोगों के शुभोपयोग रूप औजार धार रहित हो गये हैं मात्र खप्पर फोड़ने के काम के हैं, जबकि यह शुभोपयोग रूप औजार धारदार पैना होना चाहिए, उसी के द्वारा कर्म कट सकते हैं और आत्मानुभूति की स्फुलिंगें उसमें से निकलती चली जायेंगी, यह बात समझ में तो आती है, लेकिन इसका उपयोग करना बहुत महत्वपूर्ण है। कौन कहता है कि ये सरल काम नहीं है, दीक्षा लिए सात-आठ साल या दो दशक निकल गये हैं तो क्या? यह तो एक घटिका में एक अन्तर्मुहूर्त में लाभ लिया जा सकता है, इसका कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता है, वीतराग सम्यग्दृष्टि जिसने अपनी अन्तरंग आँखों के द्वारा उस स्फुलिंग की अनुभूति की है, वह व्यक्ति कभी भी अपना उपयोग अन्यत्र ले जाना नहीं चाहेगा। जब सुनते समय ऐसा लगता है, इतना आनन्द आता है, तो जिस समय योगी को अनुभूति होती होगी, उस समय उसे कैसा लगता होगा, कितना आनन्द आता होगा? विचार तो करो।

आचार्य पूज्यपाद स्वामीजी ने **समाधितंत्र** ग्रन्थ में एक कारिका लिखी है कि ज्ञानी और योगी किस तरह का विचार करता है और किस तरह से अपने निश्चय व्यवहार को संयमित करके आत्मतत्त्व की अनुभूति में लीन हो जाता है, उन्होंने कहा कि—

यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा।

जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहं ॥१८॥

अर्थात् जो दृश्य दिख रहा है वो अचेतन है, जो चेतन है वो अदृश्य रूप है, अतः किस पर रोष करूँ और किस पर मैं तोष करूँ? और किसके साथ मैं बात करूँ? किसके साथ बोलूँ इसी भाव धारा को लिए हुए **आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी** के ग्रन्थ में **सूत्रपाहुड** आदि में भी ऐसी गाथा आती है, जो कि बहुत महत्त्वपूर्ण है, आज तक मुझे भी ज्ञात नहीं था, लेकिन तुलनात्मक अध्ययन करने से ज्ञात हो जाता है कि यह कहाँ का स्वर है और कहाँ का भाव आया है। **उमास्वामी जी** के **तत्त्वार्थसूत्र** के सातवें अध्याय में एक-एक व्रत की जो पाँच-पाँच भावनायें दीं हैं, वे सारी की सारी **अष्टपाहुड** में गाथांतर छाया रूप में हैं, लगभग एकाध शब्द को छोड़कर वही का वही रूप मिलता है। वह मूल गाथा से मेल खाता है, आचार्य देव कहते हैं कि किस-किसके साथ बोलूँ, क्या बोलूँ?

दृष्टान्त—जैसे किसी ने पी-एच.डी. की हो, थीसिस लिखी हो और उसे प्राइमरी पढ़ाने के लिए कह दो, या पढ़ाने बिठा दो, तो वह कहता है मैं क्या पढ़ाऊँ? किसको पढ़ाऊँ? लेकिन कुछ पी-एच.डी. किये हुए डॉक्टर को इसी में आनन्द आता है, वे कहते हैं कि मिल तो जाये भले ही कम से कम प्राइमरी वाले ही मिल जायें, मिलें तो। एम.एस-सी., एम.कॉम. वाले भी आज प्राइमरी स्कूल में शिक्षक हैं, दुर्लभ है आज नौकरी। सोचता है कम से कम हमें नौकरी तो मिल गई, भले प्राइमरी पाँचवीं क्लास तक की मिली। कोई पूछता है क्या पढ़े हुए हो, जी मैं एम.एस-सी. किया हुआ हूँ। कहता है कुछ तो हो जाये। वैसे ही शुभोपयोग की बात आप कर रहे हैं, एम.एस-सी. पढ़े हैं और उठक-बैठक करते जा रहे हो। दक्षिण में एक व्यक्ति सी.ए. किये हुए था, लेकिन वही खुरपा व जाली वाला काम करता था, घर वाले कहते थे, हमें यहाँ घी दूध भेजना पड़ेगा, इससे अच्छा है कि आप ही घर आ जाओ न, नहीं तो वहीं से खरीदना पड़ेगा और वह सही है कि नहीं, क्या पता? इसलिए घर पर ही रहो। सूट पैंट नहीं पहनो, धोती पहनो, कौन पहचानने वाला है आपको? यहाँ कुछ करना नहीं, मैनेजमेंट करो। होता ऐसा ही है, कि इतना पढ़ कर आ गये, फिर बाद में खरीद करके, “छटाक-छटाक खाने की अपेक्षा घर का खाओ, मोटा खाओ, मोटा पहनो” और दुबले-पतले रहो। क्यों? घर की छोड़ कर अन्य किताबों को क्यों पढ़ने जाते हो? हाँ, महाराज शास्त्र पढ़ते समय बहुत आनन्द आता है, लेकिन यहीं के आनन्द का वर्णन है, **ततः केन ब्रवीम्यहम्** जो उत्कृष्ट साधक होता है, वह तो यही सोचता है कि शास्त्र के साथ भी क्या बोलना? वह योगी ज्ञानी न ही शास्त्री से बोलता है, न शास्त्र से बोलता है। वह तो **अपरिग्रहो अणिच्छो** इस प्रकृति का होता है।

दृष्टान्त—आर्य-समाज में एक दारिद्र नाम का व्रत होता है, जिसको हम यहाँ अपरिग्रह कहते हैं, एक व्यक्ति के पास बहुत कुछ धन था। ऐशो-आराम के साथ जीवन का एक-एक दिन उसने जिया, लेकिन अब जो मिले उसी में अपने को जीना है ऐसा सोचकर उसने सब कुछ त्याग कर दिया और अब जो आवश्यक होगा तो लेंगे, फिर भी आवश्यक वस्तुओं में भी वह कमी करता चला जाता है और सोचता है अब मुझे इनकी भी आवश्यकता नहीं है। अभी तक तो चार-चार नौकर रखते थे, उस

समय रखते थे लेकिन इस समय कोई आवश्यकता नहीं। अभाव में क्या अनुभव होता है? इसको देखना है, अच्छे-अच्छे विचार आये तो यह किससे कहें उसको मूल्य ज्ञात हो तो कहूँ? गुफाओं में रहकर साधकों को कैसी-कैसी कितनी अनुभूतियाँ हो गयी होंगी? यहाँ तो आज कल कोई थोड़ा-सा लिख लेता है, तो उसके आनन्द का स्रोत फूट जाता है, लेकिन “**उनके भीतर बाँके नूर, चमके उनके नूर**”, ये बहुत पुराना भजन है। इस भजन में यह भाव है कि बाहर से तो नग्न शरीर है, मैला है, वे स्नान भी नहीं करते हैं, लेकिन भीतर बाँके नूर ऐसा भजन गाते हैं आप लोग, कि “**बाहर से कुछ दीखत ना ही, भीतर बाँके नूर**” ये पंक्ति है। वस्तु परिग्रह नहीं है, इच्छा के ऊपर परिग्रह निर्धारित है, जिसको बाहरी पदार्थों के प्रति इच्छा नहीं है, स्वामित्व भाव नहीं है। बार-बार आत्मानुभूति होने से जिनको ज्ञात हो गया है, कि बाहर इसमें सार नहीं है, दूसरों के लिए भले ही अच्छा लगे लेकिन उसके निकलने से दुःख न हो, तो समझ लो कि आपकी उसके प्रति कोई इच्छा नहीं है। अन्य पदार्थों के प्रति उसकी इच्छा नहीं है। कुछ के प्रति इच्छा नहीं ऐसा नहीं किन्तु सभी के प्रति किसी प्रकार की इच्छा नहीं है ऐसी बात यहाँ कही जा रही है, केवल एक गठरी के प्रति नहीं, किन्तु सम्पूर्ण परिग्रह के प्रति इच्छा नहीं, ऐसा ग्रहण करना।

दृष्टान्त—एक बहुत अच्छा उदाहरण याद आया, जैसे किसी ने सात प्रतिमाएँ धारण की हैं, अब वह आरंभ त्याग प्रतिमा ले रहा है तो परिग्रह त्याग तो हुआ नहीं है, अभी परिग्रह तो है लेकिन आठवीं प्रतिमा ले लेता है तो पुनः सम्पदा पैदा नहीं करेगा, क्योंकि सम्पदा आरंभ के माध्यम से उत्पन्न होती है। अतः आठवीं प्रतिमा लेने के पहले सोच लेना चाहिए कि अब परिग्रह नहीं बढ़ेगा, वह कहता है, इसलिए तो हम ले रहे हैं यह आज समाप्त हो जाये, कल समाप्त हो जाये, खाना तो है ही लेकिन दुबारा उसको भरूँगा नहीं तो इस बात को समझ लेना चाहिए कि आज नहीं तो कल तो जाना ही था, **आज ही गया, इससे क्या? और अच्छा, इसे बोलते हैं आठवीं प्रतिमा**। यदि वह ऐसा सोचे कि हमने तो आरंभ का त्याग किया है, परिग्रह का तो त्याग किया नहीं है, अतः अभी हम परिग्रह के लिए उसका हिसाब-किताब करने के लिए कोर्ट में जा सकते हैं, ऐसा नहीं। हम यह कह रहे हैं कि जिसने आरंभ का त्याग किया है, उसके लिए कोर्ट-कचहरी जाना भी आरंभ है। संरक्षण का त्याग भी लगभग उसका हो जाता है, वही आरंभ का त्याग कर सकता है। ताला-कुची नहीं रखेगा तो कोई भी आये-जाये कोई फर्क नहीं पड़ेगा, मान लो आप कल का अनशन करना चाहते हैं यह विकल्प लेकर आप आहार करने को गये हैं और पहले ही ग्रास में अन्तराय हो गया, तो उसे इतनी हिम्मत रखना चाहिए, क्योंकि पहले ही वह सोचकर गया है कि कल उपवास करना है। अब उसे ये सोचना चाहिए कि ये अन्तराय आ गया तो हमारा पहले ही उपवास हो गया। बहुत अच्छी बात है, कल किसने देखा आज ही मौका आ गया, अन्यथा ४८ घंटे विकल्प रहेगा, इसलिए इतनी हिम्मत ले करके चलो। २०० कि.मी. जाने लायक पेट्रोल है तो १०० कि.मी. चलो, बीच में गड़बड़ हो सकता है, कोई चढ़ाव वगैरह आ जाये, रास्ता

खराब हो तो आगे न बढ़े या पेट्रोल ज्यादा खर्च हो सकता है। सुनो! उपवास के बाद परसों के अन्तराय का विकल्प नहीं रखना। आज के अन्तराय की तो बात ही नहीं है, कल का उपवास है, परसों उठूँगा, क्या पता किसके घर में जाना होता है? कहीं पहले ही ग्रास में पुनः अन्तराय आ जायेगा तो फिर भैया! ऐसा करो कि कल के उपवास को भूल जाओ। ये वर्तमान का पुरुषार्थ था, वर्तमान पुरुषार्थ अतीत व अनागत के साथ चलता है। ऐसा नहीं है कि वह लड़-भिड़ ले कि कल का उपवास था, इतना तो याद रखना था, कैसे श्रावक हैं? आदि-आदि। वह सावद्य से रहित वैयावृत्ति चाहेगा कि नहीं, लेकिन उसके प्रति उसका उपयोग कैसा हो गया? ये बताया जा रहा है। जहाँ तक मुझे स्मरण है कि ये **सदासुखदासजी** की पंक्ति है, कि— **ऊपर की साधना करो और नीचे का संकल्प लेओ**, तभी आप उन्नति पा सकते हो। पहले से यदि दोष लगाते चलेंगे, तो क्या होगा? पहले से ही सप्लीमेंट्री आने को है, तो फार्म ही मत भरो क्योंकि पहले ही आप ऐसा कह रहे हो कि माथा दर्द कर रहा है, यदि आप कहो तो कल का उपवास ले लूँ, नहीं तो नहीं, फिर हम भी कैसे कहें? क्योंकि फिर बाद में आप कहोगे, महाराज! आपने ही तो कहा था, तो हम भी इसका बोझ क्यों उठायें? आपको स्वयं ही अपना निर्णय लेना है, किसी से मत पूछो, क्योंकि ४८ घंटे आपको निकालना है। ये तो योग की बात है कि वर्षा हो जाये और नहीं हुई तो क्या करोगे? हाँ, गुरु की साक्षी में लेने से डर निकल जाता है, इसलिए गुरु के समक्ष उपवास आदि का व्रत ले लिया जाता है, कई व्यक्ति ऐसे आ जाते हैं जो कहते हैं कि ये महाराज—आहार को नहीं उठ रहे हैं, तो मैं क्या जानूँ? उनको आहार लेना है कि नहीं, मैं क्या कहूँ? तो कह दिया कि आपको अनुकूल हो तो ले लो, इसके अलावा क्या कह सकता हूँ? नहीं, आप आशीर्वाद दे दो, तो उठ जायेंगे, नहीं, क्योंकि यह बात सबसे जाकर कहोगे तो सब ऐसे ही करेंगे। अतः व्रत लेते समय सलाह मत लो, कोई प्रत्याख्यान के समय आया है और कहता है कि आप कहो तो हम भी दीक्षा ले लें वह कोई न कोई शर्त के साथ करता रहता है, इसलिए ऐसा होता है। बच्चे कहते हैं हम भी मंदिर चलेंगे तो माँ कहती है, कि बहुत दूर है। बच्चा कहता है, हम भी चलेंगे, कह दिया न बहुत दूर है। कंधे पर नहीं बिठायेंगे, तो वह कहता है कोई बात नहीं और चल देता है, थोड़ी दूर चले, फिर वह कहता है, हमारे पैर दुःख रहे हैं अब क्या करें? पीछे छोड़ने जाओ या बीच में ही छोड़ दो, या फिर कंधे पर ले जाओ, तो ऐसा हम नहीं चाहते हैं, इसलिए कह देते हैं लेना हो तो लेओ, नहीं तो उठो। वह ज्ञानी पुरुष शुद्धोपयोग को छोड़कर शुभोपयोग रूप धर्म को नहीं चाहता है। शुभोपयोग को भी धर्म तो कहा है, व पुण्य रूप धर्म का परिग्रह नहीं रखता हुआ यह पुण्य भी मेरा स्वरूप नहीं है, अतः यह मेरा धर्म नहीं है, ऐसा जानकर दर्पण में बिम्ब की तरह ज्ञायक बना रहता है। दर्पण में बिम्ब तो है, लेकिन वह दर्पण रूप नहीं है, वह वस्तु हटी, फिर दर्पण में कुछ नहीं रहता। उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष का यह स्वभाव होता है कि यह मेरा स्वभाव नहीं है यह मानकर छोड़ रहा है।

दृष्टान्त—जैसे कोई भी रोगी अपथ्य और दवाई को एक मानकर कभी दवाई को नहीं छोड़ता

है, अपथ्य तो छोड़ देता है, तो डॉक्टर कहेंगे कि ये व्यक्ति पागल है। वह कहेगा हाँ डॉक्टर साहब मैं जानता हूँ कि यह रोग तो तभी ठीक होगा, जब मैं दवाई खाना छोड़ूँगा, तब डॉक्टर कहता है कि तुम ठीक कह रहे हो, लेकिन दवाई तभी छोड़ना जब रोग ठीक हो जाये। यह बात एक ही नहीं है, पहले सारे के सारे खुराक छुड़ा देंगे, फिर बाद में कहेंगे ये दो खुराक खा लेना। वह कहता है डॉक्टर साहब आपने कहा था कि कोई खुराक नहीं खाना। हाँ, मैंने ठीक ही तो कहा था। फिर ये दो खुराक क्यों दे रहे हो? तो डॉक्टर कहता है उस खुराक में तो भोजन था इस खुराक में भोजन को निकालने की दवाई है। जो खुराक भीतर पहुँच गयी है, उसे निकालने के लिए यह खुराक है, वह दोनों को एक समान या एक मानकर चलता है क्या? नहीं, रोगी तो वह है, जो यह श्रद्धान करके दवाई लेता है कि इस दवाई के माध्यम से ही रोग दूर होगा, लेकिन कब तक लेता है जब तक डॉक्टर बताता है तब तक वह रोगी उस दवाई को विश्वास पूर्वक लेता है, इच्छा पूर्वक नहीं लेता, लिख लो इसको, इसी के द्वारा रोग ठीक होगा, यह उसे विश्वास है। यदि इस बात को नहीं मानेंगे, तो फिर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र में भी यह विषय नहीं घटा पायेंगे वह रोगी उस दवाई को विश्वासपूर्वक, विधिपूर्वक, पुरुषार्थपूर्वक लेता है। एक समय के लिए भी इन तीनों में कमी नहीं रहती है। इसलिए मोक्षमार्ग किसी एक रूप नहीं किन्तु सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों रूप होता है, विश्वास का भी उतना ही वेत (वजन) है जितना कि सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र का है। कमी करोगे तो हम पूछेंगे कि विश्वास नहीं है क्या? लेकिन विश्वास है कि यही सही ज्ञान व सही कारण है, जिसके द्वारा कार्य होने वाला है, बीच में कोई कुछ देगा, तो वह कह देता है कि नहीं भैया! नहीं, हमने तो उस डॉक्टर को दिखाया था, उन्होंने ऐसा कहा था कि इतना ही लेना, इतने समय में लेना और बीच में विचार नहीं करना कि इसके द्वारा ठीक होगा कि नहीं?

सोमदत्त और अंजनचोर में यही तो अन्तर है। अंजनचोर कहता है कि वो जो कहते हैं वह ठीक है **आणं ताणं कच्छु न जाणं सेठ वचन परमाणं** और सोमदत्त सेठ बार-बार अप-डाउन कर रहे थे, इतना अवश्य है कि वह सेठ उस झूले को छोड़ कर जा नहीं रहा, इसका मतलब कुछ न कुछ तो तथ्य है। सोमदत्त के पास बनिया वृत्ति थी इसलिए अप-डाउन कर रहे हैं और अंजन चोर के पास क्षत्रिय वृत्ति थी तो एक बार में चढ़ गया और एक-एक रस्सी काटने की अपेक्षा पूरी एक साथ काट डालता है, वह सोचता है कि जब मरण निश्चित है तो जीने की इच्छा क्या करना? कैंसर वगैरह किसी को हो जाता है तो हम यही कह देते हैं कि ये मरण तो निश्चित हो गया है, कैंसर का अर्थ कैंसिल है, अब उसके ऊपर भरोसा मत रखो, व्रत ले लो, संकल्प ले लो, अब किसी प्रकार का विकल्प मत करो, जो होगा सो होगा।

संस्मरण—मुक्तागिरि की बात है कि एक ७५ वर्ष की आयु वाले व्यक्ति आये थे, उनके बेटे ने हमसे पूछा था कि पिताजी को ऐसा-ऐसा हो गया है, तो हम आपके दर्शन कराने ले आये क्या ? और

वे उन्हें ले आये। तो हमने कहा कि डॉक्टर ने क्या कहा? उन्होंने कहा कि इन्हें कैंसर रोग है यह निश्चित है। अतः मैंने उनको कहा कि तुम रात्रि में भोजन-पानी, फल-फूल, ड्राईफ्रूट्स, लिक्विड रबड़ी आदि सब कुछ का त्याग कर दो, दिन में जो कुछ भी लेना है सो लेना। ठीक है महाराज! और हव कह दिया उन्होंने। पक्का है ना, हाँ पक्का है। तो कायोत्सर्ग कर लो, कायोत्सर्ग कर लिया और समय आने पर वो ठीक हो गये, वे अभी भी आते हैं अच्छे ढंग से हैं, तात्पर्य यह है कि बिल पॉवर इसी को बोलते हैं। आत्मा के पास बहुत शक्ति है लेकिन भावों में अप-डाउन करने से गड़बड़ हो जाता है जो हमेशा अपडाउन करते रहते हैं, ऐसे व्यक्तियों के साथ मत रहो। **आचार्य समन्तभद्र स्वामी** जी कहते हैं **निनाय यो निर्दय भस्मसात्क्रियां**। अर्थात् मोह के ऊपर कुठाराघात करने के लिए निर्दयी होना पड़ेगा, निर्दयता के साथ मोह के ऊपर कुठाराघात किया जा सकता है अन्यथा नहीं। पिताजी, बच्चों से कहते हैं कि हमारी बात मानो, कि संसार में कुछ नहीं है, तो बच्चे कहते हैं, तो फिर इस संसार में आप क्यों रहते हो? चलो ना! कहने से महत्त्व कम हो जाता है, अतः अपनी साधना, अपने निर्णय के बारे में कभी किसी के सामने नहीं कहना चाहिए, नहीं तो वह आपको कोई न कोई फितूरी में डाल देगा, अतः प्लानिंग मत बताओ, दिखाओ तो देखने में आये। दुकान में दुकानदार क्या करता है? चार पाँच ग्राहक आये, एक से सौदा पटा रहे हैं उस समय क्या करते हैं? हाथ के ऊपर रूमाल रख देते हैं और जिसके साथ सौदा कर रहे हैं उसे पकड़वा देते हैं, फिर अपनी तर्जनी व मध्यमा को दबाते रहते हैं फिर कहते हैं राम-राम, लक्ष्मण-लक्ष्मण, राम यानि खाली इसी प्रकार कुछ लोग कहते हैं छोटी बहू ले आओ अर्थात् छोटा प्रस्थ ले आओ, कुछ कहते हैं बड़ी बहू ले आओ, यानि बड़ा प्रस्थ ले आओ, यह बुंदेलखण्ड की भाषा है। द्रोणगिरि के पास बड़ागाँव गये थे, वहाँ लोगों ने बताया था कि हमारे यहाँ हीनोन्मान में ऐसा होता है, उनको इस ढंग से प्रशिक्षित किया जाता है, चोरों को भगाना है, तो हल्ला करो या बात करो या खाँस दो तो घर में सब जाग रहे हैं, ऐसा समझकर चोर भाग जायेंगे और उससे पहले ही आप डर जायेंगे, तो कुछ नहीं कर पाओगे।

एक बार अपरिग्रहीपने का अनुभव तो करो, परिग्रहीपने का अनुभव तो बहुत हो चुका। देखो वहाँ पर विषयों की अपेक्षा से और यहाँ पर धर्मध्यान की अपेक्षा से विशेष रूप से परिग्रह के त्याग की बात की जा रही है क्योंकि यह निर्विकल्प वीतराग समाधि में लीन हुए शुद्धोपयोग की बात है। प्रत्याख्यान भी दो प्रकार का होता है, एक तो अभक्ष्य का प्रत्याख्यान और एक भक्ष्य का प्रत्याख्यान। अभक्ष्य का प्रत्याख्यान तो सबका है, लेकिन भक्ष्य का प्रत्याख्यान कौन करता है? जो उपवास का नियम ले लेता है वह भक्ष्य का भी प्रत्याख्यान कर लेता है। इसलिए **बाह्याभ्यन्तरोपधयोः** अर्थात् दोनों प्रकार की उपधि हैं उनका भी त्याग करो। जो छह आवश्यक के काम में आ जाते हैं उन साधनों का भी त्याग करो और निर्विकल्प होकर समाधि में लीन हो जाओ, परिग्रह का त्याग कर दिया, लेकिन तव-मम इस प्रकार का जो संकल्प-विकल्प है उसका भी त्याग करो, क्योंकि परिग्रह से चित्त का

विक्षेप होता है और चित्त के विक्षेप के त्याग किये बिना ध्यान नहीं हो सकता है जैसा कि कहा है **चित्तविक्षेपत्यागस्तुध्यानं** अर्थात् जो चित्त का विक्षेप है उसके त्याग करने का नाम ही ध्यान है और मम इति अभिप्रायः चित्तविक्षेपः ये मेरा है इस प्रकार के विचार का नाम चित्त का विक्षेप है। इस चित्त के विक्षेप का त्याग करना ही आकिंचन्य है, व्युत्सर्ग है, अतः साधन का भी त्याग कर देना फिर आगे जाकर यम सल्लेखना अर्थात् शरीर आदि के लिए जो आहारदि है उसका भी त्याग कर देना यह क्रमशः साधक की साधना चलती रहती है, इस प्रकार **अपरिग्रहो अणिच्छो** इसका कथन किया गया।

उत्थानिका-आगे पुनः कहते हैं-

अपरिग्रहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदि अधम्मं।

अपरिग्रहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२२३॥

अन्वयार्थ—(णाणी) ज्ञानी (अपरिग्रहो) परिग्रह से रहित, (अणिच्छो) परिग्रह की इच्छा से रहित (भणिदो) कहा गया है (य) और वह (अधम्मं) अधर्म की (णिच्छदि) इच्छा नहीं करता (सो) वह ज्ञानी (अधम्मस्स) अधर्म का (अपरिग्रहो) परिग्रह नहीं रखता (तेण) उससे (जाणगो होदि) ज्ञायक होता है।

अर्थ—ज्ञानी जीव परिग्रह से रहित है—पर पदार्थों को ग्रहण किये हुए नहीं होता, क्योंकि वह इच्छा से रहित है ऐसा कहा है इसी कारण वह पुण्य कर्म करने की भी इच्छा नहीं करता इसलिए उसके पुण्य का भी परिग्रह नहीं है। वह केवल ज्ञायक होकर रहता है।

**होता अधर्ममय है अशुभोपयोग,
ज्ञानी न चाहत कभी अघ संग योग।
ज्ञाता अतः मुनि निसंग कुभोग का है,
सच्चा उपासक रहा उपयोग का है ॥२२३॥**

व्याख्या—पूर्व की गाथा में धर्म का त्याग कहा था अब अधर्म का त्याग कह रहे हैं शेष ज्यों का त्यों उतने ही शब्द और अक्षर वाली गाथा है। मात्र धम्म की जगह अधम्म और णिच्छदे की जगह णिच्छदि कहा है। न धर्म की इच्छा है और न अधर्म की इच्छा है अतः उन्होंने दोनों का त्याग कर दिया। जो व्यक्ति कुछ भी रखना नहीं चाहता या रखता नहीं है उसके पास इच्छा भी किसी बात की नहीं रहती।

दृष्टान्त—जब किसी को प्राणदण्ड दिया जाता है, समय पास में आ जाता है तो उससे अंतिम इच्छा पूछी जाती है। उसका मन से तो मरण हो चुका, वचनों से भी घोषणा हो चुकी तब बस अटका है अब क्या इच्छा है? हाँ, कभी-कभी कानून में थोड़ा-सा परिवर्तन किया भी जाता है। जैसे—जज ने कहा—इसे लटकाओ शूली पर, तो लटका दिया अब वकील कहता है—आपने लटकाने को कहा था हमने लटका दिया अब उतार दो...यदि तुम लटकना चाहते हो तो लटक जाओ वहाँ पर...बस...फिर उसके उपरान्त कानून चेंज करना पड़। “**टू हेगिंग अप टू डेथ**” अर्थात् जब तक मृत्यु न हो तब तक

इसे लटकाओ...यह पूर्ण कानून हो गया। अब इच्छा क्या होगी? क्योंकि मरना तो है ही, उसी प्रकार परिग्रह के द्वारा हमेशा-हमेशा दुःख होता है यह निश्चय हो चुका है तो अपरिग्रही बनकर उस आनन्द का अनुभव लेओ न...। इच्छा क्यों करते हो? अरे! चक्रवर्ती होकर के भी तिल-तुष मात्र नहीं रखता है। छह खण्ड के अधिपति हो गये थे लेकिन सबको जीरण तृण सम समझ कर त्याग दिया-छोड़ दिया। जिसके पास इच्छा है वह कहता है-इतनी सारी इच्छायें कर लीं अब और कौन सी बची? उसकी भी मिसाल है फिर भी वे वृद्ध नहीं होते जब काया खाते-खाते क्षीण हो जाती है तब कहता है-हमें नहीं चाहने हमें चाहने है, यह चाह कब तक रहती है? तो जब तक शरीर में हिम्मत रहती है तब तक तो चाहा अब दूसरे के लिए नहीं दे सकते, ना ही ले सकते। मान लो बेटा कहे कि ये मकान हमारा है, हमने बनाया है यह होने लग जाता है तो फिर पिता कहता है-बेटा! यह सब तुम्हारा ही तो है। इसलिए आचार्य कहते हैं-ज्ञानी को उसकी कोई इच्छा नहीं रहती है। कहते हैं-उन्होंने तो परिग्रह को लात मार दी, तो लात भी क्यों मारना? क्योंकि यह भी एक प्रकार से द्वेष है। लेकिन कहने वाले का भाव यह है कि-अभी तक जिसे गले लगाता था, गले का हार बनाया था उसी को अब लात मार दी।

ये चार-पाँच गाथाएँ ऐसी हैं कि इनके द्वारा जिसके पास वैराग्य है उसकी बैटरी चार्ज हो जाती है। अरे! ज्ञानी के लिए तो अपरिग्रही अनिच्छक कहा है अर्थात् किसी भी पदार्थ की, कोई भी इच्छा नहीं। आप क्या चाहते हैं? तो वह कहता है-पहले चाहता था अब तो मुझे कुछ नहीं चाहिए। महाराज! आप कह दो तो हम अभी तैयार हैं...। आप जैसे पचासों तैयार थे, अभी भी हैं लेकिन हमें नहीं चाहिए। अपनी तरफ से हमारी कोई इच्छा नहीं, आप कहो महाराज! क्योंकि आपकी तो कोई इच्छा है नहीं...तो यह अपने आप में ऐसा निर्णय होता है कि-तीन लोक की सम्पदा भी आ जाये तो भी हमें नहीं चाहिए। १२०० विद्यायें एक साथ सामने आकर नाचने लग जाती हैं कि-भो स्वामिन्! हमें स्वीकार करो तो भी हमें नहीं चाहिए.. तो फिर आपने बुलाया क्यों? हमने नहीं बुलाया...तो फिर आप इतनी एकाग्रता क्यों रखे थे? हमें तो आना है-हम आ गये तो कम से कम कुछ काम तो बताओ, वे मुनिराज कहते हैं-हमने बुलाया था क्या तुम्हें? बुलाया तो नहीं...लेकिन आये हैं तो कुछ बताओ? हमें कुछ नहीं बताना जिस रास्ते से आये हो उसी रास्ते से वापस लौट जाओ, यदि रास्ता भूल गये हो तो जाओ सीधा रास्ता है चले जाओ...उनमें से एक विद्या कहती है-हमें रखने से वीतरागता समाप्त नहीं होती है फिर क्यों भगा रहे हो? हम भागने के लिए नहीं कह रहे हैं लेकिन रास्ता भटक गये हो तो सीधे चले जाओ...। बाहरी दृश्यों में जिसकी इच्छा/कांक्षा नहीं है ऐसे व्यक्तित्व का दर्शन बहुत दुर्लभ होता है महाराज! उस व्यक्ति को देखकर के अनेक व्यक्ति सुधर जाते हैं ऐसे वे दर्पण (आदर्श) के समान रहते हैं। सब जगह चाह है और यहाँ पर चाह नहीं है तो एकदम सामने वाला देखता रह जाता है। पहले पाप का त्याग तो किया था पुण्य की ओर आ गया तो अब उसको भी नहीं चाहता। विषय- कषायरूप अधर्म जो पाप है, उसे नहीं चाहता है, विषय-कषाय रूप जो परिग्रह है उसे नहीं चाहता हुआ भीतर से उस रूप परिणमन नहीं

करता हुआ मात्र ज्ञान रूप में रह जाता है जैसे—दर्पण में बिम्ब रहता है। साता की बाढ़ भी आ जाये या विषय चारों ओर से घेरने लग जायें तो भी वह रुकता नहीं, भरे हुए घर से बाहर निकल जाता है...कहाँ तक घर वाले जायेंगे पीछे-पीछे। महाराज के साथ कमण्डलु लेकर जा रहे हैं बीच में कोई मिल जाता है तो कहलवा देते हैं कि—घर पर कह देना—आना हो तो ताला लगाकर आ जायें चाबी लेकर आ जायें (हँसी) जा तो रहे हैं घर छोड़कर महाराजश्री के साथ, लेकिन संकल्प-विकल्प को गृहस्थ छोड़ नहीं सकता है पुनः लौटकर घर जाना है। समवसरण में भी, मुनि महाराज तो वहीं रहते हैं, लेकिन श्रावक तो दिव्यध्वनि (उपदेश) सुन करके घर पर लौट आते हैं, कैसा लगता होगा? इतना भरा हुआ समवसरण...फिर भी काय के लिए घर जा रहे हैं...तो कहते हैं...का करें महाराज! जाना पड़ता है, सभी लोग जा रहे हैं और हम नहीं जायेंगे तो लोग क्या कहेंगे? समवसरण से कब लौट करके चले जाते हैं पता ही नहीं चलता, लेकिन जिसके पास अपरिग्रह भाव रहता है उसको घर छोड़ने में भी समय नहीं लगता है। निष्परिग्रही में निष् का अर्थ निकल गया है और अपरिग्रही में अ शब्द भी निषेध वाचक है।

उत्थानिका—परमतत्त्वज्ञानी जीव परिग्रह की इच्छा नहीं करता किन्तु उसका मात्र ज्ञाता होता है—

**धम्मत्थि अधम्मत्थी आयासं सुत्तमंग-पुव्वेसु।
संगं च तहा णेयं देवमणुअतिरियणेरइयं ॥२२४॥**

अन्वयार्थ—(सुत्तमंग-पुव्वेसु) अंगपूर्व का श्रुतज्ञान (धम्मत्थि) धर्मास्तिकाय (अधम्मत्थी) अधर्मास्तिकाय (आयासं) आकाश (तहा) और (देवमणुअतिरियणेरइयं) देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नरक को (च संगं णेयं) तथा अन्य परिग्रह को न चाहते हुए ज्ञानी मात्र इन सबका ज्ञाता होता है।

अर्थ—परमतत्त्वज्ञानी जीव धर्म-अधर्म, आकाश, अंगपूर्व का श्रुतज्ञान, देव, मनुष्य, तिर्यञ्च, नारकी व अन्य परिग्रह की इच्छा नहीं करता हुआ, मात्र ज्ञाता ही रहता है।

**तत्त्वार्थ का सब पदार्थन का यथार्थ,
शब्दार्थ अर्थ गहता सबके हितार्थ।
साधू तथापि श्रुत का अभिमान त्यागी,
संसार सौख्य नहीं चाहत वीतरागी ॥२२४॥**

व्याख्या—परम तत्त्व ज्ञानी जीव धर्म, अधर्म, आकाश, अंग पूर्व रूप-श्रुतज्ञान, देव-मनुष्य, तिर्यञ्च, नारकी ये चारों गति सम्बन्धी जो संग (परिग्रह) है उनमें किसी प्रकार से अपनत्व नहीं रखता है, मात्र ज्ञाता ही रहता है। देखो! सूत्र भी कहा है, सूत्र जो कि अंग पूर्वात्मक हैं उसके प्रति भी संग (मूर्च्छा) नहीं रखते यह कह दो। सूत्र तो सूत्र है लेकिन सूत्र के प्रति लगाव न रखें, सूत्र तो रखें पर लगाव नहीं रखें। द्रव्य व भाव के भेद से दो प्रकार का श्रुत होता है तो द्रव्य श्रुत से भी लगाव न रखें

और भाव-श्रुत जो क्षयोपशमात्मक है उससे भी लगाव न रखें, क्योंकि यह क्षयोपशम होना भी कर्म का परिणमन है। आत्मा में भाव होना यह भी एक स्वभाव है, उसमें लगाव रखना मोह का प्रतीक है, क्षयोपशम हो गया तो हो गया, लेकिन क्षयोपशम नहीं हुआ तो दीनता और हो गया तो अभिमान ये दोनों बातें ठीक नहीं। काम लेना है तो लेओ नहीं तो ज्यों का त्यों रखो, दूसरे में ही हुआ है, ऐसा समझ करके छोड़ दो... यह कैसे हो सकता है? तो कहते हैं—जब परिणमन ही स्वभाव से विपरीत है तो दूसरे में हुआ है यह समझने में क्या है? यह समझ में नहीं आता इसलिए तो लिखा गया है। जैसे—अड़ोस-पड़ोस वाले की सम्पदा के प्रति स्वामित्व नहीं रहता है यह एक सभ्यता है, सदाचार है। उसी प्रकार अपने में उत्पन्न हो जाये और फिर भी उसके प्रति मेरापन न रहे तो बड़ी बात है, क्योंकि मेरापन होने पर अभिमान तथा कर्मबंध होगा। तो फिर वह ज्ञान किस काम का जिसके द्वारा बन्ध हो जाता है, जो कि विकल्प के लिए कारण होता है, उसके प्रति मोह हो गया तो वह अहितकारी हो गया। हम चाहते थे सम्यग्ज्ञान के माध्यम से संवर हो जाये लेकिन वह संवर तो आया ही नहीं...तो यह कही बाहर से थोड़े ही आता है, वहीं के वहीं बनाना पड़ता है। साधन जितने भी होते हैं वे साधन के रूप में ही रहें, नहीं तो वे बाधक साधन भी बन सकते हैं। सावधानी के साथ अग्नि का उपयोग करते हैं तो ठीक है लेकिन कोई व्यक्ति कहे कि—हे अग्नि देवता! तुम्हारी कृपा से तो हमारा जीवन चल रहा है, तुम्हारे उपकार हम कभी भी भूल नहीं सकते ऐसा कहकर एकाध बार उसका आलिंगन ले ले, ऐसा होता है क्या? नहीं, क्योंकि उसे ज्ञात है कि यह अग्नि जलाती भी है और जिलाती भी है। आचार्य कहते हैं—धर्म-अधर्म, आकाश आदि द्रव्य तथा गाथा में कहे गये इन सबका आधार लिये बिना भी अपना उपयोग अपने में लगा सकते थे फिर वह टेंशन के साथ इनको उपयोग का विषय क्यों बनाया? ये सब पर द्रव्य हैं कि नहीं? यह बताओ कि यह पर द्रव्य है तो इनका आधार क्यों लिया? पर द्रव्य को आधार क्यों बताया जा रहा है? ज्ञान जानता है तो उससे स्वयं को जानो, पर को क्यों जानता है कि यह छत्ता वाला, टोपीवाला, साईकिल वाला, बेला वाला, तेलावाला आदि-आदि ये क्या हैं? जब ज्ञान आत्मा का स्वभाव है तो इससे दुनिया को क्यों जानो? ज्ञेय के कारण आत्मा जानता है कि जानना आत्मा का स्वभाव ही है इसलिए जानता है। यदि जानना आत्मा का स्वभाव है तो आत्मा को ही जानो, पर को क्यों? आपके पास क्षमता है तो उसका प्रयोग पर को जानने में तो मत करो। इसलिए तो आचार्य देव कह रहे हैं कि ये सभी भी परिग्रह में आ गये। हेय को पुद्गल रूप जानकर छोड़ो, ज्ञेय को-पर के रूप में जानकर छोड़ो और उपादेय स्व को स्व के रूप में आत्मा को अंगीकार करो...बस...। क्रम यह है कि पहले हेय पदार्थ छोड़ो, उसमें भी स्वामित्व जिसके प्रति है उसे पहले छोड़ो। कोई ऐसा कह दे कि—हम दुनिया का त्याग करते हैं लेकिन जहाँ रहते हैं उसका त्याग नहीं करेंगे। तो आचार्य कहते हैं— ऐसा नहीं कहो, दुनिया हेय नहीं है, दूसरे के प्रति तो स्वामित्व या मेरापन का भाव नहीं है, इसलिए उसे तो छोड़ने की बात ही नहीं है लेकिन जिसके प्रति स्वामित्व भाव लगा है उसको छोड़ो। बस..।

यह छोड़ने के उपरान्त ज्ञेय तत्त्व के बारे में भी कहते हैं कि—साधक की दृष्टि में यह भी ऐसा ही है।

दृष्टान्त—जैसे—कोई गणितज्ञ है और अंगुली के ऊपर गिनता है, गणित करता है तो कहते हैं—क्या बच्चों जैसे कर रहे हो, आमुख करने को कहा है, मन में करते हुए भी होंट नहीं हिलना चाहिए, भीतर ही भीतर करो, मानसिक जाप (मंत्र) चलता है, उसी प्रकार आमुख गणित करना चाहिए। मन में भी कोई अन्य विषय न आये उसको बोलते हैं मंत्र की साधना। उपयोग रुक जाता है तो उसको रोको.. इसमें क्या बाधा है? यह क्रम है। इसलिए अंग-पूर्वात्मक जो सूत्र है उसमें भी मूर्च्छा नहीं करना, उसके साथ भी जुड़ना नहीं। ऐसा यह क्यों कहा जा रहा है? तो साधक ज्ञान को पर की ओर न ले जाये इसलिए कहा जा रहा है। क्योंकि जिस समय साधक का ज्ञान पर को विषय बनाता है उस समय निश्चित रूप से कठिनाइयों का अनुभव करता है, उसमें टेंशन बढ़ता ही है।

आपका ज्ञान ज्ञेय की ओर न जाये किन्तु ज्ञेय आदि प्रतिबिम्बित होते हैं तो होने दो। तीर्थकर कभी पाठशाला नहीं जाते.. (हँसी) हाईस्कूल, कॉलेज, यूनिवर्सिटी आदि—आदि कहीं नहीं जाते हैं कैसा लगता होगा—अटपटा सा? कम पढ़े—लिखे फिर भी ठीक हैं वे तो पढ़े—लिखे ही नहीं है फिर भी आप लोग उन्हें गौरव के साथ अपने आराध्य मानते हैं। दूसरे लोग तो कहेंगे कि—ये तो पढ़े—लिखे नहीं है। सूक्ष्म दृष्टि से देखते हैं तो—प्राणों की ओर देखो—इन दस प्राणों में से किसी को भी क्षति न पहुँचे। आप जिस समय कुछ भी जानना चाहते हैं तो मन पर जोर पड़ता है कि नहीं? टेंशन होता है कि नहीं? यह देख लो.. यदि जोर पड़ता है, भार पड़ता है तो ये भाव हिंसा हुई। क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र में— सूत्र आया है कि “**प्रमत्त योगात् प्राण व्यपरोपणं हिंसा**”—तो मन रूपी प्राण को धक्का लगता है कि नहीं? कुछ शक्ति कम होती है कि नहीं? देख लो। कई लोगों की आदत पड़ी रहती है—पढ़ने—पढ़ाने की, लिखने—लिखाने की। यदि मान लो उनका वो लिखना—पढ़ना छूट गया तो गड़बड़ हो जाये...क्या करेंगे? आचार्य कहते हैं—यदि उसके ऊपर जोर पड़ता है तो निश्चित रूप से मन को धक्का तो लग रहा है। उसे हिंसा कहते हैं कि नहीं? “**राग-द्वेषयोरुत्पत्ति हिंसा, तेषां अनुत्पत्ति अहिंसा इति समये (आगमे) कथितं..।**” बस...।

दृष्टान्त—जिस समय विषय-विषयी सन्निपात होता है उस समय क्या राग-द्वेष नहीं होता है? थोड़ा सूक्ष्म अध्ययन करना सीखो। जैसे—रूप को देखना है तो रूप के प्रति जब आकृष्ट हुआ उस समय कुछ तनाव है कि नहीं? वीणा के तार यदि ढीले हैं तो आवाज नहीं निकलेगी और तार अधिक कसे हैं तो टन-टन ऐसी आवाज आती है। जो तार ढीले हैं उन्हें कसते समय जोर पड़ता है कि नहीं? बिना कसे आवाज निकलती भी नहीं है। तो उसी प्रकार विषय-विषयी सन्निपात जब होता है उस समय तनाव के बिना तो वह बनता ही नहीं। जिस समय चलते हैं उस समय पैर यदि लचकदार हो जायें तो कैसे चलोगे बताओ? पोलियो जैसे पैर हो जायें तो टेंशन तो नहीं है लेकिन चलेंगे कैसे? उसी प्रकार ज्ञान में भी किसी एक पदार्थ को जानना चाह रहे हैं तो उस समय लचकदार ज्ञान से, मन से

काम नहीं चलता है।

जैसे-आप हाथ से लिखते हैं तो तर्जनी और अंगूठा में पेन को कस करके पकड़ते हैं बिल्कुल ढीली करके लिख लो...लिख पाओगे क्या? नहीं, कहते भी हैं-हाथ जमाकर लिखो...। हाथ जमाने का अर्थ है-टेंशन लाओ उसमें...तब लिख पाओगे। कई लोगों की शिकायत है कि लिखते-लिखते हाथ में सरवाईकल (गर्दन का दर्द) का दर्द उठ जाता है, तो ठीक है नस दब जाती है तो खिचाव हो जाता है, कालान्तर में फिर वह सरवाईकल हो जाता है, अच्छे ढंग से नहीं बैठेंगे तो तनाव तो होगा...। उसी प्रकार मैं यह कह रहा था-चाहे मनोयोग लगाओ या वचन योग या काय योग लगाओ...ये तीन योग हैं इनका उपयोग करते समय टेंशन नहीं होना चाहिए।

जिज्ञासा—तीन योग और तीन बल में क्या अन्तर है?

समाधान—योग तो परिवर्तित होते रहते हैं और बल का जब प्रयोग करते हैं तब अलग ढंग से होता है। हम योगों का प्रयोग तो पहले छोड़ सकते हैं लेकिन योगों को तो छोड़ नहीं सकते। उनके प्रयोग जरूर छोड़ सकते हैं। ये बताओ स्मृति और स्मरण में कितना अन्तर है? स्मरण में टेंशन होता है और स्मृति आती है सहज रूप से तो ठीक है, बार-बार याद करेंगे तो टेंशन होगा और अवग्रह के बाद कुछ नहीं सोचेंगे तो वह आकर चला जायेगा। वह यह कभी नहीं कहता कि-आपके पास क्षयोपशम है तो आपको जानना ही है। प्रमत्त शब्द कषाय सहित ही है, कषाय अपने आप में कभी प्रमत्त नहीं होती है बल्कि कषायवाला प्रमत्त होता है। कषाय कभी भी 'यह लिखो' ऐसा नहीं कहती लेकिन वह स्वयं कषायावाला व्यक्ति कषाय के योग में लिखना प्रारंभ कर देता है, उपयोग ज्ञान का करना प्रारंभ करता है तो प्रमाद भी प्रारंभ हो जाता है। यह प्रमाद भी दो प्रकार का है—(१) ध्यान को विचलित करने रूप (२) समिति को विचलित करने रूप। समिति को विचलित करता है तो और नीचे आना पड़ता है और ध्यान को विचलित करता है तो पुनः वह ऊपर पहुँच सकता है। अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्त के बाद किसी न किसी आलम्बन को लेकर समिति का प्रयोग करते हैं और अप्रमत्त होते हैं तो वह प्रमाद निकल जाता है प्रवृत्ति तो नहीं निकल पाती है। इसलिए प्रवृत्ति को बहुत तोड़-ताड़ करके देखते हैं। किसी भी वस्तु की पहले परीक्षा होती है-यूँ-यूँ देख करके या कस करके, तोड़ करके अथवा अग्नि परीक्षा करके यह कई प्रकार की पद्धति है। इसमें न मुद्रा आती है न चैन आता है। भगवान् को पकड़ना चाहते हो तो अनन्त चतुष्टय सामने आर्येंगे तो इसमें रागद्वेष नहीं होंगे इसलिए सही समीक्षा तो भगवान् की यही है। भव्यत्व उनके साथ जुड़ा हुआ है लेकिन वह उनका चिह्न नहीं है क्योंकि वह देखने में नहीं आ रहा है, मनःपर्यय ज्ञानी के ज्ञान में भी भव्यत्व गुण नहीं झलकता है, यह तो मात्र केवलज्ञान का ही विषय है क्योंकि वह पारिणामिक भाव है। तो यहाँ पर यह बात कही जा रही थी कि १० प्राणों का व्यपरोपण हिंसा है। आयु भी एक प्राण है जैसे-तेल की एक-एक बूँद प्रकाश के लिए कारण होती है और तेल घटता जाता है तो प्रकाश कम होता जाता है उसी प्रकार आयु के निषेक

भी एक-एक करके निजीर्ण होते हैं। यह आयुकर्म संयम मार्गणा को सुरक्षित रखने के लिए पेट्रोलियम का काम करता है, आपका बाहरी भोजन ही काम नहीं करता आयु कर्म भी प्रमुख रूप से सहयोगी होता है। किन्तु आपकी भीतरी प्रवृत्ति ही उसमें बाधक सिद्ध होती है और यह सबको अनिवार्य रूप से होती है लेकिन अनिवार्य की मात्रा कितनी होनी चाहिए? तो आचार्य कहते हैं—मान लो सातवें गुणस्थान में एक मिनट रहा तो छठवें गुणस्थान में दो मिनट रहो...बस...आगम में इतना कहा है। सातवें से छठवें गुणस्थान का काल दुगुना है लेकिन उसका भी अनुपात/मात्रा रखना चाहिए। यह आना अनिवार्य है, सहज है, लेकिन इसके अलावा भी आते हैं तो यह हमारा प्रमाद माना जायेगा इस ओर भी अपनी दृष्टि रखना चाहिए। जिन कारणों से हमारी आयु की उदीरणा संभव है उन कारणों से बुद्धि पूर्वक बचने का प्रयास करना चाहिए, क्योंकि हम अहिंसाव्रत के धनी हैं। अपने आपको अहिंसा व्रत के धनी मानते हो तो आयु प्राण को क्षति नहीं पहुँचाना चाहिए तथा पाँच इन्द्रिय, तीनों बल इनको भी क्षति नहीं पहुँचाना चाहिए यह सूक्ष्म अहिंसा है। परद्रव्य की हिंसा को ही हिंसा नहीं माना जाता है लेकिन हमारी कुछ चेष्टायें ऐसी होती हैं जिनके द्वारा दूसरों को क्षति पहुँच रही है या नहीं किन्तु अपने को क्षति पहुँच रही है तो वह भी हिंसा है। इन्टेशन पूर्वक हिंसा तो नहीं है इसे देखें...। अनशन करने से आयुकर्म की उदीरणा विशेष होती है ऐसा नहीं? अन्न-पान के निरोध से क्षति तो है लेकिन अनशन करने से नहीं है, क्योंकि उसमें भाव विशुद्ध होते हैं टेंशन नहीं होता बल्कि अन्न-पान सेवन में ज्यादा हिंसा होती है वैज्ञानिकों का कहना है कि नहीं खाने वालों की अपेक्षा खाने वाले ज्यादा बीमार पड़ते हैं। दुःपक्वाहार तो संतुलित असंतुलित दोनों के लिए कहा है तो अपने प्राणों की हिंसा के बारे में भी सोचना चाहिए। हिंसा कहने से पर की ओर ही देखते हैं। हमारी मन-वचन-काय की क्रिया द्वारा दूसरे को धक्का भी नहीं लगना चाहिए और अपने को भी नहीं।

प्राणों को क्षति मत पहुँचाओ—आचार्य समन्तभद्र स्वामीजी ने...सल्लेखना अधिकार में धर्मायतनु विमोचन...कहा है अर्थात् स्नत्रय धर्म की रक्षा के लिये शरीर का त्याग कहा है लेकिन इसे क्षति मत पहुँचाओ, यह अपने आप कृश होता है यह बात अलग है। जहाँ तक आपका उपयोग चला जाता है, बुद्धि का विषय बन जाता है वहाँ तक तो करो। वह स्वयं सजग रहता है, असावधानी नहीं करता है तो ठीक है कोई बात ही नहीं, लेकिन यह व्याप्ति नहीं बना सकते कि आहार-पान नहीं लेने से बहुत गड़बड़ होता है। जो एक आहार, एक उपवास, एक आहार, दो उपवास, एक आहार तीन उपवास इस प्रकार उग्र-उग्र तप करते हैं उनको गड़बड़ हो सकता है लेकिन एकाध उपवास वाले के लिए नहीं बल्कि ये एकाध उपवास करना तो स्वास्थ्य के लिए अच्छा होता है। वीरसेन स्वामी ने लिखा है—कम से कम हफ्ते में एक उपवास करें, नहीं तो १५ दिन में एक उपवास करो यह आरोग्य के लिए अच्छा है, उसके साथ-साथ वैराग्य भी बढ़ जायेगा लेकिन आचार्य महाराज से पूछकर तप करने को कहा है और हम भी ग्राहक देखकर ही देते हैं कि उनकी मानसिकता क्या है? हमने विज्ञान का एक

आर्टिकल पढ़ा था उसमें दिया था कि शरीर में कुछ ऐसे गुणधर्म होते हैं कि उपवास के दिन ही उन गुणधर्मों का प्रयोग होता है। तो पेट के किसी हिस्से में वह तत्त्व बंद रहता है, वह उसी दिन खुलता है जिस दिन आपका उपवास होता है। उस तत्त्व के बाहर आने से शरीर की विकृतियाँ निकल जाती हैं तथा उसके द्वारा खून, मज्जा आदि में स्कोप मिलता है। उपवास के लिए बाध्य नहीं किया जा रहा बल्कि उसके गुणधर्म की बात कही जा रही है। यह सार्वभौमिक शरीर का धर्म है जो बताया। गृहस्थों की बात अलग है। वस्तुतः चारों प्रकार के आहार का त्याग ही अनशन है। दो भुक्ति का त्याग कहा है वे लोग बीच-बीच में पानी लेते हैं फिर भी उसके द्वारा मेन्टेन कर लेते हैं। पानी को भी भोजन माना है, यदि पानी नहीं लेगा तो वह भोजन जल जायेगा उसमें लिक्विड होना चाहिए। वे पानी डालते जाते हैं तो इस जलोपवास के माध्यम से आपको तत्त्व मिलते हैं वह भी आहार तो है। **रत्नकरणडक श्रावकाचार में चतुराहार विसर्जन**—ऐसा कहा है। अतः जो अपने प्राण हैं उसे क्षति न पहुँचे यह सावधानी ही अहिंसा धर्म है। वह फिर स्व तथा पर के प्राणों को भी धक्का नहीं पहुँचायेगा। अपने प्राणों को बुद्धिपूर्वक हम कैसे सुरक्षित रखें? तो जैसे—बत्तीस ग्रास लेने को कहा है तो अन्त में यह भी लिख दिया कि अपने शरीर की आदतन के अनुसार जितना उचित समझो उतना ले लो उसमें ग्रास की संख्या तथा अनुपात का नहीं कहा है। इतना बस समझ लेना कि अति नहीं होना चाहिए, प्रमाण के अनुसार करो। अपन अपने शरीर के संचालक हैं आप स्वयं सही ढंग से संचालन करिये। पर की हिंसा से बचना ऐसा ही क्यों? स्व की हिंसा से भी तो बचना है। स्व को अबलम्बन बनाना साधक के लिए अच्छा माना जाता है। पर की बात के लिए वहाँ पर ब्रेक लग जाता है। चुनाव में जो खड़े हो जाते हैं— उनके लिए पचास के ऊपर वोट आ गये तो बस हो गया, लेकिन गिनना बंद नहीं करता परन्तु निश्चिन्त हो जाता है। तैतीस नम्बर की ही क्यों परिधि बनाते हो? और कितने नम्बर ले सकते हो उसके बारे में सोचो...। अपनी-अपनी इन्द्रियों में उद्रेक हो जाता है तो भी उदीरणा हो जाती है। भीतरी निर्जरा के लिये कारण यह बाहरी तप है लेकिन उन तपों को अनुकूलता देखकर करना यह कहा है। यह भी करो...ज्यादा क्यों? इस प्रकार ज्ञानी जीव धर्म-अधर्म आदि बाहरी द्रव्यों की इच्छा नहीं करता शुद्धात्मा को छोड़कर सभी विकल्पों का त्याग कर देता है तो धम्मच्छी-अधम्मच्छी आदि ये सब भी छूट जाते हैं।

दृष्टान्त—लेखन के समय कागज पर लिखो, कागज के बिना तो लिखा नहीं जा सकता लेकिन कागज में लाइन की आवश्यकता क्यों? लाइन की अपेक्षा रखना यह भी अपनी (लेखक की) कमजोरी मानी जाती है। उससे लेखक की लिखने की पद्धति से समझ में आ जाता है कि गाड़ी (लाइन) विदिशा में जाती है कि दिशा में जाती है। समानान्तर में बैठने से जो अनुभव होता है वह ढलान में बैठने से नहीं, ढलान में बैठेंगे तो कमर दर्द होगी, समानता होना चाहिए उसी प्रकार बुद्धि में भी संतुलन होना चाहिए तो फिर कुछ नहीं होता है इसलिए इन विषयों में परिग्रह का आधार नहीं लेता है वही ज्ञानी

निष्परिग्रही कहा है। आपके पास क्षयोपशम है लेकिन उसका प्रयोग करना अलग बात है। इसका प्रयोग करते ही आपके दिमाग में कुछ ऐसा होता है कि नहीं..देख लो..।

दृष्टान्त—बी.पी. मशीन में काँटा हिलने लग जाता है तो समझने के लिए उतना पर्याप्त है कि काँटा थोड़ा-बहुत इधर आ गया तो बी.पी. नारमल तो नहीं रहा। ब्लडप्रेसर डाऊन भी नहीं होना चाहिए तो हाई भी नहीं होना चाहिए। हाई होता है तो माथा दर्द करने लग जाता है और डाऊन होता है तो चक्कर आने लगते हैं ये दोनों ही ठीक नहीं हैं। व्यक्ति स्वस्थ है लेकिन ज्यादा बोल लेगा तो माथा दर्द करेगा, फिर तो पट्टी लगाओ...नहीं। पाँच मिनट शांति से बैठ जाये तो दर्द मिट जायेगा, नहीं है तो फिर माथा बांध कर पढ़ो लेकिन वह ठीक नहीं है। धर्मादि द्रव्यों को विषय बनाओ लेकिन दर्पण में बिम्ब के समान होना चाहिए। जैसे—दर्पण में कोई भी बिम्ब आ जाये तो उसमें विकार नहीं आता, उसी प्रकार आपके ज्ञान में कोई भी ज्ञेय आ जाये उससे आपके माथे में, उपयोग में ज्ञेय को विषय बनाते समय कोई विकार नहीं होना चाहिए।

जिसके कर्तृत्व-स्वामित्व-भोक्तृत्व का त्याग हो गया है उसको तो ज्ञेय पदार्थ दर्पण में बिम्ब की तरह ही रहेंगे, उसके प्रति उनका कोई लगाव नहीं रहेगा। यह सहजवृत्ति अपने में नहीं आती है, इसलिए ऐसा अनुमान लगाते हैं कि वहाँ पर ऐसा होगा। प्रयोग करो...यहीं के लिए है यह...। आचार्य देव यह कह रहे हैं कि दर्पण धूल-धूसरित नहीं है लेकिन जिस समय आप सोते हैं उस समय दर्पण धूल-धूसरित हो जाते हैं तो भी उस बिम्ब के ऊपर कोई फर्क नहीं पड़ता। आचार्य कह रहे हैं कि—दर्पणवत् हमारा उपयोग जागृत रहा आवे, उसमें कोई विकार न हो। तब तो प्राण बिल्कुल सुरक्षित रहेंगे यही अहिंसा है जो सबसे महत्त्वपूर्ण है। आप अहिंसा को आधार बनाकर चलिये, फिर तो कहीं भी उसको बिठा दो सब ठीक बैठ जायेगा। अहिंसा क्या है? हम अहिंसा के उपासक हैं इसके द्वारा न स्व को धक्का लगता है न पर को..बस..इतना ही पर्याप्त है...इसमें समता है, सामायिक है, त्याग है, ध्यान है, क्योंकि राग-द्वेष मूलक हमारी प्रवृत्ति होगी तो जब कभी भी उससे गड़बड़ हो जाता है। जो व्यक्ति अपने मानसिक संतुलन को बनाये रखता है उसके द्वारा हिंसा हो ही नहीं सकती क्योंकि पहले ही कहकर आये हैं—“**रागद्वेषानुत्पत्ति अहिंसा, तेषामुत्पत्ति हिंसा**”। आप कुछ बोल नहीं रहे हैं इसका मतलब अहिंसा पल रही है ऐसा मानना भी गलत है। भीतरी रागद्वेष की ओर ध्यान रखिये, किसके प्रति कितना लगाव है? यह महत्त्वपूर्ण है महाराज! एक-एक सेकंड अपनी ओर ध्यान बढ़ता चला जाता है फलतः साधक स्वयं उत्साहित होता चला जाता है क्योंकि वह विचार करता है कि मुझे कैसा शुभयोग मिला है धर्म साधन करने का, इस प्रकार उसे अहिंसा की महिमा आयेगी। कर्मोदय में आप लोगों के जो परिणाम हो रहे हैं उसको आप ही अपने भावों का थर्मामीटर लगाकर देख सकते हैं कि किस वेग के साथ हमारे कर्म उदय में आ रहे हैं..भीतर का दृश्य बड़ा अद्भुत है।

दृष्टान्त—जैसे—समुद्र में दिशा सूचक यंत्र लगा देते हैं दक्षिण में इसे **घोका** यंत्र बोलते हैं तो

वे नाविक दिशा सूचक यंत्र को देखते रहते हैं कि हमें किस ओर जाना है तथा हवा किस ओर चल रही है उस पर डिपेण्ड (निर्भर) रहता है, उसी प्रकार हम लोगों के भीतर भी कर्मों के वेग चलते रहते हैं, उन वेगों को देखते रहो और मान लो वेग कम है तो स्पीड बढ़ा दो।

दृष्टान्त—टेलर को आपने देखा होगा जब वह वस्त्र सीता है तो पहले बिल्कुल सीधा-सीधा सीता चला जाता है उस समय स्पीडली कार्य करता है और ज्यों ही शोल्डर या घुमाव आ जाता है तो धीरे से यू करके पुनः फरटि से चलाने लगता है, मोड़ में स्पीड कम हो जाती है। जब साइकिल सीखते हैं तो मोड़ में ही ज्यादा गिरते हैं, गोड़े टूट जाते हैं, स्कूल भी छूट जाती है। उसी प्रकार कर्मों के वेग जब आते हैं उस समय देखते रहना चाहिए यदि मोड़ नहीं है तो स्पीडली चला लो तो कुछ नहीं होगा। यदि दो कि.मी. तक घुमाव नहीं है तो रफ्तार से चला लो, लेकिन हाथ में हेंडिल पकड़ करके महाराज! ऐसा नहीं कि हेंडिल को छोड़कर करो। बीच में हाथ छोड़ देते हैं तो दूसरों से कहो नहीं कि—छोड़ देते हैं एक सेकंड में बहुत रफ्तार से भी चला लेता है। तात्पर्य यह है कि आप जितनी सावधानी रखेंगे उतनी असंख्यात गुणी निर्जरा होगी इसमें कोई संदेह नहीं। बस...ब्रेक अपने कंट्रोल में हो, हेंडल अपने कंट्रोल में हो और साथ-साथ दिमाग भी ठीक हो, यदि झपकी आ जाये तो एक ही बार में बेड़ापार...(सीधा गड्डे में)...। इसलिए सम्यग्दर्शन के समय उपयोग को साकार व जागरूक रखो। **ज्ञेय रूप परिणामन नहीं करना, दर्पण में बिम्ब के समान ज्ञायक रहना** यह अपने आप में बहुत महत्त्वपूर्ण है। पहले हम समझते थे मात्र पैर से दबा दो...लेकिन बाद में समझ में आया कि ऐसे नहीं दबाया जाता है, सामने देखकर चलाया व रोका जाता है, दबाते समय नीचे देखने की कोई आवश्यकता नहीं लेकिन सामने देखकर पैर से ब्रेक लगाया जाता है। अगर पीछे से हार्न नहीं आ रहा है और सामने से भी कोई नहीं आ रहा है तो स्पीड से चला लेते हैं। मोक्षमार्ग में दूसरे को देखकर अपना वाहन चलाया ही नहीं जाता, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को भी देखो कि अपने भाव कैसे हो रहे हैं? यदि हम अपने भावों को नहीं देखेंगे और दूसरे को देखकर अपने को चलायेंगे तो मोक्षमार्ग में चल ही नहीं सकते। नकल करना लेकिन किस बात की नकल करना? परिणामों की नकल करो कि वो भगवान् कैसे शान्त बैठे हैं, नाड़ तक नहीं हिलती, हँसते भी नहीं हैं वो...इस प्रकार सोचो! नकल करो। मतलब उनके परिणामों की, उनकी चाल की, ढाल की नकल करो। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव आदि सारे पर के अनुसार होंगे हमारा अपना क्या भाव है इसे देखकर चलना है फिर तो मोक्षमार्ग बहुत सरल है, ऋजु है।

दृष्टान्त—जैसे—रेस चलती है वहाँ पर दूसरे से एक्सीडेंट की संभावना नहीं क्योंकि सबके रास्ते ही अलग-अलग होते हैं उसी में उन्हें भागना होता है। एक साथ भी और अलग-अलग टाईम से भी दौड़ाते हैं फिर डिस्मिशन निकलता है। इसी प्रकार मोक्षमार्ग में भी सभी के अपने-अपने संयम-लब्धि-स्थान अलग-अलग हैं, दूसरे के साथ तुलना क्यों करना? यह एक मात्र अपने प्राणों की रक्षा का,

अहिंसा का सबसे अच्छा मार्ग है।

उत्थानिका—अब आगे भोजन सम्बन्धी जो इच्छा नहीं करता वह ज्ञानी है, इस विषय को बताते हैं—

अपरिग्रहो अणिच्छो भणिदो असणं य णिच्छदे णाणी ।

अपरिग्रहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२२५॥

अन्वयार्थ—(णाणी) ज्ञानी (अपरिग्रहो) परिग्रह से रहित, (अणिच्छो) परिग्रह की इच्छा से रहित (भणिदो) कहा गया है (य) और वह (असणं) भोजन को (णिच्छदे) नहीं चाहता (तेण) उससे (असणस्स) भोजन का (अपरिग्रहो) परिग्रह नहीं है (सो) वह (जाणगो दु होदि) ज्ञायक होता है।

अर्थ—जो इच्छा रहित है वह परिग्रह रहित कहा जाता है। इस प्रकार जो ज्ञानी होता है वह भोजन की इच्छा नहीं करता। इस कारण से भोजन को नहीं ग्रहण करता हुआ केवल ज्ञाता ही रहता है।

ज्ञानी वही श्रमण है अपरिग्रही है,

इच्छा कभी अशन की करता नहीं है।

ज्ञाता अतः अशन का रहता सही है,

निस्संग को मुक्ति की मिलती मही है ॥२२५॥

व्याख्या—बाह्य द्रव्यों में इच्छा, मूर्च्छा, ममत्व परिणाम नहीं है इसलिए वह अपरिग्रहवान कहा गया है, क्योंकि इच्छा अज्ञानमय भाव है। यह भाव ज्ञानी के संभव नहीं है। अतः ज्ञानी के भोजन की इच्छा नहीं होती है, किन्तु वह आत्म-सुख में संतुष्ट होकर भोजन व तत्सम्बन्धी पदार्थों में परिग्रह रहित होता हुआ जैसे-दर्पण में आये हुए प्रतिबिम्ब के समान केवल आहार में ग्रहण करने योग्य वस्तु का वस्तु के रूप में ज्ञायक ही होता है किन्तु राग रूप से उसका ग्रहण नहीं करता है, इस गाथा में **णाणी** शब्द को अन्त में ग्रहण किया है, असणं इसको भी अन्त में रखा जा सकता था क्योंकि दोनों की मात्राएँ एक जैसी हैं फिर भी **आचार्य कुन्दकुन्ददेव** ने उक्त गाथा इस प्रकार लिखी है। जो ज्ञानी होता है वह अपरिग्रही होता है, अनिच्छक भी होता है इसलिए अशन सम्बन्धी इच्छा नहीं करता। यह अशन शरीर के लिए आवश्यक है। जैसे पेन में स्याही, गैसबत्ती में तेल, रेडियो में सैल, घड़ी में चाबी आवश्यक है इसी तरह शरीर के लिए भोजन आवश्यक है। इससे बढ़कर कुछ नहीं है लेकिन रेडियो में सैल आवश्यक हैं तो अच्छे-अच्छे दो-चार सैल और डाल लो, ज्यादा स्पीड दे दो ये भी ठीक नहीं है, अनुपात जितना कहा जाता है उतना ही आवश्यक है, उतना ही देओ, जब आवश्यक है तभी देओ ये विधान भी ध्यान में रखना चाहिए।

उसमें भी यह अच्छा है उससे पहले ये डाल दो, इस प्रकार अशन की भी उन्हें इच्छा नहीं होती। आहार लेना अनिवार्य तत्त्व है तो डाल दो लेकिन इच्छा मत करो क्योंकि “**इच्छा निरोधः तपः**” कहा

है। अन्न का त्याग करना तप है ऐसा नहीं कहा बल्कि इच्छा का निरोध करना तप है ऐसा कहा है। इच्छा का अर्थ यह है कि जैसे श्रावक घर में करते हैं वैसा मत करो, माँगने के भाव मत करो और मिल जाये यह भाव भी मत करो बल्कि जितना मिला उसी में संतुष्ट होकर आओ, जितने भी कार्य हैं ये सभी परिणामों को संतुलित करने के उपाय हैं। आहार लेने के लिए हाथ तो उठेंगे यहाँ तक तो ठीक है लेकिन मन नहीं उठना चाहिए, दिमाग नहीं उठना चाहिए अर्थात् दिमाग खराब नहीं होना चाहिए, उसे तो संतुलित ही रहना चाहिए।

एषणा समिति की महत्ता—यह एषणा समिति अपने आप में बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक तीर्थंकर आहार करके ही ध्यान में बैठे हैं। भगवान् बाहुबली आहार को उठे ही नहीं, हम लोगों को प्रतिदिन आहार करना पड़ता है यह मनोविज्ञान है, इसका भी अध्ययन करना चाहिए। आहार संज्ञा अर्थात् आहार की इच्छा तो होगी लेकिन इसके बाद भी कुछ विकल्प नहीं आना चाहिए। आहार की इच्छा होगी लेकिन रसों की इच्छा नहीं होनी चाहिए, हमें अनुकूल मिले यह विकल्प आ गया तो यह प्रमाद हो गया। छट्टे गुणस्थान में आ गया। ठीक हो जाये आहार ये तो विकल्प रहेगा, लेकिन अनुकूलता चाहना एक स्वभाव सा पड़ गया है। क्या अनुकूलता होना अपने हाथ की बात है? अगर नहीं तो उसे क्यों चाहते हो? देने वाला दातार देना चाहता है लेकिन दे ही दे ये कोई जरूरी नहीं। आज अच्छा कल बुरा ये तो होता ही रहता है, उसी में एडजेस्ट (सामञ्जस्य) करके चलो, तो वह ज्ञानी अशन सम्बन्धी अपरिग्रही होता है क्योंकि अशन की इच्छा नहीं है वह तो मात्र अशन का ज्ञाता होता है, अनशन का भी ज्ञाता होता है तो असन का भी ज्ञाता होता है। आप लोग अपने भीतर से अनिच्छिक रहो तो अपरिग्रही ही रहोगे अन्यथा नहीं। यहाँ उस ज्ञानी की बात कही जा रही है जो अपने मानस को तरंगहीन बना करके रखता है उसमें कोई तरंग नहीं उठती, वह किसी भी प्रकार से किसी से भी प्रभावित नहीं होता, यह अपरिग्रही साधक की बहुत बड़ी साधना है। बाहरी द्रव्यों में न इच्छा हो, न ममत्व हो, न मूर्च्छा हो, क्योंकि ये सब अज्ञान भाव हैं, ये ज्ञानी के संभव ही नहीं हैं। देखो क्या कहा? अतः ज्ञानी आत्म-सुख में तृप्त होता हुआ अशन में कोई ममत्व नहीं रखता, मात्र दर्पण में बिम्ब की तरह उन वस्तुओं का केवल ज्ञाता रहता है। शरीर के साथ अन्न और मन का कितना सम्बन्ध है, किस ढंग से जुड़ा रहता है ये आप ही देख लो?

गुप्ति और समिति के समय भी अपरिग्रह ही होता है लेकिन दोनों की क्वालिटी अलग-अलग है। परीक्षा तो कक्षा में जाने पर, पेपर देने पर ही होगी गुप्ति के समय पर भी थोड़ी परीक्षा होगी लेकिन चौंके में जाकर भी सही परीक्षा का समय होता है, वस्तुओं को देख कर रागद्वेष नहीं करना, इच्छा नहीं करना, किन्तु दर्पण में बिम्ब के समान ज्ञाता रहकर आहार ग्रहण करना। जिनसे भोजन लेते नहीं बन रहा है वो नली के द्वारा डालते हैं, उनसे पूछो उदर में जब जाता है तो कैसा लगता है उनको? आहार तो छूटा नहीं जिह्वा इन्द्रिय के बिना जा रहा है, लेकिन पेट में कैसे डालें? श्वास लेते हैं तो कण्ठ को

और नाक को स्पर्श होता है, इन दोनों जगहों पर स्पर्श ना हो ऐसा प्रणायाम करो अथवा उसका आभास ना हो, वह उत्कृष्ट साधना होती है। **गिरिभित्त्ववदानवतः श्रीमत् इवदंतिनास्त्रवद्दानवतः** ऐसा **आचार्य समन्तभद्रस्वामी** ने **स्वयंभूस्तोत्र** में भगवान् महावीर स्वामी की स्तुति करते हुए कहा कि—जैसे हाथी अपनी मस्त चाल से चलते जाते हैं, बीच में जो वस्तु पर्वत आदि आते हैं उनसे टकराते हुए चले जाते हैं परंतु वो इतने सशक्त होते हैं, कि उनसे टकराते हुए वस्तुयें गिरती चली जाती हैं और वे आगे बढ़ते हुए चले जाते हैं, आप लोगों को ऐसा नहीं होना चाहिए। पड़गाहन करने वालों से ही आहार लेते हैं महाराज क्योंकि चौके वालों की प्रतिक्रिया क्या है? यह देख लेते हैं कोई बाहर का व्यक्ति आकर एक ग्रास दे और अन्तराय हो जाये और चौके वाले आहार जल का त्याग करके बैठे जायेंगे तो फिर क्या होगा? क्या करोगे? श्रावकों के ऊपर ही ये सब बात रहती है लेकिन जब वह अपना विवेक नहीं रखता है, तो फिर हमें स्वयं कंट्रोल करना पड़ता है, राष्ट्रपति शासन चलाना पड़ता है। कभी-कभी जिस बार्ड में गये उनकी भी मानना पड़ती है। चौके वाले अन्य श्रावकों से कह देते हैं कि महाराज यदि लें तो दे दो, तो फिर हमें देखना पड़ता है। मुख्य रूप से श्रावकों को दाता के सात गुणों को ध्यान में रखना चाहिए लेकिन चौके वाले पार्टनरशिप में रहते हैं, तो फिर क्या करें? वे पहले से ही कह कर रखते हैं कि तुम्हारे यहाँ महाराज आयेंगे तो हमें आहार दिला देना और हमारे यहाँ महाराज आ जायेंगे तो तुम आ जाना। व्रतियों को तो बहुत ध्यान रखना चाहिए, ये उनसे सीखते हैं। जिनका पड़गाहन किया है उनके अच्छे ढंग से पूरे आहार कराना चाहिए और दवा यदि देना है किसी की तो महाराज से विनय पूर्वक पूछ लें और महाराज भी मुस्कुरा कर प्रफुल्लित होकर कह दें, तो जाना कोई मना तो करता नहीं, फिर भी जिनका पड़गाहन किया है उन्हें पूरा आहार कराकर आवास तक भेजकर भी आना चाहिए।

दृष्टान्त—जैसे आप भगवान् की पूजन करते हैं तो पहले ठोने में आह्वानन, स्थापना की जाती है और पूरी पूजा हो जाने के बाद शांतिपाठ व विसर्जन करते हैं, करते हो कि नहीं? हाँ, और अन्त में बोलते हैं श्री जिनवर की आशिका लीजे शीश चढ़ाय, भव-भव के पातक कटें दुःख दूर हो जाये और आशिका को ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार मुनिराज को पड़गाहन द्वारा आह्वान किया फिर उच्चासन दिया पूजन की, फिर आहार दिया और आहार होने के बाद आवास तक भेजकर आये उससे आपकी नवधाभक्ति पूर्ण होगी और महाराज भी उससे संतुष्ट रहेंगे और आपकी विधि भी पलेगी, द्रव्य भी अच्छे से जायेगा (आहार जो शुद्ध है वो पूरा आहार कराओ इससे आपकी नवधाभक्ति भी पूर्ण होगी) और साथ ही साथ परिणामों की उन्नति भी होगी। पात्र भी आपके कार्य से प्रभावित होकर चला जायेगा। ऐसा नहीं है तो अपनी पहचान रखकर चला जायेगा, बाहर से आकर आहार देते हैं या दूसरे चौके से आकर देते हैं तो अपने चौके में महाराज को नवधाभक्ति पूर्वक आहार नहीं देना और इधर आकर भी एक ग्रास दिया और चले गये तो नवधाभक्ति पूर्ण नहीं होती, उनको इतनी जल्दी रहती है

कि बस हमें एक ग्रास देने दो, तो महाराज एक ग्रास के लिए आये हैं क्या? श्रावक को विवेक के साथ भक्ति पूर्वक देना चाहिए, क्या दे रहे हैं, क्या चल रहा है? किस वस्तु के बाद क्या देना है? एक साथ कितना देना है यह भी देखना चाहिए। ध्यान रखना चाहिए ऐसे में शोधन करना ही मुश्किल हो जाता है। यह व्यपदेश है कि यह दूसरे की सामग्री है दूसरे के देने योग्य द्रव्य को आप दे रहे हैं तो वह दिलवाना चाहता है या नहीं क्या पता? ये कुछ बातें नहीं कहना चाहिए तो भी हम कह रहे हैं। जैसे—आप लोग कह देते हैं।

ज्ञानी वस्तु को वस्तु के रूप में ग्रहण करता है। राग के रूप में नहीं, वो आत्म साक्षीपूर्वक ग्रहण करता है और यह आप लोगों को भी सीखना चाहिए कि जिस समय आपके घर में महाराज आते हैं उस समय महाराज की पूरी चर्या देखने को मिलती है उनके सारे गुण आप लोगों को देखने में आ जाते हैं, वे पूरा एक घंटा दर्शन देते हैं, वे बोलते नहीं, इधर-उधर देखते नहीं, कुछ संकेत देते नहीं, आप लोग भी भोजन करते हैं और ये भी कर रहे हैं, लेकिन ये कैसे कर रहे हैं खड़े होकर ले रहे हैं, अनुकूल-प्रतिकूल कैसा भी हो, फिर भी लेते चले जाते हैं, यह सब देख कर चक्रवर्ती तक प्रभावित हो जाता है कि वस्तुतः यही मोक्षमार्ग है और ये ही मोक्षमार्ग के नेता हैं। हमें भी यही चर्या अपनाना है मुझे यह सौभाग्य कब प्राप्त होगा, वह दिन कब आयेगा? ऐसे-ऐसे भाव बनाता है।

जो श्रावक शिक्षाव्रत को धारण किये हुए हैं, जो आहार देने वाले हैं, उन्हें भी हमेशा-हमेशा इसकी चर्चा करनी चाहिए। शिक्षाव्रत का अर्थ ही है कि जिन व्रतों के द्वारा मुनि और आर्यिका बनने की शिक्षा मिलती हो वे शिक्षाव्रत हैं। इसके बिना आहार दान और कोई पाठशाला है ही नहीं, एक डेढ़ घंटे तक आहार देते समय सबसे ज्यादा निर्जरा होती है और संतोष भी हो जाता है आगे के लिए ये बातें आप लोग ध्यान रखना। बहुत बार बताया है कि चौके में पूजन करते समय चावल गिर जाते हैं, आपने एक बार चौके में हाथ धो लिए तो जमीन पर हाथ नहीं लगाना यह शुद्धि मानी जाती है लेकिन वैसे बोलते हैं न 'बिखराते हैं गली-गली' तो आपके चावल भी चौके में गिरते हैं तो फिर बोलो कि बिखराते हैं चौके-चौके में, इसलिए कुछ संकेत दे देते हैं कि एक थाली में सब हाथ लगा लो नहीं तो फिर आप बिखरे हुए चावल जमीन से उठायेंगे, जमीन पोछेंगे तो हम फिर उनसे आहार कैसे लेंगे ? इसलिए ये सारी की सारी बातें विवेक गुण के अन्तर्गत आ जाती हैं। बुरा नहीं मानना, बिल्कुल ठीक कह रहा हूँ बहुत दुर्लभ है कि सात-आठ व्यक्ति पूजन करें और एक भी चावल नीचे न गिरे।

दृष्टान्त—जैसे-सी.ए. के रिजल्ट में एकाध व्यक्ति पास होता है उसी प्रकार चार-पाँच महीने में सौ-दो सौ चौकों में से तीन-चार चौके ऐसे मिलते हैं जिनमें श्रावक चावल नहीं गिराते हैं, बाकी तो सब हाथ से गिरे चावल उठायेंगे तो शुद्धता कैसे रहेगी? हाँ कपड़े आदि से एक तरफ कर सकते हैं लेकिन ये कहो न कि हम चावल नहीं गिरायेंगे। कपड़े से भी दूर करने की नौबत क्यों आये ? एकाध बार चावल नीचे गिरने पर चौके से लौट जाओ तो उन्हें शिक्षा मिल जायेगी। उसी प्रकार हाथ धोने के

उपरान्त पिच्छी आदि भी नहीं छूना चाहिए लेकिन चींटी आदि कुछ दिख जाता है तो उसे पिच्छी से अलग करने लग जाते हैं आदि। इस प्रकार अशन का प्रकरण आने के कारण चर्या सम्बन्धी कुछ ध्यान देने योग्य विशेष चर्चा हो गई, इसको ध्यान में रखना।

उत्थानिका—ज्ञानी अशन को जिस प्रकार राग पूर्वक ग्रहण नहीं करता है। उसी प्रकार पानी को भी अर्थात् पेय पदार्थ को भी ग्रहण नहीं करता यह आगे की गाथा में बता रहे हैं—

अपरिग्रहो अणिच्छो भणिदो पाणं य णिच्छदे णाणी ।

अपरिग्रहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२२६॥

अन्वयार्थ—(णाणी) ज्ञानी (अपरिग्रहो) परिग्रह से रहित (अणिच्छो) और परिग्रह की इच्छा से रहित (भणिदो) कहा गया है (य) और वह (पाणं) जल आदि पीने की (णिच्छदे) इच्छा नहीं करता (तेण) इसलिए (पाणस्स) पान का (अपरिग्रहो) परिग्रह नहीं है (सो) वह (जाणगो दु होदि) ज्ञायक होता है।

अर्थ—जो इच्छा रहित है वह परिग्रह रहित कहा जाता है। इस प्रकार ज्ञानी जीव किसी पीने योग्य वस्तु की भी इच्छा नहीं करता है। इस कारण उसके पीने का भी परिग्रह नहीं होता है अतः वह तो उसका केवल ज्ञाता ही रहता है।

ज्ञानी वही श्रमण है अपरिग्रही है,
वो-चाहता तरलपान कभी नहीं है।
ज्ञाता रहा इसलिए रस पान का है,
निस्संग है रसिक भी निज ज्ञान का है ॥२२६॥

व्याख्या—जो परिग्रह रहित होता है वह अनिच्छिक होता है अतः ज्ञानी पेय पदार्थ को भी नहीं चाहता है, दो बातें हैं अशनपान को ग्रहण करना और अशन पान को चाहना। जो अपरिग्रही होगा वह इच्छा नहीं करेगा, यह बात यहाँ पर कही जा रही है, इच्छा से रहित होता हुआ पान को ग्रहण करते हुए भी ज्ञानी परिग्रही नहीं माना जाता, ग्रहण करना परिग्रह नहीं है किन्तु इच्छा करना परिग्रह है और वही बंध का कारण है। **आचार्य कुन्दकुन्द भगवान्** आगे बंध अधिकार में स्वयं कहेंगे, **ण हि वत्थुदो दु बंधो**...वस्तु ग्रहण मात्र से बंध अर्थात् मात्र वस्तु बंध का कारण नहीं है, लेकिन वस्तु के द्वारा अध्यवसान होते हैं जो कि बंध के कारण हैं, इसलिए वस्तुओं से भी दूर रहना आवश्यक है। वस्तु के ग्रहण मात्र से बंध होने लगे तो फिर हम कभी बंध से बच ही नहीं सकते, तो वस्तु से बंध नहीं होता लेकिन उसके प्रति जो लगाव है वह बंध का कारण होता है, इसलिए ज्ञानी जीव इस बात को जानता हुआ वस्तुओं के प्रति इच्छा नहीं करता।

इच्छा दो प्रकार की होती है, एक विषयों की अपेक्षा इच्छा और एक आगम के अनुकूल मिल जायेगा तो ले लेंगे तो ऐसे आहार करने की इच्छा। ये छूटे गुणस्थान तक हो सकती है। मुनिराज

पञ्चेन्द्रियों के विषयों के लिए आहार नहीं लेते बल्कि पेट रूपी टैंक में भोजन रूपी पेट्रोल, शरीर रूपी गाड़ी को चलाने के लिए लेते हैं। इसमें इच्छा क्या? वह तो ड्यूटी है आहार के लिए अंजुलि ऐसी की फिर शोधन किया करते हैं तो उस समय भी वे ज्ञानी हुआ करते हैं। वे आप लोगों जैसे आहार नहीं करते, आप आहार बैठ करके लेते हैं, वे खड़े हो करके लेते हैं। ठिड़ी भोजन करते समय पञ्चेन्द्रियों का निरोध कैसे होता है? देख लो, उपचार से यदि कहें तो दो प्रतिमाधारी को भी **चेलोपसृष्ट मुनिरिव** मुनि कहा है, क्योंकि वे चेल (वस्त्र) से आविष्ट हैं वह भी **याति यतिभावं** अर्थात् यतिभाव को प्राप्त होता है। ऐसा कहा तो दिग्ब्रत के वर्णन में जितना त्याग कहा है उतना किया है, उस त्याग की अपेक्षा से महाव्रती है ऐसा भी कहा है। उपचार से क्यों कहते हैं? इसको **आचार्य समन्तभद्र स्वामी** ने **रत्नकरणडक श्रावकाचार** में स्पष्ट ही किया है।

मुनि शब्द में दो अक्षर हैं और मुनिवत् में चार अक्षर इसलिए मुनिवत् और बड़ा हो गया ऐसा है क्या? नहीं। दक्षिण में वत् शब्द का प्रयोग जब बाढ़ वगैरह आती है तो नदी-नाले, खाई आदि में भी वेग बढ़ जाता है तो उसे नदीवत् कहो, उसी प्रकार आप भी मुनिवत् हैं। जो संकल्प पूर्वक समस्त सावद्य का त्यागी होता है उसके जो भाव होते हैं उसके बारे में यह कहा जा रहा है। भक्त प्रत्याख्यान वाला यम सल्लेखना लेता है तो उनके चरणों में एक महीने के उपवास वाले मुनि जाकर भी झुकते हैं, क्योंकि एक महीने के बाद आहार लेने का विकल्प है। कल पारणा करना है यह विकल्प है, शरीर की स्थिति कब, कैसी, क्या हो? मौसम ही ऐसा हो गया, प्रतिकूल हो गया तो क्या करोगे? और उन्होंने तो आजीवन त्याग कर दिया है भले बीस-पच्चीस दिन रह जायें, तो भी जब तक प्राण नहीं जायेंगे तब तक ग्रहण नहीं करेंगे, ऐसा संकल्प उनका है ये बहुत बड़ी बात है। 'जीवित मरणाशंसा' सल्लेखना के इन अतिचारों से बचते हुए यम सल्लेखना को पालना बहुत कठिन है। बड़े-बड़े हाथी भी वहाँ पर बह जाते हैं, तात्पर्य यह है कि बड़े-बड़े साधक वहाँ फेल हो सकते हैं।

दृष्टान्त—एक बार एक वैद्य जी आये थे, वे कह रहे थे कि यह मलेरिया पहलवान मनुष्य को तो दूर बड़े-बड़े हाथियों की कमर को भी तोड़ने वाला होता है, अर्थात् मैं-मैं कहने वाला भी मलेरिया आने पर सीधा-साधा हो जाता है, मूड़ हिलाने लग जाता है, कोई कहे णमोकार मंत्र सुना दें, तो कहता है हव, प्रतिक्रमण सुना दें, तो हव, उसे कुछ आता ही न हो ऐसा हो जाता है, इसलिए आचार्य कहते हैं कि सावधान रहो, उसने संकल्प लिया है जीवन पर्यन्त का, तो पानी की भी इच्छा नहीं करता। सल्लेखना के बारे में सप्तम अध्याय में गृहस्थों की सल्लेखना को मुख्यता दी है, मुनियों की सल्लेखना तो प्रतिदिन प्रतिपल चलती है, वैसे भी एक उपवास करें तो प्रोषधोपवास ही होता है और एक ही बार मुनिराज प्रतिदिन आहार लेते हैं, तो सकृत् भुक्ति का त्याग तो प्रतिदिन चलता ही है, उपवास करेंगे उस दिन तो उपवास और शेष दिन प्रोषध हो जाता है, एक भुक्ति के त्याग का प्रतिदिन का संकल्प है और श्रावक के तो अष्टमी और चतुर्दशी के दिन ही एक भुक्ति का नियम होता है लेकिन मुनिराजों का तो

जीवनपर्यन्त का संकल्प है। यह एक भुक्ति का त्याग भी उपवास है ऐसा अकलंक देव ने कहा है, अन्यत्र ऐसा चलता है कि उपवास में फलाहारी कर लेते हैं, लेकिन यह ठीक नहीं है। जल ले करके उपवास करते हैं, तो उसे जलोपवास संज्ञा दे देते हैं लेकिन वास्तव में देखा जाये तो जल लेने पर भी चतुराहार त्याग तो नहीं कहलायेगा। **आचार्य समन्तभद्र स्वामीजी** ने एकाशन को सकृत् भुक्ति का त्याग कहा है।

देखो! सल्लेखना व्रत अलग से दिया है मुनियों के लिए सल्लेखना व्रत का अलग से कथन नहीं है। गृहस्थों को कहा है। **आचार्य उमास्वामी जी** ने बारह व्रतों के वर्णन में सल्लेखना को नहीं कहा किन्तु अलग से तेरहवें व्रत के रूप में कहा लेकिन कुन्दकुन्द स्वामी जी ने बारह व्रतों में इसे गर्भित किया है। हम इसे ऐसा मानते हैं कि एक कक्षा से दूसरे कक्षा में जाते हैं तो तीन सौ पैसठ दिन के उपरान्त ही अगली कक्षा में पहुँचेंगे, तो परीक्षा कब हुई? अगर ३६५ दिन के भीतर कहेंगे तो उसी कक्षा के अन्तर्गत आया क्योंकि परीक्षा दिये बिना अगली कक्षा में जा नहीं सकते, उसी प्रकार सल्लेखना के बिना तो उसको सफलता नहीं मिलेगी लेकिन मुनियों के लिए प्रतिदिन प्रतिपल सफलता है और परीक्षा है उसमें पास होना अनिवार्य है, कुछ परीक्षा अलग ढंग से होती है, मुनियों के लिए व्रतों के अतिचार नहीं किन्तु दोषों का कथन किया है, उनके लिए सल्लेखना व्रत अलग से नहीं कहा। दोष लगते हैं तो प्रायश्चित्त आदि ले लेते हैं मुनियों को तो आकस्मिक कुछ हो जाये, तो वह संक्षेप सल्लेखना ले लेते हैं, वे तो हमेशा तैयार रहते हैं।

दृष्टान्त—जैसे—मिलिट्री वाले वैसे तो समय पर भोजन करते हैं लेकिन कभी आकस्मिक युद्ध का समय आ गया तो आठ-दस दिन तक उनका भोजन नहीं होता, उसी प्रकार मुनि महाराजों का है, श्रावकों का ऐसा नहीं होता, मुनियों का तो प्रतिदिन संस्कार चलता रहता है। दीक्षा-शिक्षा गणपोषण आदि-आदि छह काल होते हैं, उसमें एक आत्म-संस्कार काल भी आता है। आज कल पंडित-पंडित मरण नहीं होने से आज के योग्य पंडित मरण कर लेते हैं, छटवाँ-सातवाँ गुणस्थान बार-बार होता ही रहता है। जो हमेशा फर्स्ट डिवीजन (प्रथम श्रेणी) से पास होता है उसे परीक्षा की चिन्ता या विकल्प ही नहीं रहता, हाँ फर्स्ट क्लास फर्स्ट आने का विकल्प हो सकता है, जब चाहे तब उपवास, जब चाहे तब रस परित्याग कर लेते हैं। पंचम गुणस्थानवर्ती का ऐसा नहीं होता है, वह तो इच्छा पूर्वक भोजन बनाता है या बनवाता है फिर आहार देता है और स्वयं भोजन करता है, इस पंचम गुणस्थानवर्ती की महिमा तो अलग है वह जब चाहे, जैसा चाहे, जितना चाहे, जो चाहे, मन चाहे वैसा करके दे सकता है और स्वयं ले सकता है। पिकनिक के लिए यहाँ से बनाकर वहाँ ले जाते हैं उनका यह पंचम गुणस्थान के योग्य चल सकता है इसलिए श्रावक को मुनि के साथ ना रह कर थोड़ा पीछे रखा है।

इच्छा रहित होने से ज्ञानी पान (पेय) का सेवन करता हुआ भी उसका ज्ञाता मात्र होता है, जिसके बाहरी द्रव्यों में आकांक्षा तृष्णा मोह इच्छा नहीं रहती है वह अनिच्छिक होता है। इच्छा होना यह अपनी

ही परिणति है, संयम लेते हैं तो उस समय जिस वस्तु का त्याग किया है उसको देख कर इच्छा संभव है और व्रत लेते हैं तो पूर्व की स्मृति आ सकती है लेकिन स्वेच्छा से त्याग किया है बाध्य होकर तो किया नहीं है। अतः मोह रागादि नहीं होते हैं, यह संभव है कि वर्तमान परिस्थिति कुछ ऐसी हो जाये तो बाध्य होकर कुछ संभावना लगती है लेकिन उसमें भी मन बार-बार कहता है कि मैंने तो इसका त्याग किया था लेकिन ऐसी स्थिति आ गई कि अब मैं क्या करूँ, मैं उसका सेवन नहीं कर सकता। ऐसे विचार आना मात्र संयम का ही परिणाम है, इसी के कारण मोह का उदय होते हुए भी वह साधक अपने चारित्र को बरकरार रखता है।

दृष्टान्त—जैसे नाव में कहीं छेद पड़ गया हो तो नाव में पानी आने लग जाता है, ऐसा नहीं होता कि ऊपर से कुछ उड़ेल दिया हो, डाल दिया हो, ऐसा पानी तो नहीं भरता लेकिन छेद के माध्यम से थोड़ा-थोड़ा आता है या आ सकता है तो नाविक उसे बंद करने का प्रयास करता है या फिर वेग बढ़ा देता है, ताकि नदी के किनारे तक शीघ्र पहुँच जाये, वह नाव में अपने हाथ से तो छेद करेगा नहीं, लेकिन छेद होता है तो उसे बंद करने का पूरा प्रयास करता है एक व्यक्ति को पानी निकालने के लिए बिठा देता है, यह सब पुरुषार्थ है संयम है, उसी प्रकार संयमी अथवा व्रती श्रावक आस्रव के आने वाले मिथ्यात्व आदि छेदों को बंद रखने का पूरा प्रयास करता है। अविरति के साथ ऐसा नहीं होता, जघन्य, मध्यम, उत्तम भोग भूमि में क्रमशः एक आहार एक उपवास, दो उपवास एक आहार, तीन उपवास एक आहार, वह भी हर्र, बहेड़ा, आँवला बराबर उसका प्रमाण बताया लेकिन फिर भी वहाँ पर उसका संयम नहीं माना जाता, वहाँ पर ऐसा सहज ही होता है, जैसे-जैसे वहाँ पर भोग सामग्री बढ़ती है वैसे-वैसे विषयों की लत एकदम से नहीं बढ़ती लेकिन धीरे-धीरे उसका असर बढ़ता चला जाता है, उनकी अवगाहना बड़ी होते हुए भी ग्रास घटता जाता है, आँवला से छोटा बहेड़ा होता है और उससे भी छोटी हरड़ होती है, मात्र उतने आहार से उनका काम चलता है।

इच्छा करना अज्ञान भाव है—इच्छा तु अज्ञान भावः तीनों गाथाओं की टीका में यह कहा है कि इच्छा होना अज्ञान भाव है। **आचार्य समन्तभद्र स्वामी जी** ने भगवान् सुपाश्वरनाथ जी की स्तुति करते हुए लिखा है कि “**बिभेतिमृत्योर्न ततोस्ति मोक्षो...**” अर्थात् डरने से मुक्ति नहीं होती, उसी प्रकार इच्छा मात्र से मोक्ष की प्राप्ति भी नहीं होती। बिम्ब का साक्षी रूप दर्पण होता है, उसी प्रकार अन्तरंग में कोई इच्छा की तरंगें नहीं होती तो बाहर में वह शान्त दिखता है।

दृष्टान्त—जल गरम हो या ठंडा उसका रंग तो वही है, जल, जल ही रहता है लेकिन जल गरम होने पर ढके हुए ढक्कन पर वाष्प आ जाती है, ये वाष्प क्या है? ये जल की ही एक विकृति है उसी प्रकार छठवें गुणस्थान में विषय सम्बन्धी रागद्वेष इच्छा नहीं होती लेकिन उस वाष्प के समान मोहनीय कर्म के तीव्र उदय के कारण उपयोग में परिणति होती है उसे ठंडा करो या नीचे से अग्नि को अलग कर दो या अग्नि को दबा दो तो जल पूर्ववत् अवस्था में पहुँच जाता है। उसी प्रकार अप्रमत्त अवस्था

में पहुँच जाओ तो पुनः जल पूर्ववत् दिखता है, दिखने की अपेक्षा दोनों अवस्था में जल अपना रंग नहीं बदलता किन्तु अवस्था में तो बदलाहट होती है छठवें गुणस्थान में इसी प्रकार मुनिराज को भी संवेदन होगा, वे इससे बच नहीं सकते, संक्लेश और विशुद्धि यह अन्तर-अन्तर्मुहूर्त में ठंडा या गरम होता रहता है, गरम की मात्रा का काल दुगुना है, यह नेचरोपैथी जैसे कार्य चलता है। सिर पर दो प्रकार की पट्टी रखते हैं, ठंडी और गरम, दो मिनट गरम तो एक मिनट ठंडी इस प्रकार चलता है, उसी प्रकार विशुद्धि और संक्लेश भी, इसी के द्वारा मुनि जीवन का ट्रीटमेंट अच्छी तरह से चलता है और इसमें कोई अन्तर नहीं ला सकते, यदि गरम-गरम पट्टी रखेंगे तो गरम पट्टी का अनुपात और अनुभाग बढ़ जायेगा तो फिर उनके लिए दूसरे ट्रीटमेंट की आवश्यकता होगी, लेकिन वह सावधान हो करके ट्रीटमेंट करता है, चाहे तीर्थकर हों, चक्रवर्ती, बलदेव, कामदेव हों, वज्रवृषभनाराच संहनन वाले मुनि हों, या सामान्य मुनि हों मुनि बनने के बाद इस प्रकार विधिवत् कार्यक्रम होता रहता है, इसलिए उतने काल में अपने आपको ही सोचना है कि हमें कैसे क्या करना है?

यह नेचुरल्टी है अर्थात् वास्तविकता है कि वर्षा काल में पित्त पैरों में आ जाता है, सर्दी के काल में छाती में और गरमी के काल में सिर में पहुँच जाता है। प्रकृति अपने आप ट्रीटमेंट करती है कि वर्षा के काल में पित्त पैरों में आ जाता है तो पैरों में जो गीलापन रहता है उसे वह रोक देता है तथा आपके शरीर के टेम्परेचर को क्षतिग्रस्त नहीं होने देता है यह पित्त गरम प्रकृति वाला होता है, पित्त के बिना हम नहीं चल रहे हैं, वह पाचक है। सर्दी में पित्त वहीं के वहीं पैरों में ही रह जाये ऐसा नहीं, सर्दी के दिनों में शीत लहर चलेगी तो सीने के ऊपर प्रभाव डालेगी, अतः पित्त छाती पर आकर अपना मोर्चा संभाल लेता है, यह छाती को गरम बनाये रखता है। जब गरमी के दिनों में सूर्यनारायण ऊपर से तपने लग जाता है तो हेड ऑफ़ दा डिपार्टमेंट का कौन ट्रीटमेंट करेगा, अतः पित्त मस्तिष्क में आ जाता है। गरमी, गरमी को मार देती है अर्थात् माइण्ड में गरमी घुसने नहीं देता है। देखो! गरमी के दिनों में आपका सिर ठंडा रहता है तो ये किसने किया? पित्त ने, क्योंकि उसने गरमी को अंदर नहीं जाने दिया, यह नेचुरल (स्वाभाविक) है, हम उदीरणा करवा देते हैं तो अनुभाग गड़बड़ हो जाता है, तो अनुभाग कैसे-कैसे रहते हैं हम क्या कह सकते हैं? द्विस्थानीय ठीक है और यदि ज्यादा उदय में आ गया तो हम क्या करेंगे, अपने हाथ में कुछ है ही नहीं, कर्मों के उदय में फिर ऐसा-ऐसा हो जाता है, आपके संकल्प के अनुसार ही कर्म चलें ऐसा एकान्त रूप से नियम नहीं है, आपका संकल्प है लेकिन कर्मों की उदीरणा होने से आप नीचे के गुणस्थान में आ जाते हैं, आप कहो कि हम नहीं आ सकते, हमने संकल्प लिया है, तो कर्म कहता है कि आप अपना संकल्प अपने पास रखो हम तो भीतर से उदय में आयेंगे, यहाँ तक कि कर्म उदय से जीव छठवें गुणस्थान से प्रथम गुणस्थान में भी आ जाता है, यह इच्छा मोहनीय कर्म के उदय से होती है यह निश्चित बात है, लेकिन यहाँ मोहनीय के ऊपर ही डिपेण्ड (निर्भर) हैं ऐसा एकान्त नहीं मानना चाहिए, यदि ऐसा हो जाये तो हमारा पुरुषार्थ कुछ भी काम

का नहीं रहेगा और एकान्त से ही पुरुषार्थ ही सब कुछ है तो फिर कर्म का उदय क्या वस्तु है? इसलिए ये दोनों एकान्त से नहीं मानना चाहिए।

मान लो हम थोड़ी सी डाँट लगा दें तो आप बोलते नहीं है, ऐसा क्यों? वह अपने दायरे से बाहर कुछ करने लग जाता है, तो वह असंयम की ओर चला जाता है आपके अंदर प्रश्न होते हुए भी दब जाते हैं, उस प्रकार के तीव्र कर्म के उदय वाला सभा में बैठ ही नहीं सकता, प्रश्न ही नहीं कर सकता, जो संतुलित होता है वही व्यक्ति यहाँ आ करके बैठ सकता है, यह आगम की व्यवस्था है अन्यथा अशुभ कर्म के उदय से जैसा कि एक दोहा में लिखा है कि—

मिथ्यादृष्टि जीव को जिनवाणी न सुहाय।

कै ऊँघे कै लड़ पड़े कै उठ घर को जाय ॥

हाँ ऐसा ही होता है, संयम नहीं होने से इसी प्रकार की स्थितियाँ घटित होती हैं, द्विस्थानीय उदय ही अपने काम में आता है इसे संभाल कर रखना, थोड़ा-सा असंयम हो जाता है तो त्रिस्थानीय की ओर चला जाता है अथवा यह कह दो कि द्विस्थानीय में ही असंख्यात लोक प्रमाण और भेद होते हैं उसमें भी ऐसा ही होता है, इसलिए अपने आपको बहुत संभालना पड़ता है। चारित्र लेने के बाद आचार्य कहते हैं कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को देखकर कभी कठोर कभी मृदु चर्या भी अपना लो यह कार्य अपने परिणामों को और अपने कर्मों के वेग को देख कर करना चाहिए, इस निर्णय के लिए दूसरे से पूछताछ नहीं करना, अन्तर्मुहूर्त में वातावरण बदलता रहता है, आपकी जागृति मात्र ही वहाँ काम करेगी। कभी-कभी भावों में परिवर्तन बहुत देर होने के बाद भी नहीं हो पाता और कभी-कभी अन्तर्मुहूर्त में ही परिवर्तन होता रहता है।

भाद्रपद में देख लो यदि मौसम गरम हो गया तो उपवास लें या ना लें ऐसा सोचते हैं मतलब मौसम के अनुसार भाव चेंज (परिवर्तित) हो जाते हैं, इसी में तो होशियारी से काम करना है, कर्मों के अनुभाग शक्ति के बारे में जानना चाहिए, नहीं तो आप अपना काम नहीं कर सकोगे। आहार क्यों किया जाता है? तो मूलाचार में कहा है, कि बल बढ़ाने के लिए, आयु बढ़ाने के लिए, शरीर में तेज कांति बढ़ाने के लिए, शरीर को पुष्ट करने के लिए आहार नहीं किया जाता किन्तु “**गाणडुं संजमडुं झाणडुं, वैय्यावृत्यर्थं आदि**” अर्थात् ध्यान की वृद्धि, संयम की वृद्धि, स्वाध्याय वैय्यावृत्ति आदि के लिए आहार ग्रहण किया जाता है।

दृष्टान्त—जैसे बैलगाड़ी धुरी में औंगन डालने पर चलती है, साइकिल टायर में हवा डालने पर चलती है, मोटरसाइकिल पेट्रोल डालने पर चलती है, इत्र डालने पर नहीं, बैलगाड़ी पर औंगन लगाते हैं, तो वह मरहम जैसा रहता है, उसे धुरों के ऊपर डालते हैं ताकि वे अच्छे ढंग से काम करते हैं, उसी प्रकार प्राणों की सुरक्षा के लिए आहार लिया जाता है, ये प्राण धर्म के लिए हैं और धर्म का आचरण मोक्ष के लिए है इस प्रकार मोक्ष तक आहार का सम्बन्ध जुड़ जाता है अर्थात् मोक्ष धर्म पालन से,

धर्म, प्राण रक्षा से, प्राण रक्षा, भोजन से होती है, अतः वे अन्न ग्रहण करते हैं।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि ज्ञानी वर्तमान की व भविष्य की इच्छा नहीं करता है। सम्यग्दर्शन के आठ अंगों में निःकांक्षित अंग को द्वितीय नम्बर पर रखा है—

इच्छादि एदु विविहे सव्वे भावे य णिच्छदे णाणी।

जाणगभावो णियदो णीरालंबो य सव्वत्थ ॥२२७॥

अन्वयार्थ—(इच्छादि एदु) इत्यादि (विविहे) अनेक प्रकार के (य) और (सव्वे भावे) सभी भावों को (णाणी) ज्ञानी (णिच्छदे) नहीं चाहता क्योंकि (णियदो) ज्ञानी नियम से (जाणगभावो) ज्ञायक भाव है (सव्वत्थ) अतः सबमें (णीरालंबो य) निरालम्ब वाला होता है।

अर्थ—उपर्युक्त अनेक भावों को आदि लेकर और भी अनेक प्रकार के सभी भावों को ज्ञानी जीव नहीं चाहता, इनकी वांछा नहीं करता, किन्तु वह तो सब ओर से, सब ठौर निरालम्ब होकर ज्ञायक ही रहता है।

यों अंतरंग-बहिरंग निसंग ज्ञानी,
होता निरीह सबसे सुन संत वाणी।
आकाश सा निरवलम्बन जी रहा है,
ज्ञानाभिभूत-समता रस पी रहा है ॥२२७॥

व्याख्या—परमात्म तत्त्व का जानने वाला जीव ऊपर कहे हुए पुण्य पाप और भोजनपानादि इन बाहर में होने वाले सभी भावों को कभी भी नहीं चाहता, क्योंकि वह तो नियम से टाकी से उकेरे हुए के समान सदा एक-सा रहने वाला और परमानन्द स्वरूप ज्ञायक भावमय हो करके रहता है। वह ऊर्ध्व, मध्य, अधोलोक तीनों जगह एवं तीनों कालों में होने वाले चेतन अचेतन सभी पदार्थों में मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना से निरालम्ब होकर अनन्त ज्ञानादि गुण स्वरूप अपने स्वभाव में पूर्ण कलश के समान निश्चल आलम्बन सहित रहता है। उपर्युक्त अनेक भावों को आदि ले करके भी अनेक प्रकार के भावों को ज्ञानी जीव नहीं चाहता, इनकी वांछा नहीं करता है और निरालम्ब होकर ज्ञायक ही रहता है, अपरिग्रह महाव्रत अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। भाद्रपद में बताया था कि चार पाप तो दिखते हैं लेकिन परिग्रह पाप रूप में दिखता ही नहीं मतलब इसे कोई पाप रूप में समझता ही नहीं है, जबकि उसी के कारण पूर्व के चार पाप होते हैं, फिर भी यह पाप रूप नहीं दिखता है। परिग्रह शुद्ध प्रासुक जैसा लगता है, लेने योग्य है ऐसा लगता है जबकि वह सबसे बड़ा जहर है, उसी के पीछे हिंसा होती है, कोई उठा न ले अतः चौबीसों घण्टे वह उसी के प्रति चौकन्ना रहता है। दो कान वाला होकर भी चार कानों वाला जैसा रहता है। यूँ-यूँ गर्दन घुमाता रहता है कि कोई हमारा परिग्रह छू न ले, कोई उठा न ले या छूट न जाये इत्यादि।

विजयोदय टीका में अपराजित सूरि ने लिखा है कि मुनि महाराज दिग्म्बर रहते हैं वे समाज

के बीच में कैसे रहते हैं तो उन्होंने कहा कि जैसे वन में जहरीले सर्प, बिच्छू आदि जीव जन्तु रहते हैं तो उनसे बचने के लिए लोग हमेशा चौकन्ने रहते हैं, उसी प्रकार मुनि महाराज राग की सामग्री के बीच में रहते हुए भी अपने दिगम्बरत्व को सुरक्षित रखने का हमेशा-हमेशा प्रयास करते हैं। यह बिना ध्यान और बिना जागृति के संभव नहीं है, इसलिए वस्त्र को उपकरण के रूप में रखने की उन्हें कोई आवश्यकता नहीं। इतनी जागृति उनके पास रहती है तभी तो प्रतिपल असंख्यात गुणी निर्जरा होती है, यह खेल है क्या?

दृष्टान्त—जैसे हायर सेकेंडरी के बाद कॉलेज का नम्बर आता है तो उम्मीदवार कौन माना जाता है? जो हायर सेकेंडरी वाला विद्यार्थी है, वही है, इस प्रकार हायर सेकेंडरी के विद्यार्थी जो कि बिल्कुल परीक्षा के निकट आया है उसे ही उम्मीदवार मानते हैं, फिर भी उसे बिना प्रमाण पत्र के कॉलेज में भर्ती नहीं करते, पास हो गया तो भी एक टैस्ट (परीक्षण) और होगा, एक व्यक्ति आई. एस. परीक्षा में निकल गया लेकिन मेडिकल टैस्ट किया तो फेल हो गया। प्री में, मेन्स में भी निकल गया, तब तक हाइट आदि नहीं पूछी जाती फिर इंटरव्यू के बाद अन्त में मेडिकल टैस्ट किया जाता है अगर उसमें सही नहीं आया तो कोई कार्य नहीं मिलेगा, फिर कहाँ से अध्ययन किया यह देखा जायेगा। किसी के घर की यूनिवर्सिटी हो तो बात अलग है एक की जगह दो प्रमाण पत्र मिल जायेंगे, लेकिन वास्तव में यूनिवर्सिटी का प्रमाण पत्र आवश्यक है, उसी प्रकार पुण्य रूप शुभोपयोग और पापरूप अशुभोपयोग और अशन-पान आदि बाहरी द्रव्यों को परमार्थ तत्त्व का ज्ञाता नहीं चाहता। पुण्य को नहीं चाहता अर्थात् आवश्यकों के समय पर आवश्यकों को करके उसके फल स्वरूप उसके ऊपर की जो अप्रमत्त दशा है उसमें जाने के लिए वह कार्य करता है, वह चाहता है क वह जल्दी-जल्दी ऊपर उठे। जैसे-आइ.एस. की परीक्षा देने वाला चाहता है कि मैं जल्दी-जल्दी आगे बढ़ूँ और पास हो जाऊँ। ऊपर उठने के लिए थोड़ा बल देना पड़ता है, यह मानसिक प्रक्रिया उपयोग की धरती पर हमेशा-हमेशा घटती रहती है, या उसकी जागृति के ऊपर आधारित है।

आज तक किसी को निद्रा अवस्था में सम्यग्दर्शन नहीं हुआ, हुआ हो तो बताओ। संज्ञी होना अनिवार्य है साकार उपयोग आवश्यक है और जागृत अवस्था भी आवश्यक है, क्योंकि जागृति के साथ ही सम्यग्दर्शन का प्रस्थापक होता है, दर्शनोपयोग के साथ नहीं हो सकेगा, इसलिए साकार उपयोग को कहा है। जब अविरति को सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए यह शर्त है तो आप तो ऊपर के करणों की बात करते हो और उपचार की बात वहाँ करना चाहोगे तो संभव नहीं है। यहाँ पर श्रेणी की बात नहीं कहीं जा रही है, बल्कि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति की बात कही जा रही है, सम्यग्दर्शन अलग वस्तु है और श्रेणी आरोहण अलग वस्तु है। क्षायिक सम्यग्दर्शन जो है, वह क्षयोपशम सम्यग्दर्शन मूलक ही होगा उसकी विशुद्धि तो उपशम सम्यग्दर्शन से बहुत अधिक होती है। चिंतन के लिए जैसे आँख खोलने की आवश्यकता नहीं है इसी प्रकार इसकी बात है और आँख खुली है तो चिंतन नहीं

हो रहा है, ऐसा भी नहीं है। आँखों से देख रहा है लेकिन चिंतन तो भीतर चल रहा है। चिंतन सम्बन्धी व्यापार हो रहा है। आँखें खुलना अलग और अन्तरंग में विचारधारा चलना अलग है।

जिज्ञासा—इच्छा रहित होता हुआ ज्ञानी फिर क्या करता है?

समाधान—आचार्य कहते हैं **जाणग भावो णियदो णीरालम्बो** भवति अर्थात् ज्ञानी हमेशा निरालम्ब होता है मात्र एक ज्ञान परिणति के अलावा उसे कुछ नहीं दिखता वह तो बिल्कुल शान्त रहता है। वह हर पल हर क्षण शांति की अनुभूति करता है। निर्विकल्प हो करके रहता है, उसकी बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। ऐसे क्षणों के संकलन अपने आप में बहुत महत्त्वपूर्ण होते हैं ऐसे क्षणों को एकत्रित करिये। जिन क्षणों में निर्विकल्पता का अनुभव होता है वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हैं। बड़े-बड़े पुल आदि के निर्माण में आयरन (लोहा) शीशा आदि का उपयोग करते हैं, उसी प्रकार मोक्षमार्ग में यह ज्ञायक भाव भी ऐसा ही काम करता है, निर्विकल्प समाधि के क्षण अपने आपमें बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। हीरे की कणिका जिस प्रकार महत्त्वपूर्ण है उसी प्रकार यह ज्ञायक भाव सबसे महत्त्वपूर्ण माना जाता है। तीन काल में तीन लोक में मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना के साथ जो चेतन, अचेतन बाह्य परिग्रह हैं, ज्ञानी उनका आलम्बन नहीं लेता है।

दृष्टान्त—आई.आई.टी. करने वाले प्रतिभा सम्पन्न जो विद्यार्थी होते हैं उनकी एक दो साल पहले से ही विदेशी माँग आने लग जाती है, जबकि अभी पढ़ाई पूर्ण नहीं हुई है, फिर भी कहते हैं कि आप यहाँ आ जाओ, क्योंकि ऐसे बच्चे बहुत कम मिलते हैं, लाखों में एकाध रहता है, उसको कोई दूसरा माँग लेगा तो गड़बड़ हो जायेगा, इसलिए मुँह माँगा दाम देकर उसे अपने यहाँ ले लेते हैं। फिर बाद में उसी के द्वारा कम्पनी चलती है। उसी प्रकार निरालम्ब ज्ञानी करोड़ों में एक होता है।

दृष्टान्त—जैसे भद्रबाहु महाराज का सुना होगा, कि वे बचपन में अपने आँगन में खेल रहे थे, उनके यहाँ गुरु महाराज का आहार हुआ और लौटते समय वे उसकी माँ से कहते हैं, इस बच्चे को मुझे दे दो। माँ कहती है ले जाओ। क्यों ले गये? क्योंकि गुरु महाराज जब चर्या को निकले थे, तब उस बालक ने खेल-खेल में एक के ऊपर एक गोटियाँ कंचे जमा दिये थे, चौदह गोटियाँ जमा दी थीं, तब महाराज ने निमित्त ज्ञान से उसकी प्रतिभा को आँक लिया था कि खेल में यह विशेष रूप से प्रतिभा लिये हुए है। हर क्षेत्र में ज्ञान अपना काम करता है जब इस क्षेत्र में यह इतनी प्रतिभा को लिए हुए है तो संयम के क्षेत्र में मोक्षमार्ग में यह बहुत अधिक उन्नति कर सकेगा ऐसा सोच करके वे उसे ले गये। कितना संयम है यह देखा जाता है? तो निमित्त ज्ञान से उन्हें ज्ञात हो गया कि यह चौदह पूर्व को पार कर जायेगा, इसलिए आचार्य कहते हैं कि ज्ञानी मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदन से भी आलम्बन नहीं लेता है, तो परिग्रह के बीच में रह करके भी ज्ञानी निष्परिग्रही होता है। अपने उपयोग को ज्यों का त्यों बनाये रखना निष्परिग्रही बना रहना यह अपने आप में बहुत महत्त्वपूर्ण है।

आचार्य कहते हैं मुनि बनने के बाद शर्त की कोई बात ही नहीं रहती क्योंकि निष्परिग्रहत्व को

उसने स्वीकार किया है तो और क्या बचा, कुछ है ही नहीं...। बस इतना है कि वह अपने परिणामों को उज्ज्वल बनाये रखे। णमो लोए सव्वसाहूणं कहा जाता है, यह खेल नहीं है। गणधर परमेष्ठी भी तीन कम नौ करोड़ मुनिराजों को “**णमो लोए सव्वसाहूणं**” कहकर नमस्कार करते हैं, तो क्यों करते हैं? उनकी साधना तो देखो! परिग्रही के बीच में रह करके भी निष्परिग्रहत्व की भावना भाने वाले आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त में दीक्षित हो जाते हैं, ऐसे अस्सी साल के वृद्ध भी हो सकते हैं, रुग्ण और सशक्त भी हो सकते हैं, प्रतिभा वाले या अज्ञानी भी हो सकते हैं, अर्थात् उन्हें अक्षर ज्ञान नहीं है फिर भी परिणामों में शांति रहती है। चेतन-अचेतन दोनों प्रकार के परिग्रह में दीक्षित-शिक्षित होकर उनमें मूर्च्छा नहीं करते, कोई कहता है कि महाराज-नोकर्म न रखें तो फिर भी ठीक है लेकिन नोकर्म रखते हुए भी कैसे बच सकते हैं? उससे बचने का क्या उपाय है? आचार्य कहते हैं नोकर्म के बीच में रहते हुए भी अपने उपयोग को उससे मत जोड़ो, यही उससे बचने का प्रयास है। इसी में निर्जरा है। हाँ, निर्जरा के लोभ में ही यह सब काम किया जा सकता है। रास्ते से चलो तो बहुत मिलेगा, बाहर कितनी भी गर्मी बढ़ जाये आपके शरीर का टेम्परेचर (तापमान) ९८ डिग्री से ऊपर नहीं होता इसका अर्थ क्या है कि आपका शरीर मेटेनेस (रखरखाव) कर रहा है। अर्थात् शरीर स्वस्थ है।

संस्मरण—एक व्यक्ति ने आकर पूछा महाराज! संघ आते हैं चले जाते हैं, आप भेज देते हैं, आप अपने पास से उन्हें भेज देते हैं, वे खेद-खिन्न हो जाते हैं, तब आपको कैसा लगता है? हमने कहा—आप क्या देखते हैं? आपको कैसा दिखता है? बताओ, कुछ लगता है तो आ करके देखो, संघ के हो करके देखो, तब मालूम पड़ेगा कि कैसा लगता है?

बहुत कठिन पूर्ण कलश जो भरा हुआ है, एक बूंद भरने को अब स्थान नहीं है ऐसे कलश को ले करके कोई चले, कोई आलम्बन नहीं ले, कितना कठिन है? ज्ञानी जीव हमेशा पूर्ण कलश के समान भरित अवस्था में अपने आप में रहते हैं। चलना तो अपने को ही है, निमित्त-नैमित्तिक भाव को लेकर चलना पड़ता है, यह निमित्त एक रास्ता है। हाँ, रास्ते के माध्यम से, पटरी के माध्यम से चलते हैं। क्या कर सकते हैं? स्वालम्बी जीवन होता है उनका, यही तो निष्परिग्रही भाव और अनिच्छिक भाव है।

दृष्टान्त—दक्षिण के बने हुए घड़ों को आप देखेंगे तो उसमें पैदे की आवश्यकता ही नहीं होती है। वे घट जैसे नहीं होते, उन्हें गुंड बोलते हैं। घड़ा जो होता है वह नीचे से समतल होता है, उसे भरा हुआ भी रख दें तो लुढ़केगा नहीं, अब सिर पर रखते हैं तो कुंडली बना करके रखते हैं। अभी हम पूर्णिमा के दिन मढ़ियाजी से आ रहे थे, कुछ लोग श्रीजी को अपने सिर पर कुंडली बनाकर फिर ऊपर रख कर ला रहे थे, उनके काम आ गई न यह बात। पूर्ण कलश जिस प्रकार दूसरे किसी का आलम्बन नहीं लेता, उसी प्रकार मुनिराज को भी किसी का आलम्बन नहीं लेना चाहिए। उस प्रतिभा सम्पन्न विद्यार्थी को अच्छा माना जाता है जो पूरक पत्र तो माँग लेता है लेकिन आलम्बन के लिए कुछ नहीं माँगता

केवल पेन, कलम स्याही की दबात अपने पास रखता है और पेपर को हल करता चला जाता है बस...और कुछ भी नहीं चाहता। स्थिरता के लिए आलम्बन की आवश्यकता नहीं होती है, पूर्ण भरने के उपरान्त वह कलश लुढ़कता नहीं, छलकता नहीं, उछलता नहीं कुछ भी नहीं, उसी तरह मुनि महाराज महाव्रती यानि अपने आप में पूर्ण हैं। इसलिए उनको कोई आवश्यकता नहीं होती, आवश्यकता होने से फिर वह अच्छा नहीं माना जाता है, आवश्यकता होने पर माँगना ही पड़ता है। सामने वाला आप से पूछेगा, आपको किस चीज की आवश्यकता है, क्योंकि वह आपके मन की बात को नहीं जानता और आप के कहने से वह ला करके दे देगा और कहेगा कि महाराज! एकाध बार तो हमें सेवा का मौका दे दो। ऐसा कहने के बाद भी ला करके दे देगा और फिर तो बाद में सामने ही नहीं आयेगा, इसलिए वह हाथ जोड़ते रहें और बहुत अच्छा-अच्छा कहते रहें, इस सबसे दूर रहियो।

अपरिग्रह का वर्णन चल रहा है आगे काल की अपेक्षा वर्णन किया जा रहा है कि यह संसारी प्राणी अतीत को स्मरण में ला कर वर्तमान में नहीं है किन्तु भविष्य की प्लानिंग बनाने में लगा रहता है लेकिन ज्ञानी क्या करता है यह बता रहे हैं। कटु अनुभव हो जाता है तो कहता है..हमें ये नहीं चाहिए। संसारी प्राणी अपने ढंग से चलता है, प्रातः काल कहता है हमें नहीं चाहिए, जब आवश्यकता है तो फिर चाहिए तो अनथऊ चाहिए, अनथऊ के समय पर सुबह के नाश्ते की बात करता है और फिर कहता है कि हमें नहीं चाहिए, कितना खायें? यह दशा श्रावक की है। **तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा** ऐसा **श्री गुणभद्र स्वामी जी** ने **आत्मानुशासन** ग्रन्थ में कहा ही है कि तृष्णा उसकी जीर्ण नहीं हुई किन्तु वह नित्य नई होती चली जाती है हम ही जीर्ण हो गये। ज्ञानी भावी व वर्तमान में भी इच्छा नहीं रखता है, अतीत तो चला गया वह वापस आ नहीं सकता, लेकिन अनागत में भी नहीं चाहिए और वर्तमान में भी नहीं चाहिए, इस प्रकार भावों से युक्त होता है। जो व्यक्ति वर्तमान को लात मार रहा है तो संभव है कि वह भविष्य की कल्पना कर रहा है और कुछ लोग **चार्वाक** की तरह **“ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्”** ऐसा कहते हैं और भविष्य की चिन्ता करते हैं कि वहाँ पर जाना है और वहाँ की स्थिति गड़बड़ हो सकती है इसलिए आज तो संतोष कर लो।

पल्योपम की आयु मिलेगी तो कैसे क्या करोगे? वहाँ पर लम्बे-चौड़े काल तक रहना है, वहाँ सीटें फुल रहती हैं, वहाँ कमी नहीं रहनी चाहिए, वहाँ सागरोपम वर्ष तक रुकना पड़ेगा इसलिए आज जल्दी कर लो, दुर्गति से बचने के लिए सिद्ध गति की प्राप्ति के लिए कर रहे हैं, यहाँ पर भविष्य में, हमें विषयों की चाह नहीं है, मिल जाता है, ये अलग वस्तु है। जब फिक्स डिपार्टमेंट में रखा है तो बढ़ता ही जायेगा और जो चालू खाते में मिलने के लिए रखता है तो यह गलत है, उसे उतना ही मिलने वाला है, जितना कि बिना इच्छा जो रखता चला जाता है, संग्रहीत होता चला जाता है। भविष्य में संग्रह होगा यह अलग वस्तु और भविष्य के लिए चाहना ये अलग वस्तु है किन्तु हमें चाहना नहीं है ऐसा भाव रखना बहुत कठिन है। किसी न किसी भव में अटका रहता है, या तो वर्तमान में चाहेगा या

भविष्य में चाहेगा लेकिन दोनों कालों में नहीं चाहने वालों की यहाँ पर बात कही जा रही है। कृपण ऐसा-ऐसा होता है..कैसा-कैसा होता है? उसके वित्त के बारे में कोई अनुमान नहीं लगा सकता है, **अलिंगगहणं...**कोई हेतु नहीं अनुमान नहीं, कहाँ से, कौन-सी गुदड़ी में से निकल जायेगा पता नहीं चलेगा। इस प्रकार का उसका वित्त-संग्रह होता है, तो ज्ञानी जो होता है वह वर्तमान वा भावी की आकांक्षा नहीं करता है। यह उसकी कितनी निरीहता है कि नहीं चाहिए, नहीं चाहिए, नहीं चाहिए, क्योंकि उसका विश्वास है कि चाह के कारण ही मैं अभी तक अटका हुआ हूँ, इस चाह की दाह को ही बुझाना है, इसलिए कोई समझौता नहीं, कोई कहे कि वर्तमान नहीं तो भविष्य के लिए रख लो, तो वह कहता है कि हमें वर्तमान में भी नहीं चाहिए और भविष्य के लिए नहीं चाहिए। यह सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण की तरह होता है, कहता है नहीं चाहिए। ज्ञानी वर्तमान में रहता है तो भविष्य की इच्छा कैसे कर सकता है? जो भविष्य में नहीं चाहता है वो वर्तमान में कैसे रस ले सकता है? ये दोनों कालों से संबंधित बात कही है, क्योंकि संभावना तो भविष्य की ही होती है, अतीत तो लौट करके आने वाला नहीं है, लेकिन भविष्य तो सामने आने वाला है। भविष्य में भी प्रश्नचिह्न लगाते हैं तो वह अतीत के रूप में स्पर्श भविष्य का हो जाता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी जीव त्रिकालवर्ती, त्रिलोकवर्ती चेतन और अचेतन, बाह्य परिग्रहों में ममत्व भाव नहीं रखता, इसलिए इच्छा न करता हुआ अनिच्छक भाव से युक्त होता है।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि ज्ञानी वर्तमान व भविष्य के भोगों की इच्छा नहीं करता है—

उप्यणोदयभोगे वियोगबुद्धीय तस्स सो णिच्चं।

कंखामणागदस्स य उदयस्स ण कुव्वदे णाणी ॥२२८॥

अन्वयार्थ— (तस्स) उस ज्ञानी के (णिच्चं) सदाकाल (उप्यणोदयभोगे) वर्तमान भोग में (वियोगबुद्धीय) वियोग बुद्धि होने से [परिग्रह नहीं है] (सो णाणी) वह ज्ञानी (अणागदस्स य) आगामी काल के (उदयस्स) उदय की (कंखां) वांछा (ण कुव्वदे) नहीं करता भूतकालीन भोग नष्ट हो चुका है अतः ज्ञानी त्रिकाल अपरिग्रही होता है।

अर्थ—उदय को प्राप्त हुए वर्तमान कालिक कर्म के भोगने में वियोग बुद्धि होने से ज्ञानी जीव आगामी काल में उदय होने वाले कर्म के भोगने की वांछा नहीं करता तथा भूत कालीन कर्म को तो भोग ही नहीं रहा है।

ना भूत की स्मृति अनागत की अपेक्षा,
भोगोपभोग मिलने पर भी उपेक्षा।
ज्ञानी जिन्हें विषय तो विष दीखते हैं,
वैराग्य-पाठ उनसे हम सीखते हैं ॥२२८॥

व्याख्या—उदय को प्राप्त हुए वर्तमान कालिक कर्म के भोगने में वियोग बुद्धि होने से ज्ञानी जीव

आगामी काल में उदय होने वाले कर्म के भोगने की वांछ नहीं करता तथा भूतकालीन कर्म को तो भोग ही नहीं रहा है। तस्स भी और जस्स भी है दोनों ले सकते हैं। वियोग बुद्धि अर्थात् हेय बुद्धि। ज्ञानी की हेय बुद्धि होती है लेकिन किस विषय में? पञ्चेन्द्रिय और मन के विषय तथा भोग सम्बन्धी विषयों के प्रति हेय बुद्धि रहेगी। कर्तव्य के प्रति व भक्ति के विषय में हेय बुद्धि को नहीं कहा, जिनवाणी की स्तुति तथा नवधाभक्ति में हेय बुद्धि को नहीं कहा...हाँ, पुण्य को चाहने के लिए ऐसा नहीं किया जाता। भक्ति यदि ठीक नहीं है, मात्सर्य या अनादर भाव रखता है तो वह भक्ति नहीं मानी जायेगी।

जिज्ञासा—कुछ लोग कहते हैं— कि ज्ञानी की कोई भी क्रिया है वह सब हेय बुद्धि से होती है। अतः भगवान् की भक्ति, शास्त्र-स्वाध्याय, ईर्यापथ शुद्धि आदि प्रवृत्तियों में हेय बुद्धि होना चाहिए।

समाधान—आचार्य कहते हैं—किसी भी क्रिया में यदि मन नहीं लगा, परन्तु वचन और काय से किया है तो आपका काम अधूरा है। तीनों योग मिलना चाहिए, त्रियोग की शुद्धि चाहिए तब काम होगा। पुण्य क्या है? आत्मा को जो पवित्र करे वह पुण्य है। ज्ञानी जीव जिस पुण्य कार्य के द्वारा जो फल मिलता है उसकी चाहना नहीं करता है, लेकिन पुनः करने में आया है तो उसको अपने ढंग से उपयोग करेगा, नहीं है तो प्रायश्चित्त होगा। हेय बुद्धि से करेगा तो फिर क्या? हेय बुद्धि वाले के लिए तो कोई प्रायश्चित्त की बात ही नहीं, क्योंकि आप रुचि से करते हो तो प्रायश्चित्त होगा, नहीं तो प्रायश्चित्त की बात ही नहीं उठती। तो प्रसंग के अनुसार पाठक को अर्थ लगाना चाहिए।

कंखामणागदस्स अनागत की कांक्षा नहीं यह कितना बड़ा पुरुषार्थ है, नहीं चाहिए मुझे...इस प्रकार क्रांति आ जाती है पूरे जीवन में...। अभी तक तो बटोर रहा था, जोड़ रहा था, बाद में मिले या न मिले अतः पहले चलो, लाईन लगाओ ऐसा कहता था लेकिन उस ज्ञानी की अब उदय के बारे में भी कोई इच्छा नहीं, लात मारने की बात ही नहीं होती है या तो यू धीरे से सरका देता है, या जहाँ है वहीं रहने दो...उससे कोई मतलब नहीं है। अभी तक तो चाह के साथ चले थे लेकिन अब कोई चाह नहीं रही...यह निरीहवृत्ति एक या दो क्षण भी आती है तो जीवन की यह अपूर्व घटना होगी।

उपादेय के भी तीन भेद—तात्कालिक उपादेय, साधन रूप उपादेय और त्रैकालिक उपादेय। केवलज्ञान को प्राप्त करने के लिए शुद्धोपयोग की शरण प्राप्त करता है तो वैसे ही केवलज्ञान की तरह शुद्धोपयोग भी उपादेय है क्या? नहीं...तो हेय बुद्धि करो शुद्धोपयोग के प्रति भी...क्योंकि श्रमण के लिये हेय बुद्धि अनिवार्य है। तो मात्र शुभोपयोग के प्रति ही क्यों? जिसके द्वारा केवलज्ञान होगा उसके प्रति भी हेय बुद्धि होना चाहिए क्योंकि शुद्धोपयोग जब तक रहेगा तब तक केवलज्ञान भी नहीं होता है। “**हानोपादानउपेक्षास्तत्फलं**”...केवलज्ञान प्राप्तव्य है अतः वह उपेक्षणीय नहीं है तो मात्र उसी की अपेक्षा रखो। शुद्धोपयोग की अपेक्षा रखते हो तो आपकी कारण के प्रति अपेक्षा मानी जायेगी। इस विषय में आचार्यों ने कहा है—भोगोपभोग के प्रति हेय बुद्धि हो लेकिन जो कार्य के लिए तात्कालिक कारण हैं, उसे तात्कालिक साधन के रूप में उपादेय मानकर ग्रहण करो।

दृष्टान्त—जैसे निरोग दशा आपके लिए उपादेय है लेकिन निरोग दशा प्राप्त कराने वाली औषधि है उसके प्रति हेय बुद्धि करो, फिर दवाई औषधि क्यों लेते हो? छोड़ दो उसे...। महाराज लेना पड़ रहा है...तो आप उसे क्या मानकर ले रहे हैं? इसी के द्वारा रोग मिटेगा यह विश्वास करके ही लेते हैं...लेकिन नाक सिकोड़ कर या अनास्था भाव से लोगे तो...**समन्तभद्र स्वामी** कहते हैं कि—उस निरोग दशा को प्राप्त नहीं हो सकोगे। पानी को भी दवाई मानकर लेओगे तो काम करेगा लेकिन रामबाण औषधि भी क्यों न हो किन्तु उसे हेय बुद्धि से लोगे, छोड़ना है इस भाव से पहले ही छोड़ दोगे तो काम नहीं होगा रोग दूर नहीं होगा। आज जितने भी चिकित्सक हैं वह यही कहते हैं कि रोगी की मानसिकता सर्वप्रथम सही बनाओ, आस्था बनाओ कि इसी से मेरा रोग ठीक होगा, यह दवाई बहुत बढ़िया है इससे रोग दूर हो रहा है, अब रोग आयेगा ही नहीं, ऐसी धारणा बनाई जाती है, रोगी को पहले ही प्रशिक्षित किया जाता है। हाँ, निकाचित है तो धीरे-धीरे ठीक होगा...लेकिन हेय बुद्धि से तो काम नहीं होता। बच्चे को कहा जाता है कि—देखो! ऐसा नहीं करते...निरीहता महत्त्वपूर्ण है। ज्ञानी निदान बंधादि जो भावी भोग है उनके प्रति भी आकांक्षा नहीं रखता है। संसारी प्राणी आज तक आकांक्षा रखता आया है इसलिए प्रत्येक कार्य में आकांक्षा ही दिखती है। सम्यग्दर्शन के आठ अंग में निकांक्षित अंग को प्रथम नम्बर के बाद ही द्वितीय नम्बर पर रखा है अर्थात् अब आकांक्षा को छोड़ कर काम चलाओ। सेवावृत्ति सिखायी जाती है तो सबसे पहले निष्काम करने की बात करते हैं अर्थात् फल की इच्छा नहीं ड्यूटी (कर्तव्य) समझकर करना। जिसको प्रतिकार किये बिना मन नहीं लग रहा है उसके लिए यह शुद्ध प्रक्रिया बताई जा रही है कि मंत्र फेरो जिससे दवाई न लेना पड़े। विद्या-प्राप्ति, मंत्र इत्यादि का उद्देश्य क्या है? इसके माध्यम से रोग निवारण का उद्देश्य है तो **पूज्यपादस्वामी** या **अकलंकदेव** परीषह विजय का वर्णन करते हुए यह कहते हैं कि—मंत्र फेरते-फेरते यह ध्यान आया कि शीत निवारण हो जाये या रोग निवारण हो जाये तो माला भी फेर लेओगे तो भी उसे शीत विजयी नहीं कहा जायेगा क्योंकि आपने प्रतिकार किया है। वह कहता है—हमने दवाई तो नहीं ली है प्रतिकार कैसे हुआ? तो कहते हैं—आपने णमोकार मंत्र के माध्यम से कर्म काटने के स्थान पर नोकर्म को काटने का प्रयास किया है। और ऐसा करते हैं तो आपके परीषह विजय में कमी आयेगी। आपका उद्देश्य क्या है? यह देखना है...शीत निवारण की इच्छा क्यों हुई? शीत के प्रतिकार के लिए आपने उष्णता की आराधना कर ली...तो परीषहजय कहाँ रहा? आप भक्तामर का पाठ या माला फेर रहे हैं तो त्रैकालिक कर्मक्षय के लिए कर रहे हैं या तात्कालिक कर्म निवारण के लिए? यह सोचो...यदि कर्म निवारण के लिए कर रहे हैं तो उदय में आया हुआ कर्म आपको इष्ट नहीं रहा यह स्पष्ट हुआ क्योंकि तभी तो उसके प्रति ग्लानि या प्रतिकार के भाव हुए अतः आचार्य कहते हैं कि—कर्म निवारण के लिए णमोकार-मंत्र के जाप की भी आवश्यकता नहीं है...। कोई व्यक्ति ध्यान में बैठा है, णमोकार-मंत्र भी नहीं पढ़ रहा है और मन में यह भाव नहीं ला रहा है कि यह उदय में आया हुआ कर्म बहुत दुःख दे रहा है, यह

कर्म जल्दी निकल जाये। वह सोचता है कर्म तो निकल ही रहा है उसका प्रतिकार नहीं करना है मात्र समता भाव से उसे जानना-देखना है तो यह उससे भी सौ गुना आगे का है...युक्ति से काम लो आप...युक्ति से भक्ति से काम करो...मात्र शक्ति लगाओगे तो गलत हो जायेगा... जिनके पास बड़ी-बड़ी ऋद्धियाँ रहती हैं वे उनको काम में नहीं लेते हैं।

दृष्टान्त—एकीभाव स्तोत्र पढ़कर देख लो...उन वादिराज मुनिराज के पास कंचनमय शरीर बनाने की शक्ति थी लेकिन फिर भी वे उसको उपयोग में नहीं लाते थे तभी तो असंख्यात गुणी निर्जरा होती है अन्यथा तो परीषह विजय भी नहीं होगा। अमृतस्रावि आदि ऋद्धियाँ उनके पास हैं तो भी वे उसका प्रयोग नहीं करते हैं क्योंकि उनके प्रति आकांक्षा नहीं है। कोई उन्हें नीरस आहार दे रहा है तो उसे भी ले लेते हैं। उस आहार को अमृत रूप करने की क्षमता उनके पास है फिर भी उस ऋद्धि का प्रयोग नहीं करते हैं। पूरे शरीर में कोढ़ निकल आया तो भी कंचनमय काया बनाने के भाव उनके नहीं हुए। प्रभु भक्ति से पूरा कोढ़ ठीक हो गया फिर भी धर्म प्रभावना के लिए राजा को दिखाने के लिए अँगूठे में एक दाग रख लिया। जब राजा को लोगों ने बताया तो वे विश्वास नहीं कर रहे थे कि कंचन-काया हो गई है। तो फिर मुनिराज ने अँगूठे में दाग जो सेम्पल (नमूना) के रूप में रखा था वह दिखा दिया। इसको बोलते हैं—अनागत के प्रति आकांक्षा नहीं और वर्तमान में भी उत्पन्न हुए भोग में वियोग बुद्धि रखते हैं।

देव यदि सोचें कि—हम भी ध्यान लगा लें तो संभव नहीं, यदि ऐसा होता है तो सागरोपम आयु तक ध्यान लगाओ न...दिव्य शरीर है, वैक्रियक शरीर है तो बैठ जाओ..लेकिन एक प्वाइंट भी गुणस्थान ऊपर नहीं बढ़े उपचार से भी नहीं बढ़ेगा। तैतीस सागर आयु तक सर्वार्थसिद्धि के देवों में कोई वासना नहीं, कुछ काम नहीं तो ध्यान लगाओ..कौन पूछने वाला है वहाँ पर? लेकिन ध्यान नहीं लगा सकते। समुद्घात जैसा हो जाता है लेकिन आप अपने आश्रित कर्ता मत बनिये। विद्या के माध्यम से करेंगे तो कर्ता बनेंगे क्योंकि इसमें आरंभ होगा और आप परिग्रही भी सिद्ध होंगे क्योंकि विद्या के माध्यम से अपना काम किया है। स्वयं करना, करवाना या अनुमोदन करना, मन-वचन-काय से, क्रोध-मान-माया-लोभ से ये सब १०८ प्रकार के दोषों से सहित हो जाता है। ज्ञानी जो होता है वह प्रत्येक समय जो कर्म उदय में आ रहे हैं उनमें किसी प्रकार की कोई भी अभिलाषा नहीं रखता है, इसलिए अनागत के बारे में प्लानिंग (योजना) नहीं और वर्तमान का उपयोग नहीं और कुछ नहीं...शांति से बैठो। युद्ध लड़ने वाले लड़ते हैं वे तो शांति से बैठे हैं देख रहे हैं, सुन रहे हैं कि यह प्लानिंग बनाने वाला कौन है? यह कहाँ से उत्पन्न हुआ? किसकी देन है? इसमें किसका हाथ है? किसका दिमाग काम कर रहा है? यह सब देखा जाता है। तो आपके पास ये १०८ तरीके हैं इसके द्वारा उपयोग करने पर इसका फल भी उतने प्रकार से मिलेगा। श्रद्धान बढ़ाने से, सहन शक्ति बढ़ाने से, तत्त्वज्ञान करने से कहाँ लाभ है, कहाँ हानि है यह ज्ञात हो जाता है फलतः बहुत जल्दी वह संतुलित हो जाता है।

प्रतिकार क्या है? हम किसका, कैसे प्रतिकार कर सकते हैं? प्रतिकार क्या है? तो आत्मानुशासन में लिखा है—जितना करने योग्य है उनका प्रतिकार करिये...फिर तो **समता ही प्रतिकार** है और वैसे देखा जाये तो हम समता के अलावा कुछ कर ही नहीं सकते, समता प्रतिकार का अमोघशस्त्र है, इसमें कोई घाटा नहीं। कहा है—“**समसत्तु-बंधुवग्गो...समो समणो...**”। सब में समान भाव समता। कर्मों का कोई प्रतिकार किया नहीं जा सकता, हटाया नहीं जा सकता, उसे तो बस...समता से ही हटाया जा सकता है...बैठो शांति से...। भोगोपभोग की सामग्री चेतन हो या अचेतन...ज्ञानी उन सभी द्रव्यों के आलम्बन से रहित होता है इसी को बोलते हैं—अप्रमत्तदशा...वह इनमें डूब ही नहीं सकता, उसको डुबाने की किसी के पास क्षमता नहीं है। वह चेतन-अचेतन परिग्रह का किसी भी प्रकार से सहयोग या आलम्बन नहीं लेता है।

दृष्टान्त—जब बिलिंडग बनाते हैं तो लकड़ी के खम्भे सपोर्टरूप में खड़े कर देते हैं। जब भार अन्बेलेन्ड (असंतुलित) हो जाता है तो सपोर्ट के रूप में खम्भे खड़े कर दिये जाते हैं। पहले बिलिंडग में पाँच या छह खम्भे थे अब एक के साथ तीन और सपोर्ट के रूप में लगा रहे हैं। सपोर्ट का अर्थ होता है—आलम्बन और जो बिना सपोर्ट का रहता है उसे कई लोग देखने के लिए आ जाते हैं कि भैया! यह कौन सा कंस्ट्रक्शन (निर्माण) है जो विदाउट पिलर्स (खंभा) चल रहा है—कोलकाता हार्ट ऑफ ब्रांच...आज भी लोग देखने आते हैं यह कैसे क्या प्लानिंग है? देखा तो.. वहाँ पिलर्स नहीं और ऊपर देखते हैं तो चार-चार, पाँच-पाँच मंजिल हैं और एक-दूसरे से कनेक्टेड हैं वह ऊपर खींच रहा है, नीचे आता ही नहीं और रात-दिन चलने वाली सड़क है...हैवी ट्राफिक...कोलकाता...में...लोग देखते हैं—बहुत से प्रभावित हो जाते हैं। उसी प्रकार यहाँ पर कहा जा रहा है—सपोर्ट कुछ भी नहीं—दुःख में हो या सुख में, निंदा हो या प्रशंसा हो...। अपना कर्म ही सपोर्ट है।

अच्छी दुकानदारी करो—थोड़ा-सोचो...समझो कि किसी ने दुकान खोली है तो उसे आनन्द कब आता है? तो दुकान में जब ग्राहक आता है तब आनन्द आता है। उसी प्रकार यह सुख भी ग्राहक है, दुःख भी ग्राहक है जो कि आपकी दुकान में आया है तो आपको समता बाँटते हुए चलते जाना चाहिए। जिससे जितना चाहे उतना व्यापार करो..आमदनी ही होगी। क्योंकि सुख-दुःख, निंदा-प्रशंसा आदि ये सब ग्राहक हैं- आपकी ही परीक्षा के लिए प्रॉफिट (लाभ) के लिए आया है वो..। प्रशंसा को तो आप प्रॉफिट मानते हैं और निंदा को आप लॉस (हानि) मानते हैं यह तो गड़बड़ है...आप दुकानदारी अच्छी करो..ऐसा करोगे तो सामने वाले को भी कुछ नहीं मिल पायेगा। वह सोचेगा हम तो कुछ और सोचकर आये थे यहाँ तो कुछ है ही नहीं..तिलमिला जाते हैं वो...। दुःख आता है...आने दो, सुख आता है आने दो...दोनों में असंख्यातगुणी निर्जरा है। प्रशंसा में तो फिर भी गड़बड़ है लेकिन निंदा में तो और अधिक प्रॉफिट है, कोई भी घाटे का सौदा ही नहीं है, घाटे का सवाल ही नहीं। गर्मी आ जाये, सर्दी आ जाये, वर्षा आ जाये तो भी और नहीं आये तो भी, रात हो या दिन, चलते समय,

फिरते समय, सोचते समय बैठते समय, सुनते समय, सुनाते समय, सब में एक मात्र आमदनी ही आमदनी है। यदि निरालंब...है तो...एलर्ट (सतर्क) रहो। बहुत बड़ी-बड़ी दुकानें हैं महाराज! इसमें बहुत बड़ी पूँजी लगी है... प्रसाद! सोचो! उसके अनुरूप आमदनी होनी चाहिए।

विशेष सम्बोधन—बहुत बड़ी-बड़ी दुकान हैं—आपका निर्णय आपके पास है—करो...किसी को बताइयो नहीं...चूँकि आप लोगों की दुकान अच्छी चलेगी तो हम समझेंगे हमारी दुकान भी अच्छी चल रही है...(हँसी) आपसे नहीं मिलता लेकिन आपकी दुकान अच्छी चलेगी तो बिना दिये इधर बढ़ जाता है यह निश्चित बात है आपके द्वारा नहीं मिल रहा है यह भी ध्यान रखना...गडबड़ चले तो आपके ऊपर है यह अनुबंध पहले से है। आप यदि गडबड़ करोगे तो घाटा हमारे लिए नहीं है क्योंकि हमारा डिपार्टमेंट (विभाग) तो वहाँ पर है, आप लोगों से थोड़े ही है, उन लोगों से एजेंसी ली है आप लोगों से नहीं यह ध्यान रखो। उनका यह कहना है—आप तो देते जाओ...यह एजेंसी हमारी वहाँ की है, यह फुटकर से नहीं दी है, हाँ फुटकर माल दिया गया है, लेकिन होलसेल दुकान में दिया। वहाँ पार्टी फेल हो जाये तो हमारा घाटा हो सकता है लेकिन वह पार्टी कभी फेल होगी नहीं, तीन लोक के नाथ की पार्टी से हमारा अनुबंध हुआ है आपसे कोई अनुबंध नहीं। आप माल ले जाइये, इसके द्वारा कीजिये और खूब मालामाल हो जाइये आपसे हमें एक पाई भी नहीं चाहिए लेकिन इतना अवश्य है कि यहाँ जितनी दुकान चलेगी वहाँ उतना बढ़ता जायेगा। यह नियम है, अनुबंध है। घाटे का कुछ सवाल नहीं, जो कोई आयेगा उसको मालूम है—माल है। कई लोगों के मुँह में पानी आ रहा होगा कि हमारी दुकान में तो बहुत घाटा लग रहा है, लेकिन अपने यहाँ ऐसा नहीं होता है पहले यह मालूम कर लेते हैं। घबड़ाओ नहीं..छठवाँ हिस्सा प्रभावना की अपेक्षा मिलेगा ये कहा है, अप्रभावना की अपेक्षा से नहीं कहा है, यह एक तरफा अनुबंध है, एक तरफा व्याप्ति है। बदनामी का मतलब वह अपना उपादान इस प्रकार का लेकर आया है, जो करने योग्य था वह किया नहीं, महावीर भगवान् के तीर्थ में हुआ लेकिन उसमें महावीर भगवान् का दोष नहीं। हाँ, यदि हम गलत तरीके से, गलत उद्देश्य से दिशा-निर्देशन या गाईडेन्स (मार्गदर्शन) देते हैं तो गड़बड़ है। हम तो पहले अपने को सुरक्षित रखते हैं क्योंकि हम तो पीछे हैं, हम तो आगे हैं ही नहीं, जैसी उन्होंने आज्ञा दी वैसा करो और सामने करने वाला यदि इस ढंग से करता है तो हम क्या करें? यह गड़बड़ हो जायेगा, हमारा तो उसमें दोष नहीं। वह विक्रेता-निर्माता तो नहीं है यह निश्चित बात है लेकिन निर्माता से वह लेकर गया है और मिलावट करता है तो गड़बड़ है। यदि निर्माता की गड़बड़ी है तो अन्यत्र भी ऐसा होना चाहिए था। हमारे यहाँ दस-बीस दुकानें हैं, स्टोर हैं, पेरेलल (समानांतर) आप देख लीजिये वहाँ पर ट्रेडमार्क...(व्यापारिक चिह्न) (हँसी) क्योंकि एक दुकान थोड़े ही हैं। यहाँ पर तो पचासों दुकानें हैं और यहीं से माल जा रहा है, यदि उनके यहाँ कमी है तो सबके यहाँ होना चाहिए। चन्द्रसागर जी आप कहाँ चले गये थे...हमारा यह कहना है, यह ऐसा कार्य है कि यदि हम कर्मों के उदय में प्रतिकार नहीं करते हैं तो निश्चित रूप से इतनी

आमदनी है कि जिसका कोई हिसाब नहीं, रात-दिन आप करके देख लो। कंडीशन में रखने के बाद ऐसा होता है...तो होता है। सर्वेषु तीर्थेषु वर्तन्ते...यह भी एक कानून है कि-शिष्यों के द्वारा कमी आ सकती है किन्तु अपने में प्रमाद न आ जाये इसकी परीक्षा है।

दृष्टान्त—जैसे-मान लो, आपने ३६५ दिन कक्षा में अध्ययन कर लिया अब बोर्ड की परीक्षा देना है, आपका क्लास टीचर या आपके परिचय वाले गुरु जी अब नहीं आयेंगे, परीक्षा के समय कोई भी नहीं रह सकेगा यह कानून क्यों? इसी प्रकार यह भी एक परीक्षा है, परीक्षा का हम अनुभव करेंगे। जो वह कहेंगे उनके अनुसार ही 'हूँ' कहना पड़ेगा...आगम इसलिए रखा है। यह परीक्षा है हमारी, कानून निर्धारित है, जिस समय जैसा करना वैसा तैयार होना पड़ेगा, नहीं तो फिर नम्बर नहीं मिलेंगे। आपने बहुत अच्छा अध्ययन किया और इस कानून को नहीं मानोगे तो नहीं चलेगा। हम जहाँ जिस ढंग से चाहते हैं उसी ढंग से वहाँ आपको परीक्षा देना पड़ेगी। एक दिन में दो पेपर लेना चाहें तो भी हम ले सकते हैं और आपको देना भी पड़ेगा। नकल होने की, प्रमाद होने की संभावना रहती है इसलिए अपने वाले को नहीं रहने देते। एक डॉक्टर है वह स्वयं की स्वयं चिकित्सा नहीं कर सकता। संभावना दोनों तरफ से रहती है, इसलिए वह कह सकता है कि यहाँ स्वयं नहीं करो उधर जाओ। वह मानेगा भी।

भक्त प्रत्याख्यान का मतलब केवल भोजन छोड़ना नहीं है बल्कि परिणामों को भी साथ-साथ सुलटाना है। सल्लेखना केवल काय की थोड़े ही हो रही है, कषाय की भी हो रही है। पंगत में अपना व्यक्ति बैठा है तो परोसने वाला कुछ न कुछ गड़बड़ करेगा ही, वहाँ पर परोसते-परोसते यूँ कर देता है। कानून बहुत अच्छे हैं ये बड़े-बड़े आचार्यों के लिए पहले होते हैं। बहुत सख्त आर्डर है मिलिट्री वगैरह में वहाँ जो कमाण्डर हेड रूप में रहता है उसके लिये भी तो कानून होता होगा। एक के ऊपर एक का शासन चलता ही है, हाँ, ऊपर-ऊपर पोस्ट पर चले जाते हैं वैसे-वैसे स्वयं भी संयत होते चले जाते हैं यह बात अलग है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि वह हेड है तो कुछ भी करे तो चल जायेगा ऐसा नहीं, हमने जो किया वह ठीक किया-ऐसा नहीं होता। ऐसा हो तो फिर ऊपर से नीचे सब ढह जायेगा, व्यवस्था भंग हो जायेगी।

स्वसंवेदन ज्ञान का आलम्बन स्वीकार करो—यहाँ कह रहे हैं कि-आलम्बन लेना है तो बाहरी द्रव्य चेतन-अचेतन का आलम्बन मत लेओ किन्तु अपने स्वसंवेदन ज्ञान का आलम्बन लेओ। ज्ञान गुण का आलम्बन ले लिया तो ख्याति-पूजा-लाभ-भोगाकांक्षा-निदान आदि सभी विभाव परिणामों से रहित हो जाता है, बिल्कुल क्लीन-साफ, उज्वल, स्वच्छ हो जाता है थोड़ी सी भी कमी नहीं। विषय सुख के प्रति हमेशा आनन्दित होने वाला दूषित चित्त वाला होता है उसको वह छोड़ देता है, उसके ऊपर जो संस्कार पड़े हैं उन सारे के सारे संस्कारों को धो देता है।

जैसे-जो डॉक्टर ओपरेट करने वाला है वह ऑपरेशन के पूर्व अपना हाथ तीन बार साबुन से

धोता है और हाथ दूसरे से पुछवाता भी नहीं, वह यूँ करके खड़ा हो जाता है। एक बार देखा था-डॉक्टर ने हाथ धोकर यूँ कर लिये, पाँच-दस मिनट हो गये, बूँद-बूँद टपक करके, हाथ जब सूख गया तो फिर हाथ की थैली पहनते हैं, कर्नाटक में इसे कैचीला कहते हैं। निगोद में जैसे पुलवी होती है वैसी वो जो थैली है ग्लब उसे हाथ में पहन लेते हैं और उनके औजार वगैरह को भी कोई हाथ नहीं लगा सकता है, थैली पहनने के बाद स्वयं ही औजार उठाते और रखते हैं, हाथ में मलिन मैल का संस्कार नहीं होता, कुछ भी नहीं होना चाहिए उसी प्रकार मन-वचन-काय तथा कृत-कारित-अनुमोदना से भी ख्याति-लाभ-पूजा का संस्कार उनमें नहीं रहता है। बहुत पैसा मिलेगा ऐसा भाव रहेगा तो भी मन संस्कारित नहीं रहेगा। ये चिकित्सक अपने आप में बहुत उज्ज्वल परिणाम वाले होते हैं। सभी होते हैं यह नहीं कह रहा हूँ लेकिन अधिकांश होते हैं, तभी तो उनको सफलता मिलती है, तृप्ति भी मिलती है। देखो! मेरा मन पैसे की ओर चला गया किन्तु सही पूछा जाय तो यह सेवा का समय था। इसलिए भारतीय संस्कृति के अनुसार रोगी डॉक्टर के चरण-स्पर्श करते हैं। आप थे तो मेरी संतान को बचा लिया...पैसों से कुछ नहीं होता...उसी प्रकार वह मुनि भी मन-वचन-काय से किसी से सम्बन्ध नहीं रखता हुआ केवल एक ज्ञान का स्वावलम्बन लेकर चलता है। शुद्धात्म भावना से उत्पन्न वीतराग-परमानन्द-सुख से, परमानन्द भाव से अपने आपको रंजित करता है, संस्कारित करता है, उस मय परिणत होता है, स्वयं को तृप्त कर देता है और उसी में तल्लीन हो जाता है, स्वयं को संतुष्ट कर देता है। वही मतिज्ञानादि-पाँच ज्ञानों में भेद नहीं करता हुआ परमार्थ शब्द के वाच्यभूत जो है, जो मोक्ष का साक्षात् कारण है, शुद्धात्मा की संवित्ति लक्षण वाला है, परमागम भाषा में जिसको वीतराग धर्मध्यान और शुक्लध्यान कहा जाता है उसको परम समरसी भाव के द्वारा अनुभव में लाता है। उसका रस क्या है? स्वाद क्या है? यह ज्ञात होता है। दूसरा कोई व्यक्ति इसकी चर्चा तो कर सकता है किन्तु अनुभव नहीं कर सकता। जैसा वह परमात्म स्वरूप का अनुभव करता है वैसा ही परमानन्द स्वरूप मोक्ष को प्राप्त करता है। फिर कैसा होता है? तो “**उपादान सदृशं कार्य**” होता है। मतिज्ञानादि पाँच ज्ञानों के विकल्प से रहित अखण्ड तत्त्व को स्वसंवेदनज्ञान के बिना प्राप्त नहीं कर सकता है इसलिये **कुन्दकुन्दस्वामी** ने **प्रवचनसार** के मंगलाचरण की गाथाओं में कहा है कि- मैं उस श्रमण के श्रामण्य को नमस्कार करता हूँ जिससे निर्वाण की उपलब्धि होती है। सामान्य रूप से उस श्रामण्य का प्ररूपण करके उसे नमस्कार किया है। यह प्रतिज्ञा की है कि वह श्रामण्य क्या होता है यह बताऊँगा-उसके लिए बहुत ही सीधी-सादी गाथा दी है-

समसत्तुबंधुवगो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।

समलोदुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥४१॥

(चारित्र चूलिका अधिकार)

यही श्रमण है तथा उसका श्रामण्य है जो सुख-दुःख आदि सभी में समताभाव रखता है। **श्रमण**

की शोभा श्रामण्य से होती है उसके लिए तो **कुन्दकुन्द आचार्य** जैसे श्रमण भी नमोऽस्तु करते हैं वह कितना बड़ा पद है देखो...। पूरी यूनिवर्सिटी में किसी छात्र को पुरस्कृत करना है तो कुलपति सहित सभी छात्र उपस्थित हैं। वह कुलपति खड़ा होकर कहता है कि—यह छात्र हमारी यूनिवर्सिटी का गौरव है, शोभा है। हम लोगों ने भी अपने जीवन में यहाँ प्रशिक्षण प्राप्त करके परीक्षायें दी थीं लेकिन पुरुस्कृत होने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ, आज इस छात्र के निमित्त से यूनिवर्सिटी को यह सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इसने आज हमारे सिर को इस प्रकार की प्रतिभा के माध्यम से ऊपर उठा दिया है। यूनिवर्सिटी भी गौरव को प्राप्त हुई है। इसी प्रकार श्रमण भी श्रामण्य के साथ रहता है तो **कुन्दकुन्द आचार्य** कह रहे हैं कि— मैं उस श्रामण्य को बार-बार नमस्कार करता हूँ जो कोई भी तीन लोक के नाथ होंगे। वे श्रामण्य रूप व्यक्तित्व के माध्यम से ही तो होंगे। इस गाथा में व्यक्ति की पूजा नहीं, उसके व्यक्तित्व की पूजा की बात की है कि जहाँ पर एकमात्र स्तत्रय ही दृष्टिगोचर हो रहा है। हम लोग सोचते हैं कि उन्होंने हमें नमोऽस्तु नहीं किया, लेकिन ये सोचो कि आपने अपने आपको कभी नमोऽस्तु किया है क्या? जो अपने आपको नमोऽस्तु करता है वह दूसरों की ओर नहीं देखता। **णमो लोएसव्व साहूणं...** कहते हैं जब आप अपनी ओर देख रहे हैं तो दूसरा नमोऽस्तु कर रहा है या नहीं...यह बात ही सामने नहीं आती। श्रावक जो नमोऽस्तु करने आया है उसे तो नमोऽस्तु करना चाहिए उसे ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि वे महाराज तो देखते ही नहीं, आशीर्वाद नहीं देते हैं। ये बताओ—आप जब भगवान् को नमोऽस्तु करते हैं तो वे आशीर्वाद देते हैं क्या? आपको देखते हैं क्या? एकाधबार नमोऽस्तु करते समय देख लेना कि वो क्या करते हैं? भगवान् के ज्ञान में तो सब झलक रहा है, यह तो उन्होंने कहा नहीं किसी को कि नमोऽस्तु करो। जब आप इतने बड़े व्यक्तित्व वाले भगवान् की पूजा, आरती कर रहे हैं, नमोऽस्तु कर रहे हैं..फिर भी वे आपकी तरफ एक बार भी हाथ उठाकर यूँ नहीं करते..क्यों? यूँ हाथ करने से क्या हो जाता उनको, उनके पास तो अनन्तशक्ति है। अतः हमेशा यूँ-यूँ आशीर्वाद ही देते रहें ताकि सम्पूर्ण विश्व का कल्याण हो जाय। हममें प्रफुल्लता आती है तो उन्हें भी ये करना चाहिए...इन बातों को तो टिप्पणी की तरह रख लेते हैं।

प्रसंग—युग के आदि में वृषभनाथ भगवान् को केवलज्ञान नहीं हुआ था वे तपस्या में खड़े थे..तो उनकी पत्नी के भाई के पुत्र नमि-विनमि थे, उन्हें पता चला कि हमारे दादाजी ने हमें कुछ नहीं दिया, हम तो उन्हीं से माँगेगे यह सोचकर घर से निकल गये और सामने जाकर आदिनाथ मुनिराज से माँगने लगे, उन्होंने उन्हें ध्यान छोड़कर यह लेओ, ऐसा नहीं कहा, अभी छद्मस्थ अवस्था में हैं तो तुम तकलीफ मत उठाओ, वो राज्य ले लेना इतना ही कह देते, या आहार के लिये गये तो आशीर्वाद दे देते लेकिन ..नहीं दिया। “**भक्ति कृपास्नेहादय राग प्रकृति वीतरागतायां न संति।**” ऐसा एक जगह आया है आगम में...। आशीर्वाद की मुद्रा किसी भी दिगम्बर मुद्रा की प्रतिमा में नहीं मिलती। साधुओं की भक्ति की मुद्रा वाली प्रतिमा तो मिलेगी लेकिन स्वयं आशीर्वाद दे रहे हैं ऐसी मुद्रा नहीं

मिलती। हमारा यह कहना है कि वस्तुतः आशीर्वाद देना यह भी राग की परिणति मानी जाती है। इसलिए वे छद्मस्थ अवस्था में भी किसी से नहीं बोलते हैं, आशीर्वाद नहीं देते...आप उनकी (आदिनाथ मुनिराज की) प्रवृत्ति तो देखो...कि आपके यहाँ आहार के लिए तो आयेंगे लेकिन आपको आशीर्वाद नहीं देंगे, बोलेंगे नहीं...आपकी तरफ देखेंगे तक नहीं...।

मुनि की अनूठी चर्या—मैं यह कह रहा था—निरालम्ब होने का अर्थ—प्रवृत्ति में भी मन-वचन-काय से किसी का आलम्बन नहीं लेना। **मूलाचार** में जो व्यवस्था दी है वह तो आज हम लोगों की अपेक्षा से कही गई है—इसमें भी एकान्त से इतना ही होता है ऐसा नहीं, क्योंकि मूलगुणों से उत्तरगुणों की ओर ध्यान नहीं जाता, दिगम्बरों की चर्या अपने आप में अनूठी होती है। तीर्थंकर भी जब तक घर में रहते हैं तब तक की बात अलग है लेकिन मुनि बनते ही कोई नमोऽस्तु करे तो उनकी आशीर्वाद की मुद्रा नहीं होती, बोलते नहीं उनकी तो अखण्ड मुद्रा होती है। बारहवें गुणस्थान तक सत्य-असत्य मनोयोग, वचनयोग दोनों हैं, अतः नहीं बोलते हैं। पुराणादिक में कहीं पर यह उल्लेख किया है कि—तीर्थंकरों के छेदोपस्थापना चारित्र नहीं होता है। २८ मूलगुणों में जिनके द्वारा प्रमाद होता है वही छेदोपस्थापना के योग्य होता है और तीर्थंकरों का इस प्रकार का प्रमाद नहीं होता है अतः छेदोपस्थापना चारित्र भी नहीं है। शुद्धात्मानुभूति से स्वखलित हो जाना अलग वस्तु है तथा २८ मूलगुण व उत्तर गुणों में दोष लगने रूप प्रमाद अलग वस्तु है। तीर्थंकरों के वर्धमान चारित्र होने से उनकी चर्या भी बड़ी अद्भुत होती है। इस उपर्युक्त स्वसंवेदन ज्ञान के बिना मत्यादि ज्ञानों के विकल्प से अखण्ड परमात्म पद का अनुभव नहीं कर सकता इस प्रकार ज्ञान और वैराग्य की विशेषता बताई गई। इस प्रकार आठ सूत्रों द्वारा ज्ञान और वैराग्य की विशेषता का संक्षेप में व्याख्यान प्रकरण समाप्त हुआ।

पुनः उसी ज्ञान गुण की विशेषता—चौदह गाथाओं द्वारा आगे बताई जा रही है। दो गाथाओं में ज्ञान-वैराग्य की विशेषता बताने के उपरान्त संतुष्टी नहीं हुई क्योंकि दुनिया में ज्ञान तो बहुत प्राप्त होता है लेकिन उस ज्ञान के द्वारा परिग्रह सहित होकर कोई आँख बंद करके बैठा है तो उन आँखों से वस्तु तत्त्व को देख नहीं पा रहा है ऐसा वह ज्ञान है। यहाँ ज्ञान की विशेषता बताई जा रही है—विरले ही उस ज्ञान गुण को प्राप्त होते हैं। मुनि अवस्था में वह प्राप्त होता है लेकिन प्रत्येक मुनिराज को लभ्य नहीं है, प्राप्य नहीं है, दुष्कर जैसा है किन्तु दुष्करता का कारण यही है कि वह स्व संवेदन ज्ञान देखने में नहीं आता और आता भी है तो शब्दों में ही आता है किताब में देख लेते हैं और गाथा रट लेते हैं। गाथा में स्वाद नहीं आता ऐसी बात नहीं..अलौकिक स्वाद जैसा लगता है लेकिन गाथा के विस्मरण होने के उपरान्त ही सही स्वाद आता है। गाथा का अर्थ भी अपने आप में बहुत महत्त्वपूर्ण है वह भी प्राप्त हो जाये तो बालुका के ढेर में हीरे की कणिका की प्राप्ति जैसा कार्य है। त्रस पर्याय की प्राप्ति की दुर्लभता के लिए यह उदाहरण दिया है और मनुष्य भव की दुर्लभता चौराहे पर स्तराशि का ढेर मिलने जैसा दुर्लभ है यह कहा है लेकिन यह तो...“**णवरि ण सुलभो विहत्तस्स**” इस ज्ञान की प्राप्ति तो

बहुत ही अलभ्य जैसी है फिर भी सौभाग्य तो यह है कि हमें **आचार्य कुन्दकुन्द देव** की गाथाएँ तो कम से कम मिल गयीं। ज्ञानी जो है वह बाहरी सब द्रव्यों में तथा भीतरी जो वैभाविक भाव हैं उनमें राग-द्वेष नहीं रखता है इसलिए वीतरागी होने से कर्मों से लिप्त नहीं होता है। यह ज्ञानी की परिभाषा या पहचान है। राग सहित होगा तो अज्ञानी है। इस प्रकार यह दो टाइल हैं। अभी तक तो मिथ्यात्व के कारण अज्ञान सुना था लेकिन यहाँ तो जिसके पास राग है उसे अज्ञानी कह दिया तब कौन होता है? मनुष्य में ग्यारहवें गुणस्थान वाले मुनिराज भी इसकी चपेट में आ जायेंगे और मूंगफली के दाने बराबर संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यच मेंढक है वह और मुनिराज बराबर हो गये क्या? नहीं, प्रसंग के अनुसार लेना। उसी प्रकार इससे सिद्ध है कि जिसके पास राग नहीं वह ज्ञानी है ऐसा कहा है। स्तत्रय लेने के बाद भी यदि भीतर उपयोग में राग है तो अज्ञानी है यह कहा है। ग्यारहवें गुणस्थान में सत्ता में है लेकिन उपयोग में राग नहीं है।

उत्थानिका—आगे ज्ञानी व अज्ञानी जीव की परिणति बताई जा रही है—

गाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।

णो लिप्पदि कम्मरणं दु कड्ढममज्झे जहा कणयं ॥२२९॥

अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।

लिप्पदि कम्मरणं दु कड्ढममज्झे जहा लोहं ॥२३०॥

अन्वयार्थ—(गाणी) ज्ञानी (सव्वदव्वेसु) सभी द्रव्यों में (रागप्पजहो) राग को छोड़ने वाला होता है (कम्ममज्झगदो) इसलिए कर्मों के मध्य में रहता हुआ (दु) भी (कम्मरणं) कर्म रूपी रज से (णो लिप्पदि) लिप्त नहीं होता (जहा) जैसे (कणयं) सोना (कड्ढममज्झे) कीचड़ के बीच पड़ा हुआ भी लिप्त नहीं होता।

(पुण) और (अण्णाणी) अज्ञानी (दु) तो (सव्वदव्वेसु) सब द्रव्यों में (रत्तो) रागी होता है इसलिए वह (कम्ममज्झगदो) कर्मों के मध्य रहता हुआ (कम्मरणं) कर्म रज से (लिप्पदि) लिप्त होता है (जहा) जैसे (लोहं) लोहा (कड्ढममज्झे) कीचड़ के बीच में रहकर लिप्त हो जाता है।

अर्थ—ज्ञानी जीव सब ही द्रव्यों के प्रति होने वाले राग को छोड़ देता है अतः वह ज्ञानावरणादि कर्म सहित होकर भी नवीन कर्मरज से लिप्त नहीं होता। जैसे कि कीचड़ में पड़ा हुआ सोना जंग नहीं खाता है, किन्तु अज्ञानी जीव सभी द्रव्यों में राग रखता है इसलिए कर्मों के फन्दे में फँसकर नित्य नये कर्म बंध किया करता है। जैसे कि लोहा कीचड़ में पड़ने पर जंग खा जाया करता है।

ज्ञानी न बंध करता विधि से घिरा हो,

पंचेन्द्र के विषय से जब वो निरा हो।

हो पंक में कनक पै रहता सही है,

आत्मीयता कनकता तजता नहीं है ॥२२९॥

पंचेद्रियों विषय में रममान होता,
तो मूढ़ बंध विधि को स्वयमेव ढोता।
लोहा स्वयं कि जब कर्दम संग पाता,
धिकृधिक स्वभाव तजता झट जंग खाता ॥२३०॥

व्याख्या—ज्ञानी जीव सब ही द्रव्यों के प्रति होने वाले राग को छोड़ देता है अतः वह ज्ञानावरणादि कर्म सहित होकर भी नवीन कर्मरज से लिप्त नहीं होता जैसे कि—कीचड़ में पड़ा हुआ सोना जंग नहीं खाता है। सभी द्रव्यों के बीच में, नोकर्म, द्रव्य कर्मों के बीच में रहते हुए भी **रागप्यजह**—अर्थात् राग को ग्रहण नहीं करता, उससे लिपटता नहीं वह ज्ञानी कहलाता है वह नवीन कर्मरज से लिप्त नहीं होता है।

दृष्टान्त—जैसे—कर्दम के बीच में स्वर्ण है वह जंग नहीं खाता है। कादे में हेम अमल है। कर्दम शब्द से कादा बना तथा कीच शब्द से कीचड़ बना है। कर्दम के बीच स्वर्ण की गिट्टी पचास वर्ष भी पड़ी रहे तो कुछ नहीं होगा और लोहे की गिट्टी—कर्दम में तो दूर, उसके पास ही रहे तो जंग लगने लग जाती है। किसी ने कहा था—११० मंजिला दो जुड़वा बिल्डिंग थी, १३० फीट की ऊँचाई को लिये हुए दो मंजिल थी उसमें जो घटना घट गई वह घट गई लेकिन वह मंजिल हिली क्यों, गिरी क्यों? वह धमाका होने से हिल गई लेकिन वह एकदम ताश के पत्ते की तरह क्यों गिर गई? आज के वैज्ञानिकों को सोचना चाहिए कि सीमेण्ट की जो बिल्डिंग खड़ी कर रहे हैं उसमें करोड़ों—अरबों रुपये खर्च हो जाते हैं परन्तु जो उसमें लोह तत्त्व होता है वह जंग खाता है या पिघल जाता है तो गिर जाती है उनका यही कहना था कि अधिक गर्मी बढ़ने से वहाँ पर भीतर ही भीतर लूज (कमजोर) हो गई, लोहा तपने से मुलायम होगा तो वह ढह जायेगा। इसलिए यह सिद्ध होता है कि लोह तत्त्व का प्रयोग बिल्डिंग में ठीक नहीं। आज का विज्ञान लोहे का काम करता है उसी से घर का, शहर का निर्माण होता है। सीमेन्ट और लोहे का नाम ही शहर है। लोहे की खिड़कियों में हवा के लिए स्थान ही नहीं रहता, वह हवा को रोक देता है फिर भीतर से पंखा चलाओ.. वह कमरा भी हवा से गरम हो जाता है क्योंकि कमरे में ऑक्सीजन समाप्त हो जाती है तथा कार्बनडाईऑक्साइड भर जाती है वहाँ पर शुद्ध हवा का प्रवेश ही नहीं हो पाता। जहाँ कहीं भी पाँच या दस कि.मी. में सीमेण्ट की फैक्ट्री होती है तो हवा पास ही नहीं होती है अतः वहाँ बीमारियाँ बढ़ जाती हैं यह निश्चित बात है। आजकल तो...घर में मार्बल चाहिए, संगमरमर के बने मंदिर में भगवान् हैं वहाँ तो चल जायेगा लेकिन घर में उस पर सर्दी में पैर नीचे नहीं रख सकते तो फिर स्लीपर यूज (उपयोग) करेंगे, किचिन में भी उन्हें पहनकर जायेंगे। यह सब गडबड़ है। हाँ, तो यहाँ कह रहे थे—पञ्चेन्द्रिय के विषयों को चारों तरफ रखे हो तो भी ज्ञानी का ज्ञान जंग नहीं खाता, राग से लिपटता नहीं, यह ज्ञानी की परिभाषा है या ज्ञानी का जीवन दर्शन है।

लोगों को **समयसार** रट गया है उसमें भी निर्जराधिकार तो मुक्त कंठ हो गया लेकिन उसका हृदय

के ऊपर कोई प्रभाव नहीं है तो कितने भी प्रकाशन करते चले जाओ फिर भी उससे स्वयं में प्रकाश...न..। प्रकाशन से प्रकाश नहीं पहुँचता है। जहाँ ज्ञानी है वहाँ अज्ञानी भी है लेकिन अज्ञानी जो है वह विषयों में आसक्त हो जाता है, अनुरंजित हो जाता है, लिप्त हो जाता है। ऐसा अनुरंजित होता जाता है कि जंग चढ़ जाती है। पारसमणि की कहानी आपने सुनी होगी—यह पारस नाम की मणि पत्थर होता है उसके योग में लोहा आ जाता है तो वह स्वर्ण बने बिना नहीं रह सकता है। यह कैपिसिटी (योग्यता) पर निर्धारित है। जो लोग गाय, बैल, भैंस आदि चराने के लिए जंगलों में चले जाते हैं गाय, बैल के पैरों में नाल बाँधते हैं वे इधर-उधर चरते रहते हैं, चरते-चरते कहीं किसी पारसमणि का स्पर्श हो गया तो वह लोहा स्वर्ण हो जाता है तो गड़रिया उतना पारसमणि लेकर अपना काम चलाता है। कुछ लोगों को इसकी पहचान रहती है, किसी का पारसमणि गुम जाता है तो उसे ढूँढ़ने के लिए इसी प्रकार करते हैं। पारसमणि का भी एक स्वभाव है यदि जंग वाला लोहा है तो पारसमणि उसे स्वर्ण नहीं बना सकती। यदि लोहा जंग खाया हुआ तो नहीं है लेकिन यदि वह कपड़े में लिपटा हुआ है तो भी उस लोहे का स्वर्ण नहीं बन सकता है। हाँ, आज तो ज्ञानी कपड़े में लिपटे जा रहे हैं उनके लिये यह उदाहरण है। आज तो क्लॉथ मर्चेन्ट भी ज्ञानी हैं। राग करने वाला, कर्म बंध करने वाला ज्ञानी नहीं होता, यहाँ यह कहा जा रहा है। इससे स्पष्ट है कि—रागी-वीतरागी में जो अन्तर है वही अज्ञानी व ज्ञानी में अन्तर है। क्रोधादि में प्रवृत्ति करता है, प्रमाद करता है तो अज्ञानी है। **कर्ता-कर्म अधिकार** के प्रारंभ में ही यह कहा है कि आस्रव व आत्मतत्त्व के बीच में जो भेद रेखा को नहीं जानता वह क्रोधादि में प्रवृत्ति करता है तो अज्ञानी होता है और उस समय कर्म वर्गणाएँ कर्म रूप हो जाती हैं, वह बाँधता नहीं, बंध जाती हैं। क्रोधादि होने रूप अज्ञान की प्रवृत्ति ही पर्याप्त है फिर अपने आप ही कर्म बंध हो जाता है। अज्ञानी की पहचान है कि जो कर्मबंध को प्राप्त होता हो कर्दम में लोहे के समान या स्टील के समान। आज ऐसे रसायन तैयार किये हैं जो लोहा होते हुए भी, इस्पात होते हुए भी जंग नहीं खाते वे मिश्रधातु बना देते हैं और ऐसा लोहा भी तैयार कर लेते हैं जो इससे तीस गुना मँहगा है।

दृष्टान्त—आज सामान्य लोहा दो रुपये किलो है तो वह साठ रुपये किलो मिलेगा। यह बहुत मँहगा पड़ता है बांध वगैरह में इसका उपयोग करते हैं। इस प्रकार के मिश्रण से उसमें काठिन्य हो जाता है तो उसमें जंग नहीं लगती। उसी प्रकार आप लोग भी राग को छोड़ सकते हैं उसका सम्मिश्रण इस ढंग से करो। आपके मूलगुण अभी जो पाँच इन्द्रिय व मन के विषय सम्बन्धी २८ (८+५+२+५+७+१) होते हैं उन्हें छोड़ दो, असंयमी भी इन २८ मूलगुणों का पालन करता है तो अब आपको अदला-बदली करना है इन २८ को छोड़कर महाव्रत रूप २८ मूलगुणों को धारण करना है। एक हाथ में होली का लड्डू और एक हाथ में दीवाली का संयमासंयम लड्डू। एक हाथ में कीचड़ का, एक हाथ में शक्कर का है। इस प्रकार आपके दो हाथ में दो लड्डू हैं। आप चाहें उसका स्वाद ले सकते हैं।

सावधान रहना अनिवार्य है—चाहे आज का व्रती हो या पुराना व्रती हो सबके पास सामान्य रूप से कर्म विद्यमान हैं। अब वह कर्म विद्यमान है तो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को लेकर उदय में आयेगा और वह कर्म यह नहीं सोचता है कि यह बूढ़ा है कि जवान है, कि बालक है वह तो आयेगा ही...उसमें हर्ष-विषाद करना या नहीं करना यह अपने वश की बात है। कर्म का उसमें कुछ नहीं...इससे एलर्ट रहना आवश्यक है कर्म से बच ही नहीं सकते, नोकर्म से तो कथंचित् बच सकते हैं मानलो किसी के कान बहरे हो गये फिर भी आवाज गूँज रही थी। यह भीतर से आवाज कर्मों के कारण सुनाई देती है। बाहरी आवाज ज्यादा हो रही हो तो कान बंद कर लो और भक्ति कर रहे हैं तो उस समय अलग ही टाइप (प्रकार) की आवाज गूँजेंगी, उसके द्वारा आपका माथा दर्द कम हो जायेगा उसमें तो भ्रामरी प्राणयाम जैसा लगने लगता है इसे नाद बोलते हैं। मेघनाद, समुद्रनाद, सिंहनाद, शंखनाद आदि सभी अलग-अलग हैं। इसी प्रकार यह भीतर से नाद होता है कितने भी आप जोर से कान बंद कर लो और थोड़ी सी भी आवाज आप करो तो बहुत अच्छी आवाज आयेगी जबकि बाहर किसी को वह सुनने में भी नहीं आ रही है और स्वयं के लिए वह जोरदार लगती है लेकिन यह सब उस समय होगा जब हम कान बंद करके सुनेंगे। कान बंद करना एक प्रकार से नोकर्म से बचना है तो नोकर्मों से बच सकते हैं लेकिन कर्म से आप बच नहीं सकते। प्रतिसमय कर्म यह बता रहा है कि—मैं जा रहा हूँ, उसमें यदि हर्ष-विषाद कर गये तो पकड़े गये। उसी प्रकार विद्या-मंत्र आदि में भी स्थिति आ जाती है। आप यदि विद्याओं की ओर देखेंगे तो विद्यायें आपको पकड़ेंगी, आपको बाध्य करेंगी और उन्हें नहीं चाहेंगे उनकी तरफ नहीं देखेंगे तो वह आपको कुछ भी नहीं करेंगी। जैसे—कर्म आकर जा रहा है उसी प्रकार निकल जायेगी। अज्ञानी जीव उससे प्रभावित हो जाता है कई लोग साधना के दौरान भटक जाते हैं तो उनकी अच्छे ढंग से पिटाई होती है, उन्हें सफलता प्राप्त नहीं होती है, मार खाना पड़ती है, दिमाग खराब हो जाता है और रक्तस्राव प्रारंभ हो जाता है यहाँ तक कि उसका दिमाग फेल हो सकता है यही कर्मों के साथ है। नोकर्म नहीं हों तो भी कर्म अपने फल देते रहते हैं। औदयिक कर्म से बचने का एक ही मात्र रास्ता है कि कर्मोदय में हर्ष-विषाद न करें। कर्म जड़ है वह कुछ भी नहीं कर सकता ऐसा मत सोचो। जड़ होते हुए भी उसके परिणाम बड़े-बड़े निकल जाते हैं। जैसे—बिल्डिंग बनाने में बरसों लगे, दो-चार सेकंड में पूरी ढह गई...करोड़ों-अरबों का नामों निशान नहीं...। तो हम यह कह रहे थे जिस प्रकार आप नोकर्मों से बचने का प्रयास करते हैं वैसे कर्मों से बचने का प्रयास नहीं कर सकते हैं। यदि बच सकते हैं तो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि को लेकर बचा जा सकता है। यदि अप्रमत्त रहेंगे, रागद्वेष नहीं करेंगे तो उससे बच सकते हैं यही एक मात्र ज्ञानी की साधना है जो यहाँ पर कही जा रही है।

छहढालाकार ने इसी बात को कहा है—**पाप पुण्यफल नाहि हरख बिलखो मत भाई** क्योंकि पाप और पुण्य कर्म अपने फल देते हैं और चले जाते हैं। विस्फोटक सामग्री भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में, भिन्न-

भिन्न काल में अपने-अपने ढंग से विस्फोटित हो जाती है। जैसे-पटाखा है तो वह अपने ढंग से काम करेगा और रॉकेट अपने ढंग से काम करेगा। हाथ से छूटकर ऊपर चला जायेगा। ये सारे के सारे खतरनाक होते हैं, जला भी सकते हैं।

दृष्टान्त—जैसे-बारूद का एक यह भी परिणाम होता है। बच्चे जो फुलझड़ियाँ जलाते हैं इसे दक्षिण में फूलबाजा बोलते हैं। छोटे बच्चों के हाथ में जलाकर पकड़ा देते हैं वे उसे घुमाते हुए खेलते हैं। इसमें भी बारूद होती है लेकिन यह खेल, खेल नहीं है। मुनिराज किस ढंग से कर्मों से खेलते हैं यह यहाँ बताया जा रहा है। अन्य पटाखे को बहुत सावधानी के साथ जलाना होता है लेकिन ये फुलझड़ियाँ तो देशघाती की तरह हैं। देशघाति स्पर्धक हो गये तो हम कुछ भी कर सकते हैं लेकिन सर्वघाति स्पर्धक हों तो हाथ जल जाये, मुँह जल जाये आदि-आदि। सुबह से शाम तक फुलझड़ियाँ चलाते रहो तो भी कुछ नहीं होगा। तो संज्वलन की क्रोधादि कषायें फुलझड़ियाँ के समान हैं सातवें गुणस्थान में मंद कषाय होती है तो उसको कुछ नहीं होता। “**संज्वलन-सम समीचीन रूपेण ज्वलति संयमेन साकेन...इति संज्वलनं**” संयम के साथ जल रहा है फुलझड़ियों के समान लेकिन उससे जलते नहीं हैं। जैसे-फुलझड़ी बाजा कपड़े आदि पर गिर जाये तो उससे कपड़े आदि नहीं जलते। यह द्रव्य, क्षेत्र, कालादि के माध्यम से कैसे परिवर्तन लाया जाता है उसका उदाहरण है—हमारे पास विस्फोटक सामग्री सर्वघाती के रूप में है किन्तु यदि संयम का संकल्प ले लेते हैं तो वह सब फुलझड़ियाँ सम होकर कर्म निकल जाते हैं। पूरा का पूरा कर्माश्रित नहीं, कुछ आत्माश्रित भी है।

दृष्टान्त—किसी ने हमें बताया था कि—एक बार जॉन ऑफ केनेडी अमेरिका के राष्ट्रपति भारत आये थे, उन्हें भाखड़ा नांगल का बाँध दिखाया था, उस समय अन्य बाँधों की अपेक्षा से वह एशिया का पहले या दूसरे नम्बर पर था, उसमें बहुत दूर-दूर मीलों तक पानी देखा तो कहते हैं—इसकी सुरक्षा का भी कुछ प्रबंध रखो, क्योंकि उपाय के साथ अपाय से भी तो बचना चाहिए...तो नेहरूजी ने कहा—उसकी सुरक्षा का पूरा प्रबंध है। इसी प्रकार संयम का जब बाँध बांधते हैं तो वह दृढ़ बाँध होना चाहिए। एक तरफ दृढ़ और दूसरी तरफ से बह जाये ऐसा नहीं...ऐसा बाँध बाँधो कि वह पानी को रोकने की क्षमता रखे, संयम लेने के उपरान्त यह क्षमता होनी चाहिए। यह एकान्त से कर्म-नोकर्म पर आधारित नहीं, किन्तु हमारे पुरुषार्थ के ऊपर आधारित होता है तो वह काम बन सकता है, तभी हेतु सिद्ध हो सकता है, नहीं है तो बहुत बड़ा...कितने मीलों, हजारों कि.मी. तक उसका प्रभाव हो सकता है, विस्फोट होगा तो सब गड़बड़...असंयम के साथ विस्फोट होगा, संयम के साथ नहीं। इस प्रकार की मोरी बनाये रखो, छोटे-छोटे गेट जिसमें पानी के निकास रखा करो, ताकि सर्वघाती कर्म की बाढ़ न आये। बाढ़ आने से पूर्व सारे-सारे फाटक खोल दो, हॉर्न बजा दो...उसी प्रकार परिग्रह रूपी पानी का स्टॉक रुके नहीं तो अनुपात से उतना ही पानी स्टॉक में रखो कि जिसके द्वारा खतरा न हो, इसके लिए क्या करते हैं? नीचे की ओर पानी ज्यादा रखते हैं, वह जमीन के दबाव से वहीं का वहीं बना

रहता है और बाँध का पानी अनुपात से बाहर निकालते हैं। उसमें ज्यादा स्टॉक हो जाता है तो उसे खतरे की घंटी कहते हैं अतः पानी निकालने का रास्ता भी रहता है। कितना भी पानी बाहर निकल जाये तो भी नीचे का पानी तो बना रहेगा तभी तो वह बाँध कहलायेगा। वह काम में नहीं आता, रखा जाता है, इसी प्रकार से असंयम से संयम की ओर आ जाते हैं तो बांध का काम चालू हो जाता है। इसकी दीवार बहुत जल्दी बनाते हैं लेकिन बाँध बांधने में बहुत दिन लग जाते हैं, एकसाल में तो बाँध बंध ही नहीं सकता, बाँधने वाला वैज्ञानिक भले ही हो लेकिन बना नहीं सकता और उसमें मटेरियल बहुत पहचान के साथ डाला जाता है, इसलिए अमेरिका के केनेडी जी ने कहा—बाँध तो बाँध दिया इसकी सुरक्षा भी करो। तो आप लोगों से भी इस उदाहरण के माध्यम से यह कहना चाह रहा हूँ। केवल नोकर्म पर ही नहीं, किन्तु हमारे भावों में इस प्रकार के शिलान्यास होना चाहिए और बार-बार भावनाओं का पुट उसमें रहना चाहिए तो वह बाँध बिल्कुल स्थायी और मजबूत रहेगा। इसी के लिए आचार्य उमास्वामी जी ने “**तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च**” अर्थात् एक-एक व्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ रखीं ताकि अहिंसा रूपी बांध ठीक से काम कर सके और सत्य की नींव उसमें स्थायी रहे। सत्य जो है वह आधार शिला होता है जिसके महाव्रतों, अणुव्रतों के नीचे सत्य के अधिष्ठाता बैठे हैं... **सच्चाहिदुस्स...** वह सत्य से डिगेंगे नहीं, विनय के साथ रहेंगे तो जड़ मजबूत रहेगी। यदि अविनय की मूल रखेंगे तो बहुत जल्दी वह शीर्षासन कर लेगा क्षमा बल है तो वह क्रोध को आने नहीं देगा। विस्फोटक सामग्री को आने नहीं देना सब कुछ नोकर्म के ऊपर ही आधारित है ऐसा कहेंगे तो गड़बड़...टूट जाये, डूब जाये...टूटना तो है लेकिन टिकाया भी जा सकता है। तौलकर के ही वजन के हिसाब से पानी डाला तो वह सुरक्षित रहेगा। स्टॉपडेम में क्या होता है? बीना बारहा में, छिन्दवाड़ा में नहीं देखा क्या? उसमें नाली वगैरह नहीं होती हैं उसमें तो पानी भरा रखा है और ज्यादा आया तो ऊपर से बाहर हो जायेगा यह अणुव्रती की दशा स्टॉप डेम जैसी है, उसके भी अविरति अविरति है इसलिए अभी अभ्यास कर रहा है, उसकी भावना है तो उस भावना की तारीफ करेंगे।

दृष्टान्त—जैसे—कोई बालक के.जी.वन में पढ़ रहा है तो क्या करता है? स्कूल गया और आया...तो कम से कम गया तो...रास्ता देखकर तो आया है। बस्ता ही छोड़कर आ गया तो कह दिया जाता है—रास्ता देखा है तुमने...तो जाओ बस्ता ले आओ...और वह बालक ले आता है और यदि बस्ता नहीं मिलता है तो रोता हुआ आता है तो माँ कहती है—रोना नहीं, बेटा! मध्याह्न में जाना तो मिल जायेगा क्योंकि अभी स्कूल बंद हो गया होगा। इसी प्रकार हम कहते हैं लेकिन अविरत सम्यग्दृष्टि की दशा तो के.जी.वन के बालक जैसी है।

दृष्टान्त—हम यह कह रहे थे कि—आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त होने के पहले भी बच्चे को यहाँ ले आते हैं कि—महाराज! णमोकार मंत्र सुनाओ, आशीर्वाद देओ तो उसको क्या सुनायें, उनके सामने आपको सुनाते हैं। आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त का जब तक नहीं होता तब तक तुम्हारी जिम्मेदारी है इनके जो मूलगुण

हैं उनको आप निभाना। तो वे माता-पिता पीछे खिसकने लग जाते हैं क्योंकि उनका स्वयं का त्याग नहीं रहता और बच्चों के लिए आप संस्कार डालने की बात करते हैं तो संस्कार कैसे डालेंगे? अविरत सम्यग्दृष्टि के ऊपर हम इसी प्रकार की मेहरबानी दिखाते हैं कि वह देव, शास्त्र, गुरु रूपी माता-पिता की शरण में बना रह जाये, क्योंकि छोटा पौधा है उसमें अभी योग्यता नहीं है, तूफान वगैरह आते हैं तो लकड़ी आदि के सहारे बांध दिया जाता है वह संयम नहीं किन्तु नीचे गिर न पाये इसलिए बांध दिया जाता है। अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण दोनों का उदय चल रहा है। कोई छोटा-सा नियम ले लिया तो अप्रत्याख्यानावरण एवं प्रत्याख्यानावरण का अनुदय हो गया यह धारणा बनाना गलत है। सिद्धान्त को नहीं समझना है। एक व्यक्ति मान लो अहिंसा पालन का एक व्रत लेता है तो उसे हम पंचम गुणस्थानवर्ती नहीं मानेंगे, पाँच पापों का त्याग होने पर ही उसे व्रती बोलेंगे। व्रत प्रतिमा के बिना पाँचवाँ गुणस्थान नहीं बनता ऐसा कहना है तो उसे पाक्षिक श्रावक के अन्तर्गत लिया जाता है। **रत्नकरण्डक श्रावकाचार** में **आचार्य समन्तभद्रस्वामी जी** कहते हैं कि—

सम्यग्दर्शनशुद्धा संसार शरीर भोग निर्विण्णः।

पञ्चगुरु चरणशरणो दार्शनिकस्तत्त्वपथ गृह्यः॥१३७॥

श्रावक के योग्य भूमिका बना लेता है इसलिए उसे पाक्षिक श्रावक कह सकते हैं। उसके भी मद्य-मांस-मधु का त्याग होता है, इसलिए इसके बारे में मतैक्य भले ही न हो लेकिन यदि एक व्रत लिया है तो उसे व्रती नहीं कह सकते। गुणस्थान तो आगमकार से पूछ लेना कि...कौन-सा गुणस्थान होता है? अभी तो इतना है कि जो गुणस्थान ऊपर बढ़ने वाला है, प्रतिमा लेने वाले हैं उन्हें प्रतिमाओं को सुरक्षित करने की बात कर लेना चाहिए। प्रतिमा लेकर अव्रती को व्रती बनाने की अपेक्षा, जिनने व्रत ले रखे हैं उनको सुरक्षित निर्दोष पालन करे ताकि प्रतिमा का आदर्श एक प्रकार से अच्छा बना रहे।

दृष्टान्त—जैसे-मक्खी कफ में लिपट जाती है वैसी ही अज्ञानी की दशा है वह पञ्चेन्द्रियों के विषयों में लिपट हो जाता है। भँवरा जो होता है वह सुगन्धित फूल के ऊपर बैठ जाता है लेकिन वह फूल को छूता नहीं है केवल पराग को पी जाता है उसी प्रकार जो सम्यग्दृष्टि पञ्चेन्द्रिय विषयों के बीच में रहकर भी उनमें किसी भी प्रकार से लिपट नहीं होता है वह ज्ञानी कहलाता है। **कर्मों से बचना** इसमें ज्ञानीपन की सार्थकता है।

कर्मसिद्धान्त तो पढ़ना लेकिन उतने ही कर्मबंध करना तो कर्म सिद्धान्त पढ़ने का कोई मतलब नहीं। आज कर्म-सिद्धान्त का सम्पादन भले ही हो रहा है परन्तु सम्पदा की ओर ही दृष्टि है यह बड़ी विचित्रता है। आज कई प्रकार के लघु उद्योग प्रारंभ हो गये हैं—फोटो हैं, कैसिट्स हैं, पुस्तक का सम्पादन है यह भी लघु उद्योग में आ गया है, जबकि यह गुरु उद्योग था। प्रत्येक व्यक्ति प्रकाशन करके उसके ऊपर दाम रखते हैं खूब प्रचलन हो रहा है—इसका परिणाम क्या निकल रहा है कि आज

समयसार की शुद्ध गाथा कौन सी है इसका निर्णय करना भी कठिन हो गया है, जिसको जो मिल गया वह अपना सम्पादन अलग से कर देता है, अन्यत्र का प्रकाशन ले लिया और सम्पादन कर दिया। उसमें कुछ संशोधन संवर्धन कर देते हैं...तो बस हो गया...यह चल रहा है। अब समयसार का क्या लाभ मिलेगा? आज तो रकेबी प्लेट जैसे समयसार बँट रहे हैं। एक लेख पढ़ा था हमने...कर्मसिद्धान्त पढ़ो...लेकिन कर्म सिद्धान्त क्या वस्तु है? कैसे हम कर्मबंध से बचें? हम अपनी भूमिका में कहाँ तक आस्रव बंध से बच सकते हैं इसे जानने का यह यंत्र है, मापदण्ड है, थर्मामीटर है जिसके माध्यम से हम अपना काम निकाल सकते हैं। मन को लगाने की अपेक्षा स्वाध्याय की दृष्टि से प्रकाशन होता था। व्यवसाय के लिए नहीं...किन्तु आज **सर्वाधिकार सुरक्षित** ऐसा मोटे अक्षरों में लिखा जाता है यह सब समझ में नहीं आता। दो स्थानों पर व्यवस्था करने से भी अव्यवस्था हो जाती है। आप व्यवस्था अच्छी रखो और वह सबके पास पहुँच जाये यह सबसे अच्छी व्यवस्था मानी जायेगी।

दृष्टान्त—जैसे—एक स्टेशन है दो तरफ से मुख्यद्वार हैं तो बिना टिकट के लोग आयेंगे जायेंगे...एक को बंद कर दो सील पक कर दो...। तब सही व्यवस्था बनती है। शास्त्र भेंट नहीं होता है, शास्त्र प्रदान होता है, उपकरण दान है यह...। छत्र पुनः—पुनः वही चढ़ाये जाते हैं उसी प्रकार शास्त्र के प्रकाशन में दृष्टि क्या है? कहाँ—कहाँ पर किस ढंग से उपयोग हो रहा है यह सोचना चाहिए उसका महत्त्व अपने आप में अलग है। किसी के गले में घंटी को बांध नहीं सकते तो घंटी की आवाज तो कर सकते हैं ताकि कम से कम बिल्ली सुन तो ले...कि किसी के हाथ में घंटी है.. क्योंकि ध्यान रखो, नगाड़े की आवाज बड़ी होती है लेकिन बाँसुरी की आवाज सुरीली होती है सुनने वाले वह भी सुन लेते हैं जिन्हें **संभिन्नसंश्रोतृपादानुसारी** ऋद्धि होती है, वे जैसे एक साथ सभी तरह के वाद्यों की आवाज सुनते हैं—आप रेल की भी और फोन की भी आवाज सुन लेते हैं, बहुत हल्ला होने के बाद भी फोन की आवाज कैसे सुन ली? आप मतलब की बात और सुरीली आवाज करते रहो तो भी अच्छी लगती है, **सुरीली आवाज तो वही अच्छी लगती है**, जो सही है।

पहले दो वर्ग थे—एक वर्ग कहता था पुस्तकें नहीं छपना चाहिए...कहाँ से छपकर आ रहा है ग्रन्थ...किस ढंग से आयात होकर आ रहा है...यह देखो...कौन—सी विनय, बहुमान के साथ आ रहा है? कौन सी बिल्टी से आ रहा है, छुड़वाने के लिए कौन जा रहा है ? विनय से आ रहा है क्या? इन बातों को नजर अंदाज तो नहीं कर सकते। पहले इन सब बातों का ध्यान रख करके विनय से, हस्तलिखित ग्रन्थ होता था। एक वर्ग वह था जो वीतराग प्रभु का चित्र नहीं छपना चाहिए ऐसा कहता था, लेकिन आज तो यह पुरानी बात हो गई, कोई कहता ही नहीं, सुनता ही नहीं। तो इस ढंग से धीरे—धीरे प्राचीनता लुप्त होती जा रही है और एक प्रकार से युग अभ्यस्त होता जा रहा है हमारे सामने—सामने तक चित्र नहीं छपते थे, एकाध फोटो मिल जाये तो मुश्किल...। पच्चीसवाँ निर्वाण महोत्सव के समय एक वर्ग कहता था—फोटो नहीं छपनी चाहिए लेकिन पच्चीस वर्ष के अन्दर—अन्दर यह इतना

बढ़ गया है कि कुछ कह नहीं सकते.. वे इस बात को समझते थे कि—बार-बार कर्म सिद्धान्त आदि छापने से इनकी विनय नहीं होगी। जहाँ कर्म सिद्धान्त का अध्ययन करते हैं उसके आस-पास १०० हाथ तक तो कम से कम शुद्ध स्थान, सुरक्षित स्थान होना चाहिए, गंदा स्थान नहीं होना चाहिए। १०० हाथ का अर्थ १५० फीट तक की रेंज का क्षेत्र सुरक्षित होना चाहिए। लेकिन आज तो वहीं पर आस-पास सब कुछ है यह सब पहले बहुमान थे अब तो हम समझ भी नहीं पाते देव-शास्त्र-गुरु के बारे में...।

कई स्थलों में कहा है—अज्ञानी का अर्थ—प्रथमगुणस्थानवर्ती नहीं लेना है किन्तु जो कर्मबंध करता है वह अज्ञानी है और जो केवल निर्जरा करता है उसे ज्ञानी कहा है। **तत्त्वार्थसूत्र** के अनुसार कर्म निर्जरा का प्रकरण चालू होता है—“**सम्यग्दृष्टि श्रावकविरतानन्त वियोजक दर्शनमोह क्षपकोपशमकोपशान्त मोहक्षपक क्षीणमोह जिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः**” (अध्याय-९वाँ/सूत्र-४५) यह सूत्र आता है। सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा श्रावक अर्थात् देशसंयमी की असंख्यात गुणी निर्जरा है लेकिन सम्यग्दृष्टि की किसकी अपेक्षा असंख्यात गुणी निर्जरा है तो उसके बारे में आचार्यों ने कहा है—एक तो सामान्य निर्जरा होती है जिसमें असंख्यात का कोई पुट नहीं होता है उसकी अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि की असंख्यात गुणी निर्जरा कही है दूसरा एक कथन आता है कि “**सम्मत्तुप्पत्तीए**”... सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के काल में ऐसा **गोम्मटसार** में कहा है। तो उत्पत्ति का अर्थ क्या होता है? दो धाराएँ चलती हैं। सम्यग्दर्शन की महिमा गाना चाह रहे हो या केवल कर्म की निर्जरा का कथन कहना चाह रहे हो यह दो बातें आती हैं? यदि निर्जरा का कथन है तो सम्यग्दृष्टि से लेकर असंख्यात गुणी निर्जरा केवली जिन तक लेते हैं। सम्यग्दृष्टि से पूर्व में सामान्य निर्जरा सिद्ध होती है और यदि सम्यक्त्व की उत्पत्ति के काल में आप मिथ्यादर्शन के उदय के साथ में इसे प्रासंगिकता देते हैं तो वहाँ पर यह बात अलग होगी। हाँ, यह बात अलग है कि उस काल में भी असंख्यात गुणी निर्जरा होती है तो पुनः प्रश्न पूछा जायेगा कि वह किसकी अपेक्षा से होती है? यह दो बातें हैं—सम्यग्दृष्टि की असंख्यात गुणी निर्जरा होती है तो किस अपेक्षा से तो—सम्यग्दृष्टि के पूर्ववर्ती की अपेक्षा से विवक्षा बन जाती है लेकिन सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के काल में यदि मिथ्यादर्शन का उदय मानते हुए असंख्यात गुणी निर्जरा मानते हैं तो निश्चित रूप से निचला एक पद निर्धारित करना होगा कि उससे इसकी असंख्यात गुणी निर्जरा फिर सम्यग्दर्शन होने के उपरान्त असंख्यात गुणी निर्जरा ऐसे ये निर्जरा स्थान तीन बनेंगे इसमें दो में तो असंख्यात गुणी निर्जरा की सिद्धि होगी और एक में सामान्य निर्जरा की सिद्धि होगी यह अपने को मानना पड़ेगा अन्यथा कभी घटित नहीं होगा। निर्जरा के प्रकरण में यह यदि प्रासंगिकता होती है तो तीन भेद करने होंगे। एक कोई सम्यग्दृष्टि है उसकी असंख्यात गुणी निर्जरा, दूसरा उसके पूर्व में—अपूर्वकरणादि में गुण श्रेणी निर्जरा और तीसरा उससे पूर्व का जिसके सामान्य निर्जरा होती है। गुणश्रेणी निर्जरा और असंख्यात गुणी निर्जरा में अन्तर है। दूसरी बात—प्रति समय निर्जरा तो पंचम गुणस्थान से

ली जाती है क्योंकि उनका संकल्प आजीवन का होता है इसलिए सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा जो कर्मों की निर्जरा होती है वह तात्कालिक अन्तर्मुहूर्त के लिए होगी, किन्तु देशसंयमी या संयमी की निर्जरा तो जिस समय से संकल्प लिया तब से जब तक वह गुणस्थान बना रहता है तब तक असंख्यात गुणी निर्जरा ही कायम बनी रहती है। हाँ, यह बात अलग है कि असंख्यात गुणी निर्जरा होते हुए भी संक्लेश व विशुद्धि के काल में तत्योग्य घटन-बढ़न होती रहती है यह एक सैद्धान्तिक नियम है। आप हर्ष-विषाद करते हैं तो एकदम गुणस्थान चेंज नहीं होता है लेकिन संक्लेश व विशुद्धि घटने-बढ़ने के कारण असंख्यात गुणी निर्जरा में अन्तर पड़ता है।

दृष्टान्त—समझने के लिए जैसे—किसी गृहस्थ को संतान नहीं हो रही थी और बहुत समय बाद हो गई तो अन्तर्मुहूर्त काल तक मिठाई आदि खूब बँटती है फिर तो धीरे-धीरे उसके बारे में दूसरी तरह के विचार प्रारंभ हो जाते हैं कि—लड़का तो सुन्दर है लेकिन टिकेगा कि नहीं, यदि यह टिका तो उसके लिए मुझे क्या करना है, यदि चोरी हो गई तो...इस तरह कई प्रकार के विकल्प प्रारंभ हो जाते हैं तो वह अन्तर्मुहूर्त तक तो खुशी रही फिर बाद में रुक गई। ये बताओ—जिस समय मिठाई बाँट रहे थे उस समय जो उत्साह/खुशी थी वैसी ही खुशी बाद में भी है क्या? नहीं, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि के सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति काल में विशुद्धिवशात् अन्तर्मुहूर्त तक ही निर्जरा होती है।

दृष्टान्त—यदि किसी ने माचिस की काढ़ी दियासलाई को फर्श पर घर्षण कर जला दी और वह उसे तुरन्त बुझाना चाहे फूँक मारे तो नहीं बुझेगी, बहुत जोर से तूफान जैसा कर दो तो बात अलग है लेकिन सामान्य से फूकेंगे तो तुरन्त नहीं बुझेगी क्योंकि वह अभी जलने की ओर है, वर्धमान है, इसी प्रकार वहाँ भी लगा लेना चाहिए अर्थात् सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के समय अनन्तगुणे विशुद्ध वर्धमान परिणाम होने से वर्धमान निर्जरा भी होती है।

दृष्टान्त—पहले दिन किसी को बुखार आता है तो जल्दी-जल्दी नहीं उतरता है पानी या दूध की पट्टी रख दो तो भी वह उतरा सा लगता है लेकिन पुनः उतना ही टेम्परेचर हो जाता है। अवधिपूर्ण होने पर उसका अवसान प्रारंभ हो जाता है, घटन-बढ़न ये चलता रहता है यह भी एक उदाहरण है। उसी प्रकार पंचम गुणस्थान में असंख्यात गुणी निर्जरा में घटन-बढ़न होता रहता है फिर भी पंचम गुणस्थान हमेशा बना रहता है। उसके लिए दूसरा उदाहरण दे देते हैं।

दृष्टान्त—वर्षाकाल में श्रावण या भाद्रपद का पूर्वार्ध या आषाढ़ मास के उत्तरार्द्ध में नदी में काफी बाढ़ आ जाती है। उस समय उसका वेग भी बढ़ जाता है, पानी भी बहुत लबालब भर जाता है फिर उसके उपरान्त पानी भले ही उतना ही बना रहे लेकिन वेग कम हो जाता है और पानी का रंग-रोगन भी शान्त हो जाता है। **ज्ञानार्णवकार** ने एक स्थान पर लिखा है कि—आगस्त्य नक्षत्र के उदय होते ही पानी में जो मटमेलापन था वह अपने आप ही नीचे बैठ जाता है, पानी का वेग शान्त हो जाता है, पानी भले ही भरा रहता है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि का सम्यग्दर्शन तो बना रहता है लेकिन असंख्यात

गुणी निर्जरा रूप वेग बंद हो गया जो कि निर्जरा का आयाम था वह सारा का सारा शान्त हो गया अब तो क्षयोपशम सम्यग्दर्शन हो गया है, अब मिथ्यादर्शन नहीं है तो भी प्रतिसमय उसमें निर्जरा हो ऐसा नहीं।

दृष्टान्त—नहर का उदाहरण—बांध का जब दरवाजा खोलते हैं तो नहर जब तक चालू रहेगी तब तक एक ही अनुपात से, एक ही वेग के साथ उसमें पानी आता रहता है। जब तक बांध का वह दरवाजा बंद नहीं होगा तब तक उतने ही वेग के साथ, फोर्स के साथ पानी बहता रहेगा। उसी प्रकार संयम के साथ जो निर्जरा होती है वह नहर के पानी के वेग की तरह हमेशा बनी रहती है किन्तु सम्यग्दर्शन अकेला है तो वह आषाढ़ की बाढ़ के समान मात्र सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के काल में निर्जरा होती है बाद में नहीं। सम्यग्दृष्टि कहने से क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि नहीं लेना। यदि आप लोगों ने सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक का अध्ययन किया हो या सुनने का सौभाग्य प्राप्त किया हो तो आपको यह विषय अवश्य अवगत/ज्ञात होगा कि वहाँ पर करण के माध्यम से जो उपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त किया है उसकी बात की है न कि क्षयोपशम सम्यग्दर्शन की। मिथ्यादर्शन सम्बन्धी तीनों प्रकृतियों का उपशमनीय करण होता है तो जब तक वह उपशमनीय करण है तब तक क्षयोपशम सम्यग्दर्शन नहीं होगा। उपशम सम्बन्धी अन्तर्मुहूर्त काल के उपरान्त क्षयोपशम सम्यग्दर्शन होता है उसमें सम्यक्त्व प्रकृति की उदीरणा—उदय और मिथ्यात्व तथा मिश्र प्रकृति का उदयाभावी क्षय यह स्थिति ६६ सागर वर्ष तक बनी रह सकती है तो फिर ६६ सागर तक सम्यग्दर्शन के साथ असंख्यात गुणी निर्जरा ज्यों की त्यों बनी रहनी चाहिए लेकिन ऐसा नहीं होता है यह सिद्धान्त के पक्ष को लेकर बात की है युक्ति से यह बात नहीं करते। ६६ सागर तक उपशमनीय करण तो नहीं रहता लेकिन मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व प्रकृति का उदयाभावी क्षय तथा सद्वस्था रूप उपशम ६६ सागर तक बना रहता है।

जिज्ञासा—सद्वस्था रूप उपशम और उपशम करण में क्या अन्तर है?

समाधान—सद्वस्था रूप उपशम और उपशम करण में बहुत अन्तर है। सद्वस्था रूप उपशम केवल सर्वघाती स्पर्धकों का होता है जो क्षयोपशम अवस्था में होता है उसमें देशघाती प्रकृति का उदय अथवा उदीरणा होती रहती है जबकि उपशम करण में उदय, उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण बिना कर्मों के सत्ता में रहने को उपशम कहते हैं। दो प्रकार का उपशम होता है—१. प्रशस्त उपशम, २. अप्रशस्त उपशम। उक्त लक्षण प्रशस्त उपशम का है, अप्रशस्त उपशम में जो कर्म प्रदेश उपशान्त होता है वह उत्कर्षण, अपकर्षण और अन्य प्रकृति रूप संक्रमण होने के योग्य होता है किन्तु वह केवल उदयावली में प्रविष्ट करने के लिए शक्य नहीं होता। क्षयोपशम का लक्षण बतलाते हुए आचार्यों ने कहा है कि वर्तमान काल में सर्वघाती स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय और आगामी काल में उन्हीं का सद्वस्था रूप उपशम होता है तथा देशघाती स्पर्धकों का उदय रहते हुए क्षायोपशमिक भाव होता है। इस प्रकार दोनों में लक्षण की अपेक्षा भेद है। दूसरी बात उपशम करण मात्र मोहनीय

कर्म का होता है इसका काल मात्र अन्तर्मुहूर्त होता है जबकि क्षयोपशम अवस्था चार घातिया कर्मों में होती है जिसका काल अन्तर्मुहूर्त से अधिक होता है। क्षयोपशम सम्यक्त्व की अपेक्षा ६६ सागर काल भी हो सकता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म की अपेक्षा भव्य जीवों के अनादि-सान्त एवं अभव्य जीवों की अपेक्षा अनादि-अनन्त काल तक भी ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षयोपशम रहता है। सदवस्था रूप उपशम का लक्षण बतलाते हुए “**आचार्य अकलंक स्वामी**” ने “**तत्त्वार्थ राजवार्तिक**” में कहा है कि अनुदय प्राप्त सर्वघाती स्पर्धकों की सत्ता रूप अवस्था को उपशम कहते हैं क्योंकि इस अवस्था में उसकी अपनी शक्ति प्रकट नहीं हो सकती। इस प्रकार सदवस्था रूप उपशम और उपशम करण में बहुत अन्तर है।

जिज्ञासा—सम्यग्दृष्टि के असंख्यात गुणी निर्जरा होती है यह किस विवक्षा में है?

समाधान—असंख्यातगुणी निर्जरा के स्थानों का वर्णन करते हुए ‘आचार्य श्री उमास्वामी जी’ ने ‘तत्त्वार्थसूत्र’ ग्रन्थ नवमें अध्याय में एक सूत्र लिखा है “**सम्यग्दृष्टि श्रावकविरतानन्त-वियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपक क्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येय गुण-निर्जराः**” ॥४५॥ इस सूत्र में सर्वप्रथम सम्यग्दृष्टि का स्थान है जिसकी स्पष्ट व्याख्या करते हुए ‘आचार्य पूज्यपादस्वामी’ ने ‘सर्वार्थसिद्धि’ ग्रन्थ में लिखा है कि—**भव्यः पञ्चेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तकः पूर्वोक्तकाललब्ध्यादि सहायः परिणाम विशुद्ध्या क्रमेणापूर्वकरणादि-सोपानपङ्क्त्योत्त्वमानो बहुतर कर्म निर्जरो भवति। स एव पुनः प्रथम सम्यक्त्व प्राप्ति निमित्त सन्निधाने सति सम्यग्दृष्टिर्भवन्नसंख्येयगुण निर्जरो भवति।** अर्थात् जिसे पूर्वोक्त काल लब्धि आदि की सहायता मिली है और जो परिणामों की विशुद्धि द्वारा विशुद्धि को प्राप्त हो रहा है ऐसा भव्य पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक जीव क्रम से अपूर्व करणादि सोपान पंक्ति पर चढ़ता हुआ बहुतर कर्मों की निर्जरा करने वाला होता है। सर्वप्रथम वह ही प्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति के निमित्त मिलने पर सम्यग्दृष्टि होता हुआ असंख्येय गुण कर्म निर्जरा करने वाला होता है। **गोम्मट्टसार जीवकाण्ड** में **आचार्य नेमिचन्द्रजी** ने ‘**सम्मत्तुपत्तीए**’ अर्थात् सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय सातिशय मिथ्यादृष्टि असंख्यात गुणी निर्जरा का प्रथम स्थान स्वीकार किया है। इस प्रकार आगम में टीका ग्रन्थों से सातिशय मिथ्यादृष्टि प्रथम स्थान में गुणश्रेणी निर्जरा की अपेक्षा विवक्षित है ऐसा सिद्ध होता है लेकिन **आचार्य उमास्वामीजी** ने **तत्त्वार्थसूत्र** में सम्यग्दृष्टि शब्द दिया है इससे हो सकता है चतुर्थ गुणस्थानवर्ती प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि विवक्षित हो। इन दोनों मान्यताओं को मानकर विचार करेंगे तो सर्वप्रथम यह प्रश्न आता है कि इस प्रथम स्थान वाले की असंख्यातगुणी निर्जरा किसकी अपेक्षा अधिक होती है? इसके समाधान में यदि ‘सम्यग्दृष्टि’ को विवक्षित करेंगे तो उसकी निर्जरा प्रथमगुणस्थानवर्ती अन्तिम समय में स्थित अनिवृत्तिकरण परिणाम वाले जीव की अपेक्षा निर्जरा होती है ऐसा सिद्ध होगा किन्तु यदि ‘सम्यग्दृष्टि’ के प्रथम स्थान में सम्यक्त्व की उत्पत्ति वाले सातिशय

मिथ्यादृष्टि को विवक्षित करते हैं क्योंकि **सम्मत्तुप्पीए** से वही ग्रहण में आयेगा। अतः उसकी असंख्यात गुणी निर्जरा अपूर्वकरणादि सोपान पंक्ति पर चढ़ते समय बहुत कर्मों की निर्जरा करने वाले की अपेक्षा स्वीकृत होगी।

उक्त विषय में एक प्रश्न आ सकता है कि अभव्य जीव जिसके चार लब्धियाँ हो जाती हैं और ये चार लब्धियाँ भव्य-अभव्य दोनों के सामान्य रूप से होती हैं कहा भी है—“**भव्वाभव्वेसु सामण्णा**” उसके भी बहुत कर्मों की निर्जरा होती है क्या? आचार्य कहते हैं यह प्रश्न ठीक नहीं है क्योंकि भव्य जीव के ही करण लब्धि होती है अभव्य के नहीं होती। सातिशय मिथ्यादृष्टि भव्य जीव ही होता है उसी के बहुत कर्मों की निर्जरा विवक्षित है चार लब्धि प्राप्त अभव्य जीव नहीं। यदि उसको विवक्षित करेंगे तो अभव्य जीव के भी असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा मानना पड़ेगी जो कि आगम मान्य नहीं है।

उक्त विषय में एक बात अवश्य सिद्ध हो रही है कि सातिशय मिथ्यादृष्टि विवक्षित होने पर मिथ्यात्व के उदय में असंख्यातगुणी निर्जरा मानी गई है क्योंकि अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय तक भी मिथ्यात्व का उदय रहता है। यह सिद्ध हुआ।

उत्थानिका—अब पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा नहीं होगी तो किस प्रकार मोक्ष होगा, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—

णागफणीए मूलं णाङ्णितोएण गब्भणागेण।

णागं होदि सुवण्णं धम्मं तं भच्छवाएण ॥२३१॥

अन्वयार्थ— (णागफणीए मूलं) नागफनी की जड़ (णाङ्णितोएण) हथिनी का मूत्र (गब्भणागेण) सिंदूर द्रव्य (णागं) नाग (सीसा धातु) (तं धम्मं) यदि पुण्य है तो (भच्छवाएण) धोंकनी से अग्नि पर तपाने पर (सुवण्णं होदि) स्वर्ण बन जाता है।

अर्थ—नागफणी, थूहर की जड़, हथिनी का मूत्र, गर्भनाग अर्थात् सिन्दूरद्रव्य और नाग अर्थात् सीसा धातु इनको धोंकनी से अग्नि पर तपाने पर यदि पुण्योदय हो तो स्वर्ण बन जाता है।

सिंदूर नाग-फणि की जड़ ढूँढ़ लाओ,

औ मूत्र भी हथिनि की उनमें मिलाओ।

ज्यों धोंकनी धुनकती रस प्राप्त होता,

सीसा सुवर्ण बनता जब भाग्य होता ॥२३१॥

व्याख्या—आत्मख्यातिकार **आचार्य अमृतचंद्र स्वामी** की टीका में ये गाथा उपलब्ध नहीं है। इस गाथा में स्वर्ण बनाने की प्रक्रिया का कथन है, यह स्वर्ण बनाने की प्रक्रिया आज की नहीं किन्तु चाहे चतुर्थ या पंचमकाल हो ऋषि, महाऋषि के काल में भी सोना बनाने की विधि ज्ञात थी। यह नागफणी एक प्रकार की फनादार वनस्पति होती है, तो उसकी जड़ तथा हथिनी जो गर्भवती है उसका

मूत्र गर्भनाग अर्थात् सिंदूर द्रव्य और नाग अर्थात् सीसा धातु इन्हें मिला कर “**धम्मतं भच्छवाएण**” अर्थात् धोकनी से अग्नि पर तपाने पर अच्छे ढंग से धोंकते चले जाओगे और यदि पुण्योदय हुआ, तो यह सामग्री स्वर्ण बन जाती है। ध्यान रखना मात्र इन सब की मात्रा मिला कर स्वर्ण बनता होता तो सभी लोग बनाने लग जाते, लेकिन इसकी विधि से बनाने के बाद भी स्वर्ण तब तक नहीं बनेगा, जब तक पुण्य का तीव्र उदय नहीं रहेगा। पुण्योदय होने पर भी यदि स्वर्ण बनाने की विधि में कुछ गड़बड़ होगा, तो भी नहीं बनेगा। उसमें कुछ बातें ऐसी हैं, जैसे उसमें लोहे का सम्पर्क नहीं रहना चाहिए। चाकू से नींबू बना दिया, तो उसमें भी गड़बड़ हो सकती है।

दृष्टान्त—जैसे-एक व्यक्ति थोड़ा गर्विला सा था, अपने गुरु के द्वारा स्वर्ण की प्रक्रिया बताने पर कहता है कि हम तो कर लेंगे, उसने सब कुछ करके देख लिया, बना ही नहीं तो गुरु महाराज पर क्रुद्ध हो गया, दस-बारह साल हो गये, जब गुरु मिले तो बताया, कि आपने जैसा कहा, वैसा ही किया, तो भी स्वर्ण नहीं बना। आपने झूठ बताया था। गुरु महाराज ने कहा, तुमने क्या-क्या, कैसे-कैसे किया था? उसने सब कुछ बता दिया, गुरु महाराज ने कहा, हमने तुम्हें नींबू के रस का पुट देने को कहा था, लेकिन चाकू से बना करके देने को थोड़े ही कहा था, अन्त में लोहे का स्पर्श तो होना ही नहीं चाहिए, वह कहता है कि यह पहले क्यों नहीं बताया? गुरु ने कहा कि जब मैं विधि बता रहा था, उस समय तो कह रहे थे, कि मुझे समझ में आ गया, मैं सब कर लूँगा, उस्ताद जो हैं वे कभी-कभी एकाध चीज बताते नहीं हैं, असल में ये सारी की सारी बातें मोक्षमार्ग में बहुत कठिन होती हैं। जीवन का अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाये, तो भी काम हो सकता है और जीवन का समय अधिक हो तो भी वह अपर्याप्त अर्थात् कम पड़ सकता है। क्या करें? निमित्त के ऊपर सब कार्य डिपेण्ड (निर्भर) हों ऐसा नहीं, सब कुछ को अनुपात से मिलाने के उपरान्त भी आचार्य कहते हैं पुण्योदय के बिना यह संभव नहीं, बाहर से निमित्तों का संग्रह करना अलग वस्तु है, किन्तु जिस निमित्त के माध्यम से भीतर का उपादान भी उस रूप हो जाये, यह बात भी ध्यान रखना चाहिए।

असंख्यात लोक प्रमाण अध्यवसाय स्थान माने जाते हैं और अनुभाग की अपेक्षा पूछो, तो वह अनन्त में आ जाता है, क्योंकि अनुभाग हमेशा-हमेशा अनन्त होता है, कैसे क्या किया जाये? सोचा जाये, कुछ किया नहीं जा सकता, मात्र विकल्प किया जा सकता है लेकिन कार्य संभव नहीं होता। नागफणी का मूल अर्थात् थूहर की जड़ और नाग यानि नाग सिंदूर, नाग का अर्थ हाथी भी होता है। जैसे स्वर्ण का नाम हेम, कुन्दन कलधौत हिरण्यगर्भ आदि-आदि ये सभी स्वर्ण के पर्यायवाची होते हुए भी एक जाति के नहीं हैं। कलधौत एक चाँदी जैसा सफेद स्वर्ण होता है, वह मिलता नहीं है, लेकिन होता है।

जैसे सफेद रंग का कौआ होता है, उसी प्रकार सफेद स्वर्ण भी होता है। स्वर्ण कहने से आप लोगों की पीले स्वर्ण की ओर ही दृष्टि जाती है, किन्तु ऐसा नहीं समझना चाहिए। कुछ लोग सफेद-

सफेद गहनें पहन करके आते हैं, वह कलधौत नाम का स्वर्ण हो सकता है और यह स्वर्ण से भी मँहगा होता है। सेठ साहूकारों को पूछ लो, अपने आप मालूम पड़ जायेगा, हमने कहीं पढ़ा था कि स्वर्ण कई प्रकार के होते हैं। कुन्दन नामक स्वर्ण बहुत ही मुलायम होता है, सोने में सुहागा कहते हैं, तो उसमें सुगंधी रहती है और एक कुमकुम जैसे-लाल रंग का भी स्वर्ण होता है, कुन्दकुन्द का कुन्दन, कुन्दा-कुण्डा ये अलग-अलग हैं। पुण्य के अभाव में स्वर्ण नहीं बनता है, इसी प्रकार आत्मा को कंचन का रूप देना है, तो उसके लिए भी पुण्य की आवश्यकता होती है और इस विषय को दृष्टान्त के बाद दार्ष्टान्त कहने के लिए आगे दो गाथाएँ आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा कही जा रही हैं।

उत्थानिका—आगे दृष्टान्त के द्वारा दार्ष्टान्त को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

कम्मं हवेइ किट्टं रागादी कालिया अह विभावो।

सम्मत्तणाणचरणं परमोसहमिदि वियाणाहि ॥२३२॥

झाणं हवेइ अग्गी तवयरणं भत्तली समक्खादो।

जीवो हवेइ लोहं धमिदव्वो परमजोगीहिं ॥२३३॥

अन्वयार्थ—(कम्मं किट्टं) कर्म कीट है (रागादी) रागादिक (विभावो) विभाव (परिणाम) (कालिया) कालिका (हवेइ) है (अह) और (सम्मत्तणाणचरणं) सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र उस कर्म कालिमा को नष्ट करने की (परमोसहं) परमौषधि है (इदि) यह (वियाणाहि) जानना चाहिए।

अन्वयार्थ—(झाणं अग्गी) ध्यान अग्नि (हवेइ) है (तवयरणं) तपश्चरण (तप चारित्र) (भत्तली) धौंकनी (समक्खादो) जानना चाहिए। (जीवो लोहं) जीव लौह (हवेइ) है (परमजोगीहिं) परमयोगियों के द्वारा (धमिदव्वो) धौंकना चाहिए (अर्थात् कर्मों का नाश करने के लिए आत्मा का ध्यान करना चाहिए)।

अर्थ—द्रव्यकर्म तो कीट है, रागादि-विभावपरिणाम कालिका है, भेदाभेदरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र नाम की परमौषधि है ऐसा जानो। वीतराग-विकल्परहित-समाधिरूप जो ध्यान है वही अग्नि है और आसन्न-भव्यजीवरूप लोहा है। उस भव्य लोहे का पूर्वोक्त सम्यक्त्वादिरूप औषध तथा ध्यानरूप अग्नि के साथ संयोग मिलाकर परमयोगियों को बारह प्रकार के तपश्चरणरूप धमनी में धमना चाहिए, इस प्रकार करने से जैसे लोहा स्वर्ण बन जाता है वैसे ही भव्यजीव को मोक्ष हो जाता है। इसमें भट्ट और चार्वाक मत वालों को सन्देह नहीं करना चाहिए।

है अष्ट कर्म मल किट्ठ असार सारा,

लोहा बना पतित आतम है हमारा।

रागादि ही कलुष कालिख मात्र जानो,

सम्यक्त्व-बोध-व्रत औषध पात्र मानो ॥२३२॥

सद्ध्यान की धधकती अग्नी जलाओ,
 त्यों धोंकनी तपमयी तुम तो चलाओ।
 योगी बनो सतत आतम गीत गालो,
 ज्योतिर्मयी शुचिमयी निज को बनालो ॥२३३॥

व्याख्या—कम्मं इवेइ किट्टं द्रव्य कर्म तो कीट है, रागादि विभाव परिणाम कालिका है, भेदाभेद रूप सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र नाम की औषधि है, वीतराग समाधिरूप ध्यान है, वही अग्नि है और आसन्न भव्य जीव लोहा है, उस भव्य लोहे का सम्यक्त्वादि औषध तथा ध्यान रूप अग्नि के साथ संयोग मिलाकर परम योगी लोगों को तपश्चरणरूपी धमनी में धमना चाहिए। इस प्रकार करने से जैसे लोहा स्वर्ण बन जाता है, वैसे ही योगी को मोक्ष हो जाता है।

दृष्टान्त—जैसे बाती के ऊपर किट्ट जम जाता है अथवा बर्नल के ऊपर किट्ट जम जाता है और गिलास के ऊपर कालिमा जम जाती है, ये दो प्रकार की विकृतियाँ मानी जाती हैं। जीव की भी दो प्रकार की विकृतियाँ होती हैं, किट्ट और कालिमा यानि द्रव्य कर्म और रागादि वैभाविक भाव कर्म। वैभाविक परिणति या रागद्वेष भाव कालिमा रूप हैं और आठ प्रकार के कर्म किट्ट हैं या विभाव हैं। अब परमौषधि क्या है? तो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र परमौषधि है। यदि रोग को दूर करना है और औषधि लेना नहीं चाहते हैं, तो रोग कैसे दूर होगा? जबकि इसी के द्वारा दुःख दूर होगा। जो इसका सेवन करते हैं, वे रोग से मुक्त हो जाते हैं। स्तत्रय रूपी औषधि लगाने से ही किट्ट कर्म तथा रागादि कालिमा दूर हो आत्मा कंचन हो जाती है और हमें तो आत्मा को कंचन जैसा बनाना है, लेकिन औषधि नहीं लेना है, तो यह संभव नहीं है। आत्मा का स्वभाव ही है निरोग धाम अतः स्तत्रय का सेवन करोगे तो आत्मा निरोग धाम हो जायेगा। इसलिए द्रव्य दृष्टि रखो, सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र मानना यह तो भेद दृष्टि से है। कारण को कारण के रूप में और कार्य को कार्य के रूप में स्वीकारना चाहिए। यहाँ सम्यग्दर्शनादि तीनों को औषधि ही नहीं किन्तु परमौषधि कहा है। यहाँ अग्नि कौन सी है? ध्यान रूपी अग्नि है। जब तक अग्नि लगी रहेगी, तब तक जीवन में जलना पड़ेगा। आत्मा का जलन स्वभाव तो है नहीं, तो जिस प्रकार अग्नि शरीर को जलाती है, उसी प्रकार ध्यानाग्नि भी आत्मा के कर्म रूपी ईंधन को जलाती है। स्वरूप तो आत्मा में है, जो त्रैकालिक शुद्ध है। हमारे यहाँ तो ये कथंचित् बात बन जायेगी लेकिन जो एकांत से मानते हैं, कि आत्मा तो त्रैकालिक शुद्ध है तो वहाँ कैसे बनेगी? यह चिन्ता का विषय है, क्योंकि आप लोगों ने अभियान छोड़ रखा है, कि आत्मा त्रैकालिक शुद्ध है, यदि आपके अनुसार आत्मा त्रैकालिक शुद्ध है, तो ध्यान रूपी अग्नि कहाँ पर लगाओगे? स्वभाव में या विभाव में। स्वभाव और विभाव दोनों एक समय में तो हो नहीं सकते, ध्यान को अग्नि कहा है, अतः सिद्धों में ध्यान नहीं होता है, यह सिद्ध हुआ तथा संसार में सिद्धावस्था नहीं होती, यह भी सिद्ध है। उसी सिद्धावस्था को प्राप्त करने के लिए ही ध्यानरूपी अग्नि लगानी होती है, जब तक अग्नि नहीं

लगाओगे, तब तक उसमें पाक नहीं हो सकता। धोंकनी क्या है? बारह प्रकार का तप धोंकनी है। यहाँ तप को धोंकनी रूप में तथा ध्यान को अग्नि रूप में स्वीकार किया है। जीव हो गया लोहा, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का लोहे के ऊपर लेप कर दो, इस प्रकार करके आठ कर्म रूपी किट्ट कालिमा को परमयोगी धोंकनी के माध्यम से जलाते हैं।

धमिदव्वो परमजोगीहिं कहा है, परम योगी कहा है, परमभोगी नहीं कहा। अभी घर में हैं और बालयोगी कह देते हैं, यह बात उन्हीं लोगों के दिमाग में उठती है, जो अभी योगी नहीं है। अभी तक हमारा ध्यान उस तरफ नहीं गया था, स्तत्रय, तप, ध्यान, परमयोगी आदि-आदि सब आ गये। संघ में इनको ही ध्यान में रखना आवश्यक है।

एक गाथा के बारे में मैं आप लोगों को बता देता हूँ, जिनमें इन तीनों गाथाओं का भाव आया है। यह विषय मुक्तागिरि में पकड़ में आया। **द्रव्यसंग्रह** ग्रंथ की गाथा है—**दुविहंपि मोक्ख हेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा**। यह अभी बीसवीं शताब्दी की विशेषता है, कि अन्त-अन्त में मिश्रण आविष्कार करके, यह थीसिस लिख करके यूनिवर्सिटी में कर दिया गया। वह अब अमिट हो गया। उस गाथा में मुणी शब्द के स्थान पर गुणी कर दिया और उसका अर्थ गुणी निकाला गया और गुणी को चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सिद्ध किया गया, क्योंकि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान गुण से सहित होता है, इसमें कोई संदेह नहीं है। अतः परमसमाधि और निर्विकल्पसमाधि रूप ध्यान भी चतुर्थ गुणस्थान में होता है, इस बात की सिद्धी के लिए यह आयाम किया गया, अब अपने को यह सोचना है, देखना है, कि वह कौन सा ग्रन्थागार है, जहाँ पर **मुणी** की जगह गुणी शब्द आया हो? अपने शब्दों, सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए ऐसे प्रयास किये जाते हैं, जो कि उचित नहीं है।

दृष्टान्त—जैसे—एक व्यक्ति व्याकरणाचार्य था, उसके उच्चारण में थोड़ी गड़बड़ी होती थी, पुंसि को फुंसि कहता था। एक बार वह दूसरे व्याकरणाचार्य के सामने बोल पड़ा, तो उन्होंने कहा कि आपको पुंसि बोलना नहीं आता क्या? तो वह कहता है कि हमने बत्तीस प्रकार की व्याकरण पढ़ी है, उसमें से एक व्याकरण में ऐसा आता है। अब चूकी वह फुंसि बोलता था पुंसि के लिए और अपने शब्द की सिद्धि करना थी, तो अलग से उस ग्रन्थ का नाम अपने मन से रख दिया और यह ग्रन्थ कहाँ मिला? वह कहता है जब आपको ये ही ज्ञात नहीं है कि कितने प्रकार के व्याकरण ग्रन्थ हैं, तो फिर ये शब्द गलत है, ये कैसे कह रहे हो? अब अपने को व्याकरणाचार्य मत लिखो। आप प्रीवियस हैं, अभी पूर्ण व्याकरण नहीं पढ़ी। हम आपको छह महीने में ढूँढ़ करके दिखा देंगे, अभी मैं भूल रहा हूँ ढूँढ़ूँगा और उसने क्या किया? सप्तमी में पुंसि शब्द का फुंसि शब्द विकल्प से लिख कर ग्रन्थ को छह महीने पहले कहीं गाढ़ करके रख दिया और फिर उनके सामने निकाला, जीर्ण-शीर्ण जैसा हो गया, यह अब पुरातत्त्व जैसा हो गया, उसमें खोल करके देखा तो विकल्पेन फुंसि लिखा था, पुरातत्त्व ऐसा ही होता है। आज कल मनगढ़ंत पुरातत्त्व चलता है, इसे कोई भी इन्कार नहीं कर सकता। इतिहासकार

कितना तोड़ मरोड़ कर रख दें, तो पता नहीं चलता। आपका यह विषय ही नहीं है और देखते-देखते सब सफा कर सकते हैं और कहा भी जा सकता है, तथा पुष्टि के लिए दस व्यक्ति खड़े भी किये जा सकते हैं, यह सब इतिहास नहीं, ध्यान रखो ये तो इति-हास्य है, हास्य का विषय है, हँसी के पात्र बनेंगे। उन्हें निष्पक्ष होना चाहिए, जैसा है वैसा कहना चाहिए। वैसे भी आज पूर्ण इतिहास थोड़ी न मिला है अपन लोगों को...। फिर भी सब चलता रहता है, **मुणी** के स्थान पर **गुणी** शब्द कहा जा रहा है। उसे हम एकदम गलत तो नहीं कह सकते, क्योंकि हमने द्रव्यसंग्रह की सभी प्रतियों को नहीं देखा है, लेकिन आज तक जो भी कृति देखी है, उसके अनुसार तो **मुणी** ही है, यदि गुणी लेंगे तो दोनों प्रकार के मोक्षमार्ग गृहस्थ अवस्था में सिद्ध हो जायेंगे **दुविहंपि मोक्ख हेउं** और भेदाभेद रूप या निश्चय मोक्षमार्ग व्यवहार रूप गृहस्थ अवस्था में मानना पड़ेगा। जब निश्चय मोक्षमार्ग भी घर में ही हो जायेगा तो फिर तीसरा मार्ग कौन-सा रहेगा, जो साधु की अवस्था में बनेगा? फिर व्यवहार की भी क्या आवश्यकता है। निश्चय तो पहले ही हो जाता है और व्यवहार तो आ जाता है, ऐसा कुछ लोग कहते हैं, क्योंकि जैसे पहले अग्नि होती है, बाद में धुआँ होता है, पहले अग्नि अर्थात् निश्चय होता है, धुआँ अर्थात् व्यवहार बाद में आ जाता है, अतः निश्चय कारण और व्यवहार कार्य है, जैसे-अग्नि कारण और धुआँ कार्य है और धुँए की आवश्यकता है ही नहीं आप तो अग्नि की बात करो, अर्थात् सीधे निश्चय की बात करो ना और निधूम अग्नि को देख लो, अग्नि पहले होना चाहिए, धुआँ तो उसमें होता ही नहीं और अब तो गैस आ गया अतः धुआँ और अग्नि के दर्शन ही नहीं है। अग्नि तो मिलेगी ही नहीं, इस प्रकार कथन को बहुत सावधानी के साथ करना चाहिए, यहाँ लोहे के रूप में आसन्न भव्य जीव को लिया है, आसन्न अर्थात् अति निकट भव्य, जो स्तत्रय प्राप्त करने की योग्यता को लिए हुए है, यहाँ जंग खाया लोहा नहीं लेना।

मुक्ति के अस्तित्व की व्यवस्था—भट्ट, चार्वाक आदि कुछ मतावलम्बी ऐसे हैं, जो मुक्ति को नहीं मानते हैं, उनके परिहार के लिए यहाँ कहा गया है कि कर्म भी हैं और कर्म का बंधोदय सत्त्व भी है तथा उसको नाश करने की प्रक्रिया भी है अर्थात् सब कुछ है। यहाँ लोहे के दृष्टान्त के साथ तीन गाथाओं से मुक्त होने की प्रक्रिया बताई गई है, जहाँ तक मुझे स्मरण है, कि **गोमट्टसार कर्मकाण्ड** के पूर्वार्ध में “**कणयोवले मलं वा ताणत्थित्तं सयं सिद्धं**” यह **आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी** जी ने लिखा है, इसमें **कनकोपल** शब्द आया है, कनकोपल अर्थात् स्वर्ण पाषाण, वहाँ यह सिद्ध किया है, कि स्वर्ण पाषाण से स्वर्ण का निर्माण किया जाता है, लेकिन यह भी ध्यान रखना, कि उस पाषाण में स्वर्ण को किसी ने कभी डाला नहीं है अर्थात् स्वर्ण की जिस प्रकार कोई प्रारम्भिक अवस्था नहीं है, उसमें अलग से डाला हुआ नहीं है, उसी प्रकार इन आठ कर्मों में और शरीर में आत्मा को किसी ने नहीं डाला है। जिस प्रकार कनक पाषाण अनादि से अपने आप में सिद्ध है, उसी प्रकार यह आत्म तत्त्व भी अनादिकाल से इस जड़ तत्त्व के साथ संयोग प्राप्त करके आया है।

यह गाथा द्रव्य व्यवस्था के लिए उदाहरण रूप में बहुत अच्छी है, इस गाथा में कनकोपल का उदाहरण देकर चार्वाक आदि मत वाले जो कर्म और आत्मा को इस रूप में स्वीकार नहीं करते हैं, उनके लिए समझाने का प्रयास किया है, क्योंकि जब तक हम अनादि से जीव में सहज रूप से कर्म सिद्ध नहीं करेंगे तब तक मुक्ति की साधना के सामने हमेशा प्रश्न चिह्न उठेगा, क्योंकि बुद्धि जीवी वर्ग इस बात को कभी भी स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है, अभी भी कई इंजीनियर छात्र आकर हमारे सामने प्रश्न रखते हैं और वे स्वाध्याय करते हैं तो प्रश्न भी करते हैं, यह तो निश्चित बात है कि आत्मा में कहीं ना कहीं अशुद्धि आई ही है और कभी ना कभी अशुद्धि आई है तो उसकी शुरुआत का समय भी निश्चित है, अतः इससे पहले आत्मा शुद्ध थी यह भी मानना पड़ेगा, जबकि शुद्ध होने के बाद अशुद्ध होने की नौबत आती ही नहीं। वे लोग पुद्गल के माध्यम से सिद्ध करना चाहते हैं लेकिन पुद्गल और आत्मतत्त्व में बहुत अन्तर है। पुद्गल तो शुद्ध होकर पुनः अशुद्ध दशा को प्राप्त कर सकता है किन्तु जीव एक बार कर्मों से मुक्त होने पर पुनः कर्म रूपी अशुद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता। अवतारवादी जो हैं वे इसी पुद्गल के उदाहरण से सिद्ध करते हैं कि मुक्त होने के उपरान्त भी उस जीव को ऐसा योग मिलता है कि पुनः संसार में आकर अपना कार्य करने लग जाता है, लेकिन ऐसा मानना ठीक नहीं है, इस विषय में हमेशा एक उदाहरण दिमाग में रखना चाहिए।

दृष्टान्त—जैसे एक बार दूध का घी बन गया, तो अब वह पुनः दूध नहीं बन सकता है। कोई कहे कि गैया को घी पिला देते हैं लेकिन ध्यान रखना गैया को यदि सीधा घी पिला दिया, तो गैया बच नहीं सकेगी। दूसरी बात वह घी फिर दूध बनेगा, उसने घी खा लिया, उसका रस बनेगा, रस से फिर दूध बनेगा, डॉयरेक्ट घी से दूध नहीं बना, ऐसा कहा जा रहा है, तो सीधे ज्यों का त्यों बनना चाहिए, लेकिन ऐसा नहीं होता, उसी प्रकार पुनः अवतार की बात भी नहीं बनती, सिद्ध नहीं होती। शुद्ध बनने के उपरान्त अशुद्ध बनने के निमित्त योग मिलना चाहिए, जबकि आत्मा को शुद्ध बनने के उपरान्त अशुद्ध होने के कोई निमित्त प्राप्त नहीं होते। समस्त निमित्त समाप्त हो चुके हैं। हाँ सिद्ध जीव के पास कर्म ग्रहण करने की शक्ति अभी भी विद्यमान है लेकिन वह शक्ति, शक्ति रूप में ही विद्यमान रहती है, वह कभी व्यक्त नहीं होती। अनंतकाल तक भी वह शक्ति कोई कार्य नहीं करेगी, क्योंकि उस शक्ति को उद्घाटित करने का वहाँ मिथ्यात्वादि कोई निमित्त नहीं है।

दृष्टान्त—जैसे—जिस समय जल ठंडा है, उस समय भी वह गर्म होने की शक्ति रखता है और जिस समय गर्म हो जाता है, उस समय ठंडा होने की शक्ति भी रखता है, क्योंकि जब गर्म रहेगा, तो ठंडा नहीं रहेगा और ठंडा रहेगा तो उस समय गर्म नहीं रहेगा। दोनों एक साथ मानोगे, तो सिद्धान्त में विरोध आयेगा, क्योंकि शीतोष्ण में से एक समय में एक ही परीषह हो सकता है।

भाद्रपद में दशलक्षण पर्व में नौवे अध्याय की वाचना के समय आप लोगों ने सुना होगा कि बाइस परीषहों में से एक साथ एक जीव को उन्नीस परीषह ही हो सकते हैं। निषद्या, शय्या, चर्या इन

तीनों में से एक और शीत, उष्ण में से एक रहेगा। जिस समय कपकपी लगती है उस समय दाह नहीं रहती। इसलिए बुखार आने के पहले कपकपी लगती है और जैसे-जैसे बुखार बढ़ता जाता है तो शरीर गर्म हो जाता है, फिर कँपकँपी समाप्त हो जाती है। इसलिए आप अपने उदाहरण को बांध करके रख लो, एक ही उदाहरण पर्याप्त था, ज्यादा नहीं देते हैं, ध्यान रखो। सब लोगों को मालूम पड़ गया है कि आपका उदाहरण उदाहरणाभास है, इसलिए अब दुबारा उदाहरण ना दीजियो। कपकपी लगने का अर्थ है वह एक स्थान पर केन्द्रीय भूत हो रहा है और धीरे-धीरे उष्णता बढ़ती जायेगी और एक समय ऐसा आयेगा कि वह कहेगा कि ये सब रजाई, चिट्ठाई आदि-आदि हटाओ। इसलिए शीत है तो उष्ण नहीं और उष्ण है तो शीत नहीं।

संस्मरण—ऐसे ही एक बार हमने भी महाराज जी गुरु ज्ञानसागरजी के सामने उदाहरण रखा था केटली का, कि दूध की केटली पर जहाँ हाथ से पकड़ते हैं उस हैण्डल पर एक लकड़ी का आवरण रहता है, वहाँ पर गर्म भी है और ठंडक भी है, तो उन्होंने कहा कि आवरण सहित नहीं होना चाहिए, आवरण सहित होने से वह केटली से अलग हो गया। फिर हमने एक उदाहरण और बताया। यहाँ पर जमीन का पत्थर ठंडा है और घिस दो, घर्षण कर दो तो गर्म हो जाता है, तो गुरु महाराजजी हँसने लगे और कहते हैं कि इतनी दूर का उदाहरण ठीक नहीं माना जाता। उदाहरण जो होता है, वह एकदेश होता है। कोई कहे सिद्धों के लिए कोई उदाहरण दे दो, तो हम उदाहरण कैसे देंगे? इसलिए न्यायकारों ने अनुमान के लिए उदाहरण को अनिवार्य रूप से नहीं माना है। उन्होंने कहा—**बाल बोधाय कथ्यते** अर्थात् बालबोध वालों को उदाहरण दिए जाते हैं। उस समय मैं महाराज से सीख रहा था। दो-तीन उदाहरण इस ढंग से दिए, तो वे कहने लगे कि हाँ, अब तुम्हें थोड़ा-थोड़ा न्याय समझ में आ सकता है, क्योंकि न्याय में तर्क-वितर्क तो है ही। इस प्रकार इन तीन गाथाओं में ये बताया कि स्वर्ण कैसे बनता है? जैसे लोहा स्वर्ण बन जाता है उसी प्रकार वीतराग निर्विकल्प-समाधि ध्यानरूपी अग्नि और आसन्न भव्य जीव लोहा है, उस भव्य रूप लोहे का पूर्वोक्त सम्यक्त्वादि रूप औषधि तथा ध्यानरूपी अग्नि के साथ संयोग मिला कर परम योगी को बारह प्रकार की तपश्चरण रूपी अग्नि में धमना चाहिए, इस प्रकार करने से जीव को मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

उत्थानिका—अब ज्ञानी के कर्म बंध नहीं होता, उसे शंख के दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं—

भुंजंतस्सवि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिये दव्वे ।
 संखस्स सेदभावो णवि सक्कदि किण्णगो कादुं ॥२३४॥
 तह णाणिस्स वि विविहे सच्चित्तचित्तामिस्सिये दव्वे ।
 भुंजंतस्सवि णाणं णवि सक्कदि रागदं णेदुं ॥२३५॥
 जइया स एव संखो सेदसहावं सयं पजहिदूण ।
 गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे ॥२३६॥

जह संखो पोग्गलदो जइया सुक्कत्तणं पजहिदूण।

गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे ॥२३७॥

अन्वयार्थ— (विविहे) [जैसे शंख] अनेक प्रकार के (सच्चित्ताचित्तमिस्सिये) सचित्त, अचित्त एवं मिश्र (दव्वे) द्रव्यों को (भुंजंतस्सवि) भक्षण करता हुआ भी (संखस्स) शंख का (सेदभावो) सफेदपना (किण्णगो कादुं) काला करने में कोई भी (सक्कदि) समर्थ (णवि) नहीं है।

(तह) उसी प्रकार (विविहे) अनेक प्रकार के (सच्चित्ताचित्तमिस्सिये) सचित्त, अचित्त एवं मिश्र (दव्वे) द्रव्यों को (भुंजंतस्सवि) भोगते हुए भी (णाणिस्स) ज्ञानी के (वि) भी (णाणं) ज्ञान को (रागदं) रागरूप (णेदुं) करने में (णवि सक्कदि) कोई भी समर्थ नहीं।

(स एव संखो) वही शंख (जइया) जब (सयं) स्वयं (सेदसहावं) श्वेत स्वभाव को (पजहिदूण) छोड़कर (किण्हभावं) कृष्ण भाव को (गच्छेज्ज) प्राप्त करे (तइया) तब (सुक्कत्तणं) सफेदपने को (पजहे) छोड़ देता है।

(जह) जैसे (जइया) जब (संखो) शंख (पोग्गलदो) पौद्गलिक (सुक्कत्तणं) श्वेतपने को (पजहिदूण) छोड़कर (किण्हभावं) कृष्णपने को (गच्छेज्ज) प्राप्त करे (तइया) तब (सुक्कत्तणं) सफेदपने को (पजहे) छोड़ देता है।

अर्थ—जैसे शंख अनेक प्रकार के सचित्त, अचित्त व मिश्र द्रव्यों का भक्षण करता है तो भी उन वस्तुओं के खाने मात्र से अपने श्वेत स्वभाव को छोड़कर काला नहीं हो सकता, उसी प्रकार सचित्त, अचित्त व मिश्र द्रव्यों का भोग करते हुए भी उस ज्ञानी का ज्ञान रागरूप नहीं हो सकता है। किन्तु वही शंख जब श्वेतपने को छोड़कर कृष्णरूप में परिणमन करता है, तब उसके श्वेतपना नहीं रहता। उसी प्रकार ज्ञानी भी यदि अपने ज्ञान स्वभाव को छोड़कर अज्ञानरूप परिणमन करता है तो अवश्य अज्ञानी बन जाता है।

जैसा सफेद वह शंख सुशोभता है,
निर्जीव जीवमय द्रव्य सुभोगता है।
कोई नहीं धवलता उसकी मिटाता,
है कृष्णता न उसमें पुनि डाल पाता ॥२३४॥

नाना अचेतन सचेतन भोग भोगे,
ज्ञानी मुनीश मुनि के-व्रत पा अनोखे।
ऐसा विबोध मुनि का डिग क्योँ सकेगा?
रागाभिभूत कर कौन उसे सकेगा? ॥२३५॥

मानो कि शंख खुद ही निज से चिगेगा,
आत्मीयता धवलता यदि वो तजेगा।
तो कृष्णता कलुषता उसमें उगेगी,
वैभाविकी परिणती फिर क्यों रुकेगी? ॥२३६॥

निर्जीव शंख खुद वो निज से चिगेगा,
आत्मीयता धवलता यदि हा! तजेगा!
तो कृष्णता कलुषता उसमें उगेगी,
वैभाविकी परिणती फिर क्यों रुकेगी ॥२३७॥

व्याख्या—यहाँ ज्ञान गुण की विशेषता चल रही है। शंख का दृष्टान्त देकर यह बतलाया जा रहा है कि ज्ञानी का क्या स्वरूप होता है और क्या होना चाहिए? शंख के दृष्टान्त द्वारा ज्ञानी के कर्म बंध नहीं होता, क्यों नहीं होता है इसे भी स्पष्ट कर रहे हैं। दृष्टान्त में शंख को रखा है। शंख दो प्रकार के होते हैं— काले व सफेद और सचित्त और अचित्त भी होते हैं। जैसे उनके रंग को कोई परिवर्तित नहीं कर सकता उसी प्रकार ज्ञानी की दशा में मात्र निमित्त के द्वारा कोई परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। जैसे—शंख अनेक प्रकार के सचित्त व अचित्त मिश्र द्रव्यों का भक्षण करता है तो वस्तुओं के खाने मात्र से अपने श्वेत स्वभाव को छोड़कर काला नहीं हो सकता। उसी प्रकार सचित्त, अचित्त व मिश्र द्रव्यों का भोग करते हुए भी उस ज्ञानी का ज्ञान राग रूप नहीं हो सकता है, किन्तु वही शंख जब श्वेतपने को छोड़ कर कृष्ण लेप से स्वयं परिणमन करता है, तब उसके श्वेतपना नहीं रहता, इसी प्रकार निर्जीव शंख भी कृष्ण स्वभाव परद्रव्य के लेप के वश से अपने अन्तरंग उपादान परिणाम के आधीन होता हुआ श्वेत स्वभाव को छोड़ कर काला बनने चले, तो श्वेतपने को छोड़ देता है। उसी प्रकार उस शंख के समान ज्ञानी भी यदि अपने ज्ञान स्वभाव को छोड़ कर अज्ञान रूप परिणमन करता है, तो अवश्य अज्ञानी बन जाता है।

भुंजंतस्सवि विविहे अर्थात् शंख सचित्त, अचित्त व मिश्र द्रव्यों को भोगता हुआ भी अपने श्वेतभाव को नहीं छोड़ता है और उसको कोई भी कृष्ण नहीं बना सकता। कृष्ण बनाना चाहे तो भी नहीं बना सकता। संभव है कि जो सचित्त और अचित्त पदार्थ हैं, वे काले भी हो सकते हैं उनका सेवन करता हुआ भी वह सफेद शंख अपनी सफेदी को नहीं छोड़ता, उसे कोई छुड़वाना चाहे तो भी यह संभव नहीं, क्योंकि उसका परिणमन ही ऐसा है। वह उसके अपने उपादान पर निर्भर होता है। भोग भूमि में तीन प्रकार के विकल्प हैं। उत्तम, मध्यम और जघन्य। उत्तम भोगभूमि में रहने वाले मनुष्य सफेद शंख के वर्ण वाले होते हैं और मध्यम भोग भूमि वाले चीनपट्ट अर्थात् पीले रंग के होते हैं और जघन्य भोगभूमि में नीले या पद्म रंग वाले होते हैं। अब जिनका पीला वर्ण है, वह भोजन में मान लो दूध, भात सफेद रंग का सेवन करते हैं तो क्या उनका पीला वर्ण सफेद बन जाता है? नहीं।

“षट्खण्डागम में गुणप्रत्यय व भवप्रत्यय की व्याख्या की है।” उसमें कहा है कि जो गुण प्रत्यय है वह भिन्न पदार्थों के माध्यम से परिवर्तित होता रहता है और भव प्रत्यय वह है जो भव के आदि से रहेगा वही भव के अन्त तक रहेगा। आप उससे कितना भी विपरीत सेवन करो, तो भी वह वैसा ही रहेगा। जैसे—कौए को दूध-भात भी खिला दो, तो भी उसमें गुण प्रत्यय रूप परिवर्तन नहीं होगा, उसका तो काला रंग ही रहेगा, उसी प्रकार जो उपादान रूप से सेवन करते हैं, उनका रंग कुछ भी हो, किन्तु भव प्रत्यय के रूप में जिसको जो रंग प्राप्त हुआ है उसमें किसी भी प्रकार से परिवर्तन नहीं होगा यह कर्म सिद्धान्त है। वह कुछ परिवर्तन नहीं कर सकता ऐसा भी नहीं, मोटा-दुबला आदि तो करता है किन्तु गुण प्रत्यय हो तो परिवर्तन होता है लेकिन भव प्रत्यय हो तो नहीं। उसमें भी मान लो निकाचित जैसा है तो उतना भी नहीं होता। उत्तम, मध्यम और जघन्य भोग भूमि का भोजन कुछ भी हो, वहाँ वर्ण में परिवर्तन नहीं आयेगा, उसी प्रकार यहाँ पर उदाहरण दिया जा रहा है, कि उपादान में यदि सफेदी है और सचित्त अचित्त या मिश्र पदार्थ भी सेवन करे तो शंख का वह श्वेतभाव जिस प्रकार नहीं मिटता और उसको मिटाया भी नहीं जा सकता उसी प्रकार आगे सम्यग्दृष्टि के लिए बात कही जा रही है।

पुरुषार्थ की एक सीमा होती है—वर्तमान में जो हमारा परिणाम है वह कथञ्चित् स्वाश्रित है और कथञ्चित् पराश्रित है। अपने पुरुषार्थ की एक सीमा होती है, उस सीमा के बाहर हम जा नहीं सकते, लेकिन सीमा के भीतर भी कार्य (पुरुषार्थ) नहीं कर सकते, ऐसी व्याप्ति नहीं बनाना चाहिए, यह एकांत से नहीं कहना चाहिए। हाँ, पुरुषार्थ की सीमा कर्म के ऊपर निर्भर है। यदि मान लो निकाचित कर्म उदय में आ गया तो कुछ नहीं कर सकते। अब देख लो हमेशा-हमेशा आप ये सोचते हैं कि जो रोगी है वह संयम नहीं ले सकता, बुद्धि नहीं तो आगे नहीं पढ़ सकता, आदि-आदि, किन्तु देवों में तो उच्च गोत्र का ही उदय होता है और शरीर भी निरोग रहता है तो संयम ले लेना चाहिए और देवों में कोई अपवाद भी नहीं होता है और उन्हें भूख भी बहुत कम लगती है, तो उन्हें संयम ले लेना चाहिए, ध्यान में बैठ जाना चाहिए और उनके भी संयम-लब्धिस्थान क्यों नहीं बनता। आचार्य कहते हैं देव गति नामकर्म का उदय ही ऐसा है, कि वह स्वप्न में भी संयम लेने की सोच नहीं सकता। **धवला जी** में लिखा है “**तत्र संयमगंधोऽपि न वर्तते**”, मतलब वहाँ ऐसा असंयम है कि उन्हें संयम की गंध भी नहीं आ सकती अर्थात् देवों में संयम का अत्यन्त अभाव है। देव गति की यह विशेषता है कि वहाँ पर संयम-लब्धिस्थान की गंध ही नहीं फूट सकती। वे देवों के ऋषि कहे जा सकते हैं, लेकिन मुनियों के ऋषि नहीं बन सकते। लौकिक देवों को यह देवर्षि नाम नियोग से मिल गया है। भोगभूमि में भी अतिचार, अत्याचार, हिंसा आदि नहीं है तो वहाँ पर संयम होना चाहिए, वे भी मनुष्य ही हैं, ऋद्धिधारी हैं, यहाँ के मनुष्य तो ऋद्धिधारी नहीं होते हैं। भोगभूमि के मनुष्यों में ऋद्धि पायी जाती है लेकिन वे संयम की एक कणिका को भी प्राप्त नहीं कर सकते। ये बहुत अच्छा प्वाइंट

है कि मनुष्य हो कर भी भोगभूमि में अभिशाप जैसा है कि संयम नहीं ले सकते, क्योंकि वहाँ पर भोग की प्रधानता है, यहाँ कर्म भूमि में भी जो राजेश्वरी, सो नरकेश्वरी ऐसा कहा है। भोगभूमि में सभी अपनी सीमा में काम करते हैं, स्वदार संतोषी होते हैं, यहाँ आने मात्र से संयमलब्धि हो जाती हो, ऐसा नहीं है। इसी को कर्मायत्त अवस्था बोलते हैं, यह फलानुभूति कर्म के ऊपर आधारित है, लेकिन एकान्त से हम भी कुछ नहीं कर सकते, ऐसा भी नहीं है, यह सोचो, विचार करो कि शंख को सफेद से काला कोई नहीं बना सकता, वह शंख कुछ भी सेवन कर ले, सफेद ही रहेगा, काली मिट्टी में रहेगा तो भी सफेद रहेगा, उसमें कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता। यहाँ पर निमित्त कुछ नहीं कर सकता, यह भी नहीं कहा जा रहा, किन्तु उसकी सीमा तक तो कार्य कर सकता है। वह दुबला या मोटा तो हो सकता है लेकिन जो ट्रेडमार्क (व्यापारिक चिह्न) सफेद का है उसे कोई नहीं मिटा सकता।

दृष्टान्त—अब आगे दार्ष्टांत को बताते हुए कहते हैं कि—ज्ञानी को कोई रागी नहीं बना सकता—

तह णाणिस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिये दब्बे।

भुंजंतस्सवि णाणं णवि सक्कदि रागदं णेदुं ॥२३५॥

अर्थात् जो वीतरागी, ज्ञानी होते हैं उनको कोई रागी नहीं बना सकता, ज्ञानी के ज्ञान को राग में प्रेरित कराने की क्षमता किसी के भी पास नहीं है। हजारों व्यक्ति मिल करके उन्हें रागी बना दें ये संभव नहीं, कितनी भी राग की बात आप वहाँ पर करो तो भी उन्हें रागी नहीं बना सकते। इतना उनका (मुनि का) बिलपॉवर होता है, आत्म शक्ति होती है, कि उन्हें कोई रागी नहीं बना सकता, यह स्वाश्रित पर्याय है। दूसरा कोई नोकर्म के माध्यम से कुछ नहीं कर सकता, यदि भीतर से मिथ्यात्व का उदय होगा तो उसे कोई रोक भी नहीं सकता, यह हमारी सीमा है कि बाहर से हमें कोई रोक करके रागी बनाना चाहे लेकिन यह संभव नहीं, किन्तु उपादान यदि राग का होगा तो कोई कुछ कर नहीं सकता, उसे कोई रोक नहीं सकता। यहाँ से कोई ग्याहरवें गुणस्थान में जाकर मरण को प्राप्त हो गया, उसके शुक्ल लेश्या है, यथाख्यात संयम है, वह छद्मस्थ वीतराग है और मरण को प्राप्त हो गया तो कहाँ चला गया? जहाँ पर प्रवीचार चलता है। मानलो वह सौधर्म, ईशान या सोलहवें स्वर्ग तक कहीं भी चला गया, तो संस्कार कौन-सा था? शुक्लध्यान, शुक्ल लेश्या, यथाख्यात संयम का संस्कार था, लेकिन वहाँ जाकर प्रवीचार में अन्तर्मुहूर्त में ही फँस जाता है। जबकि यहाँ उसने आठ वर्ष कम पूर्व कोटि वर्ष तक मुनि अवस्था में संयम का पालन किया है। अन्त-अन्त में यथाख्यात संयम के संस्कार भी पड़ गये और वहाँ देव गति में जाकर असंयम में फँस गया। अब एक सेकंड के लिए भी फुर्सत नहीं। हम यह कह रहे थे कि पुरुषार्थ की भी एक सीमा होती है। कर्म जब उदय में आ जाता है तो उसे कोई रोक नहीं सकता तज्जन्य भाव उत्पन्न होगा, लेकिन नोकर्म के माध्यम से परिवर्तन करना चाहें तो संभव नहीं, इसलिए हम कहते हैं कि “नोकर्म के अनुसार नहीं, किन्तु कर्म के अनुसार फल मिलता है” इससे यह स्पष्ट है कि भीतर जो कुछ भी कर्म होगा, उसके अनुसार ही कार्य होगा। कर्म को पुद्गल विपाकी

भी कहा है लेकिन नोकर्म विपाकी ऐसा किसी भी आचार्य ने नहीं कहा। इससे स्पष्ट है कि कर्म का आत्मा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, उसके अनुरूप परिणाम हुआ करते हैं, लेकिन स्वयं यदि परिवर्तन नहीं करना चाहें, तो कुछ भी नहीं हो सकता किन्तु जब परिवर्तन के योग्य भूमिका आ जाती है, तो उसी योग्य भूमिका में परिवर्तन आ जाता है, ऐसे कई उदाहरण आगम ग्रन्थों में अनुयोग द्वार पढ़ते समय मिलते हैं, कि कोई मुनि बन गया, स्तत्रय है लेकिन फिर से अव्रती हो गया तो क्यों हुआ? बाहर से कुछ नहीं हुआ, लेकिन भीतर से अविरति कहाँ से आ गई? बाहर से हमारा संकल्प है तो भी भीतर से अविरति आ जाती है तो यह आत्मा की कमजोरी है इसे पकड़ो। कर्म की बलजोरी और आत्मा की कमजोरी इन दोनों के साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है, तो आत्मा में असंयम आ जाता है और संयम-लब्धिस्थान मिट जाते हैं। फिर आप किसी प्रकार से कर्म के उदय में हस्तक्षेप नहीं कर सकते।

जो कहते हैं कि ज्ञानी सचित्त हो या अचित्त किसी भी वस्तु का सेवन करे इससे उसे कोई मतलब नहीं होता, क्योंकि वह तो खाता ही नहीं। ज्ञानी ज्ञानपन के अलावा कुछ करता ही नहीं, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। सामने बैठी हुई सभा सचित्त है और टेबिल, ग्रन्थ आदि सब अचित्त हैं। साथ में कोई मुनिराज हैं तो सचित्त का सेवन माना जायेगा और यथोचित्त अचित्त पदार्थ को देखना, स्पर्श करना आदि अचित्त का सेवन माना जायेगा। आपको कपड़े सहित देखना, सचित्त, अचित्त का सेवन हो गया। यह ग्रन्थ अचित्त है, शिष्य आदि सचित्त हैं और ग्रन्थ लिए शिष्य मिश्र हो गया इस प्रकार ज्ञानी सचित्त, अचित्त का सेवन करते हुए भी ज्ञान को रागरूप परिणत नहीं कराता है। यह उसकी स्वतंत्र सत्ता का प्ररूपण है।

दृष्टान्त—प्रसंग है **जम्बूस्वामी** का। महाराज जी ने जम्बूस्वामी की परीक्षा की थी, कि माँ की इच्छा पूरी कर दो, माँ कहती है, मुझे एक बार सासू बना दो, महाराज सब जानते थे, वे अकेले को बुलाना नहीं चाहते थे, फिर कथानक में तो ऐसा विषय आया कि चोर जो थे उनका भी मन परिवर्तित करना था, माँ व जो आठ रानियाँ थीं, वे सब कैसे तैयार होतीं? रचने और पचने की इस प्रकार दो बातें हैं, ये कथञ्चित् स्वाश्रित है, इतना अवश्य है कि निमित्त को देखने से मन में परिवर्तन आता है, मन कमजोर भी होता है और मन बलजोर भी हो जाता है और अन्ततः जम्बूस्वामी के साथ रानियाँ और चोर आदि सभी का मन परिवर्तित हो गया।

दृष्टान्त—जैसे कोई एक पक्का घड़ा है और कोई दूसरे के घर में भले कच्चे घड़े रखे हों तो भी हवा से गीलापन आने लगता है, जो मन से कच्चा रहता है, उसे लंगोटी की भी याद करना गड़बड़ करा सकता है और जो पक्का होता है उसे कपड़े की भी दुकान में उठा करके रख दो, तो भी कुछ नहीं होता। ऐसा अपने मन के ऊपर आधारित है, पिघलने में देर नहीं लगती। आगे की गाथा में यही कहा है—

जड़या स एव संखो सेदसहावं सयं पजहिदूण।

गच्छेज्ज किण्हभावं तड़या सुक्कत्तणं पजहे॥२३६॥

अर्थात् यदि श्वेत भाव को स्वयं छोड़कर कृष्ण भाव को ग्रहण करता है, तो कोई मना नहीं कर सकेगा, देखो, अब वही शंख था, लेकिन कृष्ण वर्ण का उदय आ गया, तो श्वेत वर्ण समाप्त हो गया यह इसका तात्पर्य है अथवा **पोग्गलदो** अथवा **अचित्त शंख** है, वह भी सफेद से काला हो सकता है, यह **स्निग्धरुक्षत्वाद्बन्धः** इसके ऊपर निर्भर है और सचित्त शंख भी भीतर से कृष्ण नामकर्म का उदय होने से और श्वेत नामकर्म का उदय समाप्त होने से वह शंख सफेद नहीं रहेगा, यह कर्म सिद्धान्त यहाँ पर घटित हो जाता है, यहाँ ये दो गाथायें दी हैं। **गच्छेज्ज किण्हभावं** ये दोनों बहुत अच्छी गाथाएँ हैं, इनमें एक सचित्त सम्बन्धी है और एक अचित्त सम्बन्धी है—

**जइया स एव संखो सेदसहावं सयं पजहिदूण ।
गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे ॥२३७॥**

उपादान में कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता—वही शंख यदि पौद्गलिक है, तो वह शुक्ल भाव को छोड़ कर कृष्ण भाव को ग्रहण कर लेता है। उस समय शुक्लत्व को कोई सुरक्षित नहीं रख सकता, वह शुक्लत्व को छोड़ ही देगा, यह सिद्धान्त की बात है। वह सचित्त शंख कौन-सा होगा? जिसमें वर्ण नामकर्म का उदय विवक्षित है, तथा **पोग्गलदो**... जो है वह नामकर्म पर डिपेण्ड नहीं है यह हमारा कहना है, उसमें तो **स्निग्धरुक्षत्वाद्बन्धः** के कारण परिवर्तन होगा, इसलिए दो गाथायें दी हैं, दो उदाहरण हैं। दो प्रकार के शंख बताये जा रहे हैं, सचित्त ही जब निर्जीव हो जायेगा तो उसमें स्निग्धरुक्षत्व के कारण ही परिवर्तन होगा और सचित्त में जो परिवर्तन होगा वह कर्म के उदय के कारण न कि मात्र बाह्य वातावरण के कारण। हाँ बाहर के कारण कर्म की उदीरणा संभव है, हम यह कहना चाह रहे थे, कि पुद्गल विपाकी होते हुए भी, शरीर आश्रित वर्ण होते हुए भी उसका वर्ण परिवर्तन हो रहा है, वह कर्म उदय में हो रहा है, यह बिल्कुल स्पष्ट है। पौद्गलिक तो दोनों है, लेकिन एक सचित्त है। सचित्त है तो निश्चित रूप से वर्ण नामकर्म का उदय है, वह वर्ण नामकर्म का उदय परिवर्तित होकर आ जाता है तो उसे कोई परिवर्तित होने से रोक नहीं सकता, वह स्वयं ही नामकर्म के उदय के कारण अन्य रूप परिणमन कर जाता है और यदि पौद्गलिक है और स्वयं अपने उपादान से स्निग्धरुक्षत्व गुण के कारण परिणमन कर रहा है तो उसमें इस ढंग की योग्यता आ गई कि शुक्लत्व को छोड़ कर कृष्णत्व को प्राप्त कर लिया है, यह इसका तात्पर्य है।

इस प्रकार चारों गाथाओं के माध्यम से कहा। अब उसी प्रकार ज्ञानी भी अज्ञानी कब होता है? ये बता रहे हैं—

**तह णाणी वि हु जइया णाणसहावं सयं पजहिदूण ।
अण्णाणेण परिणदो तइया अण्णाणदं गच्छे ॥२३८॥**

अन्वयार्थ—(तह) उसी प्रकार (णाणी वि) ज्ञानी भी (हु जइया) निश्चय से जब (सयं) स्वयं (णाणसहावं) ज्ञान स्वभाव को (पजहिदूण) छोड़कर (अण्णाणेण परिणदो) अज्ञान रूप

परिणमन करता है (तड़या) जब (अण्णाणदं) अज्ञानपने को (गच्छे) प्राप्त होता है।

ज्ञानी स्वयं यदि मनो! भजता विधि को,
विज्ञान की उजलता तजता निधी को।
अज्ञान रूप ढलता फिर क्या बताना!!
दुर्भाग्य पाक सहता भव दुःख नाना ॥२३८॥

अर्थात् ज्ञानी अपने ज्ञान स्वभाव को छोड़ करके अज्ञान भाव के साथ परिणमन कर जाता है तो अज्ञानी हुये बिना नहीं रह सकता, यह अकाट्य नियम हो गया। यानि आत्मा में जो परिणमन होता है, वह भी भीतर उस योग्य कर्म उदय में आने के कारण होता है, यह आप पहले पढ़ कर आये हैं। कि **णाणस्स पडिणिबद्धं** ज्ञान का प्रतिपक्षी अज्ञान है और अज्ञान का उदय होता है तो जीव अज्ञानी कहलाता है। सम्यग्दर्शन का प्रतिपक्षी मिथ्यादर्शन है, उसके उदय से जीव मिथ्यादृष्टि होता है, तथा चारित्र का प्रतिपक्षी कषाय है और उसके उदय से जीव अचारित्री हो जाता है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् का कथन है, यह पुण्य-पाप अधिकार में कह कर आये हैं। उसी प्रकार यहाँ पर भी लगा लो जब वह ज्ञानी ज्ञानभाव को स्वयं छोड़ देगा तो अज्ञान भाव को प्राप्त हो जायेगा, यह निश्चित बात है। अज्ञान का उदय हो गया तो ज्ञान भाव को उसे छोड़ना ही पड़ेगा यह निश्चित है, इसलिए कर्म के उदय में इस जीव को अज्ञानी भी होना पड़ता है। हाँ, यह केवल निमित्त मात्र से होता है, ऐसा भी नहीं, बल्कि उस समय वह स्वयं उस रूप परिणमन कर जाता है, कभी-कभी नोकर्मों के कारण भी उदीरणा हो जाती है। कर्मकाण्ड में 'आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी जी' ने १४८ कर्म प्रकृतियों के कारण भूत जो नोकर्म हैं उनके बारे में व्यवस्थित रूप से वर्णन किया है, अर्थात् कारण का कारण, वहाँ पर बताया है।

दृष्टान्त—जैसे—दीपक जल रहा है, उस दीपक के जलने में बाती भी कारण है और हवा भी कारण है, विज्ञान मानता है कि हवा से दीपक जल रहा है, तो उसमें हवा ही हवा भर दो और यदि तेल ही आवश्यक हो तो तेल मात्र भर दो लेकिन आचार्य कहते हैं दीपक जलने के लिए तेल भी चाहिए और हवा के लिए स्थान भी चाहिए दोनों ही चाहिए, उसी प्रकार नोकर्म भी चाहिए क्योंकि नोकर्म के कारण वहाँ पर जीवन में परिवर्तन होता है लेकिन इस परिवर्तन में एकान्त से नोकर्म के ऊपर निर्भर नहीं कहेंगे। जैसे—तत्त्वार्थसूत्र में एक सूत्र दिया है कि अकालमरण किनका—किनका नहीं होता? द्वितीय अध्याय का वह सूत्र है “**औपपादिक चरमोत्तमदेहासंख्येयवर्षायुषोनपवर्त्यायुषः**” अर्थात् इनको जहर भी दे दो तो भी इनका जीवन समाप्त नहीं होगा, किनको? औपपादिक अर्थात् उपपाद जन्म वाले देव और नारकी को। चरमोत्तमदेह वाले महापुरुष, तीर्थंकर आदि और असंख्यात वर्ष के आयु वाले भोग भूमिज जीव इन सभी के अकाल मरण नहीं होता, लेकिन अन्य किसी सामान्य मनुष्य के अकाल मरण की क्षमता है और जहर दिया जाता है तो मरण को प्राप्त हो जाता है। उस

विष में या जहर में ऐसी योग्यता होती है। आयु की उदीरणा व अकालमरण के लिए जहर नोकर्म रूप हो जाता है लेकिन यह एकान्त विषय नहीं है, फिर भी नोकर्म के निमित्त से कर्म की उदीरणा का रास्ता खुलता है, यह आचार्यों ने माना है, किन्तु निकाचित कर्म का उदय है, तो कोई भी नोकर्म उस समय काम नहीं कर सकता।

दृष्टान्त—जैसे-दीपक जलाते समय शुरूआत में हवा लगती है तो दीपक बुझ जाता है, लेकिन अच्छे ढंग से दीपक जल गया हो और फिर थोड़ी बहुत हवा चले, तो अग्नि और प्रज्वलित होती चली जाती है। जंगलों में देख लो कि थोड़ी सी अग्नि लग जाती है तो हवा चल जाये या तूफान जैसा भी आ जाये तो पूरे वन को ही अग्नि अपनी चपेट में ले लेती है। यह इस प्रकार की स्थिति हो जाती है, इसलिए नोकर्म के कारण कर्मों की व्यवस्था, सुव्यवस्थित, सुनिर्धारित है, यह एकान्त भी नहीं है, लेकिन नोकर्म के अनुरूप फल मिलता है ऐसी एकान्त धारणा भी नहीं बनाना चाहिए और नोकर्मों के कारण कर्मों की उदीरणा नहीं होती, ऐसी धारणा भी नहीं बनाना चाहिए, लेकिन हाँ, कर्म का फल जो मिलता है, वह मात्र नोकर्म के द्वारा नहीं, नोकर्म का कर्म पर, कर्म का आत्मा पर प्रभाव पड़ता है, यह सिद्धान्त है। कर्म के फल में नोकर्म कारण बनता है, यह भी सिद्धान्त है इसको हम कभी भी भूल नहीं सकते। किसी भी विषय में एकान्त नहीं है। जैन-दर्शन में सब कुछ स्याद्वाद पर आधारित है। इसी प्रकार ज्ञानी ज्ञानस्वभाव को छोड़ करके अज्ञानभाव रूप परिणमन कर जाता है, तो अज्ञान आये बिना नहीं रह सकता है।

दृष्टान्त—जैसे-देखिए पाँच पाण्डवों में से दो पाण्डव मुनि अज्ञान में परिणमन कर चुके और तीन पाण्डव मुनि ज्ञानभाव के कारण ऊपर उठ चुके। पाँचों एक साथ एक ही दिन परीक्षा देने गये थे, एक ही जिन मुद्रा है, लेकिन तीन तो पास हो जाते हैं और दो को सप्लीमेण्ट्री आ जाती है और सप्लीमेंट्री में वे सर्वार्थसिद्धि चले जाते हैं, सर्वार्थसिद्धि से यहीं उतरना पड़ेगा क्योंकि बोर्ड परीक्षा तो यहीं पर होती है, उसका सेंटर तो यहीं है, परीक्षा लेने वाले भी यही हैं और कहीं नहीं। औदारिक शरीर के साथ बचपन में नहीं, किन्तु आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त बाद ही परीक्षा दे सकते हैं और छुप कर भी परीक्षा नहीं होगी, यह ज्ञानी और अज्ञानी की महिमा, कर्मों की महिमा की बात है, कि आत्मा में किस ढंग से परिवर्तन हो जाते हैं।

पुरुषार्थ एक सीमा तक चलता है, बाद में नहीं। जैसे-आपके कर्म का उदय है और नोकर्म में गड़बड़ी हो गई, तो हाथ हिलाना चाहो तो भी नहीं हिला सकते, हाथ पैर शरीर मत चलाओ, क्योंकि इससे बंध होता है, इसके उपरान्त चलना भी बंद हो गया, हाथ पैर नाड़ कुछ भी नहीं हिल रही, फिर भी बंध हो रहा है, क्योंकि भाव तो कर रहा है। कौन-सा ऐसा कर्म का उदय आ गया कि हम हिलना चाह रहे हैं तो भी हिल नहीं पा रहे हैं, सामने वाले बैठे-बैठे सेवा कर रहे हैं, बैठे-बैठे करवट दिला रहे हैं, संकेत दिया नहीं जा रहा है, बोला भी नहीं जा रहा है, हाथ भी नहीं उठ रहा है और आँख

से भी इशारा नहीं कर पा रहा है लेकिन भावना तो बहुत है। क्या हो गया है? सोचो, विचार करो, पाँच मिनट के लिए कैसा क्या होता है? सब कुछ परिवर्तन कर्म के ऊपर डिपेण्ड है, हम चाहते हैं कि हाथ उठ जाये, जब क्षमता हो तभी तो उठेगा, हाथ आपके साथ है, पर आपका नहीं है, यह फेक्ट है। सल्लेखना के विषय में कहा गया **न संस्तरो भद्र समाधि साधनं न लोकपूजा न च संघ मेलनम्** क्षपक के लिए कहा जाता है कि ये संस्तर आदि तुम्हारे नहीं हैं, इसलिए तुम अध्यात्म का चिंतन करो और बाह्य पदार्थों से सम्पर्क छोड़ो। यह निश्चित है कि वह घड़ी आयेगी, तब आकुलता करने से भी कुछ नहीं होता। कर्म सिद्धान्त को जब तक हम नहीं स्वीकारते, तब तक कर्म को परिणमाना या परिणमन जाना यह सिद्धान्त ज्ञात नहीं हो पाता और ये भी ज्ञान नहीं हो पाता कि यह एकान्त से स्वाश्रित नहीं है, किन्तु कथञ्चित् पराश्रित भी है। कर्म के उदय में कार्यक्षमता होते हुए भी नोकर्म में क्षमता नहीं होने से कर्म के योग्य कार्य देखने को नहीं मिलते हैं। नरकों में नारकी अच्छी विक्रिया करने के भाव करते हैं, तो भी बुरी विक्रिया ही होती है। सोचो, विचार करो, ऐसा वहाँ कर्म का उदय है कि शुभ विक्रिया भी नहीं कर पाते, अच्छा-अच्छा नहीं कर पाते, कर्म का उदय होते हुए भी कर्मों का जो फल है वह उनके भावों के अनुरूप नहीं हो पा रहा है, यह कहने का तात्पर्य है।

दृष्टान्त—जैसे—शराबी यदि शराब पी लेता है, फिर सड़क पर चलना है, यह सोचता है लेकिन उसका पैर गटर के पास ही जाता है, गोमूत्रिका जैसे कभी इस लाइन पर तो कभी उस लाइन पर चली जाती है, ऐसा क्यों? तो यह कर्म का फल है। इसी प्रकार आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध ऐसा जुड़ा हुआ है, कि अज्ञान का उदय होगा, तो ज्ञानी ज्ञान को सुरक्षित नहीं रख सकेगा। छठवें गुणस्थान में आना कौन चाहता है? लेकिन हर अन्तर्मुहूर्त में वहाँ आना ही पड़ता है। अशान्ति का कारण बांध रखा है तो फिर अशान्त क्यों नहीं होगा? किन्तु होगा ही।

आत्मा की पहचान बनाये रखो—केवली भगवान् के पास वैसी क्षमता होती है, उनका अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्य के साथ जानने और देखने का काम करता है। इसलिए जो व्यक्ति पर से प्रभावित होता है, तो उसके रागादि हो जाते हैं। कहने का मतलब यही है कि अपने पास उपादान है तो निमित्त के कारण उपादान में इस प्रकार की क्रिया देखने में आती है। स्वसंवेदन ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, उसे रागरूप परिणत कराने की क्षमता किसी के पास नहीं है लेकिन वह स्वयं जब पर से प्रभावित होता है तो स्वसंवेदन ज्ञान की क्षमता मिट सकती है। स्व को गौण कर देता है तब रागादि रूप परिणत हो जाता है। पर की ओर देखने से उससे प्रभावित रहने की पूरी संभावना रहती है, इसलिए आचार्य कहते हैं, कि पर के ऊपर डिपेंड नहीं रहना चाहिए। स्वभाव की पहचान हमेशा बनाये रखना चाहिए। बड़े-बड़े व्यक्ति भी इसे भूल जाते हैं, जो पर से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। यह एक ऐसा चुम्बक है, उसमें ऐसी क्षमता है कि मैं-मैं कहने वाला भी उस कर्म के सामने हार मान जाता है।

अनन्तकाल से भ्रमण करता हुआ आत्मा आज तक इस रहस्य को नहीं जान पाया है। केवलज्ञान की बात छोड़ करके ज्ञेय का प्रभाव हमारे ऊपर पड़ता है या नहीं, यह देखने से ज्ञात हो जाता है कि हम क्या कर रहे हैं? सभी पदार्थ ज्ञेय रूप होते हैं, हेय और उपादेय रूप नहीं, किन्तु मोह के कारण पदार्थ हेय, उपादेय हो जाते हैं, वस्तुतः तो सभी पदार्थ स्व हो या पर हो मात्र ज्ञान के विषय ज्ञेय हैं, इसके अलावा कुछ है ही नहीं, लेकिन जिसके साथ मोह जुड़ जाता है। उसके साथ ये पदार्थ उपादेय के रूप में या किसी को द्वेष के कारण हेय रूप में इष्ट-अनिष्ट के रूप में उस पदार्थ को अपना लेते हैं और उसकी व्याख्या प्रारंभ कर देते हैं। विश्व के मंच पर यह संसारी प्राणी एक प्रकार से नाटक खेलता है, एक-एक पल में यह काम हो रहा है। पदार्थ तो पदार्थ हैं लेकिन मोह के कारण इष्ट-अनिष्ट के रूप में प्रतिभासित हो रहा है, इसलिए सचित्त-अचित्त पदार्थ का सेवन करते हुए भी ज्ञानी के ज्ञान को कोई भी अज्ञान रूप परिणत नहीं करा सकता। छठवें गुणस्थान में सचित्त का सेवन तो नहीं है, लेकिन सचित्त पदार्थ को देखेगा, तो उस समय सचित्त व्यक्ति को देखना भी एक प्रकार से नेत्रेन्द्रिय का विषय माना जाता है और कोई अचित्त पदार्थ है, तो ज्ञानी उसे देखता है फिर भी ज्ञानी का ज्ञान उस रूप परिणत नहीं होता है, इसलिए ज्ञानी के सचित्त-अचित्त का सेवन करते हुए भी पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा प्रतिपल होती रहती है।

जिज्ञासा—अब देखो, ज्ञानी की परिणति कैसी होती है?

समाधान—“मोक्षमार्ग में फावड़ा नहीं चलाना है, तो मोक्षमार्ग में गद्दी तकिया बिछाकर सोना भी नहीं है।” मात्र जागृत रहना है, सही सर्वेक्षण करना है। न ही इष्ट की प्रशंसा और न ही अनिष्ट की आलोचना करना है। सही समीक्षा तो यही है, कि जैसा पदार्थ है, उसको उसी रूप में व्याख्यायित कर देना। **आप्तमीमांसा आचार्य समन्तभद्र स्वामी जी** ने लिखी है। उन्होंने आप्त कैसे हैं? इसके लिए मीमांसा भी की है। उनके द्वारा रचित आप्तमीमांसा ग्रन्थ में आप्त का स्वरूप बहुत अच्छे ढंग से बताया है।

दोषावरणयोर्हानि - निश्शेषाऽस्त्यतिशायनात्।

क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥४॥

इस प्रकार वस्तु की मीमांसा, समीक्षा की है। इसी प्रकार वस्तु की मीमांसा, समीक्षा करना आवश्यक होती है। **सम समीचीन रूपेण ईक्षणं वर्तते..इति समीक्षा** अर्थात् जहाँ पर समीचीन रूप से पदार्थ को देखा जा रहा है उसका नाम समीक्षा है, अतः अपने गुणस्थान के अनुसार सचित्त-अचित्त का भोग करना इस विवक्षा को लगा लेना चाहिए। यानि अपने-अपने गुणस्थान के अनुसार सचित्त-अचित्त सेवन की विवक्षा को घटित कर लेना चाहिए।

दृष्टान्त—जैसे—कहीं से गंध आ रही है, तो उसमें भी सचित्त-अचित्त का सेवन हो जायेगा। कोई भी रूप देखा तो उसमें भी सचित्त-अचित्त दोनों हो सकते हैं। धरती पर बैठे हैं, तो स्पर्श में शीत-

उष्ण होने से दोनों का सेवन हो जाता है। हवा चल रही है, तो उसमें भी वायुकायिक जीव हैं, तो यह सचित्त का सेवन हो गया। गर्मी लग रही है और ठण्डी हवा का झोंका आया तो यह अच्छा हो गया, साता का उदय आ गया, इस प्रकार विचार करते हैं तो यह सही समीक्षा नहीं हुई। वह तो गया काम से, हवा तो वैसे ही मुफ्त में मिल रही थी, उसे माँगने की आवश्यकता ही नहीं थी, लेकिन हवा के आने पर ऐसा सोच लिया कि बहुत अच्छा हो गया, तो वहाँ घाटा लग गया, माइनस मार्किंग हो गई। वैसे बिना माँगे पूरे मार्क मिल रहे थे, उस ओर दृष्टि न रखकर जो गर्मी व ठंडी की प्रतीक्षा करते बैठ जाते हैं, उसकी बात यहाँ की जा रही है। श्वास तो ले रहे हैं, तेरहवें गुणस्थान में भी श्वास लिया जा रहा है, उसके बिना तो वे भी रह नहीं सकते। तो हवा वहाँ पर भी है, ऐसा तो नहीं है कि उनके लिए फिल्टराइज्ड (छनकर) हो करके हवा आ रही हो। हाँ, ये बात अलग है कि उनके शरीर की श्वासोच्छ्वास क्रिया घातोपघात के लिए कारण नहीं होती। इस प्रकार बैठे हैं, तो सचित्त का स्पर्श है। हवा चल रही है, तो सचित्त का स्पर्श है और रूप देख रहे हैं तो सचित्त का ज्ञान और उसका सेवन हो रहा है, इसी प्रकार शब्द भी ऐसे आ जाते हैं तो जीव की ध्वनि सचित्त सम्बन्धी हुई और वाद्य सम्बन्धी अचित्त की हुई, दोनों का सम्बन्ध हुआ तो कर्ण सम्बन्धी विषय का सेवन हो गया। इसी प्रकार रूप, रस, गंध, वर्ण, शब्द आदि सभी सचित्त-अचित्त का सेवन हो जाता है। रसनेन्द्रिय में रस भी आ रहा है और श्वासोच्छ्वास का स्पर्श भी हो रहा है। शक्य का ही अनुष्ठान होता है अशक्य का नहीं। मुँह पर पट्टी बांध लो या छत्रा बांध लो, तो भी हवा तो हवा है उसका सेवन होगा। आचार्यों ने कहा है कि **उस्सासियेण वा, णिस्सासियेण वा छिंकिदेण वा, जंभाइयेण वा, दिट्ठिचला चलेहिं** ये सभी असमाधि के प्रत्यय हैं, इनको चला करके नहीं करना चाहिए। एक नाक बंद करके एक नाक से श्वास लो या अनुलोम-विलोम करना, यह भी एक प्रकार से असमाधि के प्रत्यय हैं, क्योंकि ये सामायिक क्रिया नहीं है लेकिन सामायिक के लिए बैठे हैं, उस समय पूरक, रेचक व कुंभक हो रहा है तो कोई बात नहीं है लेकिन आर्टीफिशियल (कृत्रिम) मानकर करेंगे तो वे असमाधि प्रत्यय हैं वे समाधि प्रत्यय नहीं माने जायेंगे। असमाधि के प्रत्यय को एकदम आर्तध्यान में तो नहीं ले सकते, लेकिन धर्मध्यान में भी नहीं कह सकते, क्योंकि सहजता को छोड़कर उसमें कृत्रिमता जुड़ जाती है, इसमें आयाम हो गया। जम्हाई ले रहे हैं तो वो भी एक प्रमाद का सूचक माना जाता है, वो भी असमाधि के प्रत्यय हैं। इसी प्रकार छींकना, खाँसना तथा सूक्ष्म रूप से अंगों का हलन-चलन होना, दृष्टि को चलाना, इधर-उधर देखना या आँखों का टिमकार करना, ये सारे के सारे असमाधि-प्रत्यय हैं, इसे आप प्रतिक्रमण में तीन बार पढ़ते हैं। तो यह जो असहज कृत्रिम क्रिया की जा रही है, उसके बारे में कहा जा रहा है।

जिज्ञासा—कोई भी वस्तु देखने में आना और देखना उन दोनों में कितना अन्तर है?

समाधान—बहुत अन्तर है, दृष्टि में झलक जाना और दृष्टि को उस ओर ले जाना दोनों में बहुत

अन्तर होता है। एक में सहजता है और एक में आयाम है। इन असमाधि-प्रत्ययों में हम यदि पुरुषार्थ शील हो जाते हैं तो बच सकते हैं। दिख जाना और देखने में अन्तर है। दिख जाना यह ज्ञान में रिप्लेक्शन (प्रतिबिम्ब) है और देखना यह ज्ञान का आयाम है। अतः दोनों में अन्तर है, इसलिए इन असमाधि-प्रत्ययों के अभाव के कारण सचित्त और अचित्त पदार्थ का सेवन करते हुए भी ज्ञानी पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।

ऐसा सुनकर यदि कोई कहे की प्रासुक पानी का उपयोग करने से क्या मतलब? उसमें तो बहुत आरंभ होता है, इसलिए पानी छानकर लौंग वगैरह डाल कर दे दो, तो ऐसा भी नहीं है। अध्यात्म का सचित्त और चरणानुयोग का सचित्त इसमें अन्तर है और अध्यात्म का सचित्त तो हम नहीं लेना चाह रहे हैं तो भी आ रहा है किन्तु आचार संहिता जिसे मूलाचार आदि कहते हैं उसके अनुसार सचित्त नहीं ले सकते हैं। वह तो ज्ञेय है और ध्येय को भी हम सचित्त बोल सकते हैं। पंच-परमेष्ठी में सिद्ध परमेष्ठी को हम अपने ध्यान का विषय बनाते हैं तो उसे भी आचार्यों ने सचित्त ध्यान के अन्तर्गत रखा है, वह विधेय तो नहीं है लेकिन क्षम्य है। उनका ध्यान करते हुए अपने को केवलज्ञान आदि नहीं होगा, ऐसा किन्हीं आचार्यों के अनुसार कहा गया है, क्योंकि उनका कहना है कि ध्यान में स्व आत्मा को ही जब विषय बनाया जाता है, तभी केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है। उसी प्रकार सचित्त-अचित्त का सेवन संसार में सहज रूप से होता है, उस ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। आप श्वास ले रहे हैं और छोड़ रहे हैं, तो श्वास का लेना और चलना, इसमें बहुत अन्तर है। हम यह कहना चाहते हैं, कि पहले भावों को समझो।

अवग्रह तक सीमित रहने की साधना करो—भव्यत्व भाव की तो परम आवश्यकता है लेकिन यह सिद्धत्व के लिए बाधक तो है, क्योंकि जहाँ सिद्धत्व है वहाँ भव्यत्व भाव का अभाव हो जाता है। इतना कह रहे हैं तो स्वीकारना तो होगा। जो **देव-गुरु-शास्त्र** ने कहा है वह एकदम गलत कहा जा रहा है, ऐसा क्यों सोचते हैं? इसकी तो एकदम पक्की धारणा बनाओ। यह आज्ञा की कनिष्ठता है। जैसे—आपको इसके उपरान्त दवाई नहीं लेना है, दवाई किसके साथ लेना है? कितनी लेना है? आदि-आदि जो वैद्य बता देता है, तो उसे मानना आवश्यक होता है, मानते ही हैं और कहते हैं कि जो आप कहोगे वही करेंगे, लेकिन यहाँ पर कहते हैं कि आज्ञा की कनिष्ठता नहीं होनी चाहिए। आज तो आज्ञा देने वाले ही नहीं है, पर आज्ञा मानने वालों की तो और भी अधिक कमी है ये दोनों बातें हैं, क्या करें? क्या-क्या जानना चाहोगे? गणधर परमेष्ठी को भी शंकायें होती हैं, जीवन में संतोष आना बहुत कठिन है। जबकि इस संतोष की धरती पर ही केवलज्ञान की उत्पत्ति होगी, आहारक शरीर वालों को भले ही शंका हो जाये, लेकिन गणधर परमेष्ठी को भी शंकायें होती हैं, ये बड़ा आश्चर्य है। जब तक अनन्तज्ञान नहीं हुआ, तब तक शंकायें ही शंकायें हैं, आकुलता ही आकुलता है। क्या-क्या जानें? ज्ञान व अज्ञान दोनों ही आकुलता के कारण हैं। श्रुतज्ञान हो तो अवधिज्ञान की आकुलता,

श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान दोनों हो गये तो मनःपर्यय ज्ञान नहीं हुआ इसकी आकुलता, यदि ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान हो गया तो विपुलमतिः मनःपर्यय ज्ञान की आकुलता होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि अवग्रह के बाद ईहा, अवाय, धारणा होगी तो विकल्प ही विकल्प हैं, यह निश्चित बात है। इसलिए अवग्रह तक अपने को सीमित रखने की साधना करो।

दृष्टान्त—जैसे—ये प्रभु हैं, ये भगवान् हैं, बस ये कौन से भगवान् हैं, चंद्रप्रभ हैं या शांतिनाथ है आदि—आदि विकल्प क्यों? ये वीतरागी प्रभु हैं, बस भगवान् को देखो, नीचे की प्रशस्ति को क्यों देख रहे हो, हमारी बुद्धि अन्यत्र न चली जाये या हम इधर—उधर न चले जायें इस कारण से शांतिनाथ भगवान् शांति को करने वाले हैं आदि—आदि कहा जाता है। शांतिनाथ भगवान् के दर्शन करते समय हिरण को देखते ही अशांति का हरण हो जाता है। मात्र अवग्रह करें, जैसे आप स्वर्ण खरीदना चाहते हो, तो मुद्रा की ओर, चैन बाजूबंद, कड़े आदि की ओर मत देखो, क्योंकि आभरण सो सोना नहीं किन्तु आभरण के बिना भी स्वर्ण होता है। आज तक जिसने सोने के बिस्किट नहीं देखे हैं उन्हें स्वर्ण कहने से उनसे बने आभरण ही दृष्टि में आते हैं। भगवान् को देखना है तो भगवान् को ही देखो न हिरण का भगवान् के साथ क्या सम्बन्ध, यह चिह्न तो मात्र पहचान के लिए दिया जाता है, जब भाव-निक्षेप से शांतिनाथ भगवान् यहाँ थे, तब वहाँ पर चिह्न लगा था क्या? वह चिह्न बनाया नहीं गया, वह प्रशस्ति-पत्र नहीं है महाराज, अभी विदेह क्षेत्र में भी कुछ न कुछ चिह्न तीर्थकरों के होंगे कि नहीं? यह प्रशस्ति जो बनायी गई है, वह पहचान की अपेक्षा से है, लेकिन मात्र यही उनकी पहचान नहीं है। भगवान् की सही पहचान तो यही है कि वे ४६ मूलगुणों से सहित हैं, वीतरागी हैं, सर्वज्ञ हैं, हितोपदेशी हैं और सही पूछा जाये तो ४६ मूलगुण भी उनकी वास्तविक पहचान नहीं हैं, किन्तु अनन्तचतुष्टय ही उनकी पहचान है। जो मिट जाते हैं, वो भगवान् की पहचान नहीं कहलाती, फिर भी **कहवत के छयालीस गुण गंभीर** ऐसा आप रोज कहते हो। इन चार गुणों को लेकर भगवान् की पहचान विशेष होती है, शेष तो पर की अपेक्षा से हैं जो मिट जाते हैं वो उनके गुण कैसे हो सकते हैं? क्योंकि सहभुवो गुणाः ऐसा कहा है। जब सिद्ध बन जाते हैं तब शेष गुण उनमें नहीं रहते, इसलिए समय-समय पर जो पहचान निकली है, जो साधन दिए गये हैं उन पहचानों के माध्यम से अन्य जो भगवान् हैं उनसे पृथक् कर सकते हैं, लेकिन भगवान् को मात्र देखना है तो इस पहचान अथवा चिह्न की कोई आवश्यकता नहीं है। जब आपको सोना ही खरीदना है, तो यह गोल, चौकोन आदि—आदि ये विकल्प क्यों, इससे क्या मतलब, सोना खरीदना है तो सोने की पहचान क्या है? यह ज्ञात होना चाहिए, यह हार, मुद्रा, कड़ा आदि—आदि सोने के हैं, तो यह सोने की पहचान नहीं, किन्तु सोना पीला होता है, कोमल होता है आदि उसकी पहचान है। सोने की परीक्षा की चार पद्धति हैं। अग्नि से तपाकर, कसौटी में कसकर, हाथ में लेकर कि ये भारी है और तोड़ कर भी होती है, इसमें न मुद्रा आती है, न चैन आती है, इसी प्रकार भगवान् को आप ध्यान का विषय बनाना चाहते हो, देखना

चाहते हो, पकड़ना चाहते हो, तो अनन्त चतुष्टय सामने रखिये, तो रागद्वेष नहीं होंगे, इसलिए भगवान् की सही समीक्षा तो यही है कि वे रागद्वेष से रहित वीतरागी हैं।

भव्यत्व भाव अभी तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान में उनके साथ जुड़ा हुआ है, लेकिन वह उनका चिह्न नहीं है, क्योंकि वह देखने में नहीं आ रहा है, ध्यान रखना मनःपर्ययज्ञानी को भी यह भव्यत्व गुण ज्ञान में नहीं झलकता है, यह तो मात्र केवलज्ञान का विषय है, क्योंकि यह पारिणामिक भाव है। तो यहाँ पर जो बात कही जा रही है, कि ज्ञानी के पूर्व में बंधा हुआ कर्म निर्जरा को प्राप्त हो जाता है और नवीन बंध भी नहीं होता है, क्योंकि उनका उपयोग उस पदार्थ के साथ प्रभावित नहीं होता है। **मूलाचार ग्रन्थ** में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, सामायिक का जो कथन किया गया है वह इस प्रकार है। द्रव्य सामायिक अर्थात् कोई भी शुभ-अशुभ द्रव्य हो, उसमें समता रखना द्रव्य सामायिक है। दूसरा क्षेत्र सामायिक—कोई भी क्षेत्र हो, वन हो या उपवन हो, यहाँ हो या वहाँ हो, किसी भी क्षेत्र में हो, उसमें समता रखना क्षेत्र सामायिक है। तीसरा काल सामायिक—कोई भी काल या समय हो, प्रातः, मध्याह्न या सायंकाल हो, शीतकाल हो या ग्रीष्मकाल हो, इसमें समता रखना काल सामायिक है। भाव सामायिक—रागद्वेष परिणामों का नहीं होना भाव सामायिक है। इसी प्रकार नाम सामायिक—कोई भी शब्द सुन लो अथवा कर्णेन्द्रिय का विषय कुछ भी हो उसमें समता रखना नाम सामायिक है। “**मनोज्ञानमनोज्ञेन्द्रिय विषयरगद्वेष वर्जनानि पंच**”, ऐसा **आचार्य उमास्वामीजी महाराज** ने ‘**तत्त्वार्थसूत्र**’ के सातवें अध्याय में अपरिग्रह व्रत की भावना में कहा है, कि पञ्चेन्द्रिय के विषय मनोज्ञ हों या अमनोज्ञ उनमें रागद्वेष नहीं करना चाहिए। ऐसी भावना करने से व्रत सुरक्षित रहता है, अतः सामायिक की ओर दृष्टि रखेंगे, तो कोई भी, कैसी भी परिस्थिति हो, उसमें समता रखना ही मुख्य होता है।

दृष्टान्त—जैसे—यदि कोई प्रतिभा सम्पन्न छात्र है, तो उसके सामने कैसा भी प्रश्न आ जाये उसे कोई विकल्प नहीं रहता कि यह प्रश्न अच्छा है। यह परीक्षा में आ जाये तो अच्छा होगा। जब कोर्स पूर्ण किया है, अध्ययन अच्छे से किया है, तैयारी अच्छे से की है तो कोई भी प्रश्न आ जाये। यहाँ तक की आउट ऑफ कोर्स भी आ जाये तो भी हम हल कर लेंगे, ऐसी तैयारी होना चाहिए, क्योंकि ज्ञान के माध्यम से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि ही पकड़ में आयेंगे इसमें समता रखना ये ज्ञानी की परिणति है, इसलिए जो पूर्व कर्म हैं उसकी निर्जरा इसी वेष पर होती है। इसलिए सचित्त हो या अचित्त हो या मिश्र पदार्थ हो, उसमें उन्हें कोई मतलब नहीं, मात्र **ज्ञेय, ज्ञायक सम्बन्ध बना रहे, तो कर्म निर्जरा होती है**, यहाँ यह कहने का तात्पर्य है।

अन्वय शब्द का अर्थ विधि और व्यतिरेक शब्द का अर्थ निषेध हर जगह समझ लेना चाहिए। जब वह सजीव शंख (जीवित शंख) कृष्ण है और उस पर लेप कर दिया जाय तो लेप करके बहुत देर तक रखने से भीतर का परिणमन भी उस रूप होना प्रारंभ हो जाता है यह नियम नहीं है किन्तु

उसके लिये वह कारण बन सकता है। जैसे—मेंहदी वगैरह लगाते हैं तो उसका रंग रग-रग में पहुँच जाता है। जैसे—ऑपरेशन से प्लास्टिक सर्जरी वगैरह करते हैं तो किसी एक अंग का चर्म दूसरे अंग पर लगा देते हैं तो कुछ समय तक उस पर मलहम-लेप या ट्यूब वगैरह लगाते हैं फिर ब्लैंड सर्कुलेशन समान रूप से होने लगता है तो वही वर्ण पुनः आ जाता है लेकिन जब तक उपादान का स्रोत नहीं जुड़ेगा तब तक यह परिणामन नहीं होगा यह हमारा कहने का तात्पर्य है। तो अन्तरंग में उपादान के परिणाम के आधीन होता हुआ वह शंख श्वेतभाव को छोड़कर कृष्ण वर्ण को प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार निर्जीव शंख भी सफेद से काला हो जाता है। दो प्रकार के शंख हैं—“**बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च**” अर्थात् कोई पुद्गल द्रव्य-चार पोटेन्सी (शक्त्यंश) वाला है और दूसरा द्रव्य है वह छह पोटेन्सी वाला है तो आपस में बन्ध होने पर चार वाला छह रूप हो जायेगा, तो पारिणामिक छह पोटेन्सी वाला होगा। उसी प्रकार निर्जीव शंख श्वेत वर्ण का था उसके ऊपर कृष्ण वर्ण का रंग कर दिया और उस शंख में उस रूप परिणामन की क्षमता भी है तो वह कृष्ण वर्ण का हो जायेगा। यहाँ टीका में गुड़ का उदाहरण दिया है—गुड़ चिकना है और उसके सामने पीली मिट्टी वगैरह रख दो तो थोड़ी देर बाद वह गुड़ रूप परिवर्तित हो जाती है। गुण प्रत्यय और भव प्रत्यय दो कहे थे। गुणप्रत्यय का अर्थ यही है कि कुछ गुणवान प्रत्ययों के माध्यम से वह उस गुण रूप परिवर्तित हो जाता है।

दृष्टान्त—कर्मन की गति न्यारी—मान लो किसी की हाइट बढ़ नहीं रही है तो इस प्रकार की एक्सरसाईज करवाई जाती है उससे हाइट बढ़ जाती है लेकिन भीतर की कैपिसिटी होनी चाहिए तभी हाइट बढ़ सकती है, नहीं तो नहीं...जैसे—क्वार के महीने में हिरण भी काले पड़ जाते हैं क्योंकि यहाँ की धूप में ऐसी ही क्षमता है। दो महीने तक बादल घिरे रहे, धूप नहीं आई, शीत हवा चली जिससे चर्म में मुलायमपना आया उसके कारण तथा एकदम प्रकाश पड़ने पर काला पड़ेगा ही यह नियम है। उसी प्रकार कह रहे हैं कि उस शंख में कैपिसिटी है तो परिवर्तन हो जायेगा। मतलब वीतरागी हमेशा वीतरागी बना रहे ऐसा कोई नियम नहीं है, थोड़ा-सा दुलमुल हो गया, प्रभावित हो गया तो...गया। बर्फ को आप कितना भी तपाओ नहीं तपेगा, बर्फ को आप गरम करके दिखाओ...बर्फ का पानी होने पर तो हो जायेगा लेकिन बर्फ को गरम नहीं कर सकते। जल की ही परिणति बर्फ है किन्तु सिगड़ी के ऊपर रख दो तो बर्फ गरम नहीं हो सकता पानी गरम होना अलग वस्तु है लेकिन बर्फ एकदम गरम होना यह अलग वस्तु है। इसी प्रकार जब ज्ञान घन रूप हो जाता है तो पिघलता नहीं है और वही ज्ञान जब तरल रहता है तो पिघला होने से गरम भी हो जाता है। सराग ज्ञान जल्दी गरम होता है और ध्यान रखो वीतराग ज्ञान जो है वह न गरम होता है न नरम होता है। तभी तो स्वभाव का स्वाभिमान जागृत रहेगा...नहीं तो गड़बड़...थोड़ा-सा कहने पर प्रशंसा करने पर बहुत जल्दी पिघल जाये तो फिर क्या? इसी प्रकार ज्ञानी जीव भी अपने ही **प्रज्ञा के अपराध** से वीतराग-विज्ञान

को छोड़कर मिथ्यात्व रागादिभाव अज्ञान भाव रूप परिणत होता है। यह निश्चित है कि वह स्वयं का ही अपराध है। संसारी प्राणी स्वयं करता है और पर के ऊपर थोपता है। देखो—मिथ्यात्व ही अज्ञान नहीं है इसीलिए तो मिथ्यात्व अलग से दिया और रागादि भाव रूप परिणाम भी अज्ञान है, यह रागादि परिणाम अज्ञान की महिमा है। मिथ्यात्व नहीं है तो भी यह अज्ञान तो है। चतुर्थादि गुणस्थान में तथा आगे भी अज्ञान रहता है जो रागादि परिणामन करने रूप है वस्तुतः वह अज्ञान भाव है इसलिए वह उस समय अपने स्वभाव से च्युत होता हुआ अज्ञान भाव को प्राप्त करता है। एक ज्ञानी यथाख्यात चारित्र को प्राप्त कर क्रम से नीचे के गुणस्थानों में आ करके निगोद की यात्रा कर सकता है और एक अनादिकाल से निगोद में बैठा हुआ है और वहाँ से डॉयरेक्ट यहाँ मनुष्य होकर मुनि बनकर मुक्त हो जाता है। देखो? भावन की परिणति न्यारी..निगोद, नित्य निगोद से निकल करके मनुष्य हो जाता है और यथाख्यात चारित्र प्राप्त करने के बाद भी नीचे असंयम में आकर पुनः निगोद की यात्रा करता है यह कर्मन की गति न्यारी है।

प्रसंग के अनुसार उदाहरण लगा लेना चाहिए। **व्यापक बुद्धि बनाओ**, शब्दों को लेकर लकीर के फकीर नहीं होना चाहिए। **कर्मन की गति** कहने का अर्थ **भाव कर्म को देखो** कि वीतरागी होकर के पुनः निगोद की यात्रा कर रहा है। देखो? सोचो! कहाँ तो निगोद में वीतरागता की गंध भी नहीं थी...मैं कौन हूँ...यह स्वभाव ज्ञान भी नहीं था...। उसके परिणामों के बारे में हम जान भी नहीं सकते, ऐसे कौन से वहाँ परिणाम होते हैं जिनसे मनुष्यायु का बंध कर लेता है। परिणाम करने के लिये वह स्वतंत्र होता है ऐसा आचार्य कहते हैं। निगोद की स्थिति के बारे में, उनकी परिणति, प्रकृति के बारे में **षट्खण्डागम या धवला** इत्यादि में बहुत अच्छा वर्णन किया है वहाँ पर एक बात बहुत अच्छी कही है कि **उनका आहार, श्वासोच्छ्वास, जन्म और मरण साधारण ही होता है लेकिन कर्म बंध जो होता है वह असाधारण होता है**। एक पर्याप्ति पूर्ण कर रहा है उसमें एक साथ जितने जीव जन्म लेते हैं उसी में शामिल हो जाते हैं, वहाँ कोई नये सिरे से काम नहीं करना होता, उतने ही काल में पर्याप्ति सभी जीव पूर्ण कर लेते हैं। कैसे? तो यह स्वभाव है। वहाँ का रंग ही ऐसा है जो सबके ऊपर चढ़ जाता है। चढ़ते-चढ़ते जब आयुकर्म के बंध की बात करते हैं तो दो प्रकार के स्थान होते हैं—निवृत्ति स्थान और जीवित स्थान। इनमें से निवृत्ति स्थान में वह स्वतंत्र रहता है। अनन्त निगोदिया जीव हैं उसमें से कुछ तिर्यचायु का, कुछ मनुष्यायु का बंध करते हैं। जो मनुष्यायु का बंध करते हैं वे असाधारण माने जायेंगे। **“अल्पारंभ परिग्रहत्वं मानुषस्य...”** कहा है, भावों की ही यह विचित्रता है तो मैं यह कह रहा था कि **आयु बंध के समय निगोद जीव में अल्प मूर्च्छा होना चाहिए** जिससे कि वह मनुष्यायु का बंध कर लेता है और यहाँ पर कोई मनुष्य होकर के भी बहुत मूर्च्छा करके निगोद की आयु का बंध कर लेता है, सबसे ज्यादा वैचित्र्य तो यह है कि वैक्रियिक शरीर वाला नीचे नरक से निकल कर संज्ञी पञ्चेन्द्रिय ही होगा लेकिन ऊपर देवगति से आने वाले देवों का

कोई पतयारा नहीं वह एकेन्द्रिय भी हो सकता है, विकलेन्द्रिय भले ही न हो। एकेन्द्रिय हो गया तो असंज्ञी हो ही गया, किन्तु नारकी पञ्चेन्द्रिय ही होगा, गर्भज ही होगा, बादर होगा, पर्याप्तक होगा यह निश्चित है, असंज्ञी नहीं हो सकता किन्तु संज्ञी ही होगा और **नरक से निकलकर कर्मभूमि में ही जन्म लेगा, सम्मूर्च्छन भी नहीं होगा अतः वह राघवमच्छ नहीं बन सकता**। निगोद अवस्था में रहकर भी, सामान्य रूप से सभी कार्य करते हुए भी परिणामों की विचित्रता देखो... मूर्च्छा की कमी आ गई, अल्परंभपरिग्रहत्व का मतलब वहाँ कोई फावड़ा चलाना है क्या? नहीं, मूर्च्छा का कम होना अर्थात् जो कर्मफल चेतना है उसमें इस क्वालिटी की मूर्च्छा नहीं रहती, कर्मोदय में उसी प्रकार का भाव करना कर्म फल चेतना है और भोगते समय उतनी मूर्च्छा नहीं होना यह किस क्वालिटी का है यह तो भगवान् जानते हैं। इसलिए कथञ्चित् हम अपने परिणामों के कर्ता स्वयं है, स्वतंत्र है यह मानने में कोई बाधा नहीं, हम बिल्कुल दूसरों के ऊपर निर्भर नहीं है बल्कि स्वतंत्र भी हैं, किसी अपेक्षा से हम स्वाश्रित हैं। स्वाश्रित क्रिया की ओर दृष्टि होने से ही शक्ति का और अधिक उद्घाटन होता चला जाता है। हाँ, अनिवार्य रूप से नहीं कहेंगे, ऐसा कहेंगे तो स्वच्छन्द हो जायेंगे। भाव कलंक सुपउरा...अर्थात् वहाँ प्रचुर कलंकित भाव होते हैं लेकिन जब उसकी प्रचुरता में कमी आती है तो उसकी वह पर्याय छूट जाती है।

आयु कर्म समान है इसलिए उनके अवधिज्ञान में भी समानता है ऐसा कोई नियम नहीं बना सकते। जैसे—इन्द्र और सामानिक देवों की आयु समान है लेकिन आज्ञा और ऐश्वर्य में समानता नहीं। अंगुल के असंख्यातवें भाग को, अवधिज्ञान का जघन्य विषय क्षेत्र बताया है अर्थात् नाम मात्र है लेकिन है तो वह क्षयोपशम...। समानता की व्याप्ति हम नहीं कर सकते। वैचित्र्य जो कुछ भी दिखता है वह कर्मोदय के ऊपर आधारित है लेकिन भावी जो कर्म की विचित्रता है वह परिणामों के ऊपर आधारित है न कि कर्मोदय पर आधारित है। सारे व्यक्तियों को एक समान से परिणाम हों यह संभव नहीं। तो एक निगोद शरीर में अनन्तानन्त जीव रह रहे हैं फिर भी उन सबका कर्म भिन्न-भिन्न है यही तो **द्रव्य की स्वतंत्रता** है। यहाँ प्रसंग संवरपूर्वक निर्जरा का चल रहा है। आप भी परीक्षा में पास हो गये हैं लेकिन सप्लीमेण्ट्री (पूरक परीक्षा) के साथ निकले हैं इतना तो कम से कम ध्यान रखो। तो यहाँ पर सप्लीमेण्ट्री के साथ जो जा रहा है उसकी बात नहीं कर रहे हैं किन्तु सम्पूर्ण विषयों में पास होकर के एक कक्षा से दूसरी कक्षा में जो जा रहा है उसकी बात कर रहे हैं। चार-चार विषयों में सप्लीमेण्ट्री आती है और कहते हैं हम भी बी.ए. से एम.ए. में पहुँच गये हैं। सप्लीमेण्ट्री परीक्षा देने की माइंड में वेदना/आकुलता तो रहती है। दक्षिण में इसे बोलते हैं—“**अक्टूबर चांस**” इसे हम नहीं समझते थे। सप्लीमेण्ट्री पेपर दिया जाता है और कहने के लिये वह ऊपर पहुँच गया है। लेकिन नीचे का हिसाब-किताब लेकर आया है। इसलिए उसके संवर पूर्वक निर्जरा नहीं बल्कि उसकी निर्जरा सप्लीमेण्ट्री के साथ चल रही है फिर भी कहता है कि हमारी निर्जरा हो रही है। जो सप्लीमेण्ट्री परीक्षा

देकर पास होता है उसे केवल पास ही कहा जाता है उसका कोई डिवीजन नहीं बनता। मान लो किसी एक विषय में ९० नम्बर हैं और दूसरे विषय का सप्लीमेण्ट्री पेपर देना है तो पास होने पर उसे फर्स्ट क्लास फर्स्ट नहीं कह सकते और उससे पढ़ने वाला छात्र भी सप्लीमेण्ट्री आदि का हो सकता यदि उसके ९० नम्बर से कोई प्रभावित होकर पढ़ने लग जाये तो उसके सप्लीमेण्ट्री के संस्कार भी आ सकते हैं। इस प्रकार अन्वय-दृष्टान्त गाथा गता...। अब उसी का विशेष वर्णन चल रहा है कि—वीतरागी यदि कोई है तो वह अपने ज्ञान गुण को हठात् मटमैला नहीं बना सकता है क्योंकि वह अपना स्वतंत्र परिणामन करता है किन्तु स्वयं यदि पर से प्रभावित होता है तो बीच में कोई आकर उसका निषेध भी नहीं कर सकता, उसके कार्य को निरस्त नहीं कर सकता यह तीन-चार गाथाओं के माध्यम से कहा गया। अब सराग परिणाम के द्वारा बंध होता है वीतराग परिणाम के द्वारा मोक्ष होता है। इसे दृष्टान्त और दार्ष्टान्त गाथाओं के द्वारा बताते हैं दृष्टान्त देकर के अब दार्ष्टान्त पर ले जाते हैं सराग दशा कल बता दी थी। मिथ्यात्व के साथ रागादि परिणत होने वाला आत्मा जो है वह निश्चित रूप से अज्ञान भाव का कर्ता होता है। मिथ्यात्व का अर्थ—अतत्त्व श्रद्धान यह रूढ़ है ही और उसके साथ अज्ञान भी होता है अतः उसी का मान लिया जाता है। अध्यात्म ग्रन्थों में इससे पृथक् कहा जाता है—मिथ्यात्व के साथ-साथ कोई रागादि कर लेता है तो वह भी अज्ञान भावों में आता ही है उसी को लेकर यहाँ प्रसंग बताया जा रहा है।

असंख्यात गुणी निर्जरा कब? कहाँ?—कल नहीं परसों जो बात कही थी उस विषय को याद करें कि—असंख्यात गुणी निर्जरा कब, कहाँ से, कैसे होती है? तो जो अनिवृत्तिकरण परिणाम में अन्तरकरण करता है, उस समय जो असंख्यात गुणी निर्जरा होती है उसको लेकर यहाँ कहा जा रहा है, क्योंकि वहाँ पर भी यदि असंख्यात गुणी निर्जरा होती है तो निचले स्थान की अपेक्षा होती है और अनिवृत्तिकरण परिणाम में जो असंख्यात गुणी निर्जरा होती है उससे अधिक चतुर्थ गुणस्थान में होगी, यह भी तय है इसलिए इसके बीच में असंख्यात गुणी निर्जरा कही गई है वह क्यों कही गई है यह एक विषय हो सकता है। इसके बारे में दो मत हैं।

दूसरी बात यह है कि—मिथ्यात्व की उदीरणा का काल और मिथ्यात्व की उदीरणा का अभाव और उसके उदय का काल इस बारे में थोड़ा सा विचार अपने को अवश्य करना है। मिथ्यात्व की उदीरणा हमेशा-हमेशा मिथ्यात्व गुणस्थान में ही होगी उसे कोई रोक नहीं सकता लेकिन एक एक्सेप्शन है कि जिस समय जीव उपशम सम्यक्त्व के सम्मुख हो जाता है उस समय चूँकि मिथ्यात्व का उदय व उदीरणा चल रही थी लेकिन वह जब सम्यग्दर्शन के सम्मुख हो जाता है और उपशम होने में एक आवली काल शेष रह जाता है, उस समय मिथ्यात्व की उदीरणा रुक जाती है, यह सिद्धान्त से समर्थित है। एक आवली काल के लिये वह उदीरणा क्यों रुकी? तो इसके लिए भी सिद्धान्त है कि सत्तागत मिथ्यात्व प्रकृति के उपशम होने के उपरान्त शेष उदयावली काल प्रमाण

निषेक पुंज उपशम और उदीरणा के अयोग्य होते हैं, उनका मात्र उदय होता है। उपशम होने के बाद सत्ता में ऐसा कोई द्रव्य नहीं रहा, जो उदीरणा के योग्य हो। उस समय सत्तागत मिथ्यात्व के उपशम होने पर उसमें असंख्यात गुणी निर्जरा मानने में कोई बाधा नहीं है संभव है दृष्टि में यह विषय हो। इसलिए इस अपेक्षा से मिथ्यात्व के उदय में भी असंख्यात गुणी निर्जरा का प्रावधान रखा हो ऐसा ज्ञात होता है और यह आधार सहित सिद्ध होता है। एक मत यह भी है कि जब जीव प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि होता है तभी वह प्रथम समय से असंख्यात गुणी निर्जरा होगी। वे उदय सापेक्ष निर्जरा को असंख्यात गुणी निर्जरा की कोटि में लेना नहीं चाहते हों, ऐसा लगता है क्योंकि **तत्त्वार्थसूत्र** में तो यही लिखा है कि सामान्य निर्जरा और सम्यग्दृष्टि की असंख्यात गुणी निर्जरा में अन्तर है तो यह सामान्य निर्जरा चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि से नीचे वाले की मानी जायेगी, लेकिन असंख्यात गुणी निर्जरा की बात जहाँ हो रही है वहाँ पर सम्यग्दर्शन है ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि जब तक मिथ्यात्व की उदय व्युच्छित्ति नहीं होती तब तक हम वहाँ सम्यग्दर्शन की परिभाषा नहीं बना सकेंगे। मिथ्यात्व की उदीरणा नहीं है, इसलिए सम्यग्दृष्टि हो जाये ऐसा भी नहीं है और उदीरणा रुक गई है, असंख्यात गुणी निर्जरा हो रही है इसलिए सम्यग्दर्शन है ऐसा भी नहीं है। सम्यग्दर्शन के साथ जो असंख्यात गुणी निर्जरा होती है वह मिथ्यात्व की उदय व्युच्छित्ति मूलक ही होती है। जो कोई सामान्य निर्जरा कर रहा है उससे भी असंख्यात गुणी निर्जरा होगी। **तत्त्वार्थसूत्र** के टीकाकार के अनुसार उस सूत्र में उन्होंने सम्यग्दृष्टि शब्द के साथ निर्जरा को कहा है। सम्यग्दृष्टि शब्द का प्रयोग तब होता है जब उदय में मिथ्यात्व न हो और उदीरणा भी न हो वहाँ एक आवलीकाल पहले मिथ्यात्व की उदीरणा रुक जाती है लेकिन उदय तो है, उदय व्युच्छित्ति नहीं हुई है, हाँ उदीरणा की व्युच्छित्ति अवश्य हो गई है। उदय व्युच्छित्ति नहीं होने के कारण उसको असंख्यात गुणी निर्जरा की कोटि में नहीं गिन करके बहुतर कर्म निर्जरा के रूप में स्वीकार किया हो, ऐसा इस विषय से स्पष्ट होता है क्योंकि मिथ्यात्व का उदय है तो मिथ्यात्व का आस्रव भी होगा। यही तो हम कह रहे हैं। उस समय असंख्यात गुणी निर्जरा की व्यवस्था क्यों की गई है इसको स्पष्ट करने के लिये यह विषय प्रस्तुत किया गया है।

सम्यग्दर्शन तो हम तभी कह सकते हैं जब मिथ्यात्व की उदय व्युच्छित्ति भी हो गई हो। उदय व्युच्छित्ति का अर्थ है संवर। मात्र उदीरणा व्युच्छित्ति होना संवर नहीं माना जायेगा? यह उदीरणा व्युच्छित्ति तो एक आवलीकाल पहले ही हो जाती है। जैसे-चौदहवें गुणस्थान में तीर्थंकर प्रकृति का उदय तो है लेकिन उदीरणा नहीं, अन्तर्मुहूर्त के लिये यह उदीरणा रुक जाती है वहाँ असंख्यात गुणी निर्जरा होती है कि नहीं? आगम हमारे सामने है। हमने कहा था कि असंख्यात गुणी निर्जरा जो होती है। वह इस ढंग से होती हो।

दूसरी बात—सम्मत्तुप्पत्तीए...शब्द दिया है अर्थात् सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति काल में असंख्यात

गुणी निर्जरा होती है ऐसा कोई कह देता है तो उसके लिये भी हमारा यही कहना है कि जो असंख्यात गुणी निर्जरा कही है उसका आशय क्या है? यह हमने बता दिया। केवल उदीरणा रुक जाना पर्याप्त नहीं है और असंख्यात गुणी निर्जरा के लिये केवल सम्यग्दर्शन को खड़े कर देना यह भी नियम नहीं है। नियम तो इसको बोलते हैं कि जहाँ पर मिथ्यात्व का उदय पूर्णतया अभाव को प्राप्त हो जाता है तब उसे सम्यग्दृष्टि बोलते हैं। वहाँ मिथ्यात्व का मात्र उपशमनीय करण होना पर्याप्त नहीं है क्योंकि यह तो हो चुका अब उदयावली में तो उपशमनीय हो ही नहीं सकता तो अब क्या करें? तो फिर अन्तरकरण होता है और यह भी अनिवृत्तिकरण का संख्यात बहुभाग बीतने के उपरान्त होता है। अन्तरकरण हुआ उसी समय मिथ्यात्व का द्रव्य तीन टुकड़ों में विभाजित हो जाता है ऐसा भी आगम में एक मत मिलता है। यह भी एक नया विषय आ जाता है। जब अन्तरकरण हुआ तो मिथ्यात्व का तो सत्ता में पूरा-पूरा उपशमनीय करण हो चुका उसके उपरान्त उदीरणा भले ही रुक जाय, उदय तो नहीं रुक सकता, अतः बंध भी हो रहा है इसलिए उस निर्जरा को असंख्यातगुणी कहो तो भी सम्यग्दर्शन के साथ जो निर्जरा होती है उसकी विवक्षा में तो यह अलग प्रकार की घटिया किस्म की ही मानेंगे यह निश्चित है क्योंकि वह मिथ्यात्व के उदय के साथ है। यहाँ सम्यग्दर्शन की भूमिका के साथ निर्जरा का कथन किया जा रहा है अतः उसके सामने रखकर के तुलना नहीं कर सकते, हाँ उसको पीछे या नीचे रख करके तुलना कर सकते हैं। इस विवक्षा से मिथ्यात्व के उदय के साथ भी असंख्यात गुणी निर्जरा होती है ऐसा मानते हैं उनके लिये इस विषय से सिद्ध हुआ।

इसमें हेतु तो यह दिया कि अन्तरकरण करने के समय पर मिथ्यात्व की उदीरणा नहीं होती है। यह बात परसों नहीं कही गई थी अतः उसका आज स्पष्टीकरण हो गया। गुण श्रेणी निर्जरा का अर्थ—सविपाक निर्जरा नहीं है, बस इतना ही किन्तु सामान्य रूप से जो निर्जरा होती है वह नहीं है क्योंकि यह अपूर्व, अनिवृत्तिकरण आदि में होती है अतः वह सामान्य निर्जरा नहीं मानी जायेगी। गुणित क्रम से आगे-आगे होती है लेकिन होकर के भी ये जो स्थान है वह भी असंख्यात समयवर्ती स्थान है। इसमें निर्जरा होते हुए भी आचार्यों ने सम्यग्दर्शन के साथ जो निर्जरा स्थान बताये हैं उनमें इसे गर्भित नहीं किया है, इसलिए यह बात अपने को समझना है। उदीरणा तो एक आवली काल से पूर्व में रुक जाती है यह एक सशक्त प्वाइंट है क्योंकि उदय-उदीरणा की अपेक्षा वहाँ अन्तर तो है। उदयकरण अलग है, उदीरणा करण अलग है। उदीरणा के साथ तीव्रता अवश्य रहती है, तारतम्य को लेकर भले ही हो-नीचे की अपेक्षा ऊपर में..लेकिन फिर भी तीव्रता तो उदीरणा के साथ रहती है इस अपेक्षा से उन्होंने मिथ्यात्व के उदय में भी असंख्यात गुणी निर्जरा को गिना हो। एक आवली काल शेष रह जाता है उस समय मिथ्यात्व गुणस्थान होते हुए भी मिथ्यात्व की उदीरणा एक आवली काल के लिये रुकती है। इस विषय का स्पष्टीकरण परसों नहीं किया गया था, यह विषय आज नया दिया गया है।

उपशमन और क्षपण दो शब्द हैं। जिस समय उपशम का कार्य होता है उस समय उसको उपशमन बोलते हैं और काम पूर्ण हो गया तो उपशमित बोलते हैं। उपशमित यह एक प्रकार से इसलिए कहा जा सकता है कि उदयावली में जो चल रहा है उसका तो उपशमन होता नहीं है इस अपेक्षा से कह सकते हैं कि करने योग्य जो था वह तो उपशमित हो गया तभी तो वह उदीरणा रुकी है, क्योंकि एक आवली काल के लिए उसे रोकना है और एक आवली काल छोड़कर उपशम करना है। सत्ता में कुछ नहीं रहा और उदयावली में उपशमित करता नहीं इसलिए वह उपशान्त ही माना जायेगा, उपशमन नहीं, क्योंकि उपशमन के योग्य तो अब वो रहा नहीं। नहीं है तो भी औपचारिक-पारमार्थिक ऐसी परिभाषा बनाकर कर सकते हैं तो यह चतुर्थगुणस्थान नहीं माना जायेगा क्योंकि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती के लिये मिथ्यात्व की व्युच्छिति अनिवार्य है। इस विषय पर आप चलिये..। इसमें सिद्धान्त से कोई विरोध नहीं आ रहा है—जिन्होंने असंख्यात गुणी निर्जरा सम्यग्दर्शन के बिना भी मानी है तो उसे इस विवक्षा को लेकर कह सकते हैं। नहीं तो सामान्य निर्जरा तो वहाँ हम मानते ही हैं। क्योंकि सम्यग्दर्शन को अभी प्राप्त नहीं किया है।

अल्पबहुत्व के साथ देख लो कि सम्यग्दर्शन के साथ काल कितना है? अनिवृत्तिकरण का संख्यात-बहुभाग बीतने पर अन्तरकरण किया है उसका अल्पबहुत्व क्या है? और सामान्य अनिवृत्तिकरण परिणाम है उसका अल्पबहुत्व क्या है? यह देख लो...। एक अन्तर्मुहूर्त में असंख्यात आवलियाँ हो सकती हैं ध्यान रखना...एक आवली को भी अन्तर्मुहूर्त घोषित किया है जितना है उतना ग्रहण कर लो। आधार यह बता रहे हैं कि—एक आवली काल के लिये उदीरणा रुकी है इतना तो निश्चित है इससे ज्यादा नहीं रुक सकती यह भी सही बात है। इस अपेक्षा से देखें तो उसमें मिथ्यात्व की तीव्रता कम तो हुई है लेकिन अभी वह चतुर्थ गुणस्थान को भी प्राप्त नहीं हुआ है इस विषय को तो कम से कम दिमाग में रखना चाहिए। आप लोगों की शंका प्रौढ़ नहीं थी इसलिए परसों यह विषय नहीं खुल पाया। यदि असंख्यात गुणी निर्जरा का समर्थन कहीं मिलता है तो संभव है इस आधार से कहा हो। हम तो मजबूत आधार मिलता है तो लेते हैं लचकदार नहीं...।

भारतीय संविधान जैसे लचकदार बनना नहीं चाहते हैं जो कि संशोधन और समीक्षा के योग्य बन जाय। पचास वर्ष के उपरान्त संविधान की समीक्षा हो रही है मतलब पचास वर्ष पूर्व से आज तक समीक्षा नहीं हुई। सुनो—वर्षाकाल में बिना किसी प्रयास के नदी में नहर जैसी बाढ़ आ जाती है। वर्षा काल का यह उपयोग है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के समय पर भी इतनी विशुद्धि बढ़ जाती है कि उसके कारण असंख्यात गुणी निर्जरा हो जाती है और फिर अन्तर्मुहूर्त के उपरान्त शान्त हो जाती है, निकल जाती है लेकिन नहर में ऐसी बात नहीं होती वह तो हमेशा—हमेशा वेगदार होती है अर्थात् पाँचवें गुणस्थान में हमेशा निर्जरा होती है यह उदाहरण तो पहले हमने दिया था। असंख्यात गुणी निर्जरा के लिये संयमी ही चाहिए ऐसा किसने कहा? सम्यग्दर्शन के बाद यदि प्रतिसमय निर्जरा

आप चाहते हैं तो उसके लिये संयमासंयम या संयम की आवश्यकता बताई है लेकिन सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के समय में भी असंख्यात गुणी निर्जरा होती है इसमें कोई संदेह नहीं है।

दृष्टान्त—जैसे किसी को पुरुष्कृत किया जाता है तो उसका एक समय होता है जो पुरुष्कार दिया वह वेतन नहीं है, प्रतिदिन का वेतन अलग चीज है। किसी को दस हजार रुपये से पुरुष्कृत कर दिया और उसी के पेरेरल दूसरे से कहा तुम्हें पुरुष्कार तो नहीं दिया जाता किन्तु तुम्हारा प्रतिदिन का वेतन सौ रुपये बढ़ा दिया जाता है तो वह कहता है—बहुत अच्छा...क्योंकि दस हजार तो एक बार मिला लेकिन सौ रुपये अधिक तो हमेशा देगा उसको वह जिन्दगी भर के लिये बहुत हो गया।

दृष्टान्त—सम्यग्दृष्टि के प्रतिसमय असंख्यात गुणी निर्जरा क्यों नहीं होती तो उसके लिये भी उदाहरण दे देते हैं—जैसे—किसी के यहाँ बहुत दिनों के बाद संतान हो गई तो मिठाई बाँट दी गई सब मिठाई खाकर चले गये। शाम को पिता सोचता है—सब तो मिठाई खाकर चले गये लेकिन अब इस बालक का गुजारा कैसे करना है? कौन—सी स्कूल में डालेंगे कि अच्छे संस्कार मिलें, स्कूल कैसे भेजा जाये? कैसे इसकी रक्षा की जाय? आदि—आदि बहुत सारी चिन्तायें बढ़ जाती हैं—यह चिन्ता क्या है? संक्लेश...। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को इतना संतोष प्राप्त नहीं होता जितना कि संयमी को होता है। रत्नत्रय होने के कारण हमेशा संयम का वह परिणाम बना रहता है। अविरति जैसे परिणाम नहीं होते हैं, ऐसा कहते हैं क्यों? तो स्वभाव है। **आचार्य वीरसेन महाराज** तर्कणा करने वालों के लिये यही उत्तर देते हैं कि—साहाविथादो।

उत्थानिका—आगे दृष्टान्त और दार्ष्टान्त के द्वारा यह बतलाते हैं कि सराग परिणाम से बंध और वीतराग परिणाम से मोक्ष होता है। इसी को अन्य दृष्टान्त से ज्ञानी व अज्ञानी जीव के बारे में बता रहे हैं—

पुरिसो जह कोवि इह वित्तिणिमित्तं तु सेवदे रायं।
तो सोवि देदि राया विविहे भोगे सुहुप्पादे ॥२३९॥
एमेव जीवपुरिसो कम्मरयं सेवदे सुहणिमित्तं।
तो सोवि कम्मरायो देदि सुहुप्पादगे भोगे ॥२४०॥
जह पुण सो चेव णरो वित्तिणिमित्तं ण सेवदे रायं।
तो सो ण देदि राया विविह-सुहुप्पादगे भोगे ॥२४१॥
एमेव सम्मदिट्ठी विसयत्थं सेवदे ण कम्मरयं।
तो सो ण देदि कम्मं विविहे भोगे सुहुप्पादे ॥२४२॥

अन्वयार्थ—(जह) जैसे (इह) इस लोक में (कोवि पुरिसो) कोई भी पुरुष (वित्तिणिमित्तं तु) आजीविका के लिये (रायं) राजा की (सेवदे) सेवा करता है (तो) तो (सोवि राया) वह राजा

भी उसे (सुहृप्पादे) सुख उत्पन्न करने वाले (विविहे) अनेक प्रकार के (भोगे) भोग (देदि) देता है।

(एमेव) इसी प्रकार (जीवपुरिसो) जीव पुरुष (सुहृणिमित्तं) सुख के लिये (कम्मरयं) कर्म रूपी रज की (सेवदे) सेवा करता है (तो) तब (सोवि कम्मरायो) वह कर्म राजा भी उसे (सुहृप्पादगे) सुख उत्पन्न करने वाले (भोगे) भोग (देदि) देता है।

(पुण) और (जह) जैसे (सो चेव णरो) वही पुरुष (वित्तिणिमित्तं) धन के लिए (रायं) राजा की (ण सेवदे) सेवा नहीं करता? (तो) तब (सो राया) वह राजा भी (विविह-सुहृप्पादगे) अनेक प्रकार के सुख उत्पन्न करने वाले (भोगे) भोग (ण देदि) नहीं देता?

(एमेव) इसी प्रकार (सम्मदिट्ठी) सम्यग्दृष्टि (विसयत्थं) विषय के लिए (कम्मरयं) कर्म रज की (कर्म रूपी राजा की) (ण सेवदे) सेवा नहीं करता (तो) तो (सो कम्मं) वह कर्म उसे (सुहृप्पादे) सुख उत्पन्न करने वाले (विविहे भोगे) अनेक प्रकार के भोग (ण देदि) नहीं देता।

अर्थ—लोक में जैसे कोई पुरुष आजीविका के लिए राजा की सेवा करता है तब राजा उसके साधनभूत यथोचित पारितोषिक देता है। जैसे ही वह अज्ञानी जीव विषय सुख के लिए कर्मराजा की सेवा करता है तब वही कर्मरूपी राजा सुख को उत्पन्न करने वाले भोग देता है, किन्तु यदि वही पुरुष किसी प्रकार के फल की इच्छा बिना राजा की सेवा करता है तो राजा उसे पारितोषिक नहीं देता, वैसे ही सम्यग्दृष्टि विरागी जीव विषयों के सुख के लिए कर्मरूपी राजा की सेवा नहीं करता है तब वही कर्मरूपी राजा नाना प्रकार के सुख पैदा करने वाले भोगों को नहीं देता है।

कोई यहाँ नर नराधिप की सुसेवा,
मानो धनाढ्य बनने करता सदैवा।
राजा उसे सुखद-सुन्दर-सम्पदायें,
देता सुदुर्लभ अभीष्ट विलासतायें ॥२३९॥

हो कर्म-सेव करता इस ही प्रमाणे-
संसारिजीव यदि संपत्ति-भोग पाने।
तो कर्म भी विविध सौख्य प्रमोदकारी,
देता उसे क्षणिक-भौतिक-दुःखकारी ॥२४०॥

मानो धनाढ्य बनने करता न सेवा,
कोई यहाँ नर नराधिप की सदैवा।
राजा कभी न मनवांछित सम्पदायें,
देता उसे सुखद पूर्ण विलासतायें ॥२४१॥

साधू विराग दृग पा निज में लसें वे,
 ना कर्म को विषय सेवन हेतु सेवें।
 तो कर्म भी न उनको सुख-सम्पदा दे,
 तू कर्म-धर्म पर ध्यान अतः सदा दे ॥२४२॥

व्याख्या—देखो! मिलिट्री में प्रतिदिन अच्छे ढंग से भोजन कराया जाता है सभी अच्छे मन से भोजन करते हैं, वहाँ इसकी अच्छी व्यवस्था रहती है लेकिन जब युद्ध छिड़ जाता है तो समय पर चने भी नहीं मिल पाते हैं। समय पर न बिस्तर, न पानी, न कोई पूछने वाला है इस प्रकार सात-आठ दिन तक बिना भोजन के रह जाते हैं। सुनते हैं उनके शरीर में शक्ति क्षमता बनी रहे इसलिए मूंगफली के बराबर एक टेबलेट दे देते हैं उससे सात-आठ दिन तक भूख उपशमित हो जाती है शरीर में कमजोरी नहीं आने देती है, यह टेबलेट लेने से फिर उन्हें न प्यास लगती है न भूख लगती है ऐसा हो जाता है, वहाँ रात-दिन काम करना पड़ता है, सो भी नहीं सकते। सोयें भी कैसे? बम विस्फोट हो रहे तो नींद आ जाये यह संभव नहीं। आप लोग भी जब नींद आये या सोने का समय है उस समय बम विस्फोट का ध्यान रखो, याद कर लो तो नींद नहीं आयेगी, आयेगी भी नींद तो कम आयेगी। सोचो! विस्फोट जहाँ होते रहते हैं उस माहौल में कैसे रहते होंगे? वे इसके अभ्यस्त रहते हैं। उनके जीवन में मृत्यु कोई वस्तु ही नहीं है, उस बात को तो पहले ही बाँधबूध कर नीचे रख दिया जाता है। जैसे पादत्राण रख देते हैं न, उसी प्रकार वे लोग मृत्यु को पग-तले में रख देते हैं और विजय श्री को हमेशा-हमेशा मस्तिष्क में रखते हैं। बस गौरवगाथा...जीवन तो ऐसे ही क्षणभंगुर है, यह बात उनके दिमाग में रहती है तो उन्हें मृत्यु से डर नहीं होता है, उसी प्रकार जीव रूपी पुरुष भी कर्मरूपी राजा की सेवा करता है, सुहणिमित्तं अर्थात् शुभ कर्म के निमित्त से सेवा करता है क्योंकि उसे भी ज्ञात है कि कुछ अच्छा कार्य करेंगे तो सुख मिलेगा और इसी आशा के साथ सारा का सारा ब्रह्माण्ड अर्थात् सभी लोग कार्य करते चले जाते हैं, जबकि संसार में एकान्त से सुख मिलता ही नहीं है, वह तो दुःख के साथ ही मिलता है और एकान्त से सुख हो तो वह आपको अच्छा भी नहीं लगता, दुःख के साथ ही अच्छा लगता है, क्योंकि सुख की कीमत तो दुःख के साथ समझ में आती है।

दृष्टान्त—जैसे—आप भोजन करेंगे, तो पसीना तो आयेगा, कुछ तकलीफ तो होगी, लेकिन आप उस तरफ ध्यान नहीं दे रहे हैं, यह बात अलग है, अब मुझे ये बताओ, कि भोजन करने के उपरान्त कैसा अनुभव करते हैं? भोजन के पहले भी कोई काम नहीं रुचता और भोजन के बाद भी कुछ नहीं रुचता। देवों में एकान्त रूप से भोग हैं, वहाँ सन्तान नहीं होती, क्योंकि सन्तान हो जाये तो प्रेम बँट जाये, भोगोपभोग में ब्रेक लग जाये आदि-आदि। घर में व्यक्ति रहता है और संतान बड़ी हो जाती है, तो अब यहाँ नहीं रहना, क्योंकि दो से चार हो गये, तो शांति प्राप्त करने के लिए वह घर से बाहर चला जाता है, लेकिन सात समुंदर पार चला जाये तो भी वहाँ शांति नहीं मिलती, फिर

कलकत्ता, कलकत्ता से देहली, यही चलता रहता है। क्यों जा रहा है? अभी तक तो घर से बाहर निकलता नहीं था और अब घर आने की बात ही नहीं करता है बस वहीं से फोन लगा लेता है कि ठीक चल रहा है कि नहीं? हाँ सब ठीक चल रहा है। हजार-हजार कि.मी. दूर हों और एक दिन फोन नहीं आता तो दुःख होता है कि नहीं? होता ही है।

जिज्ञासा—त्यक्त और च्युत में क्या अन्तर है ?

समाधान—त्यक्त और च्युत में बहुत अन्तर होता है। त्यक्त त्याग का प्रतीक होता है, मोह के त्याग का प्रतीक है और च्युत में त्याग नहीं होता किन्तु वस्तु स्वयं छूटती है। जैसे ये लोग घर छोड़ना नहीं चाहते हैं पर छूट जाता है, क्या करें? और कहते हैं शादी के पहले हमें ऐसा सुयोग निमित्त नहीं मिला नहीं तो हम भी महाराज बन जाते। तो हमारा कहना है कि निमित्त मिला तो होगा, तुमने मिलाया नहीं होगा। आर्यखण्ड में महापुरुषों से सम्बन्ध जुड़ा रहता है, यहाँ से वे म्लेच्छखण्ड में विजय की अपेक्षा से चले जाते हैं। तीर्थकरों का विहार म्लेच्छखण्ड में कभी नहीं होता, किन्तु वे यदि चक्रवर्ती हैं तो चक्रवर्ती के रूप में विजय प्राप्त करने हेतु वहाँ चले जाते हैं और वहाँ से वापस आ जाते हैं, इसलिए यहाँ कहा जा रहा है, कि सुख के लिए यह संसारी प्राणी किस-किस की सेवा नहीं करता आया है और इसी कारण कर्म की भी सेवा करता आया है।

सब जग देख्यो छान—देखो! ये कितनी जघन्य बात हो गई कि जो नश्वर है, जड़ है, जो सुख के लिए चाहे विद्वान् हों, श्रीमान् हों, धीमान् हों सभी पागल हो रहे हैं, सभी सुख चाहते हैं। घर पर मेहमान आ जाते हैं तो उससे भी काम ले लेते हैं। कोई मेहमान आ जाये तो दो-तीन दिन तक उसके साथ अच्छे से व्यवहार किया जाता है और दोनों स्वार्थ के साथ एक दूसरे का कार्य करते हैं। यदि एकाध महीने तक रुक जाये वह तो उसको उसके घर की याद करा देते हैं। तो मेहमान भी कह देता है कि यदि आप कहो तो उसको भी यहीं बुला लूँ। हम क्या करें? यह स्थिति है आज, यह मेहमानगिरी कैसी है? समझ में नहीं आता, बहुत कठिन है, इसलिए आचार्य कहते हैं कि तत्त्वज्ञानी ही एक प्रकार से संतोष का अनुभव कर सकता है, बाकी तो जितने भी जीव हैं, वे भीतर ही भीतर तड़पते रहते हैं, तत्त्वज्ञान होने के उपरान्त भी त्याग नहीं कर पाता, तो उसकी पीड़ा कुछ और तरह की होती है, कि जायें तो कहाँ जायें? क्योंकि विषयों का समर्थन नहीं कर सकता और यहाँ इस मार्ग में आ नहीं सकता। इधर का विरोध कर नहीं सकता और त्याग संयम अपना नहीं सकता और उधर घर का माहौल अच्छा नहीं लग रहा है तो अब क्या करें? तो घर के लोग कहते हैं, कि अब भाग जा यहाँ से, लेकिन कहाँ जाऊँ? कैसे जाऊँ? क्योंकि जा नहीं सकता, जाना तो चाहता हूँ, लेकिन अभी हिम्मत नहीं है, यहाँ हमारे घरवाले दीक्षा लेते नहीं, तो हम कैसे ले लें? “**ध्यान रखो वैराग्य तो स्वयं के लिए स्वयं का होता है, पर के लिए थोड़े ही होता है।**” जो कोई भी व्यक्ति होता है, वह दूसरे देश में चला जाता है तो वहाँ क्या कहता है कि इन्होंने शरण दी है और वह कहता है कि हमने शरण ली

है, तो किसने शरण दी और किसने शरण ली? कई व्यक्ति आज भारत में शरण लेते जा रहे हैं और कहते हैं कि हम यहीं के मेम्बर (सदस्य) हैं, उदारता के साथ रखो। पूछने वाला पूछता है कि आप क्यों रखते हैं? तो कहते हैं कि वे सब आये हैं, हमने नहीं बुलाया है, व्यवहार में सभ्यता के साथ तो सब होता है, यहाँ से भाग जाओ ऐसा कहना तो ठीक नहीं है। वह स्वयं सोच-विचार ले तो और भी अच्छा है, तो कर्म भी राजा मान कर सुख-दुःख दे देता है, यदि कोई पुरुष धन के निमित्त से राजा की सेवा नहीं करता है तो निश्चित बात है कि राजा भी उसके लिए सुख सामग्री प्रदान नहीं करता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव भोग तो अवश्य करता है, क्योंकि इसके बिना तो चल नहीं सकता लेकिन विषय सुखों के लिए भोग नहीं करता। कर्मों का भोग करना, कर्मों का उपभोग करना तो अनिवार्य है, लेकिन विषयों के लिए, इन्द्रियों की तुष्टि, मन की पुष्टि के लिए नहीं करता, क्योंकि उसको सारा रहस्य समझ में आ गया है, कि ये इन्द्रिय और मन कभी तुष्ट और पुष्ट होते ही नहीं, इनकी पुष्टि करने से आत्मा में कोई सुख का संचार नहीं होता है, यह तो उल्टा फेरा है, इसलिए अज्ञान दशा में जिन कर्मों को बांधा था, उसका ज्ञानी जीव ज्ञान दशा में संतोष के साथ मात्र उपभोग करता है, लेकिन विषय सुख के लिए नहीं करता है, अर्थात् पुण्य का उदय हो जाये तो उसके फल में लट्टू नहीं होता और पाप का उदय आ जाये तो उसमें दीन-हीन नहीं होता है, क्योंकि वह जानता है कि यह वस्तु स्थिति है, ये भोगना पड़ेगा, जो पल्ले में है वो ही तो उदय में आयेगा और राग द्वेष करने से पुनः बंध होगा, पुनः सत्ता बनेगी। इसमें कुछ शुभ भी होगा कुछ अशुभ भी होगा, लेकिन आज तक सब जग देख्यो छान, सब देख लिया, अब दुनिया को छानने की आवश्यकता नहीं, कर्मों को छानने की आवश्यकता है, तो कर्मों को भी छान करके देख लो, कहीं भी सुख सामग्री नहीं है, लेकिन सुख जैसी लगती है, उसमें सुख है ही नहीं ये ज्ञानी जीव जानता है।

दृष्टान्त—जैसे—घर में जो वृद्ध लोग होते हैं वे खाद्य पदार्थ को अथवा पकवान को कभी इधर-उधर घूमते हुए नाचते हुए नहीं खाते, किन्तु घर का छोटा सा नाती जो है उसको यदि पकवान मिलता है तो वह कूदने लगता है, नाचने लगता है और नाचते-नाचते उसे खाता है, उसके बिना उसे हजम भी नहीं होता, उसी प्रकार अज्ञानी, असंयमी जीव शुभ का उदय हो तो कूदने लगता है और अशुभ का उदय हो तो धरती में घुसने लग जाता है और ज्ञानी संयमी जीव इन दोनों दशाओं में एक सा रहता है, वो ना उछलता है ना धरती में घुसता है, वो तो शान्त बैठा रहता है, पर्वत के समान अडिग हो जाता है, चाहे ठंडी बहार चले या गरम-गरम लू चले अथवा वर्षा हो रही हो सभी में मेरुवत् अडिग रहता है। पाप हो या पुण्य हो ये सारी की सारी तात्कालिक परिस्थितियाँ हैं, सुख को सुख कहा जाता है, वैसे ही दुःख को दुःख कहा जाता है, वस्तुतः सुख-दुःख कुछ है ही नहीं, सब कुछ स्व संवेदन के ऊपर निर्भर है।

ज्ञानी तो शान्त बैठा है और पर्वत टूट पड़े तो भी उसे कुछ नहीं होता और अज्ञानी को कोई

एक कंकड़ फेंकने की बात भी कर दे तो वह आग बबूला हो जाता है, ईंट का जवाब पत्थर से मिलता है किन्तु ज्ञानी तो यह जानता है, कि ये टूटना-फूटना आदि सब बाहर हो रहा है, अपने में कुछ नहीं हो रहा है, यह उसका कितना बड़ा विलपाँवर (इच्छा शक्ति) है सोचो? वह कहता है आखिर क्या होगा? भीतर जो होगा, वही तो उदय में आयेगा, साथ ही अप्रमत्त दशा का अनुभव करेंगे तो साता की ही उदीरणा होगी, इसलिए मौका है तो लाभ उठा लो। यदि असाता की उदीरणा है तो उदय भी रहेगा, क्योंकि छटवे गुणस्थान तक ही साता-असाता की उदीरणा होती है, उससे ऊपर चले गये, तो सब शान्त।

दृष्टान्त—रिमझिम-रिमझिम वर्षा इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है लेकिन तूफान के साथ-साथ मूसलाधार वर्षा हो जाती है तो बड़ा कठिन होता है, चाहे शुभ की वर्षा हो चाहे अशुभ की। यदि मेहमान घर में आ जाते हैं तो अड़ोस-पड़ोस वालों से बात करने की फुर्सत नहीं होती, दुकान से भी फोन नहीं लग सकता। दस दिन तक मुनीम जी फोन भी नहीं करता है, तुम्हें जो समझ में आये तो कर लेना, यह कह करके चला जाता है। इसी प्रकार संयमी जीव भी शुभ-अशुभ कर्मों के उदय रूप फोन-तार से सम्बन्ध तोड़ देता है, अर्थात् उदय आता है तो आने दो। प्रमाद दशा में सम्बन्ध होते हैं, अप्रमत्त दशा में नहीं, इसमें तो अज्ञातवास होता है, जानबूझकर अज्ञातवास लिया जाता है, नहीं तो कभी रेस्ट ही नहीं मिलेगा। यह केवल साता-असाता के बारे में बात कही जा रही है, क्योंकि शेष कर्मों की उदीरणा होती रहे, तो उससे कोई बाधा नहीं, लेकिन श्रेणी में वेदनीय कर्म की उदीरणा हो जाये तो वह गड़बड़ करने वाली है, इसलिए तो **धवलाकार ने वेदणीयो चेव वेदणीयो कहा है। पाणावरणीयो णो वेदणीयो, दंसणवरणीयो णो वेदणीयो**। इसी प्रकार आयु नाम, गोत्र, अन्तराय आदि सभी नो वेदनीय हैं, मात्र वेदनीय कर्म के लिए वेयणीयो चेव वेदणीयो कहा है।

निश्चय नय की अपेक्षा आठ कर्मों में से किसी का भी वेदन नहीं होता, जिन्हें निश्चय नय अच्छा लगता है उन्हें यह बात ध्यान रखना चाहिए, किन्तु व्यवहार से मात्र वेदनीय का संवेदन होता है, चाहे वह सुख रूप में हो या दुःख रूप में हो इसके अलावा और कुछ नहीं होता, इसलिए तो आप लोग आपस में पूछते हैं साता छै, **घणो खम्मो**, राजस्थान में, मेवाड़ में ऐसा कहते हैं कि—**घणो खम्मो**, अर्थात् बहुत शांति है, क्षमा है, कोई भी दिक्कत नहीं है, क्षमा, क्षमा है। ये कब कह सकते हैं, जब खाने-पीने, उठने-बैठने, रहने में शांति हो तो **घणो खम्मो** कह सकते हैं। इसी प्रकार साता का उदय है तो कहते हैं **घणो खम्मो**। किसी और कर्म का वेदन नहीं होता है, वेदनीय कर्म सार्थक नाम वाला है, जो वेदन कराता है, कषाय-नोकषाय में भी वेदनीय शब्द का प्रयोग किया है, निश्चय नय से मोहनीय का भी वेदन नहीं होता है। **‘षट्खण्डागम’** के सूत्र में भी यह आया है कि आठ कर्मों में से वेदन किसका होता है? तो वेदनीय का होता है। छठवें गुणस्थान से ऊपर उठे नहीं कि साता-असाता की उदीरणा रुक जाती है, यह उदीरणा रुक जाती है तो ऊपर के गुणस्थानों में सातवें

गुणस्थान से सुख-दुःख की वेदना नहीं होगी क्योंकि तीव्रता का अभाव हो गया है...आचार्य कहते हैं कि अब शांति से बैठ जाओ...।

दृष्टान्त—जैसे—वर्तमान में सभी को ९७-९८ डिग्री बुखार है या नहीं? है..लेकिन आप कहते नहीं है की...हमें बुखार है। यह ९८° तापमान तो अच्छा माना जाता है, स्वास्थ्य का प्रतीक है उसी प्रकार वेदनीय कर्म का उदय चलता रहता है, उदीरणा भर नहीं हो इसकी..फिर तो न सुख की आकुलता होती है न दुःख की आकुलता होती है संयम के साथ ही यह अवसर प्राप्त हो सकता है। आप लोगों के जीवन में असंयम की दशा में वेदनीय की उदीरणा रुक नहीं सकती, चाहे पाँचवाँ गुणस्थान भी क्यों न हो...अतः यह दरवाजा बंद कर दो और संयम का दरवाजा खोल दो तो निश्चित रूप से वहाँ पर उदीरणा रुक जायेगी।

संस्मरण—नेमावर की बात है—रेस्ट हाउस में रुके थे, अरहर के घास की झोपड़ी-दीवार बनायी थी और उसके भीतर अपने को पाटे पर बिठाया था, बाहर लू चलती थी...तो कहने लगे महाराज! भीतर रेस्ट हाउस में चलो, यहाँ तो बहुत लू चल रही है। हमने कहा—हम भीतर ही तो बैठे हैं, यहाँ हवा तो चलेगी, आयेगी लेकिन भीतर छनकर के आयेगी (हँसी) अर्थात् हवा सीधी नहीं आयेगी। टकराकर आयेगी तो लू नहीं आयेगी, उससे टकरायेगी तो हवा तो आयेगी अर्थात् उस वेदनीय का वेदन तो होगा वेदना नहीं होगी, क्षम्य है, सब्र है...।

दृष्टान्त—माँ बेटे से कहती है—बेटा! खिचड़ी को ठण्डा करके खाओ, गरम-गरम में हाथ नहीं डालते, देख तो लें हम...जल्दी नहीं करो...माँ फिर कहती है कि यदि खाना ही है तो किनारे से लो...इसमें जो गर्मपना है वह उदीरणा का प्रतीक है, इसको पहले कुनकुना बना लो...साता को भी कुनकुना बना लो और असाता को भी कुनकुना बना करके सेवन करना चाहिए जैसे कि साधु लोग करते हैं।

यहाँ यही बात कही जा रही है कि—सम्यग्दृष्टि पञ्चेन्द्रिय विषयों के लिये भोगोपभोग नहीं भोगता किन्तु वह कर्म का वेदन अनिवार्य तत्त्व है इसे भोगना अनिवार्य है तो भी विषयों के लिये नहीं भोगता किन्तु शांति के साथ सहन करता है तो उसका किसी भी प्रकार से नवीन कर्म बंध नहीं होता है वह कर्म आकुलता पैदा नहीं कर पाता है, कर्म अपना फल तो देगा लेकिन आकुलता पैदा नहीं करेगा, अपनी ड्यूटी भर देगा और उसी से संयमी का काम चलता रहता है...यह कितना सुन्दर प्रकरण है— कोई भी हो छठवें गुणस्थान तक तो उदीरणा होगी ही, अन्तर्मुहूर्त काल में ये शांति का उपाय है और यह भी ध्यान रखना कि सातवें गुणस्थान में असाता का उदय तो रह सकता है लेकिन बंध तो साता का ही होगा। संयम मार्गणा में भी अप्रमत्त दशा में जो साता का बंध होता है वह इतना तीव्र अनुभाग बंध होता है जिसको क्रीम बोलना चाहिए, नहीं चाहते हुए भी छठवें गुणस्थान से तेरहवें गुणस्थान तक अनुभाग बढ़ता ही चला जाता है और साता का ही बंध होता चला जाता है किन्तु छठवें

गुणस्थान में साता-असाता दोनों का बंध है, उदीरणा भी दोनों की है तथा दोनों की ही आकुलता बनी रहती है, किन्तु यहाँ से सातवें गुणस्थान से साता का ही बंध होगा इसमें कोई संदेह या विकल्प नहीं। मिथ्यात्व गुणस्थान से भी साता का बंध होगा यह कहा जा रहा है। हाँ विशुद्धि की अपेक्षा से उसमें भी अन्तर हो सकता है इसे मानने में कोई बाधा नहीं। जैसे—एक संयमी अनन्तानुबंधी की विसंयोजना वाले साता के बंध में विशुद्धि की अपेक्षा अन्तर होता है इसे मानने में कोई बाधा नहीं। एक संयमी विसंयोजना करने वाला है और एक संयमी विसंयोजना नहीं कर रहा है तो प्रथम विसंयोजना करने वाले की निर्जरा अधिक होती है। तो दूसरे वाली की अपेक्षा से पहले वाले की असंख्यात गुणी निर्जरा अधिक होती है। इसमें विशुद्धि की अपेक्षा तुलना की गई है लेकिन बंध जो होगा वह सप्तम गुणस्थानवर्ती के साता का ही होगा यह अपने आप में बहुत महत्त्वपूर्ण है।

दृष्टान्त—जैसे—अच्छे कार्य करने पर किसी व्यक्ति को एक दिन के लिए पुरस्कार दे दिया पुनः वही कार्य करता है, तो प्रतिदिन पुरस्कार नहीं दिया जाता, लेकिन एक व्यक्ति के अच्छे कार्य करने पर उसके प्रतिदिन का वेतन बढ़ा दिया गया, तो उसका धन बढ़ता ही चला गया पुरस्कार तो एक ही बार मिला, भले ही वह दस हजार रुपयों का मिला हो, लेकिन प्रतिदिन का सौ रुपया वेतन भी बढ़ा दिया गया, तो वह जिंदगी भर तक के लिए धन वृद्धि का साधन बन जाता है। इसी प्रकार संयमी के प्रशस्त कर्म में प्रति समय तृतीय व चतुःस्थानीय बंध होता हुआ चला जाता है और अप्रशस्त कर्म का अनुभाग कम होता चला जाता है, यह परिवर्तन संयम का ही परिणाम है, इसलिए कर्मों का भोगना अनिवार्य होने से उन्हें भोगते हुए भी आगामी सुख-दुःख के लिए नहीं भोगता, अतः ज्ञानी अपने आप में बहुत संतुष्ट हो जाता है। सम्यग्दृष्टि का यह कार्य होता है और इसी के माध्यम से अलौकिक सुख संपदा उसे मिलने वाली है, इस बात को वह जानता है, अतः निष्कांक्षित भाव से कार्य करता रहता है।

पुरिसो जह कोवि इह इस की टीका प्रारंभ होती है, **यथा कश्चित्पुरुषः** जैसे कोई पुरुष **वित्तिनिमित्तं** अर्थात् अजीविका चलाने या जीवन चलाने के लिए राग के साथ राजा की सेवा करता है, तो राजा भी उसे विविध प्रकार के सुख उत्पन्न करने वाली भोगोपभोग सामग्री दे देता है इसी प्रकार जहाँ-कहीं भी जो कोई भी सेवा कर रहा है, यदि वह राग के साथ कर रहा है तो उसकी वह सेवा अज्ञान भाव से मानी जायेगी और वह अज्ञानी की सेवा मानी जायेगी अर्थात् अज्ञानी रागादि के साथ सेवा करता है जो कर्म बंध का कारण होता है। यह इसका तात्पर्य है।

जिज्ञासा—महाराज! गृहस्थ अवस्था में माता-पिता, भाई-बहन एक दूसरे की कुछ भी सेवा करते हैं, तो क्या वह अज्ञानी की कोटि में आयेगी?

समाधान—हाँ, क्यों नहीं आयेगी? आयेगी ही। पिता चाहता है कि मैं जब मरणोन्मुख होऊँगा, तो बेटे के माध्यम से मेरा काम चलेगा और बेटा इस भरोसे पर जी रहा है और सेवा कर रहा है, कि

आज नहीं तो कल दायित्व तो अपने ऊपर ही आने वाला है। पिताजी कब तक टिकने वाले हैं? एक दिन तो चाबी देंगे ही देंगे। उनके जीवन का पूरा का पूरा जो कमाया हुआ धन है उसका सम्बन्ध तो हमारे साथ है, इसलिए उनके लिए हमें आज कोई कठिनाई हो रही है, उठक-बैठक हो रही है, जो कुछ भी संघर्ष हो रहे हैं, उसे सहन कर लो, एक दिन तो आराम से बैठ कर खाना-पीना ही है, इस ढंग से एक दूसरे के भरोसे पर यह कार्य करते रहते हैं। माँ यह सोचती है कि बेटा का आज कुछ काम कर दो क्योंकि घर में कल के दिन बहू आयेगी तो अपना भी काम शांति से करेगी। हाँ ठीक है गरम-गरम भोजन मिलेगा, सोचती तो है, लेकिन क्या पता? गरम-गरम भोजन मिलेगा या गरम-गरम शब्द मिलेंगे। ये तो भगवान् ही जानें गरम-गरम शब्द भी मिलते हैं, तो उससे भी कानों की सेक होती है, ये कोई कहने की बात नहीं है, सब चलता है। नरम-नरम भी मिलता है, तो गरम-गरम भी मिलता है, सब होता है, यह तो सब सहन करना पड़ता है, बोलो सहन करते हैं कि नहीं? महाराज! तभी घर में टिके हैं, नहीं तो मुश्किल हो जाता।

दृष्टान्त—एक व्यक्ति आया उसने बताया कि महाराज? हमने एक व्यक्ति की ऐसी दशा देखी है कि उसके सात-आठ बच्चे हैं। सभी की शादी हो गई है, बहुएँ आ गयी हैं, सब काम टिपटाप चल रहा है, हमने सोचा आठ बेटे और आठ बहुएँ हैं, तो कोई भी सेवा कर देता होगा? आठ-आठ मिलकर सोलहकारण भावना हो ही जाती हैं, तो सोलहकारण भावना हो जाती होंगी, लेकिन उसकी स्थिति विकट थी, हम कुछ कहना चाहते हैं तो पहले ही वे इधर-उधर मुँह कर लेते हैं, सामने कोई आने को तैयार नहीं होते, कोई कुछ कहे कि उसके पहले ही सब अपने-अपने में लगे रहते हैं, एक बच्चा हो तो ठीक है, लेकिन और आठ बेटे हैं, आठों ही आठों दिशाओं में हो गये हैं, कोई साथ नहीं दे रहा है। वह कहता है महाराज! वास्तव में स्वार्थ की दुनिया है, यह मुझे एहसास हो गया। वृद्ध होने के उपरान्त मुझे यह समझ में आ गया, कि बहुत कठिन है, उसके उपरान्त भी हमने उनसे कहा देखो! यह तो सब जगह ऐसा ही होता है, ऐसा भी नहीं है। अपने-अपने पुण्य-पाप के अनुसार चलता रहता है। जैसे-जो चक्रवर्ती होता है, उसके ९६ हजार स्त्रियाँ होती हैं लेकिन कभी यूँ-यूँ नहीं करती हैं और उनके जो बच्चे होंगे, वे कम से कम ९६ हजार तो होंगे ही किन्तु पुराण-पुरुषों के जीवन में उक्त प्रकार की घटना घटित नहीं होती, न ही तीर्थकरों के जीवन में और न ही चक्रवर्तियों के जीवन में, फिर भी उन्होंने समझ लिया कि इसमें कोई सार नहीं है, लेकिन महाराज! हमारी कोई मानता नहीं फिर भी कैसे निकल जायें घर से?

भीतर में एकत्व बाहर में अनेकत्व—चतुर्थ काल हो या पंचमकाल, आज हो या कल, या फिर परसों कभी भी हो, कोई मानने के लिए तैयार ही नहीं, मानता है ऐसा कहा जाता है, देखा जाता है, सुना जाता है, लेकिन वस्तुतः वह अपने मतलब के लिए प्रयोजन के लिए ही करता है। जब यह निश्चित है कि एकत्व भीतर में चलता है और बाहर में अनेकत्व या अनेकान्त। निश्चय से तो एकान्त

ही चलता है लेकिन व्यवहार में अनेकांत को ले करके चलो, तभी कल्याण होने वाला है, लिख लो यह। गृहस्थों में भी कई ऐसे गृहस्थ होते हैं, जिनके भीतर तो एकान्त और बाहर अनेकान्त चलता है और अपने यहाँ धार्मिक क्षेत्र में भी ऐसा ही है, व्यवहार अनेकान्तात्मक ही होना चाहिए, ताकि समन्वय बना रहे, लेकिन भीतर देखें तो आत्मा के द्वारा आत्मा में, आत्मा के करने से ही कल्याण होने वाला है, यह निश्चित है। मतलब कल्याण हमेशा एकत्व में होता है, लेकिन एकत्व के स्थान पर एकान्त कहना अच्छा नहीं माना जाता, तात्पर्य यह है, कि एकान्त यानि एकत्व भावना में ही कल्याण है, इतना निश्चित है, अनेकान्त भावना से कल्याण नहीं है, भावना अर्थात् व्यवहार और भावना में जब एकत्व रह जाता है तो ध्यान हो जाता है अर्थात् जब एकत्व रह गया तो एकाग्र करने की कोई आवश्यकता ही नहीं होती। जब एक अकेला ही है तो अब इसको कहाँ एकाग्र करें? अनेक हो तो एकाग्र करने की आवश्यकता है। किन्तु यह निश्चित है कि मैं एक ही हूँ, एक ही था, एक ही आया, एक ही का जन्म, एक ही का मरण, सब कुछ एक का ही है, ऐसी स्थिति में एकत्व का ध्यान लगाओ, ये कहने की क्या आवश्यकता। एक बार एकत्व भावना हो गई तो फिर ध्यान रूप होने में देर नहीं लगती। बाह्य में यह सब कुछ जो भी है वह माया है, दूसरों पर आश्रित है, व्यवहार है और मात्र व्यवहार से कल्याण होने वाला नहीं है। व्यवहार से आँख बंद करो और अपनी आत्मा में रहो, फिर ध्यान लगाने की भी कोई आवश्यकता है ही नहीं। जब आप बाहर में नहीं हैं तो भीतर में आत्मतत्त्व है ही तो ध्यान-केन्द्र खोलने की क्या आवश्यकता है? अभ्यास करने की बात तो उसी के लिए होती है, जो हठवादी होता है। हठयोग और राजयोग ये दो हैं। हठयोग अर्थात् अनेक को मानते हुए भी एक पर टिको। टिकोगे कैसे? अनेक को मानोगे नहीं तो अपने आप सब ठीक हो जायेगा। यह श्रद्धान्त हो गया तो फिर एकत्व भावना की भी आवश्यकता नहीं और वह ध्यान में खो जाता है, तो ध्यान में ज्यादा मेहनत करने की आवश्यकता भी नहीं होती, जब हम उसे मन का विषय बना लेते हैं, तो फिर एकाग्रता की आवश्यकता पड़ती है।

दृष्टान्त—जैसे—आप प्रकाश में देखते हैं तब बहुत सारे विविध प्रकार के पदार्थ दिखते हैं और प्रकाश में देखना बंद कर दो, तो अंधेरा हो जायेगा, अब वैरायटी (विविधता) दिखेगी? सफेद, काला, नीला, पीला, छोटा-बड़ा एक सा हो जाता है और लाइट गोल हो जाने पर, आँख बंद करने पर ध्यान लगाओ ये कहने की आवश्यकता ही नहीं होती, क्योंकि इस समय कोई वस्तु ज्ञान में नहीं आ रही है कुछ दिख ही नहीं रहा है, तो अपने आप ही ध्यान लग जाता है, थोड़ी सी आवाज आती है तो कानों में आती है और वह भी दूर हो जाये, तो अपने आप ठीक हो जाता है। पहले महाराज जंगलों में रह जाते थे, तो उनको अलग से ध्यान नहीं करना पड़ता था। यह बिल्कुल ठीक बात है, वहाँ तो सर्वत्र ध्यान के केन्द्र खुले रहते हैं। बड़े बाबा के मंदिर के पीछे की ओर जाओ तो कोई भी आपके पीछे नहीं आयेगा, कोई नहीं आयेगा, सब वहीं बड़े बाबा की परिक्रमा लगाते रहते हैं और साथ में

कोई नहीं आता, फिर थोड़े आगे और बढ़ जाओ तो फिर क्या कहना? इसी प्रकार मुक्तागिरि में देख लो, झरना देखते ही बैठ जाओ या थोड़ा आगे बढ़ जाओ, तो वहाँ कोई भी नहीं रहता, सब वहीं तक रहेंगे, बारह भावना में पढ़ते हैं न कि “**कमला चलत न पैड़ जाये मरघट तक परिवारा**” वाली बात है।

आप लोगों के कारण, इन लोगों को अर्थात् श्रावकों को मिल जाते हैं, नहीं तो लोगों को मालूम ही नहीं पड़ेगा कि हम कहाँ जाते हैं? कई लोग कहते हैं महाराज—हम सबेरे से आपको ढूँढ़ रहे थे, आप कहाँ बैठे थे? लेकिन आप लोग पहले से ही एडवरटाइजमेंट (विज्ञापन) कर देते हो, कि महाराज—वहाँ पर जा रहे हैं, बस इतना ही पर्याप्त होता है, वे लोग फोटोग्राफर के साथ आ जाते हैं तो वह सीक्रेट रहेगा ही नहीं, सामने कोई न कोई देखने में तो आयेगा, देखो! तीर्थकर हैं, उनके साथ बियावान जंगल में कौन गया था, वहाँ कोई परिचय नहीं, सब अपरिचित रहते हैं, इसलिए वहाँ ध्यान लगाने की कोई आवश्यकता नहीं, किन्तु ध्यान स्वतः लग जाता है। महाराज! जितना अधिक परिचय होगा उतना खतरा बढ़ जाता है। हाँ सही है, वह दिमाग में आयेगा ही इसलिए परिचय करना ही नहीं चाहिए। यही तो बात है, जहाँ—कहीं भी जाओ परिचय लेकर जाओगे, तो पर्वे तो बँटेंगे ही, परिचय हो जाये तो वहाँ अन्तराय तो होगा ही इसलिए तो कहते हैं कि आप परिचय से बचो। सामने वाले तो परिचय चाहेंगे, लेकिन आप परिचय मत दो, यदि आप अपना परिचय बाँटने लग जाओगे तो गलत है। आचार्य कहते हैं कि परिचय के विषय में अवग्रह से आगे बढ़ोगे तो परिचय बढ़ेगा, परिचय का अर्थ और कुछ नहीं, अवग्रह से आगे बढ़े, तो उसे भूल नहीं सकते। जबकि वह लौकिकता में विशेष ज्ञान या विकास शील ज्ञान माना जाता है। ईहा, अवाय, धारणा, निर्णय देना—पूछना अपने ही विकल्प के कारण हो जाते हैं।

कर्णेन्द्रिय और चक्षु इन्द्रिय ये दो इन्द्रियाँ ऐसी हैं जो ज्यादा परिचय कराती हैं, ये दो इन्द्रियाँ चौबीसों घंटे अपने काम करती हैं और मन हमेशा इन दोनों का साथ देता है, कि इसकी पहचान करो, इस रूप को, इस ध्वनि को आप नहीं जानते हैं, आदि—आदि। इन दोनों के माध्यम से कार्य चलता रहता है, जो सी.आई.डी. वगैरह होते हैं, वे फिंगर, फोटो, चित्र आदि से जानकारी करते हैं, यह रूप के अन्तर्गत आ जाता है और रिकार्ड करना चाहते हैं या करते हैं तो वे शब्द के माध्यम से पहचान लेते हैं। इन दोनों के माध्यम से आज की सी.आई.डी. सबको पकड़ लेती है, उसी प्रकार टेप रिकार्डर, टेलीविजन है। तो परिचय के लिए ये दोनों इन्द्रियाँ विशेष साधन हैं। यदि ये नियंत्रण में हैं तो परिचय का कोई सवाल ही नहीं उठता है। वे सी.आई.डी. वाले उस यात्रा के दौरान जो गतिविधियाँ हुईं उसके रिकार्ड के रूप में एक बॉक्स बनाते हैं, उसमें ऐसा यंत्र रखते हैं कि यदि किसी कारणवश विमान कहीं टकरा जाये या जल जाये या कुछ भी हो जाये, तो वह स्थान जहाँ बॉक्स रखा है, वह सुरक्षित रहता है और उस बॉक्स के माध्यम से यह जान लेते हैं कि उनके द्वारा कितनी गतिविधियाँ हुई थीं, सब

रिकार्ड उसमें रहते हैं। बहुत संवेदनशील स्थान रहता है। बताते हैं कि उस बॉक्स को कितने भी ऊपर से पटक दें, फिर भी वह टूटता नहीं। २५०० सेंटीग्रेड का तापमान दिया जाये तो वह जलता नहीं उसी प्रकार आप जिसका जितना परिचय प्राप्त करना चाहेंगे उसकी उतनी ही उम्र होगी, ऐसा है। ध्यान लगाना चाहते हो तो सबसे अच्छा उपाय यही है कि अवग्रह के आगे बढ़ो ही नहीं, ज्यादा परिचय करना ही नहीं। उस बॉक्स के ऊपर पाँच सौ पाउंड की भारी वस्तु धमाके के साथ पटक दी जाये तो भी उसमें खरोंच तक नहीं आती है ऐसा भी बताते हैं। अर्थात् वह बॉक्स उस प्रकार की उत्तम क्वालिटी की धातु से बनाया हुआ होता है, कि उसमें रखे रिकार्ड के माध्यम से आगे-पीछे कब क्या होने वाला है? यह अवग्रह रूप में सब जान जाते हैं, इसलिए आप लोग मन में अवग्रह से आगे कुछ नहीं रखो, तो पूर्ण रूप से आप भी सुरक्षित रह सकोगे, नहीं तो आप बिल्कुल बच ही नहीं सकते। अतीत और अनागत जो है, वह अवग्रह के माध्यम से नहीं बनता है अवग्रह में बहुत कम परिचय होता है, इसमें कुछ भी निश्चय नहीं किया जाता है।

दृष्टान्त—जैसे-सफेद देखा..तो यह सफेद क्या होता है? सफेद तो बहुत सारी चीजें हैं...बस। वह हिलता-डुलता हुआ क्या था? आदि-आदि यह कुछ नहीं..बस सफेद है तो फिर इसके आगे का शोध बन्द हो जाता है। जैसे-कुत्ते होते हैं वो आलसी नहीं होते..लेकिन वह चोर कहाँ तक गया है वहाँ तक ले जायेगा, रेल की पटरी तक ले जायेगा बस...। अब वह रेल कहाँ चली गई वह उसे पता नहीं..इसी प्रकार यह अवग्रह में भी इतना ही होता है। ईहा-अर्थात् उससे आगे भी बढ़ जायेगा, वह तो यहाँ से गया...तो देहली तक गया होगा लेकिन रास्ता समाप्त तो सब गायब..पुनः वह लौट जायेगा। अवग्रह के उपरान्त कुछ नहीं है तो...लौट जायेगा अर्थात् ईहा-अवाय-धारणा नहीं होगी...। एक बार देखा तो था हमने लेकिन क्या था? सफेद-सफेद था इतना बस पर्याप्त है। इससे तो मोक्षमार्ग नहीं बन सकता? यह किसने कहा? मोक्षमार्ग श्रद्धान की मुख्यता से बनता है। अरे! अपने को तो जो गुरुदेव ने बताया है उसका श्रद्धान करना है और कुछ नहीं करना है...“**आणं-ताणं कछु न जाणं सेठ वचन परमाणं**” तिर्यच भी सुन लेते हैं? तो क्या सुना उनने? कुछ नहीं...वे सोचते हैं जहाँ पर हमारी बुद्धि नहीं जा सकती वहाँ बुद्धि क्यों चलायें? सर्वज्ञ ने प्रत्यक्ष देखा है और हमें बताया है कि भगवान् में अनन्त गुण होते हैं इन गुणों को गिनने बैठोगे तो पसीना आ जायेगा। उन्होंने अनन्त पर्याय कहीं उसमें कुछ बताओ, अनन्त अलोकाकाश कहा है-बताओ उसका कुछ छोर...एक राजु तो जा नहीं सकते..बता नहीं पाओगे। अभी वर्तमान में जो भरत क्षेत्र है वह ५२६.६/१९ योजन प्रमाण है उसे ही नहीं देख पाये तो...यह क्या है? स्वभाव भी, काल भी, क्षेत्र भी विप्रकृष्ट है इसलिए जितना आवश्यक है उतना कर लेना। कहा तक जाओगे...अलोकाकाश में तो जा ही नहीं पाओगे। कहते हैं आखिर जब तक वस्तु की सही जानकारी नहीं होगी तब तक चैन नहीं मिलेगा...तो सही जानकारी का मतलब क्या है? मुझे बताओ...आगे जाकर यह जानकारी ही अपने विकल्प के लिये कारण होती

है क्योंकि मन के द्वारा सारी की सारी ये जानकारीयाँ आने लग जाती हैं और ऐसे व्यक्तित्व को भी आज पुरुष्कृत किया जाता है कि—देखो! इसके दिमाग में कैसी-कैसी बातें कितनी भरी हुई हैं इससे कितना अधिक लाभ मिलता है लेकिन क्या लाभ? इन सब विकल्पों को झाड़ करके अपने भाव को साफ सुथरा करना है।

गृहस्थ मकान आदि को तो साफ सुथरा कर लेते हैं, मुनि गण आदान-निक्षेपण समिति के कारण पदार्थ को, शरीर को भी परिमार्जित करते हैं लेकिन मन के ऊपर पिच्छी लगाओ, उसे परिमार्जित करके बिठाओ...कहते हैं—महाराज! वहाँ पर पिच्छी पहुँचती ही नहीं है, अभी तक ऐसी पिच्छी ही नहीं मिली...उसकी जानकारी करने का प्रयास करते तो बहुत अच्छा होता..।

जिज्ञासा—अवग्रह ज्ञान सम्यग्ज्ञान है या मिथ्याज्ञान?

समाधान—दर्शनपूर्वक जो प्रथम ज्ञान होता है वह अवग्रह ज्ञान है। यदि यह सम्यग्दर्शन के साथ होता है तो सम्यग्ज्ञान रूप होता है और मिथ्यात्वोदय के साथ होता है तो मिथ्या ज्ञान रूप होता है। मिथ्यादृष्टि के कोई भी ज्ञान हो वह मिथ्या रूप होता है और सम्यग्दृष्टि का कोई भी ज्ञान सम्यग्ज्ञान रूप होता है यह स्पष्ट ही है। तिर्यञ्चों को भी अवग्रह ईहा आदि ज्ञान होते हैं भले ही उन्हें तत्संबंधी ककहरा नहीं आता। यदि उसे पूछा जाये कि तत्त्वज्ञान क्या है? इसका उत्तर वह शब्दों में भले ही नहीं दे पाता लेकिन फिर भी उन्हें भाव-भासन तो होता है, उनके लिए शाब्दिक तत्त्व ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। उन्हें उपदेश आदि भी आवश्यक नहीं होता। आप ये बताइये कि जैसे—कोई तिर्यञ्च ने जिनेन्द्र भगवान् का बिम्ब देखा तो वहाँ उनको कौन सी देशना होती है फिर भी वे बिम्ब को देखकर सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेते हैं। इसके लिए उन्हें अक्षर ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। आप जितना सम्यग्दर्शन व तत्त्वज्ञान आदि के बारे में पढ़ोगे तो देशना लब्धि को पढ़ने तक सीमित रखोगे क्या? सुनो! यदि किसी को ग्यारह अंग, दस पूर्व तक ज्ञान हो गया तो भी वह सम्यग्दृष्टि हैं कि नहीं क्या पता? हो भी सकता है और नहीं भी।

जिज्ञासा—अवग्रह के उपरान्त ईहा ज्ञान नियम से होता ही है क्या?

समाधान—ऐसा कोई नियम नहीं है क्योंकि जब तक ईहामति ज्ञानावरण कर्म का जब तक क्षयोपशम नहीं होता तब तक उसे ईहा ज्ञान कैसे होगा? किसी ने मोक्षमार्ग सम्बन्धी या अन्य कोई उपदेश सुना तो उसे तत्संबंधी मात्र अवग्रह ज्ञान हो गया, ईहा ज्ञान नहीं हुआ। प्रवचन सुनने के उपरान्त—महाराज जी ने कुछ कहा है यह तो भान हो गया लेकिन क्या कहा? ऐसी ईहा नहीं हो, यह हो सकता है। उसे तो यह दृढ़ श्रद्धान है कि महाराज ने जो कहा वह “इदमेवेदृशमेव” यही है, ऐसा ही है—यह श्रद्धान है। इस अवग्रह को छोड़कर मैं आगे नहीं जाऊँगा, आगे जाने की आवश्यकता भी नहीं है क्योंकि उसे श्रद्धान है कि जो कहा वह ठीक है। कोई पूछे—क्या कहा? तो कहता है हम नहीं जानते लेकिन इतना जानते हैं कि जो कहा वह ठीक है। जिसको अक्षर श्रुतज्ञानावरण कर्म का

क्षयोपशम नहीं होता उसके साथ ऐसा होता है। तात्पर्य यह है कि जिसको ईहामतिज्ञानावरण का क्षयोपशम नहीं होता उसे ईहामतिज्ञान नहीं होगा अतः किसी को अवग्रह होता है ईहा ज्ञान नहीं होता, किसी को अवग्रह, ईहा दोनों ज्ञान हैं लेकिन अवाय नहीं है, किसी को शुरू के तीनों ज्ञान है लेकिन अन्तिम धारणा नहीं है, किसी को अवग्रह आदि चारों ज्ञान हैं, ऐसा हो सकता है। एक सेकंड में ही चारों ज्ञान हो सकते हैं परन्तु क्षयोपशम न हो तो नहीं होंगे। होकर के भी एक सेकंड में समाप्त भी हो सकते हैं। इसलिए श्रद्धा न सम्यग्ज्ञान की परिणति क्या होती है? यह अपने को देखना आवश्यक है।

मा रुष-मा तुष... कहने वाले शिवभूति महाराज के पास क्या था? क्षयोपशम हो जाना अलग वस्तु है लेकिन अनिवार्य जो बताया जा रहा है उसके बारे में हम चर्चा कर रहे हैं—उसको व्याख्यायित नहीं कर सकते इतना सामान्य ज्ञान भी होता है। मान लो—जैसे—अंगुल के असंख्यातवें भाग में जो वस्तु स्थित है उसको अवधि ज्ञानावरण के क्षयोपशम से अवधिज्ञानी जान लेता है। यह बहुत सूक्ष्म विषय हो गया है। यह है तो बहुत छोटी वस्तु का ज्ञान लेकिन ज्ञान तो है...कितना जघन्य ज्ञान है वो...अंगुल के असंख्यातवें भाग, घनांगुल भी नहीं लिखा उत्सेधागुल ले लेते तो और अच्छा... उत्सेधागुल का असंख्यातवाँ भाग है उसके भी असंख्यात भेद करिये उतना अवधिज्ञान का विषय है। क्या विषय है? है या नहीं...यह भी बताना बहुत मुश्किल हो जायेगा, वह किसी को बता भी नहीं पायेगा, इस विषय में विश्वास की बात आ गई। अब देखो ऐसी स्थिति में इनके पास अवधिज्ञान है यह हम कैसे कहेंगे? यह तो मानना ही पड़ेगा। कई बार मैं कह चुका हूँ कि भगवान् को आपने साक्षात् देखा है क्या? उनके पास केवलज्ञान है यह आपको झलक जाता है क्या? नहीं, केवलदर्शन है, अनन्त सुख है, अनन्त वीर्य है उनके पास यह सब आपको झलक गया क्या? अभी अनन्त चतुष्टय की बात हमने कर दी, वह आपकी आँखों में आया क्या? नहीं, किन्तु वीतरागता आँखों से दिखाई देती है कहता है—**सव्वे सुब्बा हु, सुब्बणया...** यह राग तो ऊपर दिखता है ऐसा आपके ग्रन्थों में लिखा है वह रेफरेन्स (उद्धरण) देगा तो क्या करोगे। बताओ? शुद्धनय से सब शुद्ध हैं, अशुद्धनय से अशुद्ध यह कैसे सिद्ध करोगे? आखिर मान्यता की ओर ही आना पड़ता है और हमारी बुद्धि केवल वहीं तक सीमित रह सकती है। किसी ने कहा—भगवान् हैं और किसी ने कहा—भगवान् नहीं हैं, तो दोनों लड़ेंगे? क्या करोगे? वह कहता है—हमारे यहाँ ग्रन्थों में लिखा है—भगवान् नहीं हैं फिर कैसे क्या करेंगे आप? उनके पास भी तर्क प्रमाण आदि हैं उनके सामने आप कुछ बोल नहीं सकते हैं। इसलिए भगवान् ने व आचार्यों ने कहा है—**ततः केन ब्रवीम्यहम्...** अर्थात् किसके साथ क्या बोलूँ? क्योंकि जो दिखता है वह मैं नहीं हूँ और जो मैं हूँ वह दिखता नहीं है इसलिए **केन ब्रवीम्यहम्...** जो देख रहा है वह दिखता नहीं है और जो दिख रहा है वह देखता नहीं ऐसी स्थिति में मैं किसे दिखाऊँ? इसलिए तो हम बार-बार कहते हैं—यह दिखाने व बताने की बात वहाँ आ जाती

है जहाँ उसके योग्य देखने-जानने वाले हों।

तह्या सम्मादिट्टिस्स जाणावणट्ठं सुत्तस्स वक्खाणं कथं? अर्थात् सम्यग्दृष्टि के द्वारा सम्यग्दृष्टि को ही जताने के लिये सूत्र की व्याख्या की जाती है। आप रहस्य की बात कहना चाहते हैं तो किसी विश्वसनीय व्यक्ति के सामने ही कहते हैं जिस किसी के सामने नहीं। यह नीति है कि जो इधर-उधर की हँसी-मजाक करने वाले होते हैं उनके सामने बहुमूल्य वस्तु का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए। जैसे—आप **समयसार** की बात जहाँ-कहीं भी जाकर सुनाओ, टेपरिकार्डर जहाँ कहीं भी रख दो तो उससे इसका महत्त्व घटता है। वह कहता है—अभी मेरा पेट खाली है मुझे पहले खिलाओ फिर बाद में देख लेते हैं, फिर खाने के उपरान्त कहता है अभी कोई आवश्यकता नहीं है। आप यदि रहस्य की बात सबके सामने कहना चाहते हैं तो यह रहस्य की बात कहाँ रहेगी?

दृष्टान्त—जैसे—हीरा, मोती आदि के लिये पब्लिसिटी (प्रचार) की आवश्यकता नहीं होती, ज्वार-बाजरा के ढेर या टोकरी भर-भर कर बेचने के लिये बाहर रख देते हैं उसी तरह किसी जौहरी बाजार में जाओ तो हीरा-मोती आदि टोकरी में भरे मिले हैं क्या? मिले हों तो मुझे बताओ...नहीं मिलते। इसके पीछे कारण यह है कि—इन हीरे-मोती को प्रत्येक व्यक्ति खरीद नहीं सकता, उसका महत्त्व तो एकाध व्यक्ति ही समझता है, जानता है, सभी नहीं वे जौहरी लोग आर्टिफिशल भी दिखायेंगे तो ऐसे जैसे—ओरीजनल (वास्तविक) हों वही अभी नहीं दिखा सकते ऐसा कह करके आर्टिफिशल को भी नहीं दिखाना चाहता है क्योंकि उसके बिना जो ओरीजनलिटी (वास्तविकता) है उसका महत्त्व बढ़ नहीं सकता। आज पब्लिसिटी होने के कारण, उसका महत्त्व घट जाता है, श्रद्धान का महत्त्व घट जाता है और ज्ञान का प्रचार ज्यादा हो गया है। श्रद्धान के अभाव में ज्ञान कौन सा है? वह सम्यग्ज्ञान नहीं माना जाता। विद्वानों के मुख से एक घण्टे सुन लेंगे फिर वही बात कि कौन सी गाड़ी से जायेंगे रिजर्वेशन कर लो क्योंकि शाम को दूसरे सुनने वाले आयेंगे। व्यस्तता तो है ही...तो इसका स्तर बढ़ता ही जा रहा है। सम्यग्ज्ञान वही है जो सम्यग्श्रद्धान के साथ होता है, नहीं तो ग्यारह अंग दस पूर्व तक पहुँच गया फिर भी सम्यग्दर्शन का पतयारा नहीं। सेनापति है तो वह सेना की ही बात करेगा।

दृष्टान्त—एक सेठ है उसके चार-पाँच बच्चे हैं और सभी विश्वसनीय हैं लेकिन अभी दुकान में बैठने लायक नहीं हैं, दुकान-मकान वह कुछ समझते नहीं हैं इसलिए चाबी तो उन लोगों के लिये रहस्य पूर्ण ही रहेगी। किचिन रूम में जब कभी भी आने-जाने का होता है इसलिए जो ताले में रखा है उसे भी दे देंगे क्या? वहाँ पर लाइट ही नहीं जलाई जाती है जहाँ पर विशेष भोजनादि रखा जाता है वहाँ पर बिजली नहीं लाइट फिटिंग नहीं होती है। मोमबत्ती, चिमनी या टॉर्च लेकर ही जाते हैं और दूसरे को साथ में नहीं ले जाते हैं और बच्चों से भी कह देते हैं कि वहाँ जाना ठीक नहीं है, वहाँ बाबा है...बाबा है वहाँ...इसलिए वहाँ नहीं जाना बेटा...। वह थोड़ा बड़ा हो जाये और फिर उसे कोई कहे कि वहाँ नहीं जाना...तो कहता है—अब तो वहीं जाऊँगा। वहाँ पर कुछ रहस्यपूर्ण है जब यह ज्ञात

हो जायेगा तो आप मना करो तो भी जायेगा, आपकी अनुपस्थिति में भी जायेगा, कुछ भी खतरा हो जाये कोई बात नहीं..प्रतिकार करेंगे लेकिन जायेंगे...कि वहाँ क्या रखा है? उसी प्रकार यहाँ पर बात है महाराज! अवग्रह के साथ-साथ में ईहा-अवाय-धारणा नहीं है, उसका क्षयोपशम नहीं है तो भी काम चल जाता है और पहले के लोग इसी प्रकार से काम चलाते थे। पहले विश्वास का विशेष महत्त्व था लेकिन आज तो विश्वास आदि सब कुछ बिक चुका है। ज्ञान बहुत हो चुका इसलिए विश्वास बिक चुका, हम तो यही कहेंगे। अभव्य जीव नव ग्रैवेयक तक जा सकता है तो वहाँ तक कैसे गया? तो शुक्ल लेश्या होने के कारण पहुँच गया लेकिन उसने मुनि अवस्था में **धम्मं भोग णिमित्तं** इसकी इच्छा से किया था, इसी कारण उनका अज्ञान नहीं छूटा लेकिन उसे ज्ञान तो बहुत था कि इसी के माध्यम से हमें मिलने वाला है मतलब इसी प्रकार शास्त्र अध्ययन करके इतना-इतना हासिल किया। शास्त्र का पूर्ण ज्ञान था, वे जानते थे कि नवग्रैवेयक मिलेगा तो मुनि बनने से ही मिलेगा और जैसा शास्त्र में बताया है वैसा ही किया-टस से मस नहीं होगा, घानी में पेल दे-तेल निकल जाये तो भी चूँ-चपाट नहीं करना, प्रतिकार नहीं करना, तभी ग्रैवेयक मिलेगा, कब तक के लिये मिलेगा तो इकतीस सागरोपम के लिये...बस। इसके उपरान्त..फिर देखा जायेगा, नीचे आने के उपरान्त पुनः तैयारी कर लेंगे।

आगम में लिखा है कि-इकतीस सागर आयु वाला देव नीचे मनुष्यगति में आकर आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त में मुनि बनकर पुनः वहीं ग्रैवेयक में जन्म ले सकता है। षट्खण्डागम सूत्र में कहा गया है-कोई जीव इकतीस सागर की आयु को भोगकर पुनः नीचे आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त हुआ नहीं कि पुनः अन्तर्मुहूर्त के लिये मुनि बनता है फलस्वरूप वहीं नवग्रैवेयक में पहुँच सकता है। अब सोचो! विचार करो...इतने कम समय में पुनः ग्रैवेयक में जा सकता है। मुनि बने बिना पुनः ग्रैवेयक में जन्म नहीं ले सकता। और आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त के पहले संयम लेने की योग्यता नहीं होती। लेकिन सम्यक्त्व और संयमासंयम के लिए आठ वर्ष का समय भी अपेक्षित नहीं है। एक संज्ञी पञ्चेन्द्रिय सम्मूर्च्छन तिर्यंच (मत्स्य) कम से कम ५ अन्तर्मुहूर्त में सम्यक्त्व व संयमासंयम ग्रहण करके सोलहवें स्वर्ग तक भी जा सकता है।

बड़ा वैचित्र्य है ? क्या-क्या होता है, पता नहीं चलता। बताओ कैसे देवायु का बंध कर लिया पुनः वहीं पहुँच गया, क्या है यह मामला? आगम में तो ऐसा भी कथन आता है कि स्वर्ग से कोई जीव गर्भ में आया और पुनः देवायु का बंध करके स्वर्गों में चला गया। जिस माँ के गर्भ में जीव आया उसको भी मालूम नहीं कि स्वर्ग से कोई जीव आया और चला गया है। इसी प्रकार नरकगति सम्बन्धी विवेचन है। गर्भ में जीव ने कैसा ? क्या पाप किया और पुनः नरक चला गया। भगवान् ही जाने। बड़ा वैचित्र्य है।

आचार्य भूतबलीजी द्वारा आयुर्कर्म के बंध प्रकरण में देवगति में कुछ विशेषातायें बतलाते हुए

कहा है कि—ज्योतिष देव तथा सौधर्म, ईशान कल्प में आयु कर्म का जघन्य स्थिति बंध अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होता है। सानत्कुमार व माहेन्द्र में मुहूर्त पृथक्त्व प्रमाण होता है। ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ठ में दिवस पृथक्त्व प्रमाण होता है। शुक्र-महाशुक्र और शतार-सहस्रार में पक्ष पृथक्त्व प्रमाण होता है। आनत-प्राणत और आरण-अच्युत में मास पृथक्त्व प्रमाण होता है। आगे सर्वार्थसिद्धि तक वर्ष पृथक्त्व प्रमाण होता है। इसी प्रकार सभी नारकियों में आयु कर्म का जघन्य स्थिति बंध अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होता है। भवनवासी एवं व्यंतर देवों में आयु कर्म का जघन्य स्थिति बंध अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होता है।

देखो! यहाँ कह रहे हैं—विषयों की ओर देखा नहीं कि शुद्धात्म-भावना नष्ट हो जाती है, वह रह नहीं सकती। पाँचवाँ गुणस्थान रह सकता है क्योंकि पंचम गुणस्थान पूर्व कोटि वर्ष तक रह सकता है लेकिन विषयों में झम्पापात वाले लोग उस समय शुद्धात्मा की भावना नहीं कर सकेंगे। कोई जीव नये पुण्य कर्म के निमित्त भोगाकांक्षा निदान के साथ भविष्य के लिये शुभकार्य का अनुष्ठान करता है। पुण्य भी दो प्रकार के होते हैं—१. पापानुबंधी पुण्य और २. पुण्यानुबंधी पुण्य। सम्यग्दर्शन के बिना पापानुबंधी पुण्य होता है अर्थात् पुण्य के उदय में जीव विषयों की ओर झुकता है तो पुनः पाप का अनुबंध करता है।

दृष्टान्त—समझने के लिये—एक नम्बर का पैसा और दो नम्बर का पैसा भी होता है लेकिन उस पर लिखा नहीं रहता है। पैसा तो पैसा है ऐसा नहीं है कि एक हजार रुपये का नोट एक नम्बर का है तो उस पर लिखा हो कि यह एक नम्बर का है। नहीं लिखा रहता है, वह तो केवल भावों में है। इसी प्रकार पुण्य भी दो प्रकार के हैं—दोनों पुण्य में बहुत अन्तर है। पुण्यानुबंधी पुण्य रहता है तो वह विषयों की ओर नहीं ले जाता है। इसी प्रकार जो पैसा सत्कार्यों में, दया धर्म, परोपकार आदि में लगता है तो अगले जीवन में भी धन बढ़कर प्राप्त होता है और अगले जीवन में भी धार्मिक कार्यों के लिये प्रेरित करता है। कुछ लोगों के जेब में पैसे आते ही विषय भोग की सामग्री दिखती है, शहर-घूमना दिखने लगता है और कुछ लोगों को जेब में पैसे आते ही कौन दुःखी है? उनकी सेवा में धन का उपयोग करने का भाव होता है। इस प्रकार की क्वालिटी वाले बहुत कम होते हैं। जब मुनिराज ऋद्धिधारी थे तब तो उनके पास रत्नत्रय भी था लेकिन उन्होंने आगामी भोगाकांक्षा निदान कर लिया तो उनका पुण्य दो नम्बर का हो गया उन्होंने जब तक विषय भोगों को नहीं चाहा था तब तक तो एक नम्बर का पुण्य था, एवन था, उसके द्वारा बिना माँगे ही सब कुछ मिलने वाला था इसलिए माँग मत करो। बहुत अच्छी क्वालिटी का बहुत सारा पुण्य रहता है वह दिखने में नहीं आता वह तो राख में छुपी हुई अग्नि की भाँति छुपा हुआ अदृश्य रहता है। महापुरुषों का बहुत तेज रहता है इसलिए तो वे कभी दुकान नहीं खोलते हैं। वे क्षत्रिय होते हैं वे कभी चाबी नहीं रखते, वे तो चाबी वालों को रखते हैं, सही चाबी रखो ऐसा कहते हैं। उन क्षत्रियों के सामने बनिया लोग अच्छी-अच्छी चीजें हीरा-

जवाहरात, हाथी-घोड़े आदि-आदि पहले भेंट करते हैं, कहते हैं—राजा को पहले संतुष्ट करो, अच्छी क्वालिटी की चीज राजा को देओ यह हमें पच ही नहीं सकता है, हम इसके भोक्ता नहीं हो सकते ऐसा कहते हैं। सामान्य जनता को गौरव रहता है कि उन्हीं के राज्य में सब मिल रहा है हम अच्छे से, शांति से रह रहे हैं इसलिए सब कुछ आपका ही है, आप ही इसके स्वामी हैं, आपके राज्य में हम लोग शान्ति से हैं बस इतनी कृपा आपकी बनी रहे यही चाहते हैं। तो इस प्रकार का संतोष रहता है। पुण्यानुबंधी पुण्य जो होता है वह इस ढंग का होता है कोई भी व्यक्ति इस पुण्य को न समझकर निदान कर लेता है तो घाटा ही घाटा हो जाता है। विवेक हीन होने से यह निदान कर लेते हैं। दो चक्रवर्ती—जिन्होंने विषय सुख भोग कर निदान कर लिया था फलतः नीचे नरकों में चले गये, यदि निदान नहीं करते तो नहीं जाते...यही तो अज्ञान है जो निदान से भोगादि प्राप्त करते हैं वे रावण आदि की तरह परम्परा से दुःख को प्राप्त होते हैं। वह भोग सामग्री पाप प्रदायक है, पाप को करने वाली है, पापोन्मुखी ही बनाने वाली है।

कई लोगों के पास पैसा आ जाये तो गाड़ी खरीद लें, मकान बना लें आदि-आदि सोचते हैं और जबकि वह सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती सोचता है सब काम बाद में..पहले भगवान् के समवसरण में चलो...पहले ठाट से पूजा करो...। आप लोग पूजन विधान करवाते हैं तो स्वयं दुकान में बैठे रहते हैं और नौकरों के द्वारा सिद्ध चक्र विधान आज हो रहा है स्वाहा-स्वाहा। नौकरों के द्वारा धर्मध्यान कैसे? हाँ, नौकरों को भी धर्म ध्यान करवाओ, **सपरिवारा दिव्वेहि गंधेहि..** तो जितने भी नौकर आदि हैं उन सबको विधान में बिठा लो जैसे कि देव बिठा लेते हैं लेकिन ये क्या? स्वयं तो दुकान में रहो और नौकर से कह दो कि फलाना-फलाना विधान हो रहा है जाओ...द्रव्य चढ़ा आओ। देखो! पड़गाहन के लिय भी स्वयं चक्रवर्ती खड़े होते थे भले ही भोजन रसोईयों ने नौकरों ने तैयार किया हो। पाकशास्त्री से प्रत्येक कार्य करायेंगे लेकिन द्वाराप्रेक्षण, पड़गाहन, आहार स्वयं देंगे...ऐसा नहीं कि दूसरों के द्वारा आहार करवा दें...हाँ, स्वयं बनायेगा तो नहीं, उसके पास दासी-दास आदि का परिग्रह तो है ही..जिनके यहाँ दासी-दास के रूप में देव काम करते हैं, चौदह रत्नों की रक्षा के लिये हजारों की संख्या में देवों का समूह रहता है, एक चक्र के एक आरे को संभालने के लिये कई देव होते हैं, इतना सब होते हुए भी चक्रवर्ती स्वयं पड़गाहन करने खड़ा होता है और मन में सोचता है कि—आज क्या हो गया? आज कोई महाराज जी मेरी कुटिया में क्यों नहीं आ रहे हैं? ओह! आज मुझे दान देने का सौभाग्य नहीं मिलेगा क्या? यह क्या है? धर्म के प्रति आस्था है वह बोल रही है।

यह धर्म तो स्वाश्रित होता है किसी पर आश्रित नहीं...अष्टाह्निका व्रत का वर्णन करते हुए पुराणों में लिखा है कि—चक्रवर्ती की ९६ हजार स्त्रियाँ आर्यिकावत् सफेद वस्त्र साड़ी पहनकर जिनमंदिर में बैठी हैं उनके बीच में यह चक्रवर्ती भी सफेद वस्त्रों में बैठा है, ये सभी शुद्ध वस्त्रों में बैठकर अनुष्ठान कर रहे हैं उसे देखकर कोई कह नहीं सकता कि यह चक्रवर्ती है तथा ये उसकी ९६

हजार स्त्रियाँ हैं...इसका नाम है-धर्म...। नौकर-चाकरों के भरोसे थोड़े ही धर्म होता है, हाँ उन्हें भी कह सकते हैं कि देखो! यहाँ आठ दिन का विधान है, आठ दिन के लिये दुकान बंद रहेगी, कोई होटलों में नहीं जायेगा यहाँ शुद्ध भोजन बनेगा...सभी यहीं भोजन करेंगे, आज १०२४ अर्घ चढ़ेंगे सब लोग चढ़ायेंगे तथा अड़ोस-पड़ोस के भी सभी लोगों को बुला तो..फिर आठ दिन के उपरान्त कह दो कि आये जो-जो..जाओ अपने-अपने स्थान..दुकान खोलो..अब अष्टाह्निका पर्व पूर्ण हो गया..धन्यवाद। धर्मध्यान तो ऐसे होता है। अपने-अपने आँगन में सबको खड़ा कर दिया जाता है, प्रबन्ध सब कुछ करा सकते हैं लेकिन स्वामी तो होना चाहिए साथ में...और लोग साथ में खड़े हो जायें तो हो जायें।

आप लोग आज की स्थिति से चक्रवर्ती का मिलान करना चाहते हैं और हम चक्रवर्ती की बात को उसी रूप में रखना चाहते हैं आज इसका विवेक हो या न हो लेकिन उस समय जो विधि बताई उसी के अनुसार दान देते थे। उस समय नौकर-चाकरों द्वारा बनवा करके स्वयं कोई दूसरा कार्य करता हो..ऐसा नहीं होता था तो इसे बोलते हैं पुण्यानुबंधी पुण्य जो कि पुण्य से सम्बन्ध जुड़ा रहता है। मोक्ष की अभिलाषा मात्र से मुक्ति नहीं मिलती है, वह तो अपने ही क्रिया कलापों से मिलती है। जो सही कारण है उसी के द्वारा कार्य होगा इस बात को गृहस्थों को भी समझना चाहिए। इस प्रकार अज्ञानी जीव के प्रति अन्वय दृष्टान्त वाली गाथा कही।

ज्ञानी जीव कर्म की सेवा करता है, उपभोग भी करता है, किन्तु विषयों में उपादेय बुद्धि नहीं करता, अतः उसके नवीन कर्म बंध नहीं होता है, इस प्रकार से यह व्यतिरेक दृष्टान्त की गाथा भी पूर्ण हुई।

अब आगे कहते हैं कि “**एमेव सम्मदिट्ठी**” अर्थात् इसी प्रकार कोई सम्यग्दृष्टि है उसके पूर्व में उपार्जित कर्मों का उदय आता है तो शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न जो वीतराग सुखानन्द है उससे च्युत होता हुआ वह विषय सुख के लिए उपादेय बुद्धि से उस कर्म का सेवन नहीं करता है, देखो! हेय बुद्धि इसी को बोलते हैं। कर्म बंधता है, फिर उसका उदय होता है उदय में फिर सामग्री मिलती है उसको वह विषय सुख की बुद्धि से नहीं भोगता है, क्योंकि कर्म का फल मिलना तो अनिवार्य है। यह अनिवार्य होते हुए भी सुखानुभव के लिए, विषयों की पुष्टि के लिए सम्यग्दृष्टि जीव की भोग-वृत्ति नहीं होती, यह प्रासंगिक सम्यग्दृष्टि की बात है, वह उपादेय बुद्धि से कभी भी सेवन नहीं करता है।

जिज्ञासा—जो इन्द्र आदि सम्यग्दृष्टि हैं वे भी हेय बुद्धि से भोगते हैं क्या? यदि हेय बुद्धि से भोगते हैं तो **कुन्दकुन्द स्वामी** ने **प्रवचनसार** में यह क्यों कहा कि कुलिशायुध अर्थात् वज्र जिसका आयुध है वह शक्र होता है, वह जोंक के समान होता है, उसे जोंक की उपमा क्यों दी? जबकि सम्यग्दृष्टि तो वह भी है ?

समाधान—आचार्य कहते हैं कि उस विषय को स्पष्ट रूप से पढ़ो कि इन्द्र को जोंक की उपमा क्यों दी गई है? छहढाला में कहा है **सो इन्द्र नाग नगेन्द्र वा अहमिन्द्र के नाहिं कहो** अर्थात् जो सुखानुभूति वीतरागता पूर्वक होती है, निर्विकल्प-समाधि में होती है, वीतराग सम्यग्दृष्टि को होती है, वह इन्द्र, नाग, नरेन्द्र आदि अविरत सम्यग्दृष्टि को नहीं कही गयी है। यदि अविरत सम्यग्दृष्टि के लिए कही गई है तो नवग्रैवयेक, नव अनुदिश, पाँच अनुत्तर तथा चक्रवर्ती, इन्द्र को भी वह अनुभूति होना चाहिए, लेकिन किसी को नहीं होती। यहाँ पर भी अविरत दशा में नहीं होती। यदि वह सुखानुभूति होती भी है, तो वह उस समय होती है, जिस समय वह वीतरागता की भावना करता है और वीतराग सम्यग्दृष्टि के होती है। अविरत सम्यग्दृष्टि के विषयों का त्याग नहीं होता है, यदि त्याग होता, तो वे लड़ते-भिड़ते क्यों? भरत-बाहुबली दोनों क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे, दोनों ही **सर्वार्थसिद्धि** से आये थे, दोनों ही पूर्व में मुनि थे और यहाँ भी दोनों को कुछ दिन उपरान्त मुनि बनना है, मुक्ति होना है, यह पहले से ही टिकट कट गया है, दोनों के पास अवधिज्ञान है, दोनों ही महापुरुष हैं, दोनों का अकाल मरण नहीं हो सकता, फिर भी ऐसा क्यों हुआ? तात्पर्य यह है कि जो इन्द्र आदि सम्यग्दृष्टि हैं, उनके जो भोग होता है वह हेय बुद्धि से नहीं होता, वे तो उसे बुद्धि पूर्वक भोगते हैं।

दृष्टान्त—हाँ, हम चर्चा कर रहे थे, कि जैसे-कोई प्राइमरी में पास हो गया और वह खुशी के कारण कूदने लग जाये, हायर सेकंडरी वालों के सामने खुश होने लग जाये, तो कहते हैं कि थोड़ा शांति रखो, तुम तो प्राइमरी में पास हो गये, तो प्राइमिनिस्टर जैसे बन करके आ गये हो, ऐसा मत करो। तुलना कर रहे हैं तो इसका मतलब ये नहीं कि उन्हीं के साथ तुलना करने लग जाओ, यहाँ पर उन मुनियों की भी बात नहीं कही जा रही है जो कि प्रवृत्ति में लगे हुए हैं लेकिन वीतराग भावना जिन मुनि के पास है, जो शुद्धोपयोग में लीन हैं, निर्विकल्प समाधि में तल्लीन हैं उनकी बात है। और उसको चतुर्थ गुणस्थान में घटित करेंगे तो उसकी स्थिति भी ऐसी होगी जैसे हायर सेकंडरी के सामने प्राइमरी का बच्चा कूदने लगा।

सम्यग्दृष्टि पुण्य को नहीं चाहता है, तो फिर पुण्य के फल को कैसे चाहेगा? लेकिन चक्रवर्ती को तो चक्र मिल गया था, छहखण्डों को जीत लिए थे, विजयी हो गये थे, वे प्रशस्ति भी लिख कर आ गये थे, भले ही जगह नहीं मिली तो दूसरे का नाम मिटा कर अपना नाम लिखवा दिया था। कहते हैं वो तो भूतपूर्व हो गये अतः उन्हें मिटा दो, ये बात अलग है कि हम भी स्थायी नहीं रहेंगे, हमारे जाने के उपरान्त हमारा नाम भी मिटा दिया जायेगा तो कोई बात नहीं, क्योंकि उस समय हम चक्रवर्ती रहेंगे ही नहीं, चक्रवर्ती का काम ही होता है कि दूसरे का नाम मिटा करके अपना नाम वज्र की लेखनी से लिख देना। सभी ने ऐसा ही किया होगा हमें तो ऐसा ही लगता है, क्योंकि प्रत्येक चक्रवर्ती प्रशस्ति लिखता है, मतलब इनके काल में दूसरे का नाम मिटाने रूप कार्य हुआ है। प्रशस्ति लिखने के लिए जगह तो नहीं थी, तब मंत्री से कहा गया जाओ जगह बना दो और मेरा नाम लिख दो।

दृष्टान्त—जैसे—रेलगाड़ी में जाना है, यहाँ सबकी बुकिंग है, एक यात्री कहता है हम भी बैठेंगे, कैसे बैठेंगे? दोनों खड़े हो जाओ। जितनी जगह में एक व्यक्ति बैठता है, उतनी जगह में तीन व्यक्ति खड़े हो सकते हैं। ऐसा होता है, नाम की ओर दृष्टि अविरति सम्यग्दृष्टि की हो सकती है, इसलिए आचार्य कहते हैं, तुलना करना है तो ऊपर वालों के साथ तुलना मत करो।

कल तो उदाहरण दिया था, कि पुण्यानुबंधी पुण्य और पापानुबंधी पुण्य में अन्तर है। विविध प्रकार के विषय भोगों को उत्पन्न करने वाले हैं, भोगाकांक्षा रूप हैं, शुद्धात्मा के विनाशक हैं, ऐसे रागादि परिणाम को सम्यग्दृष्टि पैदा नहीं होने देते हैं। मतलब इस प्रकार की क्षुधा लगे कि भक्ष्य-अभक्ष्य दोनों की ओर चला जाये, वह ऐसा भी तो नहीं करेगा, सम्यग्दृष्टि इतना तो संयम रखता है, अर्थात् निचले स्तर का भोगोपभोग नहीं करता है, लेकिन विषयों का भोगोपभोग नहीं करता है ऐसा भी नहीं है। यह चतुर्थ गुणस्थानवर्ती तो सभी एवन चीजों का सेवन करता है, उसके लिए कोई कमी नहीं रहनी चाहिए यह भी बात है। उनका अकाल मरण तो होता नहीं, उन पर कोई आक्रमण करने वाला नहीं है, फिर भी बॉडीगार्ड आगे-पीछे रहते हैं, इनकी क्या आवश्यकता है, हमें तो समझ में नहीं आता है, जिसको आवश्यकता है वहाँ भेज दो। आप लोग बॉडीगार्ड समझते हैं। ६० हजार वर्ष में तो सबको मालूम पड़ गया कि यह प्रथम चक्रवर्ती है, देव लोग अपने आप ही आ जाते हैं, तो चक्रवर्ती उनके लिए जाओ ऐसा क्यों नहीं कहते हैं और जब स्वयं घर से बाहर निकल गये तो कैसे निकल गये? जब वे चक्रवर्ती दीक्षित हो जाते हैं, तो फिर वे उनकी सेवा में क्यों नहीं आते और वे पहले क्यों नहीं छोड़ते हैं, अर्थात् लगाव तो है उन्हें ऐसा सिद्ध होता है।

आत्मानुभूति करो दीर्घ संहनन भी है, ज्ञान भी है, क्षायिक सम्यग्दर्शन भी है और कुछ दिन के उपरान्त मुनि बनना है यह भी निश्चित है तो बैठे-बैठे करो, लेकिन नहीं कर सकते। इसलिए आचार्य कहते हैं कि अविरत सम्यग्दृष्टि विषय भोगों में अतिरेक नहीं करता, लेकिन त्याग भी नहीं करता, जब तक त्याग का संकल्प नहीं लिया जाता, तब तक विषयों के प्रति उनका लगाव नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जो जीव को विषयों की ओर ले जाने वाला है, वह पुण्य नहीं है, पूर्व का संस्कार तो कह सकते हैं। एक व्यक्ति भोगों में अहं अग्रे-अहं अग्रे हो रहा है और दूसरा एक नम्बर का भोगोपभोग मिलने पर भी उसे उदासीनता के साथ स्वीकार कर रहा है। इन दोनों में अन्तर है कि नहीं? अन्तर तो है, यह तो पहले ही कह दिया कि यह भोगोपभोग सबको मिलेगा, लेकिन फिर भी अहम् अग्रे-अहम् अग्रे ऐसा क्यों होता है? तो यह अविरत सम्यग्दृष्टि में होता है लेकिन व्रतियों में नहीं, इसी का नाम तो हेय है। जब चक्र रुक गया था तो चक्रवर्ती ने शांति विधान अथवा कुछ अनुष्ठान किया ऐसा कहीं आया है, यह स्मरण है। आप लोगों की धारणा है कि सोलहवें भगवान् का नाम शांतिनाथ है और उन्हीं के विधान को शांतिनाथ विधान कहते हैं, लेकिन ऐसा नहीं है। शांति के लिए जो विधान है, वह शांतिविधान है, तो शांति के जो नाथ होते हैं, सभी भगवान् ऐसे होते हैं,

उनकी पूजा करना, अनुष्ठान करना, ये शांति विधान कहलाता है। ऐसा अनुष्ठान उन्होंने किया था, उन लोगों में सभी को क्षायिक सम्यग्दर्शन था क्या? किसी को क्षयोपशम सम्यग्दर्शन नहीं था क्या? ऐसा नहीं है। महापुराण में आया है कि तीन खण्ड की तो विजय हो गई और तीन खण्ड की विजय और करना थी, इसलिए उन्होंने अच्छे ढंग से विधान किया, पूजा की, तो तत्सम्बन्धी जो व्यवधान आया है, उसकी शांति के लिए ही तो किया था और इसे पढ़िये तो पता चलेगा, कि उपवास के साथ विधान किया था, यह भी आता है। आज कल तो विधान कर लेते हैं, लेकिन उपवास नहीं करते और उन्होंने चक्रवर्ती होकर भी उपवास के साथ पूजा की थी। यहाँ आप लोग एक भी व्रत करके विधान करना नहीं जानते हैं। यह नया विषय है सुबह भोजन करेंगे और शाम को ड्राइफ्रूट्स और फलों को सुखा-सुखा करके ले लेते हैं, तो यह क्या है? उन्होंने कहाँ-कहाँ विधान किये, पूजन की, यह स्मरण में आ गया, नहीं तो देख लो कि पुराण में क्या लिखा है?

दूसरा व्याख्यान यह है कि कोई सम्यग्दृष्टि जीव निर्विकल्प-समाधि के अभाव के कारण अशक्य का अनुष्ठान अर्थात् जिसके बिना कोई निर्वाह संभव नहीं, इसलिए विषय कषायों से बचने के लिए यद्यपि उन दिनों व्रत, शील, दान-पूजा आदि शुभ कर्म का जो भी शक्य अनुष्ठान है उसे करता है लेकिन इस दान का, पूजा का, उपवास का मुझे यह फल मिले इस प्रकार का मन में भोगों की आकांक्षा रूप विकल्प नहीं करता वह उस पुण्य अनुष्ठान का कार्य करता है। तो वह पुण्यानुबंधी पुण्य कर्म आगे के भव में तीर्थकर, चक्रवर्ती, बलदेव आदि अभ्युदय रूप में उदय आया हुआ भी पूर्व भव में भावित भेदविज्ञान की भावना के बल से शुद्धात्म भावना के मूलोच्छेदक भोगों की आकांक्षा रूप निदान बंध वाले और विषय सुखों को उपजाने वाले, रागादि परिणामों को पैदा नहीं करता है जैसे-कि भरतेश्वर चक्रवर्ती आदि ने पैदा नहीं किए।

जैन समाज को भी इस विषय में विधान आदि क्रियाओं के विषय में अच्छे ढंग से समझ लेना चाहिए। कई लोग कहते हैं, लिखते हैं, लेख माला चलाते हैं, इसका अर्थ भी यही है कि कहीं ना कहीं उस प्रसंग का अतिरेक हो रहा होगा, तभी तो तत्सम्बन्धी लेखनी चलने लगी है। प्रत्येक व्यक्ति या समाज विधान और पंचकल्याणक महोत्सव आदि करते हैं, उसमें जो राशि व्यय होती है, उसको निकालने के बाद जो राशि बच जाती है, तत्सम्बन्धी झगड़ा आदि मच जाता है, उसके कारण समाज में अनेक प्रकार की फिरका-फिरकी बातें होने लग जाती हैं। ऐसा सुनने में आता है। इसलिए विवाद न हो, समाज के बीच टुकड़ा-टुकड़ी न हो, तो ऐसा कर लेना चाहिए कि जो द्रव्य बचता है तो उसे अच्छे कार्य में लगा देना चाहिए, अन्यथा व्यवसाय की दृष्टि होने में देर नहीं लगती। सबकी दृष्टि उसी पर रहती है, इसलिए उसका एक अच्छे कार्य के लिए उद्देश्य बनाकर उपयोग कर लेना चाहिए। यह अनुष्ठान बंध सहित होता है, इसमें निर्जरा तो होती है लेकिन पुण्यबंध भी होता है, यह पूजन विधान आदि निर्विकल्प-समाधि नहीं होने के कारण करना पड़ता है, लेकिन इसके द्वारा निर्जरा होती

है, इस विश्वास के साथ ही वह करता है और विषय-कषायों से दूर होने के लिए करता है। **विषय-कषाय-वंचनार्थम्** यह अच्छा शब्द दिया है। विषय-कषाय से बचने के लिए शुभ अनुष्ठान का आश्रय लिया जाता है और यदि शुभ अनुष्ठान में कषाय हो गई तो फिर विषय-कषाय से बचने वाला अनुष्ठान कहाँ किया आपने? यदि दान पूजा आदि इसी के लिए किये या पहले यही दिख जाये, कि कितना शेष बचेगा, तो उसमें विशुद्धि कहाँ रही?

मूलाचार ग्रन्थ में दान की व्याख्या की है। दान का अर्थ त्याग लिया है। तो क्या त्याग किया? दोनों प्रकार के मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं, तो यह मुनियों की ओर से दान हो गया क्योंकि व्यवहार-निश्चय मोक्षमार्ग क्या होता है? इसका उपदेश दे दिया। मान लो सौ व्यक्तियों के सामने उपदेश दिया तो यह आपका त्याग हुआ कि नहीं? त्याग हुआ। इसके अलावा साथी, शरणार्थी साधर्मी को बुखार आ गया या सिर-दर्द, कमर-दर्द, पैर-दर्द आदि हुआ या उन्हें कोई विकल्प हो गया तो उन्हें पुनः धर्म वत्सल भाव से अपनी साधना में स्थित करना, धर्मात्मा के प्रति वात्सल्य होने से उसकी समस्या को दूर करने का प्रयास करना, निरवद्य वैय्यावृत्ति के माध्यम से उसकी समस्या को दूर करने या निर्विकल्प-समाधि की ओर ले जाने का प्रयास करना यह सबसे बड़ा दान है। इससे बड़ा अनुष्ठान और क्या हो सकता है? इसके अलावा भी पैर दबाना, हाथ दबाना या अन्य किसी तरह भी सहायता करना यह हम लोगों का दान है। ऐसा मुनियों के लिए **मूलाचार** में आया है। लेकिन अपने यहाँ सावद्य दान नहीं होता, निरवद्य होता है। श्रमण हमेशा-हमेशा निर्विकल्प समाधि में तो रहते नहीं हैं, कभी-कभी विशुद्धि घट जाती है तो तत्योग्य संक्लेश होना सहज है। जैसे-अग्नि लगने के उपरान्त धुआँ उठता ही है, उसी प्रकार वहाँ संक्लेश तो अनिवार्य है, तात्पर्य यह है कि स्तत्रय के साथ भी धुआँ उठता है।

षट्खण्डागम ग्रन्थ में सोलह कारण भावनाओं का प्रकरण आया है, उन सोलह कारण भावनाओं में **पासुगपरिचाग** एक भावना है। पासुक क्या है? स्तत्रय है, उसका दान देते हैं, वह पासुक परित्याग रूप भावना केवल महाऋषियों के ही होती है। घर में ये भावना नहीं हो सकती, क्योंकि वहाँ स्तत्रय नहीं है और जिसके पास स्तत्रय नहीं है, वह स्तत्रय का उपदेश क्या देगा? आप उसके द्वारा दूसरे के स्तत्रय का भी बहुमान कर सकते हैं, उसकी जो कठिनाई आई है उसे सुलझा दो ताकि वो पूर्व स्थिति में आ जाये और उसकी गति शुद्धोपयोग की ओर चली जाये, ऐसा काम करना सबसे बड़ा दान है।

दृष्टान्त—जैसे-मिलिट्री रणांगन में कूद पड़ती है तो मिलिट्री के साथ डॉक्टर लोग भी जाते हैं उनकी ड्रेस अलग होती है, उनके ऊपर पक्ष-विपक्ष का कोई भी व्यक्ति भूल करके भी गोली नहीं चला सकता। उन डॉक्टर का काम होता है, कि घायल व्यक्ति को उठाना और मरहम-पट्टी करना और दवाई पिलाना इत्यादि। यह कार्य शिविर में ले जा कर करते रहते हैं। उसी प्रकार यहाँ भी श्रमण

आत्म-साधना में लगे रहते हैं और समय मिला तो इस प्रकार की वैयावृत्ति भी कर लेते हैं, वहाँ पर भी डॉक्टर की व्यवस्था होती है, ऐसा बताते हैं, इसी का नाम तो धर्म-युद्ध है। यदि ऐसा नहीं होता और डॉक्टर के ऊपर भी वे गोली चला देंगे तो सब समाप्त। कोई ट्रीटमेंट नहीं कर सकेगा, आज भी ये नियम है, अनुबंध है कि डॉक्टर के ऊपर कोई गोली नहीं चलायेंगे उनका यह नियम रहता है। झण्डा यूँ-यूँ फहराते हुए दिखाते हैं, तो इसका अर्थ यह है कि अब आप आराम करिये, युद्ध को विराम दीजिए। आपत्ति आ गई तो उसमें युद्ध बंद करना पड़ता है, फिर भी आप गोली चलायेंगे तो अपराध माना जायेगा। लोक सभा में जो अध्यक्ष होते हैं वे कहते हैं कि आप बाहर नहीं जायेंगे तो मैं बाहर चला जाऊँगा, आप कुर्सी पटक रहे हैं तो हम क्या करेंगे? उस समय प्राइमिनिस्टर आ जाये तो वह कुछ कह सकता है। लोकसभा, विधानसभा के अंदर तो सारे पक्ष-विपक्ष की सीटें रहती हैं। सभी सभाओं में अध्यक्ष तो होते हैं, आपने अध्यक्ष बनाया है, हमारे सामने ही कुर्सी पटकने लगे तो हम बंद कर देंगे तो सभा स्थगित हो जाती है, बंद हो जाती है, कार्यवाही रुक जाती है। तुम्हारी इस हरकत के कारण? बाहर जाना है तो बाहर जाओ, हमें क्या? लेकिन आप भीतर सभा में बैठे हैं तो शांति रखिये यह अनुबंध है, इसके बिना पक्ष-विपक्ष का कोई काम नहीं कर सकेगा। इस प्रकार वहाँ पर कार्य होता है। विषय-कषाय को दूर करने के लिए, उनसे बचने के लिए पुण्य अनुष्ठान किया जा रहा है, यह हमेशा-हमेशा ध्यान रखना। जितने भी धार्मिक अनुष्ठान दिखने में आते हैं, उनका मात्र एक ही उद्देश्य होता है कि विषय-कषायों से बचना लेकिन इन्हीं से कषाय होने लग जाये तो कौन सा आधार है बचने के लिए, क्योंकि निर्विकल्प समाधि में बैठ नहीं पा रहे हैं और इधर धार्मिक अनुष्ठान से भी कषाय होने लगी तो क्या अर्थ? जबकि धार्मिक अनुष्ठान धर्म के लिए होना चाहिए, उसके पीछे लड़ाई-झगड़े नहीं होने चाहिए। यह बात यहाँ पर कही जा रही है। धार्मिक अनुष्ठान आदि में कषाय जागृत नहीं होना चाहिए। हमारे कार्यकाल में इतना पैसा हो गया, पैसा है तो कषाय है, जबकि कषाय से बचने के लिए अनुष्ठान किया जाता है। विषय-कषाय से बचने के उद्देश्य से किया गया अनुष्ठान निर्जरा का कारण होता है, यह भी ध्यान रखना चाहिए, मतलब कषाय से डरना चाहिए।

सम्यग्दृष्टि जीव कषाय से भीरु होता है कि नहीं? होता है और होना ही चाहिए और कषाय को कम करने में स्पर्धा करनी चाहिए। कषाय करने में नहीं। जो सम्यग्दृष्टि है वह वज्र के समान कठोर होता है, अतः वह लड़े-भिड़े नहीं। मुनि, श्रावकों को जो स्थानीय विषय-कषाय, उनसे बचना अनिवार्य ही नहीं परमअनिवार्य है। नहीं तो अप्रभावना का कारण और हो जाता है, यह व्यवसायी-करण नहीं होना चाहिए। जो लोकोपयोगी, सर्वोपयोगी हों, ब्रती त्यागी आदि की कमियों को दूर करने वाले हों ऐसे अच्छे-अच्छे कार्य इस अनुष्ठान के अन्तर्गत आना चाहिए। उसके द्वारा लेने का भाव नहीं करना चाहिए अर्थात् इस अनुष्ठान का फल अगले जीवन में मुझे यह मिले इस प्रकार का निदान

अर्थात् भावी भोगों की विषयाकांक्षा भी नहीं रखनी चाहिए। यदि विषयाकांक्षा की दृष्टि नहीं रखता है तो फिर उसे तीर्थकर बलदेव, चक्रवर्ती आदि पद मिलेंगे तो भी उसे वे पुण्य के फल उन्हें विषय-कषायों की ओर नहीं ले जा सकते। वह उस प्रकार के भोगों में रम्यमान नहीं होगा, जो उसे नरक निगोद आदि में ले जाने में कारण हों, किन्तु वह तो एलर्ट (सावधान) रहता है। इस प्रकार भोगोपभोग मिलने के उपरान्त भी उसकी वृत्ति सदा उदासीन रहती है, क्योंकि पुण्यानुबंधी पुण्य का यही एक मात्र फल है। यहाँ पर सुख-शांति वैभव होते हुए भी देव जैसा रूप है, पता ही नहीं लगता। कभी अहम् भाव की तरंगें नहीं उठतीं, उनके ललाट पर मान की कोई तरंगें नहीं उठतीं, उनके जीवन में तनातन वाली बात नहीं होती, हमेशा कोमल भाव “**स्वभाव मार्दवं च**” ऐसे परिणाम रहते हैं, क्योंकि देव गति से आये हैं। इस प्रकार वे अपना काम देते रहते हैं।

आगमिक विचार—आचार्यों ने यहाँ तक लिखा है कि आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त के होते ही तीर्थकर के जीवन में पंचम गुणस्थानवर्ती के समान चर्या अपने आप आ जाती है। घर में माता-पिता हैं जो उम्र में उनसे बड़े हैं, लेकिन उनके लिए यह नियोग नहीं बताया। हाँ, तीर्थकर आदि महापुरुषों में वह संयमासंमयवत् चर्या अपने आप हो जाती है और कहीं यह उल्लेख मिलता है कि वे व्रती बनते हैं, इसका कुछ लोग यह फलितार्थ लेते हैं कि महापुरुष महाव्रती ही बनते हैं देशव्रती नहीं बनते, लेकिन इस विषय में विचार कर लेना चाहिए। क्षायिक सम्यग्दृष्टि अणुव्रत लेता ही नहीं, ऐसी धारणा बनाने वाले भी कुछ लोग हैं लेकिन षट्खण्डागम धवला आदि में देख लो, कि जीवन में आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त के बाद अणुव्रत का पालन कर लिया उसी भव में मुक्ति भी होना है और अन्तर्मुहूर्त मात्र आयु शेष है उस समय मुनि बन गये, ऐसा भंग भी घटित किया गया है, लेकिन वह अणुव्रती बनता ही नहीं, ऐसा नहीं कहा गया। कोई सम्यग्दृष्टि जीव वैमानिक देवों से नीचे आया और यहाँ अविरत सम्यग्दृष्टि रह कर पुनः देवगति में ग्रैवेयक आदि में पहुँच गया, ऐसा भंग नहीं आया। आप भी देख लेना।

भले ही वह एक अन्तर्मुहूर्त के लिए संयम ले लेकिन बिना संयम के वहाँ नहीं जा सकता क्योंकि वहाँ तो संयम के साथ ही जाता है। यहाँ पर मानलो, संयम का मार्ग नहीं है तो सीधा विदेह में जायेगा। “**माहाकुला महार्था**” ऐसा कहा है महार्था अर्थात् महान् द्रव्य वाला नहीं लेना किन्तु जो महान् पुरुषार्थ करने वाला होता है उसे लेना। मोक्ष पुरुषार्थ को महा पुरुषार्थ कहा गया है। वह पुरुषार्थ जहाँ पर होता है, वहीं पर जाता है। अविरत सम्यग्दृष्टि का मोक्ष पुरुषार्थ नहीं होता, धर्म पुरुषार्थ तो हो सकता है। इसलिए कहा है कि उसका पूर्व भव में किया हुआ पुण्यानुबंधी पुण्य है, उसी के फलस्वरूप तीर्थकर चक्रवर्ती आदि पदों के साथ वह कर्म उदय में आ जाता है तो भी पूर्व भव में जो भेद-विज्ञान का संस्कार डाला था उसी के फलस्वरूप वह उस शुद्धात्मा की भावना को नहीं छोड़ता है तथा विषय-कषाय को उत्पन्न करने वाले भोगाकांक्षा निदान को कभी छूता ही नहीं।

रावण ने निदान आदि को छुआ तो समाप्त हो गया परन्तु राम ने निदान को नहीं छुआ तो आप्त हो गया। 'समाप्त' शब्द भी अच्छा है, "सम समीचीन रूपेण आप्तः" कहा लेकिन यहाँ समाप्त शब्द नष्ट होने के अर्थ में है और आप्त का अर्थ अठारह दोषों से रहित होने के अर्थ में है, देखो दोनों में कितना अन्तर हो गया। शुद्धोपयोग की जघन्य भूमिका में जो पुण्य बंध हो रहा है, वह भी अतिशय पुण्य है, क्योंकि उसका अनुभाग ऊपर-ऊपर बढ़ता ही जाता है। एक भेद-रत्नत्रय के साथ जो बंध हो रहा है वह व्यवहार को चुनता है, उसके भी पुण्य बढ़ता जायेगा, क्योंकि जितना चन्दन घिसेगा, उतनी ही महक बढ़ेगी। यह बात निश्चित है। म्लेच्छ-खण्ड में असि, मसि आदि षट्कर्म होते हैं, वित्त आदि की कोई कमी नहीं होती, लेकिन पुण्यानुबंधी पुण्य नहीं होने के कारण म्लेच्छ-खण्डों में सम्यग्दर्शन की भूमिका के लिए पात्रता नहीं होती। सोचो, विचार करो, ऐसा क्यों कहा गया?

कैसा वैचित्र्य ? — दूसरी बात सातवें नरक में सम्यग्दर्शन हो सकता है, तीन चार अन्तर्मुहूर्त कम तैतीस सागर आयु तक सम्यग्दर्शन रह सकता है, लेकिन वहाँ से निकल कर जहाँ भी जायेगा, तो उसको सम्यग्दर्शन नहीं हो सकेगा, ऐसा क्यों कहा? उसके संस्कार कैसे हैं बताओ? और यहाँ आकर नियम से क्रूर, तिर्यच बनता है लेकिन जीवन में सम्यग्दर्शन का संस्कार क्यों नहीं रहता? यहाँ से वहाँ जाता है तो कुछ कम तैतीस सागर कृष्ण लेश्या के साथ ही सम्यग्दर्शन बना रह सकता है और वहाँ से यहाँ आने के उपरान्त उसके सम्यग्दर्शन की भूमिका भी नहीं हो रही है, कैसा वैचित्र्य है। वहाँ से आकर उसे तिर्यच ही होना है, तो वहाँ पर मरण के अन्त में अन्तर्मुहूर्त पूर्व उसका सम्यग्दर्शन छूट जाता है, इस अपेक्षा से कुछ कम तैतीस सागर सम्यग्दर्शन का काल प्राप्त होता है। वहाँ से सम्यग्दर्शन लेकर यहाँ नहीं आ सकता यह बात तो ठीक है, लेकिन यहाँ आकर सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं कर सकता, ऐसा कौन सा संस्कार है? वैचित्र्य है? यह...। इसलिए आचार्य कहते हैं कि देखो! विचार करो, सोचो! कि वहाँ इतने काल तक सम्यग्दर्शन होने पर भी यहाँ सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं कर पा रहा, ये परिणामों की विचित्रता है यह बार-बार सोचना चाहिए। मान लो कोई दो बार सातवीं पृथ्वी जाकर यहाँ आया है, अब तो उसे वहाँ नहीं जाना है, तो सम्यग्दर्शन हो जाना चाहिए, लेकिन फिर भी नहीं होता, क्योंकि यह सातवीं पृथ्वी से आने वाले का नियम ही है। अशुभ आयु, अशुभ गति के साथ उसे आगे तिर्यच ही होना है, तो अनन्तानुबंधी इस ढंग से कार्य करती रहती है। तिर्यच आयु का बंध भी अनन्तानुबंधी प्रत्ययगत होता है और नरकायु का बंध मिथ्यात्व प्रत्यय में आ जाता है। अनन्तानुबंधी प्रत्यय नीच गोत्र का बंध कराता है, यह कराये ही ऐसा नियम नहीं, लेकिन उसे तिर्यच होना है, तो नीच गोत्र का ही बंध होगा, ऐसा कौन-सा संस्कार है उसका, देखो परिणामों की विचित्रता कैसी है? इस प्रकार मतिज्ञानादि पाँच भेद नहीं करते हुए अभेद रूप परमार्थ तत्त्व का वाच्यभूत जो है वह साक्षात् मोक्ष का कारण है ऐसा शुद्धात्म स्वसंवित्ति लक्षण वाला स्वसंवेद्य का ज्ञान सम्यक्त्व पूर्वक निर्जरा कराता है। उपादान कारण कार्य में ढलता है, इसका

व्याख्यान पूर्व में किया है। विकार रहित स्वसंवेदनात्मक भेदविज्ञान गुण के बिना परमार्थ पद की प्राप्ति नहीं हो सकती, उसी भेदविज्ञान का कथन करने वाला चौदह गाथाओं में वर्णन समाप्त हुआ।

अब इसके आगे संस्कृत टीका में नवगाथाओं के द्वारा सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का वर्णन किया जाता है। यहाँ संस्कृत टीकाकार ने **इतःउर्ध्वम्** ऐसा कहा है, संस्कृत में एक **इतः-ततः** शब्द आते हैं, बुन्देलखण्ड में जैसे आप लोग बोलते हैं **इते-उते**। यह निर्जरा अधिकार का उत्कृष्ट अनुभाग स्थान है। सर्वप्रथम गाथा में अपने परमात्म-पद की भावना से उत्पन्न हुए सुखामृत के रसास्वादन से तृप्त हुए संत घोर उपसर्ग आने पर भी सात प्रकार के भयों से रहित होने के कारण निर्विकार स्वरूप स्वभाव को नहीं छोड़ते किन्तु उसी में तल्लीन रहते हैं, ऐसे सम्यग्दृष्टि के आठ अंगों का वर्णन यहाँ पर किया जायेगा। यहाँ **‘रत्नकरण्डक श्रावकाचार’** के सम्यग्दर्शन के आठ अंगों को गौण कर देना चाहिए और **समयसार** में कौन सा सम्यग्दर्शन है? कौन से आठ अंग है? इसका वर्णन बहुत अच्छे ढंग से समझ लेना चाहिए। **‘आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी’** ने आठ अंगों का वर्णन नव गाथाओं के द्वारा बहुत अच्छे ढंग से किया है।

हमें याद आ रहा है कि **‘आचार्य अमृतचंद्र स्वामी’** ने भी **समयसार** कलश में सम्यग्दर्शन के अंगों का वर्णन करते हुए सम्यग्दृष्टि को सप्त भयों से रहित लिखा है। यह वह प्रसंग है जो कि कौन सा सम्यग्दृष्टि यहाँ विवक्षित है, उसको सिद्ध करता है, चक्रवर्ती चक्र चला रहा है तो सप्त भयों से रहित नहीं हो सकता। अभी सात-आठ गाथाओं में बहुत अच्छा वर्णन किया जायेगा, कि कौन-कौन से भयों से आक्रान्त होता है, इसका प्रसंग भी आयेगा। **रत्नकरण्डक श्रावकाचार** के आठ गुणों की तुलना यहाँ **समयसार** के आठ अंगों की अपेक्षा से करेंगे, तो हमें जमीन-आसमान जैसा अन्तर नजर आयेगा। इस रहस्य को जो लोग नहीं समझ पाते हैं, वे चतुर्थ गुणस्थान वर्ती को यहाँ स्वीकार कर लेते हैं। यहाँ कौन से सम्यग्दृष्टि को विवक्षित किया गया है, यह ध्यान देने योग्य बात है। अनन्तानुबंधी आदि चार कषायों के साथ जो नो कषाय रूप भय है, वह अपना रंग अलग-अलग दिखाता है। अनन्तानुबंधी के साथ जो भय होगा वह अपने ढंग का होगा। इसी प्रकार अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन के साथ जो भय होगा वह अलग प्रकार का होगा, क्योंकि ये नोकषाय वेदनीय है जो कि कषाय के साथ अपना काम करती है, कषाय के अनुरूप अपना प्रभाव दिखाती है।

दृष्टान्त—जैसे—पुलिस होती है, वह नेता जी के साथ अपने ढंग से चलती है, कैदी के साथ अलग ढंग से चलती है, सामान्य शराबी आदि के साथ अलग तरीके से और बच्चों के साथ अलग प्रकार से तथा अपने घर में आती है तो अलग ही रुख होता है। जबकि पुलिस वही है, इसी प्रकार नव नोकषाय में भय प्रकृति वही है लेकिन अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन इनके साथ पृथक्-पृथक् अलग-अलग प्रभाव दिखाती है। अपना अलग-अलग कार्य करती है, इसका इसमें बहुत सुंदर वर्णन किया है, भय संज्ञा का अध्वान आठवें गुणस्थान तक है, विभिन्न प्रकार

से भय होता है, संज्ञात्मक भय अलग है और उदयात्मक भय अलग होता है, ये सब अपने-अपने ढंग से चलते हैं। यहाँ पहले ही उदाहरण दे रहे हैं कि घोरोपसर्ग होने पर भी सप्त भयों से रहित होने के कारण सम्यग्दृष्टि निर्विकार जो स्व-स्वभाव है उसका त्याग नहीं करता है। वन-वन में भटकने वाले पाण्डव नहीं बल्कि जो मुनि बन कर बैठे हुए पाण्डव हैं उनके ऊपर घोर उपसर्ग हुआ तो भी उन्होंने अपने स्वभाव को नहीं छोड़ा, वे अपने स्वभाव से च्युत नहीं हुए। जैसा कि पहले संवर अधिकार में आया था, **जहकणयमग्गि तवियंपि**। अर्थात् सोने को तपाने के बाद भी स्वर्ण अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता। उसी प्रकार पाण्डवों ने भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ा। ज्ञानी तो कनकवत् रागातीत होकर स्वभाव का अनुभव करता है और अज्ञानी रागात्मक ही अनुभव करता रहता है, इसलिए दोनों को ज्ञानी नहीं कह सकते, इस प्रकार वीतराग सम्यग्दृष्टि सप्त भयों से रहित होता हुआ तथा निर्विकार स्वभाव को नहीं छोड़ता। घोरोपसर्ग में भी स्व स्वभाव से च्युत नहीं होता हुआ किन्तु आगे बढ़ता है। एक वर्ष तक बाहुबली जी प्रतिमायोग से खड़े रहे, उनका छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान चलता रहा, कुछ भी हो लेकिन वे सप्त भयों से घिरे नहीं।

प्रवृत्यात्मक अर्थात् एक वर्ष के काल में संज्ञायें होते हुए भी वे गुप्ति से च्युत हुए लेकिन उनके प्रवृत्यात्मक संज्ञायें नहीं हुईं। वे काय और वचन गुप्ति से च्युत नहीं हुए, केवल पर प्रयोगात् अर्थात् पर के प्रयोग से मनो गुप्ति से च्युत हुए होंगे। पूरे तीन चातुर्मास निकल गये वे खड़े ही रहे, शरीर पर लताएँ लिपट गईं, कई जीवों ने बिल बना लिए, फिर भी वे अडिग रहे। चार महीने में एक बार तो केशलोंच किये होंगे, ऐसा कोई कहता है तो उन्होंने केशलोंच कब किया? नहीं किया। जब गुप्ति में रहते हैं तो आपको भी प्रतिक्रमण करने की, केशलोंच करने की, देव वंदना आदि करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। लेकिन करके तो देख लो सारे के सारे लोग आकर परिक्रमा लगाने लग जायेंगे। यहाँ कह रहे थे जो आठ अंगों से सहित है वह घोर उपसर्ग होने पर भी सप्त भयों से रहित होते हुए भी निर्विकार अपने अनुभव स्वरूप सत् स्वभाव का ही अनुभव करते हैं अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव सप्त भयों से मुक्त होता है। यह गाथा में कह रहे हैं।

उत्थानिका—आगे नव गाथाओं में निःशंकितादि आठ गुणों का वर्णन करते हैं। उसमें भी सबसे प्रथम पहली गाथा में यह बताते हैं कि जो सम्यक्त्वी जीव निज परमात्मा की भावना से उत्पन्न हुए सुख रूप अमृत रस के आस्वादन से संतुष्ट रहते हैं वे घोर उपसर्ग आने पर भी सात प्रकार के भय से रहित होने के कारण निर्विकल्प रूप स्वानुभव ही है स्वरूप जिसका ऐसे अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं किन्तु उसी में तल्लीन रहते हैं—

सम्मादिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।

सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका ॥२४३॥

अन्वयार्थ— (सम्मादिट्ठी जीवा) सम्यग्दृष्टि जीव (णिस्संका होंति) निःशंक होते हैं (तेण)

इसलिए (णिब्भया) निर्भय होते हैं (दु जम्हा) चूँकि वे (सत्तभयविप्पमुक्का) सप्तभय से रहित हैं (तम्हा) इस कारण (णिस्संका) निःशंक होते हैं।

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक कहे गये हैं इसलिए निर्भय होते हैं। वे मरणादिरूप सात प्रकार के भय से रहित होते हैं यही उनके निःशंक होने का अर्थ है।

निःशंक हो मुनि सदा समदृष्टि वाले,
सातों प्रकार भय छोड़ स्वगीत गाले।
निःशंकिता अभयता इक साथ होती,
तो भीति ही स्वयं ही भयभीत रोती ॥२४३॥

व्याख्या—सम्यग्दृष्टि निःशंक होता है इसलिए निर्भीक भी होता है—सम्यग्दृष्टि जीव को निःशंक कहा गया है और निःशंक होने के कारण निर्भय होते हैं, वे मरण आदि रूप सात प्रकार के भय से रहित होते हैं, यही उनके निःशंक होने का अर्थ है। जो सात भयों से रहित होता है वही निशंकपने का अनुभव करता है। यह निशंक गुण सम्यग्दृष्टि के पास होना चाहिए, सात भयों से रहित होना यह निशंकपने का लक्षण जैसा हो गया, व्याप्ति रूप हो गया। जहाँ धमाके हो रहे हों उस ओर एक दूसरे की पूरकता नहीं मिल रही हो, बचने की उम्मीद भी नहीं हो, फिर भी कूदने वाला कूद जाता है। उसके उसी ओर कदम बढ़ते चले जाते हैं, इसी का नाम है निर्भीकता और निशंकता लेकिन जहाँ पूरी की पूरी सुरक्षा की व्यवस्था हो फिर भी मन में शंका बनी रहे कि क्या पता किसी भी घड़ी में क्या हो जाये? अतः वह व्यक्ति निशंक होकर नहीं बैठ सकता। जहाँ आप सामायिक करते हैं या सोते हैं, वहाँ पर यदि कोई यह कह दे कि बाकी तो सब ठीक है, लेकिन परसों बिल में...बस इतना कहते ही दिल हिल जाता है, निद्रा भंग हो जाती है, थकान आदि भी क्यों न हो, सब थकान आदि भी गायब हो जाती है। वह पहले सर्प को ढूँढ़ने लग जाता है, लेकिन खूब छानबीन करने के बाद भी पता नहीं चलता, वह शंका से भर जाता है, निशंक नहीं हो पाता, संदेह के कारण ऐसा होता है। जब संदिग्ध पैर आगे पड़ते हैं तो गति में भी अन्तर आ जाता है, एक प्रकार से पैरों में भी लचकपना आ जाता है। यहाँ पर पैर रखूँ या नहीं रखूँ इस प्रकार संदेह होने से पैर रखना चाहे तो भी रखना संभव नहीं होता। यदि आप पैर जमा कर रखना चाहते हैं, तो पहले आप निःसंदिग्ध हो जाइये, संदेह को निकाल दीजिए। चौबीसों घंटे शंका से रहित होना असंभव है शंका से रहित होना बहुत कठिन है। इसमें जहर है...यह सुनते ही...क्या पता यह निश्चित है कि जहर खाने के उपरान्त भी नहीं मरें लेकिन यह भी निश्चित है कि इसमें जहर है...इतना कहते ही समझता है कि अब तो गया मैं, क्योंकि उसकी धारणा ही ऐसी बन जाती है और ऐसी धारणा बनने से जहर का नाम लेने से ही खून की गति में अन्तर आ जाता है और खून में अन्तर आने से उसकी मृत्यु भी निश्चित जैसी हो जाती है। अतः निशंकपना होना अनिवार्य है। जो मोटा ताजा होता है वह निःशंक होता है और जो दुबला-पतला है वह ज्यादा डरपोक

होता है, ऐसी व्याप्ति नहीं बनायी जा सकती। बड़े-बड़े पहलवानों के लिए भी एक खटमल का नाम ले लो या मच्छर कह दो या मिक्खु कह दो, इतना पर्याप्त होता है उसे हिलाने के लिए। जिसको वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम होता है वह उसको सहन कर जाता है।

मोक्षमार्ग में निर्विकल्प होने के लिए निशंक होना अनिवार्य है, निर्विकल्प-समाधि में लीन होने के लिए निःशंकपना अनिवार्य है। पहले डर से मुक्त हो जाओ, तो मृत्यु कोई चीज ही नहीं होती। आखिर भय कितने होते हैं? इसी को आगे बता रहे हैं। इसमें सबसे पहले मृत्यु भय है, उसके आने के पूर्व ही तहलका मच जाता है, डॉक्टर लोग भी निश्चिन्त नहीं हो पाते, सम्यग्दृष्टि के लिए सप्त भय से रहित होना यह अनिवार्य तत्त्व बताया है।

शुद्ध का अर्थ है द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नोकर्म से रहित होना। बुद्ध अर्थात् अन्य जो भी भाव हैं उनको गौण करके एक मात्र ज्ञाता-दृष्टापन की अपेक्षा से ज्ञान-दर्शन के अलावा मेरे पास कुछ नहीं है, इस भाव को लेकर जो साधक चलता है वह यहाँ पर कर्ता के रूप में स्वीकृत है, वह निशंक होता है, इसी कारण निर्भीक होता है। अतः शंका ही भय के साथ व्याप्ति रखने वाली वस्तु सिद्ध हो जाती है। शंका कहते ही भय की ओर दृष्टि चली जाती है, निशंकपने के बिना निर्भयपना नहीं बन सकता, यह एक व्याप्ति सूचक बात है। जो जिस क्षेत्र में निशंक है, वह उस क्षेत्र में निर्भीक भी रहेगा।

दृष्टान्त—जैसे-कोई योद्धा रणांगन में कूद जाता है तो निशंक हो जाता है, अतः निर्भीक भी हो जाता है। उसके पास कोई शंका है ही नहीं, क्योंकि वह निशंक है अर्थात् वह निर्भय है। इसी प्रकार देव, शास्त्र, गुरु पर श्रद्धान करने वाला निशंक हो जाता है तो फिर किसी से डरता नहीं। 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में तो यही लिखा है कि हे प्राणी! जो रागीद्वेषी हैं, ऐसे अन्य कुदेवों की आराधना क्यों करता है? अपने स्वरूप का चिंतन कर ले, जिसका जैसा कर्मों का उदय होगा, वैसा ही होगा, इससे अपने को निश्चित कर लो, जिससे कि निःशंक हो जाओ, फिर डरने की या अन्य उपासना करने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

दृष्टान्त—विद्यार्थियों में ये देखा जाता है कि कुछ विद्यार्थियों को परीक्षा से डर लगता है, जिनको स्वयं के प्रति निशंकपना उत्पन्न नहीं होता है, वे ही डरते हैं। कोर्स की किताब का जिसने पूर्ण अध्ययन किया है, उसे परीक्षा में भय नहीं होता, उसे तो यह विचार रहता है कि परीक्षा कभी हो इससे कोई मतलब नहीं, वह सोचता है कि हम तो निशंक हैं क्योंकि कोर्स का पूर्ण अध्ययन हमारा पर्याप्त है, हम तैयार हैं, कभी भी पेपर देने बिठा सकते हैं, बैठ सकते हैं और किसी का अध्ययन पूर्ण नहीं हुआ है, तो वह निशंक नहीं हो सकता। वह सोचता है कि क्या पता कैसा पेपर आयेगा? आउट ऑफ कोर्स प्रश्न न आ जायें आदि-आदि। कई लोगों को परीक्षा का नाम सुनते ही टेम्पेरेचर बढ़ने लगता है। सुनते हैं रवीन्द्रनाथ टैगोर हायर सेकंडरी में दो बार फेल हुए हैं और उनकी कविता बी.ए. के कोर्स में चल रही है। स्वयं जब परीक्षा देने बैठे तो दो बार फेल हो गये। यह परीक्षा भी

अपने आप में बहुत महत्त्व रखती है।

वैसे तो आप चुप बैठे रहेंगे, लेकिन नहीं बोलने का संकल्प लेते हैं तब देखो धड़कन बढ़ जाती है, उदीरणा हो जाती है, अवश्य ऐसा कोई कार्य आ जायेगा कि क्या करें? मान लो कल केशलोंच करना है तो आज जिस समय आप प्रत्याख्यान करते हैं उस समय से ही उदीरणा प्रारंभ हो जाती है ऐसा लगता है कि जैसे आज ही उपवास किया हो जबकि अभी चौबीस घंटे का गेप है, अर्थात् जब पेट में पेट्रोल है तब यह स्थिति है तो फिर कल क्या होगा? कुछ नहीं होते हुए भी ये चौबीस घंटे निकालना है। जब तक केशलोंच नहीं करते हैं, तब तक के लिए विकल्प चलता रहता है। इसी प्रकार कोई भी नियम संकल्प लेते हैं तो उसमें अलग प्रकार की साइकोलॉजी यानि अलग प्रकार का मनोवैज्ञानिक तथ्य रहता है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति सामान्य से समय के अनुरूप ही निशंक रहता है तो वह ही व्यक्ति इस गाड़ी को खींचकर ले जा सकता है। जिस प्रकार मोक्षमार्ग में जितना विकल्प करता है, इससे कई गुना अधिक सांसारिक कार्य में करता है, उस समय उसको कुछ नहीं होता, लेकिन मोक्षमार्ग में आते ही अलग तरह से विचार होता रहता है, यह दुर्लभता तो होती है यह निश्चित बात है। कई लोग एक-एक महीने तक उपवास कर लेंगे लेकिन आजीवन त्याग के लिए कहा जाये तो नहीं कर पाते हैं। जबकि शरीर दस-बीस दिन से ज्यादा टिकने वाला नहीं है, यह निश्चित बात है, स्वयं को भी ज्ञात है कि अब एकाध सप्ताह और निकलेगा, फिर भी आजीवन त्याग करने के लिए तैयार नहीं हो पाता। बैंक में आप लोग पैसा रखेंगे तो फिक्स डिपॉजिट (स्थायी खाता) में रखने के लिए सोचेंगे कि यदि कोई परिस्थिति ऐसी आ गई कि बीच में आवश्यकता पड़ गई तो फिर निकाल नहीं सकेंगे और यदि निकालते हैं, तो वह फिक्स नहीं माना जायेगा, बल्कि उससे आपको कर्जा मिल रहा है लेकिन फिक्स तो नहीं रहा, आप पर कर्ज क्यों? आपको ब्याज मिल रहा है लेकिन फिक्स तो नहीं रहा, आप वर्तमान में कर्जदार हो गये, वह तो जब मिलेगा तब मिलेगा, तोड़ना तो सबको आता है, अखण्ड बनाये रखने के लिए कूबत होना चाहिए।

दृष्टान्त—किसी ने सोचा हम तो दो घण्टे का मौन ले लेते हैं और झाड़ के नीचे बैठ जाते हैं। वहाँ पर भी सब लोगों ने घेर लिया और मन में बिना संकेत के बोलने का भाव है, बोलो भले ही नहीं, वह कहता है अभी बोलेंगे बैठ जाओ। उस समय भी अपने भाव देख लो, प्रायः करके सप्लीमेण्ट्री इसी में आती है, ऐसा क्यों होता है, सामने वाला कहता है कि हमारी वजह से मौन चल रहा है, आप आँखें बंद करके बैठ जाओ, लेकिन कानों में शब्द तो जायेंगे ही, कोई कहता है महाराज शायद नाराज हैं, कोई बात नहीं, उनका मौन है। अपन सुना तो सकते हैं। ऐसी आपस में चर्चा करते हैं कि महाराज सुन तो सकते हैं, सुनने का थोड़े ही त्याग है, यह कैसा मौन है? अब देखो! भीतर तो लगता है कि हमारा निर्दोष मौन का पालन नहीं हो रहा है। विशुद्धि के साथ जो पालन होना चाहिए था लेकिन वह नहीं पल रहा है, क्या करें? बहुत कठिन होता है, इसलिए जो मौन रहते हुए और

विशुद्धि बढ़ाते हुए कर्मों को झेलता है, उसके पास कूबत बहुत होती है। जवाब तो प्रतिकार का नाम है और प्रतिकार करने वाले के पास हिम्मत कम होती है, इसलिए जल्दी-जल्दी वह जवाब दे देता है। संयम की मार्गणा में हाजिर जवाब देना अच्छा नहीं माना जाता अर्थात् सहन करो। कोई कुछ भी कह दे, वह कहता है उसकी तो विपरीत धारणा बन रही है, कैसे करेंगे हम? बनने दो, विपरीत धारणा बन रही है तो वह तो बनेगी और जवाब नहीं दोगे तभी तो तुम्हारा व्रत निर्दोष पलेगा। उस विपरीत धारणा को भी सहन करो। वह कहता है कि सब लोग झूठ कह रहे हैं कैसे सहन करें? यदि आपका मौन व्रत असत्य है तो तोड़ दो। हम यह कह रहे हैं कि इन भ्रांतियों का उत्तर देना चाहो, तो कोई ठिकाना ही नहीं है महाराज! दो व्यक्ति निर्भ्रान्त रहेंगे और सारे के सारे भ्राँति में रहेंगे और जो निर्भ्राँत रह रहे हैं, वे भी आपके द्वारा प्रशिक्षित हैं, इसलिए निर्भ्रान्त हैं बाकी जितने भी हैं वे आपके बारे में संदेह करेंगे, वे कहेंगे कि वो बिल्कुल ठीक हैं, तो आप क्या करेंगे? पसीना आ जायेगा, इसलिए सहन करो, यह जो कह रहे हैं वह सत्य नहीं है, यह बिल्कुल असत्य है लेकिन बोल नहीं सकता, लिख नहीं सकता, किसी को बता नहीं सकता, संकेत दे नहीं सकता, लोग कुछ कहेंगे इसलिए बोल नहीं रहे हैं, लिख नहीं रहे हैं, संकेत नहीं दे रहे हैं, कहेंगे, बिल्कुल ठीक है, उस समय ऐसा माहौल तैयार हो जाता है, कि अब क्या करेंगे हम? एक तरफा तो निर्णय ऐसे ही होते चले जाते हैं, जवाब दे तो किसको? एक जवाब हम देंगे तो चार समस्या और खड़ी कर देंगे, अब उसके लिए भी उत्तर देते चले जाओ, तो किस-किसको, कितने उत्तर दोगे आप?

एक व्यक्ति के लिए आप कालांतर में भले ही संतुष्ट कर सकते हैं लेकिन बहुत सारे लोग खड़े हो जायेंगे तो इसके पीछे आपकी पूरी शक्ति लग जायेगी, तो भी संतुष्ट नहीं कर पाओगे, इसलिए निःशंक रहिये, यदि लोग आपको पागल कहते हैं, तो हओ स्वीकार कर लो, इतनी हिम्मत है कि कोई कुछ भी कह दे तो हम सुनने के लिए तैयार हैं, तब तो ठीक है, कुछ समय के लिए लोग आपको पागल कहेंगे यदि प्रतिकार नहीं करते हैं तो और कुछ कह देते हैं कि पागल तो हैं ही भैया! चलो इते से, लेकिन सभी लोग मिल कर गैंग बनाकर पार्टी तैयार कर लेते हैं और एक-एक व्यक्ति एक-एक दिन अखबार में निकलवा देता है और दस-दस व्यक्तियों का समर्थन करवा लेता है कि हाँ वह बिल्कुल पागल है। उस दिन तो हम देख रहे थे, ग्वालियर की ओर जाने वाला था, ट्रीटमेंट चालू है, हाईपॉवर के डोज दिए जा रहे हैं, लेकिन कुछ भी नहीं हो रहा है, ऐसा दूसरा व्यक्ति कहता है, तीसरा व्यक्ति कहता है कि आप उसके पीछे मत लगो नहीं तो आप भी पागल बन जाओगे, इस ढंग से कह देने पर भी यदि उत्तर नहीं देता है, माइंड में सारी की सारी तरंगें घुस जाती हैं, उसका अपना प्रभाव रहता है, जो व्यक्ति डॉन्ट माइंड करता है वह तो पागल नहीं बनेगा और जो जवाब देना चाहता है, वह सबसे ज्यादा कमजोर है ऐसा माना जायेगा।

सत्य तो ऐसा ही रहता है, वह अनेकान्त रूप होता है, एकान्त तो यह है कि मैं बोलूँगा ही

नहीं, इसलिए सही निर्णायक जो होता है, वह सोचता है कि एक तरफ से तो बहुत कुछ सुन रहे हैं, लेकिन दूसरी तरफ से कुछ कहा ही नहीं जा रहा है। मान लो उसका इतना पुण्य है, लेकिन हम तुम लोगों के लिए कह रहे हैं, कि उनका सत्य है, यह वह कह रहे होंगे, लेकिन निर्णायक जो होता है वह कहता है कि हम सब कुछ सुन रहे हैं, जिस व्यक्ति के बारे में सुनाया जा रहा है, वो व्यक्ति क्या कहता है? वह भी देख लो, विपक्ष तो ए टू जेड यही कह रहे हैं, लेकिन **विपक्ष की भी सुनना आवश्यक है** क्योंकि एक तरफा सुन कर डिक्लेयर (घोषित) थोड़े ही किया जाता है। वह निर्णायक से पूछता है तो वह शान्त बैठा रहता है, आप कुछ तो बोलियेगा, नहीं, हमें कुछ नहीं कहना है। जैसे-प्रेस वाले आ जाते हैं और कहते हैं कि आपसे हमको कुछ नहीं चाहिए, बस थोड़ा-सा उसके बारे में बता दो... इस प्रकार करते-करते धीरे-धीरे आपसे सब बुलवा लेते हैं। तो प्रतिपक्ष वाले आपको बुलवाना चाहेंगे, आपके मन की बात क्या है, यह जानना चाहेंगे। यदि आप थोड़ा-सा भी बोलना प्रारंभ कर देंगे, तो वह तो बिन्दु बना कर ले आये हैं। करीब पच्चीस व्यक्ति मिल कर आये हैं और यहाँ पर अकेले हैं, आपके पास किसी की छाया तक नहीं है, क्या करोगे? इसलिए निश्चित रहो, कुछ बोलो नहीं, हम नहीं बोलेंगे तो निर्णय नहीं हो सकेगा। भैया! इसमें कुछ न कुछ रहस्य अवश्य है, ऐसा सोचने में फिर आयेगा। अतः जो निशंक होता है, वह अपने क्षेत्र में निर्भय अवश्य होता है, इसलिए निर्भय होना अनिवार्य है, तभी सप्त भयों से मुक्त भी होगा, तभी अपने शुद्धात्म तत्त्व के बारे में बात कर सकेगा, नहीं तो नहीं।

कोई कुछ भी कह दे आपके बारे में, लेकिन आप अपने दिल से पूछो न ? कि आप जवाब क्यों दे रहे हैं? यह जवाब देना ही तो आपकी कमी है, जवाब देने से हमारी शक्ति की कमी हो जाती है, अपने विलपॉवर को बढ़ाने के लिए हमें जवाब किसके लिए देना है, किसके सामने देना है आदि ध्यान रखना चाहिए। मुझे तो कोई जान ही नहीं सकता, मेरे संकल्प को किसी ने देखा ही नहीं, जाना ही नहीं, जानने का प्रयास कर सकते नहीं वो और मैं जिस समय में हूँ उस ओर उनकी गति नहीं होते हुए भी मति बिगाड़ रहे हैं, तो उनको क्या? स्वयं पागल हैं और सन्मति कह दो तो भी कुछ बाधा नहीं। भगवान् को भी अपनी पार्टी में ले लेते हो तो भी हमें कोई एतराज नहीं, कर लो आप जो करना है, इतनी यदि खूबी है तो रहिए आप। संसार से मौन लेना बहुत कठिन है महाराज! लेकिन बहुत सरल इसलिए है कि आँखें मूँद लो तो संसार गायब तभी आप कार्य कर सकते हैं, यह कह देंगे वो कि कैसा निर्लज्जपना है, लज्जा भी नहीं आती। 'हओ' कह दो, निर्विकल्प-समाधि में बाहर से कोई संदेश नहीं आता। जब निर्विकल्प समाधि में रहते हैं तब बोलना होता ही नहीं है। शास्त्रों के अनुसार आप इस ढंग से काम करते चले जाइए, बाकी आपके बस की बात नहीं है।

अपहृत संयम और उपेक्षा संयम—माला सम्बन्धी बात करेंगे कि मैं माला फेर रहा हूँ, लेकिन दूसरी बात नहीं करेंगे, तब तो ठीक है, एक संयमी का अपहृत संयम है और एक का उपेक्षा

संयम है। तो पहले से उठ करके चले जाओ या फिर वहीं बैठो या तो उपेक्षा संयम में बैठ जाओ प्रतिकार न करो, या फिर उत्कृष्ट अपहृत संयम क्या है? इसे समझो। एक स्थान को छोड़ कर दूसरे स्थान पर जाना, सामने लोग आकर बैठ गये तो इधर यूँ घूम करके बैठ जाना। यदि उन लोगों को नाराज नहीं करना चाहते हो तो किसी बहाने से वहाँ से उठ करके चले जाना, तो मायाचार हो जायेगा, तो संज्वलन माया तो है ही, यह निश्चित बात है। आप यदि जा रहे हैं तो सब लोगों को मालूम पड़ रहा है, कि हमारी वजह से महाराज जा रहे हैं, यह तो छोटा बच्चा भी जानता है कि हमारी वजह से महाराज जा रहे हैं और आप भी जानते हैं कि किस ढंग से जबरदस्ती कर रहे हैं। भैया! उनका तो ऐसा ही चलता रहता है। वो सोचते हैं कि ये नहीं सुन रहे हैं, लेकिन होता रहता है, कहाँ तक आप बचना चाहोगे? इसलिए **प्रशमाय वनान्तमाश्रिताः** अर्थात् प्रशम भाव के लिए वन का आश्रय ले लेते हैं, तब निःशंकपना आ सकता है। वीतराग संयम या निर्विकल्प रहना, अपने आप में बहुत महत्त्वपूर्ण है। लेकिन एक सेकंड में भी उसकी पोटेंसी (शक्ति) पास में आ जाती है, तो उसकी कोई मिशाल नहीं, उसे बेजोड़ कहना चाहिए और वह धीरे-धीरे करता चला जाता है, अपनी शक्ति को वह जोड़ता चला जाता है, संग्रहीत करता चला जाता है। निःशंक होता है तो उस क्षेत्र में निर्भीक भी होता जाता है। इसी कारण से इह लोक भय परलोक भय अत्राण, अगुप्ति, मरण, वेदना और आकस्मिक ये सात भय हैं, वीतराग सम्यग्दृष्टि उनसे मुक्त रहते हैं।

दृष्टान्त—राजा श्रेणिक जेल में बंद हैं सामने से कुणिक आ रहा है, हाथ में एक लोहे का घन है, श्रेणिक सोचता है ओ हो! इसको अभी भी तृप्ति नहीं है, मुझे जेल में डाल दिया, फिर भी वह मुझे जीवित नहीं रखना चाहता, इसलिए तो वह मारने के लिए घन लेकर आ रहा है। उसके द्वारा मरने की अपेक्षा मैं स्वयं ही मर जाऊँ यह अच्छा होगा और दे मारा सिर को दीवाल के ऊपर या सलाई के ऊपर और मृत्यु हो गई, ऐसा कथन पुराण ग्रन्थों में मिलता है। सिद्धान्त की अपेक्षा इस कथन में दोष आ सकता है, लेकिन हम यहाँ पुराण का उदाहरण दे रहे हैं। सिद्धान्त की अपेक्षा मत-मतान्तर हो सकते हैं। असंयत सम्यग्दृष्टि है अतः असंयम मार्गणा में है। असंयमी का मरने-मारने का त्याग है क्या? नहीं है वह तो मरने-मारने को तैयार रहता है। आत्महत्या करने से प्रथम गुणस्थान और दूसरे की हत्या में चतुर्थ गुणस्थान हो जाए ऐसा है क्या? नहीं, दोनों में असंयम है। ऐसा तो नहीं कहा गया कि सम्यग्दृष्टि इस प्रकार का काम नहीं करता। तो मरना-मारना इन दोनों में असंयम है। कुछ मर्यादाएँ ऐसी रहती हैं कि वह पर के लिए तो दौड़ लगाता है लेकिन स्वयं के लिए कम...? लेकिन कभी-कभी कुछ ऐसी परिस्थिति बनती हैं कि असंयम मार्गणा में होते हुए वह इस ढंग से सोच लेता है तो मरण भय आकर खड़ा हो जाता है। जब स्वाभिमान को धक्का लगता है तो सोचता कि इससे अच्छा यही है कि मैं मर जाऊँ।

इतिहास के परिप्रेक्ष्य में भय—पुराण ग्रन्थों में भारतीय इतिहास पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि

स्त्री जिसके पति रणांगन में कूद गये थे बाद में सुनती हैं कि वहाँ उनका अवसान हो गया है तो वह घर पर बैठी-बैठी उनकी प्रतीक्षा कर रही थी, किन्तु ज्यों ही पता चलता है तो वह अपनी रक्षा के लिए, अपने प्राणों को समाप्त करने की योजना बना लेती हैं। इसके पीछे कारण है—केवल शील की रक्षा। उनका समर्थन नहीं कर रहा हूँ लेकिन उनका उद्देश्य यह रहता है यह कह रहा हूँ। पहले स्त्रियाँ शील की रक्षा इसी ढंग से करती थीं। सब महिलाओं को अपने राज्य में ले जाती थीं, उनके शील की रक्षा अनिवार्य है क्योंकि स्त्रियों का बलात्कार होता है वह परतन्त्र होती हैं। हाँ, तो मैं कह रहा था कि इस प्रकार के कुछ भाव मरने-मारने के होते हैं तो हम एकदम में यह नहीं कह सकते हैं कि यह प्रथम गुणस्थानवर्ती है या चतुर्थ गुणस्थानवर्ती आदि-आदि। इसी प्रकार इहलोक भय भी है। नहीं तो भरत चक्रवर्ती ने धर्मयुद्ध की मर्यादा को छोड़कर आखिर चक्र क्यों चलाया। यह प्रश्न उठता है? वे प्रथम चक्रवर्ती थे तद्भव मोक्षगामी थे, पुराण पुरुषोत्तम थे, उनके पिता तीर्थंकर थे। सब कुछ होते हुए भी ऐसी कौन सी समस्या आ गयी उनके सामने कि धर्म की, लोक की मर्यादा को भूल गये..लोक मर्यादा पार करके छोटे भैया पर चक्र चला दिया। आज सब कहते हैं कि उन्होंने बिल्कुल गलत किया, वे बौखला क्यों गये? खिसया गये..अब क्या करें? चारों युद्ध में हार गये तो सबकी गर्दन नीची हो गयी कि हमारे नेता हार गये.. तो चक्रवर्ती से ये देखा नहीं गया और अन्त में गलती पर गलती कर गये। वे धर्म की मर्यादा छोड़कर जो प्रस्तावित नहीं था ऐसा चक्र चला दिया। यह तो अनुबंध ही नहीं था, तीन में हार गये तो निःशस्त्र पर शस्त्र चला दिया। यह क्षत्रिय की सबसे बड़ी कमी मानी जाती है। साम के साथ-साथ भेद नीति होती है अर्थात् पहले सामने वालों को शस्त्र दो, फिर युद्ध करो यह धर्म युद्ध माना जाता है। यह नियम है कि अबला के ऊपर, नाबालिग के ऊपर, निःशस्त्र व्यक्ति के ऊपर तथा जो हार गया है, शरण में आना चाहता है अथवा यूँ-यूँ हाथ दिखा रहा है कि मैं हार गया हूँ...उनके ऊपर कभी भी शस्त्र नहीं चलाना चाहिए यह नीति है। यदि यह नीति भंग होती है तो ठीक है महाभारत युद्ध में भी नीतियाँ कम भंग नहीं हुई थीं। नियम था कि दिन डूबने पर कोई भी युद्ध नहीं लड़ेगा लेकिन रात में भी युद्ध हुआ है। तीन युद्ध के अलावा चौथा युद्ध प्रस्तावित ही नहीं था सोचो तो सही... कहीं न कहीं असंयमी चक्रवर्ती के साथ आपका सम्बन्ध रह चुका है। बाहुबली कहता है—तुम चक्रवर्ती हो तो मैं भी राजा हूँ। आप लड़ना चाहते हैं तो लड़िये, आप हराना चाहते हैं तो हराइये यह क्षत्रियता है। आक्रमण करना यह ठीक नहीं। भरत चक्रवर्ती का आपा (अप्पा-आत्मा) खो गया था। उन्हें इहलोक भय आ गया था कि अब लोग मुझे क्या कहेंगे? उन्होंने ही मर्यादा को स्वीकार किया है और उन्होंने ही मर्यादा को तोड़ा भी है। **खिसियानी बिल्ली खंभा नोंचे** वाली बात है। यह खिसियाना ठीक नहीं। इहलोक भय भीतर ही भीतर सता रहा था कि लोग क्या कहेंगे? पर लोक में क्या मिलेगा? यह परलोक भय माना जाता है। मेरे लिए कोई बचाने वाला नहीं है मैं अकेला हूँ पर अत्राणभय माना जाता है। जो दूसरों के आश्रित होकर रहने की बात करता है, वह किसी

न किसी व्यक्ति का सहारा ढूँढ़ता है। अगुप्ति अर्थात् मेरी कोई रक्षा नहीं है, सुरक्षा नहीं है ऐसा भय रहता है। मैं मरने के उपरान्त कहाँ जाऊँगा? यह मरण भय माना जाता है। वह सोचता है कि मरते समय कितना दुःख/पीड़ा/वेदना होगी क्या पता? कैसे मरण होगा क्या पता? कहीं से चूहा-बिल्ली अचानक आ जाये तो समझता है कि सिंह आ गया हो झट से उठकर बैठ जायेगा, चिल्लायेगा, लाइट जलाओ किसी को सोने ही नहीं देगा। वेदना भय माथे में, हाथ पैर कमर में दर्द हो रहा है, सहा नहीं जा रहा है आदि। वेदना खण्ड पढ़ो। यह कर्म का विपाक है, वेदना का काल है तो आयेगा, उससे क्या डरना? जो वेदना को समता से सहन करता है उसकी असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। आकस्मिक भय-सडनली घबरा जाना, बातों-बातों में घबराना आदि। कुछ विद्यार्थी बहुत होशियार होते हैं लेकिन परीक्षा के नाम से घबरा जाते हैं ऐसा क्यों होता है? पता नहीं, ज्ञान तो हो गया लेकिन वीर्यान्तराय का क्षयोपशम तेज नहीं है, इसके भी असंख्यात भेद हैं। इस प्रकार से सात भय हैं। जब सामने वह केस आ जाता है तभी कोर्ट में उसके बारे में सुनवाई होती है। कई लोग धमकी देते हैं कि यदि ऐसा करोगे तो हम कुएँ में गिर जायेंगे, दूसरे को दबाने के लिए इस प्रकार कह सकता है तो वह कितनी बार कहता है? उसके पीछे क्या कारण है? उनके भीतर क्या परिणाम चल रहा है यह डिजीजन हम कैसे दे सकते हैं? कई लोग आकर कहते हैं—महाराज! आपके सामने आने में ही डर लगता है—हाँ, मर्यादा का कहीं उल्लंघन न हो जाये, कोई गलती न हो जाये इस अपेक्षा से डर लगता है तो ठीक है। लगना भी चाहिए, इतना तो आवश्यक भी है।

दृष्टान्त—१. जैसे—महाराज जी का आहार हो रहा है तो अन्तराय न हो जाए, डरना चाहिए कि हाथ ही यूँ-यूँ काँपने न लग जायें। अन्तराय न हो जाए यह डर तो स्वाभाविक है।

दृष्टान्त—२. जैसे—विद्यार्थी को यह प्रश्न गलत न हो जाए यह भाव भीतर रहता ही है। इतना डर तो रहता ही है। लेकिन कुछ लोग तो यहाँ आकर बिलकुल खुलकर बोलते हैं तो हम सोचते हैं कि इनके कौन से निर्भय कर्म का उदय है (हँसी...) खुलकर बोलते हैं तो कभी मर्यादा का उल्लंघन भी कर जाते हैं। कुछ लोग अपनी रक्षा करते हुए हमला बोलते हैं और कुछ लोग अपनी गलती है अतः भय के कारण घुमाकर बात करते हैं। छोटा बच्चा जो होता है वह कभी नहीं डरता, जो कुछ है आकर सीधा-सीधा बता देता है, उसमें दुराव-छुपाव नहीं रहता है लेकिन वही आठ वर्ष का होते ही अन्तर्मुहूर्त में उसके भीतर भय की शाखा-उपशाखाएँ फूटने लग जाती हैं। पहले पौधा था फिर स्कन्ध निकलने पर शाखा-उपशाखाएँ खुल जाती हैं। उसी प्रकार बालक जब तक छोटा रहता है तब तक निर्भय रहता है फिर आप लोगों जैसे बड़ा हो जाता है वैसे-वैसे शाखा-उपशाखाएँ फूटने लग जाती हैं और यह अनगिनत हो जाती हैं फिर तो कौन सी शाखा कहाँ से जुड़ी है यह भी पता नहीं चलता इसलिए पूछना आवश्यक होता है। इस प्रकार जो घोरोपसर्ग होने पर भी निःशंक, निष्कम्प, अडिग रह जाते हैं वे परमात्म स्वरूप से च्युत नहीं होते हैं पाण्डववत्! कौन से पाण्डव? घर में रहने

वाले पाण्डव नहीं लेना, अज्ञातवास वाले पाण्डव नहीं लेना। जब अज्ञातवास में थे तब डर था कि यदि दिख गये तो पुनः बारह वर्ष का दण्ड होगा। लेकिन वही पाण्डव जब मुनि हो गये और घोरोपसर्ग हुआ तो निःशंक हो गये निःशंकता में पाँचों एक समान हैं। वीतराग सम्यग्दृष्टि के निःशंकित आदि आठ गुण होने से नया बंध नहीं होता तथा पूर्व कर्मों की संवरपूर्वक निर्जरा होती है। यह यहाँ पर कहा जा रहा है।

उपशम सम्यग्दर्शन के काल में मरण व मारणांतिक समुद्घात नहीं होता है ऐसा आगम में कहा है। उपशम सम्यग्दर्शन के काल में जो द्वितीय गुणस्थान में आया है तो उसमें कारण कौन सी कषाय है? अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ के अलावा और कोई नहीं और इनमें से कोई एक कषाय उदय में आये तभी वह नीचे आता है। उपशम सम्यग्दर्शन का काल अन्तर्मुहूर्त है उसमें अधिक से अधिक छह आवली काल शेष रहने पर अनन्तानुबंधी सम्बन्धी क्रोध आदि चार कषायों में से एक का उदय होगा तभी नीचे आयेगा। इतना अवश्य है कि वह छह आवली काल के पूर्व नहीं आयेगा। अधिक से अधिक छह आवली अवशिष्ट रहे तभी हो सकता है और क्रोध आदि कोई कषाय है तो वह निःशंक नहीं रह सकता। जैसे—किसी नारकी को नरक में उपशम सम्यग्दर्शन है और वह स्वयं की रक्षा करना चाहता है तो किस ढंग से करेगा? वह वहाँ निर्विकल्प बैठ सकता है क्या? नहीं, क्षायिक सम्यग्दृष्टि नारकी भी क्यों न हो वह ऐसे निर्विकल्प बैठ ही नहीं सकता फिर यह तो उपशम सम्यग्दृष्टि है और यह अन्तर्मुहूर्त काल प्रमाण रहता है तो उस समय वह क्या करेगा? कोई कहता है कि उसकी निःशंकता भीतर से उतनी ही रहती है तो हमें यह आगम से बताओ, या तो यह कहो कि सम्यग्दर्शन जब उत्पन्न होता है उस समय वह किसी एक आसन में बैठ जाता है, नहीं! तो फिर क्या? निर्विकार-दशा का अर्थ क्या होता है? यह बता रहे हैं अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन कषाय कुछ कार्य करती है कि नहीं यहाँ पर वह चीज बताई जा रही है कि जिस समय किसी कषाय का योग नहीं रहता है उस समय निर्विकार दशा का अनुभव होता है। अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान कषाय सर्वघाती है इनका भी अपना प्रभाव रहता है और मिथ्यात्व का उपशम रहते हुए भी अनन्तानुबंधी की उदीरणा हो जाती है तो द्वितीय गुणस्थान में देखो, उसकी कितनी क्षमता है?

उपशम के काल में कम से कम एक समय तथा अधिक से अधिक छह आवली अवशिष्ट रहा तब सम्यग्दर्शन छूट सकता है। सिद्धान्त में द्वितीय गुणस्थान को पारिणामिक भाव घोषित किया है। यहाँ औपशमिक भाव क्यों घोषित नहीं किया आप बताओ? दर्शन मोहनीय के उपशमन काल में औपशमिक भाव घोषित क्यों नहीं किया? पारिणामिक भाव घोषित क्यों किया? इससे स्पष्ट है कि दर्शन मोहनीय की अपनी कुछ क्षमता/योग्यता ऐसी रहती है कि वहाँ उसका उदय नहीं होता है इसलिए उसे औदयिक भी नहीं कहा।

ग्लानि जीतने का भाव हमेशा रखो—ग्लानि होने पर, पर द्रव्य के प्रति द्वेष उत्पन्न होता है।

अतः यदि आप द्वेष से बचना चाहते हो तो ग्लानि को जीतो। छह द्रव्य में से धर्म द्रव्य आदि चार द्रव्यों को लेकर ग्लानि नहीं हो सकती क्योंकि वे अमूर्तिक हैं, तो फिर जीव और पुद्गल द्रव्य के प्रति भी ग्लानि क्यों करते हो? उनके प्रति भी ग्लानि नहीं होना चाहिए, ऐसा विचार करो। तब निश्चित रूप से द्वेष को जीत सकोगे। यदि आपको निजतत्त्व से प्रेम है, लगाव है अर्थात् निर्जरा को बढ़ाने में आपका उत्साह भाव जागृत हुआ है तो निर्विकल्प होकर निर्जुगुप्सा अंग का पालन करो। लोग कुछ भी कहें कि ऐसा करो, वैसा करो आदि, तो भी आप तो निर्विकल्प रहो। किसी ने कहा था अदन्त धावन मूलगुण में क्यों रखा है? तो प्रति समय श्वास लेने में गंध की संभावना होती है, उसके प्रति द्वेष और ग्लानि न हो तो ग्लानि जीतने के लिए अदन्त-धावन रखा है। पहले दिमाग से द्वेष भाव निकाल दीजिए और निर्जरा के साधन बढ़ा दीजिए। २८ मूलगुण लिए हैं, तो प्रति समय प्रतिकूलता आ सकती है अतः सिंहवृत्ति रखिये, कोई भी बाधा आ जाये तो उसका सामना करो। ऐसा हो गया तो क्या करेंगे? यह मत कहो। शरीर छूटता है तो छूटने दो, परीक्षा में तो पास हो जाओगे। यह शरीर तो एक दिन वैसे ही छूटना है, यह तो कर्मों के ऊपर आधारित है। क्या-क्या चिकित्सा करेंगे? बड़े-बड़े महापुरुषों को देख लो, सनतकुमार चक्रवर्ती को अचानक ऐसा कोढ़ फूट गया, ऐसी दुर्गन्धि आती थी कि गन्ध से नाक फूट जाये, उन्हें नगर से बाहर रखा जाता था, वहाँ की हवा स्पर्श करके नगर में न आ जाये, इसलिए इतनी दूर रखा जाता था, ऐसा क्यों? कितना जीतना है ग्लानि को महाराज! तभी कर्म गलते हैं, नहीं तो कर्म और ठोस हो जायेंगे। कर्म कभी भी फल दे सकते हैं, उदय में आ सकते हैं अतः ग्लानि को जीतने का भाव तो हमेशा रखो और निर्विचिकित्सक बनने का प्रयास करो।

चेतयितात्मा... अर्थात् जो सम्यग्दृष्टि आत्मा है, वह परमार्थ भावना के बल से द्वेष, जुगुप्सा, विचिकित्सा, निन्दा आदि सभी द्रव्यों में नहीं करता। द्वेष, निन्दा आदि सभी एकार्थवाची शब्द हैं। मुख से, वचनों से भले ही निन्दा करो या न करो, मन में भी यदि जुगुप्सा के भाव होते हैं, तो आप उसकी निन्दा कर रहे हो, ऐसा समझ लेना चाहिए। कभी-कभी ऐसा याद आ जाता है, कि अरे उसने तो मेरे साथ ऐसा-ऐसा किया था वह आज यहाँ उपस्थित नहीं है, लेकिन घटना पूरी-पूरी सामने आ जाती है, शब्दावलियाँ पूरी स्मरण में आ जाती हैं। वह दृश्य मानो सामने ही देखने में आ जाता है। रात में बारह बजे आप आवर्त करके बैठ रहे हैं और वह याद आ गया तो उस समय में भी अपनी चिकित्सा मन वचन काय से प्रत्यक्ष-परोक्ष में अपने ढंग से चलती रहती है। एकान्त में बैठ करके अपनी निन्दा क्यों नहीं करता है। दूसरों की क्यों करता है? एकान्त में बैठ करके अपनी निन्दा करो न! कि मैंने अज्ञानता वश ऐसे-ऐसे पाप किए हैं, पर के लिए तो हम आरोप-प्रत्यारोप करते रहते हैं, लेकिन अपने बारे में कभी नहीं सोचते, अपने बारे में सोच लें, तो बहुत जल्दी निर्विकल्प हो सकते हैं, शुद्ध हो सकते हैं। हम तो धोबी के जैसा काम कर रहे हैं, धोबी जो होता है वह दूसरे के कपड़े

धोता है, इसलिए तो धोबी कहा जाता है, यदि अपने कपड़े धोने वाले को भी धोबी कहेंगे तो आप सब भी धोबी हो जाओगे, क्योंकि **वस्त्राणि धौति इति धोबी...** अर्थात् जो वस्त्र को धोता है सो धोबी। व्रती जो होते हैं, वे स्वाश्रित होकर अपने कपड़े कम पानी में सावधानी के साथ स्वयं धोते हैं, लेकिन उनको धोबी नहीं कहा जाता है क्योंकि वे अपना कार्य स्वयं स्वाश्रित हो करके कर रहे हैं।

प्रतिक्रमण से दोष परिमार्जित होता है—संसारी प्राणी दूसरे के बारे में निन्दा करता है, दूसरे के बारे में सोचता है, लेकिन जो अपने बारे में निन्दा, आलोचना करता है वह मोक्षमार्ग में प्रतिक्रमण-निष्ठ श्रेष्ठ साधक माना जाता है, उसकी पूजा होने लग जाती है, वह स्वयं के दोष स्वीकार करता है और कहता है कि **अप्याणं णिंदामि गरहामि आलोचेमि** अर्थात् मैं अपने दोषों की निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ, आलोचना करता हूँ और **अंतो-अंतो डज्जामि** कहता है, यह सूखी आँखों से नहीं किन्तु गीली आँखों से कहता है, अन्त-अन्त में नहीं किन्तु अन्तो-अन्तो अर्थात् भीतर ही भीतर पश्चाताप की अग्नि से दग्ध होता है, तो उसकी आँखे गीली होंगी और अपनी भीगी हुई आँखों से निन्दा-आलोचना करता है, **हा दुट्ठकयं** अर्थात् हमने क्या-क्या बुरा सोचा? क्या-क्या बुरा बोला? और क्या-क्या बुरा किया? मुझे धिक्कार है, मैं पापी हूँ, महा राग-द्वेष से लिप्त हूँ, महामायाचारी हूँ, दुरात्मा हूँ, **जड्धिया** अर्थात् मैं मूर्ख हूँ, मूर्ख शिरोमणि हूँ, यह सब भाव भीतर से आना चाहिए। **मैं मूर्ख हूँ**, तभी तो ये सब दोष किये हैं, जो अविवेक शील होता है वही तो ऐसा कार्य करता है और हमने ये दोष किये हैं, यह कह देना तब कहीं जाकर प्रतिक्रमण होता है, मात्र **तस्स मिच्छा मे दुक्कडं** इतना शब्दों से कह देने पर प्रतिक्रमण नहीं होता। जिस प्रकार सामायिक आवश्यक में मन लगता है, उसी प्रकार आत्मीयता के साथ प्रतिक्रमण करने में मन लगना चाहिए, क्योंकि प्रतिक्रमण करने से मन मँज जाता है और दोष परिमार्जित हो जाते हैं। जैसे-वस्त्र को धोने से वस्त्र झग-झग हो जाता है, उसी प्रकार वह आत्म द्रव्य स्वयं की निन्दा, गर्हा व प्रतिक्रमण करता है तो दोष परिमार्जित हो जाता है। उसके उपरान्त भी उसको आकुलता व डर बना रहता है, कि कितना पाप है क्या पता?

जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड ग्रन्थ में आया है कि जो सम्यग्दृष्टि होता है, वह अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर की स्थिति से अधिक स्थिति को नहीं बाँधता है, उसका उतना समय यूँ ही निकल जायेगा। जब अनन्त प्रमाण निकल गया, तो अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर क्या वस्तु है? उसके पास सत्तर कोड़ाकोड़ी तो आने वाली है नहीं और जब मिथ्यादृष्टि प्रायोग्यलब्धि में होता है, तभी उसकी सत्ता में भी अन्तः कोड़ाकोड़ी स्थिति हो जाती है, फिर तो हम सम्यग्दृष्टि हैं, हमारी क्यों नहीं होगी? अभिमान के द्वारा क्या-क्या नहीं होता है, इसलिए तो आचार्यों ने कहा है कि अर्द्धपुद्गल परिवर्तन काल में असंख्यात बार सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है, असंख्यात बार संयमासंयम को धारण कर सकता है, किन्तु असंख्यात बार मुनि नहीं बन सकता। अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल में मात्र बत्तीस

बार भावलिंगी मुनि बन सकता है, ऐसा कहा है। यह पक्का हो गया कि बत्तीस बार मुनि बनने के लिए बत्तीस बार मनुष्य भव धारण करेगा, सामान्यतः ऐसा कहा जाता है, लेकिन मान लो किसी की पूर्व कोटि प्रमाण आयु है, उस काल में भी बत्तीस बार भावलिंगी मुनि बन जाये, इसमें क्या बाधा है? बत्तीस बार भावलिंगी बनता है ऐसा कहा है, बत्तीस भवों को निश्चित नहीं किया है, अतः बत्तीस भव न लगायें, तो क्या बाधा है? हम इसे नियामक नहीं बना रहे हैं लेकिन ऐसा हो जाये तो क्या बाधा है? वह जान बूझकर नहीं करता है, ध्यान रखो। बत्तीस बार भावलिंगी बनता है, ऐसा वहाँ पर कहा है तो बत्तीस भव वहाँ पर नहीं लगाना। उपशम सम्यग्दर्शन आदि की बात कही है कि अनादि मिथ्यादृष्टि को एक बार ही उपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ तो अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल शेष रह गया, उसमें असंख्यात बार उपशम सम्यक्त्व हो सकता है, क्षयोपशम सम्यग्दर्शन भी असंख्यात बार हो सकता है। विसंयोजना और संयमासंयम भी असंख्यात बार हो सकता है। श्रावक शिरोमणि भी असंख्यात बार बन सकता है।

देखो! अपनी बात करो, अपनी निन्दा-गर्हा करो, नींद नहीं आ रही हो, तो अपनी निन्दा प्रारंभ कर दो, अनर्थ का सोचने से नींद और भाग जायेगी, ठीक तो है-निद्रा विजय के लिए कहा है कि अपने किए हुए अनर्थों को याद करो, पश्चाताप करो, तो नींद भाग जायेगी। नींद भी द्रव्य, क्षेत्र, कालादि के निमित्त से आती है, वह भी सयानी है, ऐसे थोड़े ही है, कि वह जब कभी आ जाये। सम्यग्दृष्टि को किसी भी वस्तु धर्म के प्रति ग्लानि नहीं होती है। स्व के प्रति, पर के प्रति अथवा किसी भी वस्तु के प्रति ग्लानि नहीं होती, बिल्कुल तटस्थ होकर रह जाये, तो सही निर्विचिकित्सा अंग माना जाता है। वस्तु का क्या स्वरूप है? जरा सोचो! दूसरों की वस्तु के प्रति हम ग्लानि क्यों करें? और स्व की बात है, तो जिस समय सामायिक में बैठे हैं तो उस समय शुद्धात्मा का चिंतन कर रहे हैं अतः उस समय ग्लानि का कोई सवाल ही नहीं होता। किन्तु जिस समय अपनी निन्दा, गर्हा कर रहे हैं, स्वयं से ग्लानि कर रहे हैं, तो उस समय शुद्ध प्रतिक्रमण कर रहे हैं ऐसे साधक बहुत जल्दी निर्विकल्प दशा में पहुँच जाते हैं। दूसरों की निन्दा करके सामायिक में बैठोगे तो मन नहीं लगेगा, लेकिन शुद्ध हृदय से अपनी निन्दा करके सामायिक में बैठोगे तो निश्चित रूप से सही मन लगेगा, क्योंकि आगम के अनुरूप मैंने आलोचना की है, अपनी निन्दा की है, अपने किये अनर्थ के प्रति धिक्कार किया है, कि इतने समझदार हो करके भी मैंने यह क्या कर लिया, ऐसा करने से स्वयं में धक्का लगता है, मन बहुत पवित्र हो जाता है और फिर वह सामायिक में डुबकी लगा लेता है, इसलिए तो प्रतिक्रमण के बाद सामायिक का काल रखा है।

दर्पण तो दर्पण है—आचार्यों का एक अवपीड़क नाम का गुण बताया है अर्थात् वे भीतर से दोषों को निकलवा लेते हैं, वे शिष्य से कहते हैं कि यह फोड़ा हो गया है, उस पर त्वचा आ गई है लेकिन भीतर मवाद, पीप, खून आदि भरा है, इसलिए फूल गया है, जब तक इस मवाद को नहीं

निकालता है, तब तक पैर ठीक नहीं हो सकता, उसी प्रकार से प्रत्यक्ष और परोक्ष में मन, वचन, काय से जो कोई भी गलतियाँ हुई हैं, उनको नहीं निकालोगे तो तब तक निर्विकृत नहीं हो सकते। शरीर को जिस प्रकार शुद्ध आहार से निर्विकृत बनाने को कहा है, उसी प्रकार भावों में भी निर्विकृति लाओ, दोषों को निकालो, इसी का नाम तो सल्लेखना है। आलोचना इसी प्रकार करवायी जाती है। दुनिया को सबको तुम्हारी गलती मालूम पड़ गई है, लेकिन आचार्य के सामने कहने नहीं जा रहे हो, तो आचार्य कहते हैं कि हम इस-इस प्रकार का सुन रहे हैं, क्या बात है? तो यदि वह कहता है कि आपका यह गुण नहीं होना चाहिए, ऐसा कह दे तो उसे क्या कहा जाये? दुनिया के लोग तो सब बातें जान रहे हैं और हमें कुछ ज्ञान नहीं है और वे कुछ कह देते हैं तो वह कहता है, कि आपको दोष नहीं कहना चाहिए। अरे! हम दुनिया को कह रहे हैं क्या? यह सोचो, विचार करो। उनका भी यह कर्तव्य है कि वह एडवरटाइजमेंट न करें और क्षपक का भी कर्तव्य होता है कि उसने यदि अपने लिए व्रत लिया है तो उसे अपनी ही बात करनी चाहिए, इस ढंग से उसे अपनी आलोचना, निन्दा, गर्हा प्रतिक्रमण करते हुए अपने भीतर से सब दोषों को, विकल्पों को बाहर निकाल कर अपने को निर्विकृत कर लेना चाहिए यही सबसे उत्तम कार्य है अपनी निन्दा, गर्हा करने से जितनी निर्जरा होती है, उतनी तो बड़ी-बड़ी तपस्या के द्वारा भी नहीं होती। लेकिन जो आगमोक्त विधि से प्रतिक्रमण, आलोचना, निन्दा करता है उसकी निर्जरा ज्यादा हो जाती है। “**गोपुच्छ न्यायेन**” कहा है। दूसरा यदि कोई आपकी निन्दा करता है तो आपकी गोपुच्छ न्याय वाली निर्जरा हो सकती है क्योंकि कोई दूसरा आपकी निन्दा करता है तो भीतर-भीतर उत्पीड़न होता है लेकिन उसे शांति से सहन कर लें और विचार कर लें कि ये सही तो कह रहा है कि हमने ऐसा अपराध किया है तो कह रहा है और यदि हमने नहीं किया है, तो भी ठीक है। फिर ऐसा सोचे लें कि ये अज्ञानी है, किसी के कहने से कह रहा है या संदेह हो गया है, तो हम पूछ सकते हैं उससे कि आप ऐसा क्यों कह रहे हैं? क्या कारण है? आपने दूसरे से सुना है या संदेह हो गया है? तो वह कहता है मैं तो बिल्कुल निःसंदिग्ध हूँ। मान लो फिर भी उसका स्पष्टीकरण नहीं हो पा रहा है और यदि वह नहीं मानता है, तो यही सोचो की सही तो कह रहा है, कहने दो, कर्मों का उदय तो मेरा ही है और हमने भी कभी दूसरे से ऐसा कहा होगा, प्रत्येक कार्य में ऐसा सोचना चाहिए। सीता सती होकर के भी कहती है कि वर्तमान मेरा रूप यदि इस प्रकार का नहीं होता तो अपहरण नहीं होता और अतीत की अपेक्षा से सोचे कि अतीत में मैंने कुछ ऐसे कर्म किये होंगे, या किए हैं इसलिए ऐसा हो गया। दूसरे के बारे में संदेह पैदा कर लिया था तो दुनिया ही हमारे ऊपर संदेह करने लगी, यह सब अपने किये कर्म का फल है, लेकिन हम हर बात को दूसरे के ऊपर ही थोपते हैं यह ठीक नहीं है। हर बात में दर्पण पर गुस्सा कर दो, तो दर्पण क्या करेगा? बताओ, दर्पण पर गुस्सा क्यों? खिसयानी बिल्ली खम्भा नोंचे वाली बात है। दर्पण में तो जैसा आपका मुख है वैसा ही दिखेगा, यदि आप कहो कि दर्पण ने ऐसा क्यों दिखाया, मेरा रूप

तो बहुत अच्छा है। आपका जो रूप है, वही तो उसमें दिख रहा है, इस बात पर विश्वास है कि नहीं? दर्पण तो दर्पण है।

आचार्य कहते हैं इस प्रकार परिणाम करने से हमारा हृदय स्वच्छ हो सकता है, बहुत दिन का मामला है, सब एक साथ साफ नहीं होगा। सुनते हैं वर्ल्ड सेंटर गिरे हुए पन्द्रह दिन हो गये, फिर भी अभी मलवा निकाला ही जा रहा है लगातार कार्य चलता ही जा रहा है, फिर भी सुनते हैं छह महीने और लगेंगे। १३५० फीट ऊँची मंजिलें थीं, सब एकमेक हो गईं। बहुत विचित्रता है इसी प्रकार सब डह रहे हैं। सभी धर्मों के प्रति जुगुप्सा नहीं करना अथवा दुर्गन्ध आदि विषयों में ग्लानि नहीं करना। पर द्रव्य के प्रति जो द्वेष रहता है, उससे तत्सम्बन्धी किसी प्रकार का बंध नहीं होगा क्या? होता ही है। बाईस परीषहों में अरति परीषह को रखा है, लेकिन रति परीषह नहीं रखा, क्यों? क्योंकि रति करते समय दुःख आदि नहीं होता, मानसिक तनाव नहीं होता, यह बात समझ लो, उसमें आकुलता नहीं होती, किन्तु ज्यों ही पञ्चेन्द्रिय के विषय या मन सम्बन्धी प्रतिकूलता होती है, तो उस समय निश्चित रूप से अरति परीषह होता है, ये प्रतिकूलतायें अरति भय शोक जुगुप्सा इनके साथ जुड़ जाती हैं। अनुकूलता में रति, हास्य आदि होते हैं। ज्ञान होने पर अभिमान तथा अज्ञान होने पर दीनता आ जाती है, किन्तु रति के प्रति रम्यमान हो जाता है, उसमें दुःख नहीं होता। हम स्वीकार नहीं कर रहे हैं, तो सामने वाले के लिए भले ही अरति हो जाये, लेकिन स्वयं के लिए नहीं होती। दूसरी बात रति को अठारह दोषों में रखा है, अरति को नहीं रखा। 'नियमसार' में राग और रति दोनों लिखे हैं, तो राग-दोष में आ जायेगा, परीषह में नहीं आयेगा। परीषह अर्थात् जिसमें पसीना आ जाये, परीषह में वेदना होती है। परेशानी जिसमें हो उसका नाम परीषह है। सब लोग अपने-अपने ढंग से सोचते हैं, अन्त में तात्पर्य यही है कि सम्यग्दृष्टि जीव के पर पदार्थों के द्वेष निमित्तक बंध नहीं होता किन्तु पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा ही करता है, यह कहा गया है।

उत्थानिका—सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन के आठ अंगों में निःशंकित अंग है उसको धारण करने वाले निःशंक सम्यग्दृष्टि का स्वरूप क्या है? यह गाथा से बता रहे हैं।

जो चत्तारिवि पाए छिंददि ते कम्ममोहबाधकरे।

सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२४४॥

अन्वयार्थ—(जो चेदा) जो आत्मा (कम्ममोहबाधकरे) कर्म बंध करने वाले मोहभाव एवं सुख में बाधा करने वाले (ते) उन (चत्तारिवि पाए) मिथ्यात्वादि रूप चारों पादों को (छिंददि) काटता है (सो णिस्संको) उसे निःशंक (सम्मादिट्ठी) सम्यग्दृष्टि (मुणेदव्वो) जानना चाहिए।

अर्थ—जो कोई कर्मबन्ध का करने वाला मोह भाव, व बाधा को उत्पन्न करने वाले, मिथ्यात्व, अविरति कषाय और शुभाशुभरूप योग इन चार पायों को उखाड़ डालता है वह आत्मा ही निःशंक सम्यग्दृष्टि होता है।

मिथ्यात्व औ अविरती कुकषाय योगों-
को रोकते, विधि-विमोहक बाधकों को।
निःशंक हैं निडर हैं समदृष्टि वाले,
रे वीतराग बनके मुनि शील-पाले ॥२४४॥

व्याख्या—जो कोई कर्म बन्ध का करने वाला मोह भाव तथा बाधा को उत्पन्न करने वाले मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और शुभाशुभ रूप योग इन चार पायों को उखाड़ डालता है वह आत्मा ही निःशंक सम्यग्दृष्टि होता है। तो ये चार पाये हैं— मोह रूप मिथ्यात्व, अविरति, कषाय तथा योग इन चार पायों को, पैरों को, स्तंभ को उखाड़ देता है वह निःशंक होता है। जैसे—कोई बिल्डिंग (मकान) है उसे धराशायी करना है तो छत उड़ाने से नहीं बल्कि चार खंभों को, स्तंभों को उखाड़ दो तो अपने आप ही मकान ढह जायेगा। उसी प्रकार मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग अथवा मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, योग ये चार पाये हैं इन चारों पायों को जिन्होंने उखाड़ दिया वह निःशंक होता है।

जिज्ञासा—योग तो तेरहवें गुणस्थान तक होता है उसको किसने उखाड़ दिया?

समाधान—चौदहवें गुणस्थान की बात हो गई। लेकिन एक योग वह है जो कषाय के साथ रहता है उस योग को जिन्होंने उखाड़ दिया हो उसको ले लेना क्योंकि यह वह योग है जिसके द्वारा शुभ-अशुभ कर्मों का आस्रव होता है यह दसवें गुणस्थान तक चलता है उसे जिन्होंने उखाड़ दिया हो तो उसके फिर कोई भी बंध नहीं होगा पूर्व बद्ध कर्मों की संवर पूर्वक निर्जरा होती है यहाँ यह प्रसंग चल रहा है अतः वह निःशंक माना जाता है। भरत चक्रवर्ती के पास अनन्तानुबंधी के अभाव में जितना निःशंकपना होता है उतना ही है। भरत चक्रवर्ती के पास वह निशंकपना तो था लेकिन इस भय से कि लोग मुझे क्या कहेंगे? चक्र चला दिया अतः उतना निःशंकपना नहीं था। श्रेणिक के सामने भी यही था, ये दोनों ही क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे लेकिन दोनों के जीवन में ऐसी घटना घट गई। मुनि महाराज यदि सातवें गुणस्थान में होते हुए भी प्रवृत्ति में प्रवृत्तमान हैं तो उनके लिये संज्वलन की तीव्रता ज्यादा नहीं रहेगी, संज्वलन की मंदता रहने के कारण वहाँ भय प्रकृति की उदय उदीरणा होते हुए भी निचले गुणस्थान में जैसे बाधक है वैसी यहाँ बाधक नहीं बनेगी अर्थात् वैसी असह्य नहीं होती है उसके द्वारा इस प्रकार विचलित नहीं होता। एक स्थान पर लिखा है—मान लो—आहार चर्या के लिये मुनिराज जा रहे हैं और कोई पशु सामने से आ रहा है तो उसके सामने से न जायें किन्तु सात हाथ दूर से किनारे से जाने का प्रयास करें। डर लग गया क्या? नहीं...लेकिन अपने से वह भी डर सकता है इसलिए सात हाथ दूर से निकल जाते हैं। लोग तो यही समझेंगे कि उनसे डर गये...लेकिन ऐसा नहीं है कहीं मन बिचक गया तो...मन ही तो है...यह तो होता ही है। हाथी के बराबर बड़े हैं लेकिन मन से बिचक गये तो...अस्त व्यस्त हो जाता है। अपनी वजह से लोग बिचक जाये तो...मान लो

वह गाड़ी बिचक गई और तीन-चार व्यक्तियों के ऊपर गाड़ी चढ़ गई तो या सामने से गाड़ी आने से एक्सीडेंट हो जाये तो...अपने निमित्त से ऐसा हो जाता है इसलिए ऐसा नहीं करना चाहिए।

दूसरा उदाहरण—मान लो कभी-कभी स्थान नहीं होने के कारण विहार करते-करते सड़क पर बैठ जाते हैं और सामने से कोई वाहन आ रहा हो और आपको देखकर घास में से वाहन ले गया तो...आप कहते हैं...हमारी वजह से थोड़े ही उधर से गया है लेकिन आपके ही कारण चला गया है। घास पर पैर नहीं रखना है आपने यह तो सोचा लेकिन यह भी सोचना अनिवार्य है कि हमारे निमित्त से कोई घास में न चला जाये, तो ऐसे निमित्त भी नहीं बनना। लेफ्ट एण्ड राइट...क्यों कहा है? वह केवल ड्राइवर के लिये ही नहीं...हमें अपनी गाड़ी शरीर को भी तो देखना चाहिए लेफ्ट एण्ड राइट अपनी गाड़ी का भी तो नहीं करना चाहिए। सड़क पर चलते समय भी संयम का पालन करना चाहिए—ऐसा नहीं कि पूरी सड़क रोककर ही चलो—इसी का नाम तो सम्यक्त्वाचरण चारित्र है यह प्रसंग अच्छा है। इस सम्यक्त्वाचरण चारित्र का पालन सब लोगों को करना चाहिए। सम्यग्दृष्टि है तो उसका आचरण भी इस ढंग से होता है यह कौन सी समिति में आयेगा? तो यह समिति में नहीं, सम्यक्त्वाचरण चारित्र में आयेगा। ऐसे उठना-बैठना, चलना-बोलना आदि आचरण करना चाहिए जिससे कि पाप का बंध न हो ऐसा कहा है—**जदं चरे...जदो पावं ण बंधई।**

जो निःशंक होता है वह सम्यग्दृष्टि होता है वह चार प्रकार के स्तंभ को उखाड़ देता है, फेंक देता है। वे चार पाये मोह को उत्पन्न करने वाले, बाधा को उत्पन्न करने वाले होते हैं। हम यदि मोह भाव को व बाधा उत्पन्न करना नहीं चाहते हैं तो इनके जो कारण हैं उन्हें उखाड़ फेंकने का प्रयास करना चाहिए। जो निःशंक होता है निर्भीक होता है वही सम्यग्दृष्टि होता है। भय करने वाले, शंका करने वाले सम्यग्दृष्टि नहीं होते हैं यह कहा जा रहा है। पाठान्तर में दिया है—**कम्म मोह बाध करे...**। छिन्नत्ति यह क्रिया है अर्थात् वह छेद देता है, आमूल उखाड़ देता है। किसको? पादप अर्थात् वृक्ष को। संसार वृक्ष की वृद्धि के मूल कारण ये चार पाये मिथ्यात्व आदि हैं। संसारी प्राणी संसार को तो नहीं चाहता है लेकिन संसार को समाप्त करने के लिये ऊपर-ऊपर ही सोचता रहता है तो कैसे क्या होगा?

दृष्टान्त—आप लोगों ने कभी सोचा हो और नहीं सोचा हो तो सोच लीजिये कि गर्मी के दिनों में वृक्ष सूख जाते हैं, फूल पत्ते झड़ जाते हैं और टहनियाँ भी ऐसी हो जाती हैं कि अभी गिरने को हो..लेकिन ज्यों ही वर्षा ऋतु आती है वह वृक्ष फूल पत्तों से, फलों से भर जाता है, हरा-भरा हो जाता है लहलहाने लगता है उस वृक्ष को देखकर अब यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता है कि ..यह वृक्ष बूढ़ा हो गया है इसी प्रकार यहाँ भी कोई एकाध महिने के उपवास कर लेता है तो ऐसा लगता है कि अब जाने ही वाला है लेकिन ज्यों ही पारणा हो जाती है तो सात-आठ दिन में पुनः हट्टा-कट्टा हो जाता है इसका मतलब यह हुआ कि जो भीतरी हड्डियाँ हैं वे सूखती नहीं चमड़ी में भले ही परिवर्तन आ जाये लेकिन चालीस-पचास साल खाये-पीये की हड्डियाँ हैं वे सूखती नहीं हैं। संसार

वृक्ष के मूल कारण कर्म हैं और उनसे रहित आत्मा है। बाधा से रहित आत्म तत्त्व है और बाधा तथा मोह को उत्पन्न करने वाले ये कर्म हैं उन्हें सम्यग्दृष्टि जीव आमूल उखाड़ देता है। ऊपर से सिंचन नहीं होते हुए भी वृक्ष में जमीन से सिंचन होता रहता है तो वह वृक्ष हमेशा हरा-भरा रहता है। वेशरम नाम की एक वनस्पति होती है उसे शरम ही नहीं आती, उसका सिंचन नहीं करना पड़ता है वह तो जहाँ चाहे पत्थरों में, रेतों में भी उग आती है। इसे बाढ़ वगैरह रोकने के लिये लगा लेते हैं, इसकी बाड़ी भी लगा लेते हैं उससे खेत की शोभा भी बढ़ जाती है। आप ऊपर-ऊपर की कितनी भी छटनी कर दो तो भी संसार कभी भी समाप्त होने वाला नहीं है क्योंकि एकेन्द्रिय सूक्ष्म अपर्याप्तकों के लिये जो बंध होता है वह बहुत कम होता है। अनुभाग व स्थिति की दृष्टि से भी यदि देखें तो संज्ञी पञ्चेन्द्रिय में ही पाँवरफुल बंध अर्थात् उत्कृष्ट बंध होता है, क्योंकि मन के बिना कभी भी योजना सफलीभूत नहीं होती है यह निश्चित बात है तो ऊपर-ऊपर काट लो, छेद दो इससे कुछ होने वाला नहीं है।

दृष्टान्त—किसान लोग दीवाली के एकाध महीने बाद चने वगैरह बोते हैं उनसे पूछ लेना कि वे क्या करते हैं? आप लोग चना का उपयोग तो कर लेते हैं लेकिन उसका रहस्य ज्ञात नहीं करते हैं। तो वह चने का पौधा जब पाँच-छह इंच ऊपर बढ़ जाता है तो उसके ऊपर का जो अग्रभाग है उसे तोड़ देते हैं, जड़ को मजबूत पकड़ करके यह कार्य करते हैं। इससे जहाँ एक तना था वहाँ तीन-चार तने या शाखाएँ फैल जाती हैं और वह छत्तेदार हो जाता है तो होरा, मूंगफली के खोल बूट सबसे ज्यादा संख्या में हो जाते हैं तो यह सिद्ध हो गया कि ऊपर-ऊपर काटने-छाटने से वह छटता नहीं है। लगता है कि वह सूख जायेगा लेकिन जब तक जड़ नहीं सूखती है तब तक जीवित रहता है। इसी प्रकार आप ऊपर-ऊपर से यदि बूढ़े हो गये हैं तो हमारे में मोह नहीं है ऐसा नहीं मानना थोड़ा-सा पासपोर्ट बदल देते हैं तो सब फिर से हरे-भरे हो जाते हैं। यहाँ पर बूढ़े हैं और एक सेकंड भी नहीं लगता जवान हो जाते हैं यह सोचने की बात है। यहाँ पर सल्लेखना प्राप्त कर मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं और एक-दो समय में उपपाद शैय्या में उत्पन्न होकर अन्तर्मुहूर्त हुआ नहीं कि जवान हो जाते हैं यहाँ पर अभी सल्लेखना की काया तो उठाई भी नहीं गई है। रात हो जाने से मिट्टी बारह घंटे वहीं रखी हुई है लेकिन उसका मालिक कहाँ गया है, कैसा गया? यह पता ही नहीं है तो मूल सहित नहीं उखाड़ने का यही परिणाम है। इसलिए क्षपक श्रेणी को ज्यादा महत्त्व दिया जाता है, उपशम श्रेणी को नहीं। क्योंकि उसमें कषाय राख में छुपी हुई अग्नि के समान ढकी हुई है। यह अग्नि शाम को काम में आ जाती है, कभी रात में ढक देते हैं तो सुबह काम में आ जाती है। कहीं-कहीं तो लोग अग्नि माँगने व देने भी नहीं जाते हैं यह धार्मिक परम्परा है। अग्नि दान में नहीं देते हैं क्योंकि यह हिंसादान में आ जाता है। जो होशियार ग्रामीण श्रावक होते हैं वे नहीं देते हैं और आप लोग माचिस यू फेंक देते हैं तो ऊपर से भले ही राख ढक दो लेकिन भीतर से अग्नि बुझती नहीं उसी प्रकार ऊपर

से काया सूख गई तो मोह सूख गया ऐसा नहीं...मोह सूखता नहीं, मुँह भले ही सूख जाय तो यही बात कही जा रही है कि मोह को पैदा करने वाला कौन है? अव्याबाध गुण वाला आत्मा है लेकिन ये मिथ्यात्व आदि चार पाये बाधा उत्पन्न करने वाले हैं, मोह को उत्पन्न करने वाले हैं। वह सम्यग्दृष्टि माना जाता है जो इन चार पायों को समाप्त कर देता है।

दृष्टान्त—जैसे—ऊपर से बमबारी हो जाती है तो वह महल आदि पूरे-पूरे धराशायी हो जाते हैं लेकिन बंकरों में रहने वाले सैनिक सुरक्षित रहते हैं उन बंकरों के ऊपर विस्फोट का कोई प्रभाव नहीं पड़ पाता है। वे इस ढंग से रेत से ढककर रखते हैं जिससे कि वहाँ भीतर हवा नहीं पहुँच पाती उसी प्रकार भीतर बम आदि नहीं पहुँच पाता है। कितनी बार मृत्यु हो गई लेकिन जड़ समाप्त नहीं होती है। अमेरिका के द्वारा कोई धान दिया गया है और साथ में गाजर घास है वह इतनी फैलावदार है कि जैसे—वर्षा काल में यहाँ काई दूर-दूर तक फैलती है उसी प्रकार पौधे के साथ-साथ दस-बीस गाजर घास की जड़ें फैल जाती हैं उससे किसान हैरान हो जाते हैं उसी प्रकार कर्मों के प्रत्यय की भी ऐसी ही स्थिति है। वह गाजर घास से भी ज्यादा द्रुतगति से फैलता जाता है। एकेन्द्रिय में कमजोर जैसा लगता है लेकिन वह आज तक नष्ट नहीं हुआ। यह कैसी बंध की मोह की व्यवस्था है इसे हरा-भरा नहीं रखना चाहते हो तो साथ-साथ जड़ों को उखाड़ फेंकना चाहिए। किसान लोग खेती करने के पूर्व में जमीन को तैयार करते हैं तो फावड़ा-कुदाली आदि से घास को जड़ से उखाड़ कर उसे सुखा देते हैं ताकि दुबारा से वे हरे-भरे न बनें। यदि आप मोह को भी सुखाना चाहते हैं तो दूसरों के जीवन को सुखाने का प्रयास मत करो बल्कि अपने मोह को सुखाने का प्रयास करो। ऐसा कोई फावड़ा या कुदाली ले आओ जिससे कि मोह को उखाड़ सको, उसकी जड़ों को खोजो और तप रूपी अग्नि में जला दो तो संभव है वह पुनः नहीं उगेगा। सम्मूर्च्छन के पौधे जिस तरह से उगते हैं उसी प्रकार देखने से, सुनने से या याद आने से भी मोह के पौधे उग जाते हैं। इस प्रकार के यह संस्कार अनादि से हमारे में पड़े हुए हैं। सम्मूर्च्छन पौधों के लिये बीज की कोई व्यवस्था नहीं होती है उसी प्रकार अनन्तकाल से मोह से संस्कारित होने के कारण एकेन्द्रिय से एकदम पञ्चेन्द्रिय मनुष्य हो जाय तो कोई आश्चर्य नहीं, इसके लिये कोई प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं पड़ती।

मूल में चार ही प्राण हैं—इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास और इसकी शाखा-उपशाखायें बढ़ें तो दस प्राण हो जाते हैं तो आचार्य कहते हैं—इतने प्राण बढ़ गये तो उन्हें प्रशिक्षण देना पड़ता हो ऐसा नहीं...उनके पास चारों संज्ञा हैं पहले स्पर्शनेन्द्रिय के माध्यम से ही आहार ग्रहण कर लेते थे मतलब रसनेन्द्रिय से ही आहार संज्ञा होती है ऐसा नहीं...ये चार संज्ञायें संसारी प्राणी के कभी नहीं छूटती हैं। एकेन्द्रिय में भी भय है भले ही व्यक्त नहीं होता है, रोंगटे खड़े हो जाते हैं, श्वासोच्छ्वास में अन्तर आ जाता है। बहुत सारे संकेत उनको भी प्राप्त हो जाते हैं। हवा के माध्यम से, स्पर्शनेन्द्रिय के माध्यम से ही आहार ग्रहण कर लेते हैं तथा स्पर्श के माध्यम से दूरस्पर्शी क्षयोपशम भी रहता है

तो उसकी जड़ें वहाँ तक पहुँच जाती हैं, कुछ वनस्पतियाँ इस ढंग से काम करती रहती हैं। वह कर्मफल चेतना को लिये हुए है ऐसा पंचास्तिकाय में कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है उनमें कर्म चेतना की गौण रूप से रहती है। कर्म तो अपने बाँधेंगे लेकिन कर्मफल चेतना की मुख्यता होती है जैसे आप लोगों में सुख-दुःख अभिव्यक्त होते हैं वैसे उनके सुख-दुःख अभिव्यक्त नहीं होते हैं। यहाँ एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जीव कैसे रोते हैं? यह पता नहीं चलता है। लट है वह भी आवाज करती है, रोती है लेकिन हमें पता नहीं चलता है, वह एकेन्द्रिय भी श्वासोच्छ्वास लेता है उसके भी नाड़ी है, फड़कन है लेकिन दिखती नहीं है। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय में आंगोपांग नाम कर्म का उदय है, उनके भी श्वासोच्छ्वास नामकर्म का उदय कहा है लेकिन देखने में नहीं आता है। आपमें श्वासोच्छ्वास की क्रिया दृष्टिगोचर होती है इसलिए आपके प्राणापान स्पष्ट समझ में आता है। श्वासोच्छ्वास कहो, प्राणापान कहो एक ही बात है लेकिन उनके अव्यक्त चेतना है आपके व्यक्त चेतना है। यह चारों संज्ञाएँ सबके पास हैं, आज तक इन्हीं संज्ञाओं के कारण सारे संसारी प्राणी त्रस्त हुए हैं और आप सोचते हैं कि अगले जीवन में अच्छे ढंग से भोगोपभोग की सामग्री मिले तो यह और एक निदान संकल्प कर लेते हैं जबकि अनन्तकाल से यही करते आये हैं लेकिन पुनः एक बार और चाहते हैं..यह सब सम्यग्ज्ञान नहीं होने से होता है। सम्यग्दृष्टि इस रहस्य को समझ लेता है अतः निःशंक होता है तथा इन चार प्रत्ययों को बाधाकारी समझकर समाप्त करता है। आचार्यों ने कहा है—**खड्गेन...**तो यह अहिंसा का प्रतीक तो नहीं लगता है। खड्ग से छेद करते हैं यह कहा है। चूँकि मोक्ष को प्राप्त करने वाले क्षत्रिय रहते हैं उनके भीतर वीरत्व रहता है। वे खड्ग को, धनुष, तीर, कमान को छोड़ कर आये हैं इसलिए स्वसंवेदन ज्ञान को अब खड्ग बना लो और मिथ्यात्वादि चार प्रत्ययों का ऐसा छेद करो कि मूल से, जड़ से उखड़ जाये ताकि पुनः अंकुरित न हो सके ऐसा कर दो...यह कह रहे हैं। एक बार पेड़ जड़ से उखड़ जाये, गिर जाये तो एकाध महीने तक पत्ते भले ही रहते हों लेकिन फिर अपने आप सूख जाते हैं उन्हें सुखाने की आवश्यकता नहीं पड़ती और फिर वह समाप्त हो जाता है। चेतना का अर्थ यहाँ ज्ञाता-दृष्टा ले लेना। उसी को आप सम्यग्दृष्टि समझ लेना जो इन चारों प्रत्ययों को रोक देता है। योग को भी रोक देता है वह कौन सा योग है? तो वह कषाय सहित योग जो आत्मा को आबाधा काल के साथ कर्मों से बांध रहा है, लिप्त कर रहा है यह दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक रहता है। यद्यपि मोह समाप्त हो गया लेकिन कर्म समाप्त नहीं होते, कर्म करने की प्रक्रिया अभी भी चालू रहती है और बाधा को पैदा करने वाले कर्म रहते हैं उनकी यह प्रक्रिया छठवें गुणस्थान के अंतिम समय तक चलती है तब तक यह विकासोन्मुखी होता हुआ—मोहरूपी अंशों को समाप्त करता हुआ बंध की अपेक्षा मोह का समापन नौवें गुणस्थान में कर देता है तथा उदय में जो आ रहा है उसका क्षय दसवें गुणस्थान के अंतिम समय तक कर देता है।

इस प्रकार वीतराग सम्यग्दृष्टि जो होता है उसकी बात कह रहा हूँ सराग सम्यग्दृष्टि, अविरत

सम्यग्दृष्टि, विरत सम्यग्दृष्टि, प्रमत्तसम्यग्दृष्टि की नहीं किन्तु जो अप्रमत्त सम्यग्दृष्टि होता है उसमें भी दो प्रकार के हो जाते हैं। १. उपशमक—एक उपशम को करने वाला, २. क्षपक—क्षपणा करने वाला। जो मूल से उखाड़ रहा है ऊपर-ऊपर से नहीं इससे फलित होता है वह क्षपक श्रेणी वाला होगा। शुद्धात्म-भावना के विषय में कोई भी बंध नहीं होता किन्तु पूर्वबद्ध जो कर्म हैं उसकी निर्जरा ही होती है। निर्जरा—एक देश कर्मक्षय का नाम है और क्षय में पूर्णतः क्षय होता है। दर्शन मोह की निर्जरा और दर्शन मोह का क्षय इसमें कितना अन्तर है? तो निर्जरा एक देश मानी जाती है और दर्शन मोह का क्षय में पूर्णतः क्षय होता है। क्षय होने से मुक्ति मिल जाती है। जहाँ कहीं भी किसी प्रकृति का क्षय हो जाता है तो उससे हमेशा के लिये मुक्ति मिल जाती है। निर्जरा से तो मुक्ति मिल भी सकती है और नहीं भी...लेकिन क्षय होने से उसमें पिण्ड छूट ही जाता है। दर्शन मोह का क्षय अर्थात् अनन्तकाल के लिए दर्शन मोह से मुक्ति मिल गई। यह मनुष्य जीवन में ही संभव है अन्यत्र नहीं। अन्यत्र गति में किसी प्रकार से निर्जरा भले ही हो लेकिन मुक्ति नहीं मिलती। यद्यपि **आउक्खयेण-मरणं...** आयु का क्षय माना जाता है लेकिन वह पूर्णतः क्षय एक जीवन अपेक्षा है बाधा कब तक है? तो आबाधा जब तक पड़ती है तब तक वह पूर्णतः कषाय से रहित नहीं होगा।

ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें गुणस्थान में जो बंध होता है वह एक प्रकार से बंध नहीं। मोह को पैदा करने वाला और बाधा को भी पैदा करने वाला नहीं होता, जैसे नीचे के गुणस्थान में बाधा पैदा करता है वैसा यहाँ नहीं है। यद्यपि कर्म वर्गणाएँ कर्म रूप परिणत होकर आत्मा के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होती हैं लेकिन होकर भी टिकती नहीं हैं किन्तु आती और चली जाती है। अस्पर्श अर्थात् एक समयवर्ती ही बंध और दूसरे समय में उसका झड़ना अनिवार्य हो जाता है वे रुक नहीं सकती हैं।

जिज्ञासा—धवला में एक जगह प्रश्न किया है कि—क्या हम योग के द्वारा स्थिति और अनुभाग बंध का अभाव मान लें? क्योंकि स्थिति और अनुभाग बंध कषाय से होता है और यहाँ कषाय का अभाव है।

समाधान—आचार्य कहते हैं—नहीं, जिस प्रकार कषाय के द्वारा स्थिति-अनुभाग बंध पड़ता है वैसा योग के द्वारा स्थिति-अनुभाग नहीं पड़ता है। इस विषय में **धवल** पुस्तक १३ में **आचार्य वीरसेनस्वामी जी** ने ईर्यापथ कर्म के विषय में स्पष्ट करते हुए लिखा है कि योग के निमित्त से आये हुए पुद्गल कर्म स्कन्ध में काल निमित्तक अल्पत्व देखा जाता है अर्थात् वह कर्म रूप से एक समय तक अवस्थित रहता है पश्चात् निर्जीर्ण हो जाता है अतः उसके द्वितीयादि समयों में अवस्थान का अभाव कहा है।

अनुभाग के विषय में एक शंका समाधान दिया है।

जिज्ञासा—ईर्यापथ कर्म में कर्म रूप से परिणत कार्मण स्कन्धों में सब जीवों से अनन्त गुणा अनुभाग होना चाहिए क्योंकि अन्यथा उनका कर्म रूप से परिणमन करना नहीं बन सकता?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यहाँ पर जघन्य अनुभाग स्थान के जघन्य स्पर्धक से अनंत गुणे हीन अनुभाग से युक्त कर्म स्कन्ध बंध को प्राप्त होते हैं ऐसा समझकर अनुभाग बंध नहीं है ऐसा कहा है। इसलिए एक समय की स्थिति निवर्तक ईर्यापथ कर्म बंध अनुभाग, सहित है ही ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए और इसी कारण से स्थिति और अनुभाग की अपेक्षा यह ईर्यापथ कर्म अल्प हैं। कर्म सिद्धान्त ग्रन्थ कहते हैं कि चार प्रकार के बंध में एक तो हो जाये और तीन अवशिष्ट रह जाय ऐसा संभव नहीं है। जैसे—यदि साता वेदनीय बंध गई तो इसका अर्थ है साता का फल भी उसको मिलेगा और स्थिति भी पड़ेगी प्रदेश भी मिलेंगे। यह एकांत है कि एक का बंध हुआ तो चारों प्रकार के बंध उसमें होंगे, हाँ तारतम्य भले ही हों लेकिन एक बंध हुआ तो दूसरा न हो यह संभव ही नहीं। स्थिति एक समय की पड़ गई तो दूसरे समय में झड़ना संभव है। इस प्रकार जहाँ पर भी बंध होता है तो प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग ये चारों प्रकार के ही बंध होते हैं। उदीरणा का भी वो इसी ढंग से वर्णन करते हैं। एक की उदीरणा है तो वह स्थिति-अनुभाग-प्रकृति-प्रदेश इन चारों की उदीरणा मानते हैं इसके बिना तो वह संभव ही नहीं। **इसलिए मात्र योग के द्वारा बंध रह गया है।**

लेश्या का लक्षण—आचार्यों ने दो प्रकार की परिभाषा बताई हैं **योगप्रवृत्तिर्लेश्या २. कषायनुरंजित योग प्रवृत्तिर्लेश्या:** “**लिप्यते अनया आत्मा कर्मभिः**” अर्थात् जिसके द्वारा आत्मा कर्मों से लिप्त हो जाती है उसका नाम लेश्या है। योग प्रवृत्तिर्लेश्या—यह तेरहवें गुणस्थान तक है किन्तु कषाय अनुरंजित—अर्थात् कषायों के साथ जो अनुरंजित है, वह दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक बनी रहती है। इसलिए कषाय से अनुरंजित होने के फलस्वरूप इसमें आबाधाकाल भी पड़ जाता है, यह बात अलग है कि दसवें गुणस्थान के अंतिम क्षण तक जिन-जिन प्रकृतियों का बंध होता है उस गुणस्थान में वह जघन्य बंध होता है। जघन्य बंध होने पर भी आबाधा काल से रहित होता है ऐसा तो नहीं कहा। वहाँ पर आबाधाकाल पड़ेगा अन्तर्मुहूर्त का, जितनी भी प्रकृतियाँ बंधती हैं सब में आबाधा पड़ती हैं। उसकी स्थिति कितनी पड़ी है यह सिद्धान्त ग्रन्थों से देख लीजिये लेकिन एक समयवर्ती बंध दसवें गुणस्थान में नहीं होगा क्योंकि आबाधा ही अन्तर्मुहूर्त की पड़ रही है तो बंध एक समयवर्ती कैसे होगा? इसलिए लेश्या की परिभाषा दो प्रकार से कही है किन्तु वस्तुतः तो योग प्रवृत्ति का नाम ही लेश्या कहा गया है। कषायनुरंजित योग प्रवृत्तिर्लेश्या यह **विशेषण विशिष्ट रूपा लेश्या इति कथ्यते** अर्थात् यह कषायानुरंजित विशेषण लगा है। यह इसका सही स्वरूप है। हाँ, वह भी लेश्या है जो कषाय के साथ जुड़कर योग के साथ काम करती है यह दसवें गुणस्थान तक होती है। बंध के प्रकरण में इसे मुख्यता देकर कथन करते हैं तो यह बंध दसवें गुणस्थान के अन्त तक है। तब तक वह ज्ञानी उखाड़ता चला जाता है इसलिए इन चारों प्रत्ययों को उखाड़ने का श्रेय उसी को जाता है अतः वह निःशंक है, निर्भीक है और अबंधक है। अर्थात् वह कर्मों की मात्र निर्जरा

करता है, नवीन बंध नहीं करता है यह यहाँ कहने का तात्पर्य है।

नोकर्म की स्थिति—जब तक उनका शरीर रहेगा तब तक नोकर्म की स्थिति पड़ सकती है या पड़ती है। नोकर्मों की बंध व्यवस्था में अबाधा की व्यवस्था नहीं है केवल डायरेक्ट स्थिति की विवक्षा है किन्तु कर्म का वेदन करने के लिये आबाधा काल आवश्यक हो जाता है। कर्मों की व्यवस्था आबाधा के अनुसार होती है किन्तु उसमें एक समयवर्ती ही होती है ऐसा नहीं। जैसे—तेरहवें गुणस्थान में लाभान्तराय कर्म के अत्यन्त क्षय से आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त से लेकर एक पूर्व कोटि काल तक शरीर को बनाये रखने योग्य सामग्री का आस्रव होता है अर्थात् ऐसी वर्गणाएँ आती रहती हैं कि यह शरीर जो नोकर्म है वह बिना कवलाहार किये पूर्व कोटि वर्ष तक सुरक्षित रहता है यह उनका अनन्त लाभ है उसमें एक समय में संवेदन भी प्रारंभ हो जायेगा लेकिन सारे के सारे परमाणु एक समय में बिखर जायेंगे ऐसा नहीं है। जिस समय केवलज्ञान हुआ उस समय से विशिष्ट नोकर्म वर्गणाएँ ग्रहण होती हैं उनमें से कुछ वर्गणाएँ उस समय से दूसरे समय तक कुछ नोकर्म वर्गणाएँ अर्थात् परम औदारिक वर्गणाएँ कुछ क्षण तक टिकती हैं, एक समय टिकीं तो दूसरे समय में निकल जायेंगी उनकी एक समय की स्थिति मानी जायेगी उसी समय में आई हुई वर्गणाओं में से कुछ वर्गणाएँ ऐसी भी होती हैं जो पूर्वकोटि वर्ष तक टिकने वाली हैं अर्थात् अन्तिम समय में बिखरने वाली हैं उनकी स्थिति आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त कम पूर्व कोटि मानी जायेगी हाँ, नोकर्म छूट जायेगा तो वह भी छूट जायेगा। निश्चित है कि नोकर्म तो छूटना है। आयु कर्म का पिण्ड छूटे या न छूटे दूसरी आयु का बंध हो सकता है लेकिन यह जो छूटना है वह भुज्यमान आयु का जितना शेष काल है उतना ही है। केवलज्ञान जिस समय में हुआ उस समय गृहीत जो नोकर्म है उनकी उत्कृष्ट स्थिति पड़ जाती है, सारे निषेकों की ऐसी नहीं होती। एक-एक समय में छूटने वाले भी निषेक होते हैं केवलज्ञान होने के दूसरे समय में भी, इसी प्रकार एक समय की स्थिति, दो समय की, तीन समय की स्थिति पड़ेगी और कुछ ऐसी वर्गणाएँ हैं जो पूर्वकोटि वर्ष तक बनी रहेंगी ऐसा उनका हिसाब चलता है क्योंकि उनको अनन्त लाभ उत्पन्न हुआ है किन्तु अब अबाधा नहीं पड़ेगी। अन्तर्मुहूर्त की भी आबाधा नहीं पड़ेगी और न ही कर्म स्थिति पड़ेगी जो उत्कृष्ट सत्तर कोड़ाकोड़ी है तो सात हजार वर्ष की आबाधा भी नहीं पड़ेगी क्योंकि नोकर्मों की स्थिति इतनी नहीं है इसलिए उसके लिये हम यह नहीं कह सकेंगे कि वह कषाय सहित है। हाँ, इतना अवश्य है वह योग के द्वारा ही बंधा है अच्छा विषय है यह भी। नोकर्मों में भी जो स्थिति पड़ती है वह योग के माध्यम से ही पड़ती है। इतना ही नहीं...एक और गजब की बात है कि—औदारिकपना कब तक रह सकता है? तो उसके लिये उन्होंने कहा है कि—असंख्यात पुद्गल परावर्तन काल तक वह काया की निष्पत्ति है जिसे आगम में कायस्थिति संज्ञा दी है। वह ज्यों की त्यों बनी रहती है। आज कल जो बर्फ के ढेर में जीवाश्म मिल जाते हैं, अवशिष्ट पुरातत्त्व में मिल जाते हैं वह ज्यों का त्यों बना रहा, जीवित भी हो सकता है, उसी प्रकार ऊपर का चर्मभाग भी ज्यों का त्यों रह सकता है अर्थात्

काया की उम्र स्थिति असंख्यात पुद्गल परावर्तन काल है उस नोकर्म की औदारिकपने की क्षमता है इतने काल तक बनी रह सकती है। अब भोगभूमियों में जो तीन कोस प्रमाण जीवों का उत्सेध रहता है तो उनकी क्या व्यवस्था रहती होगी काय शरीर की तो चौदहवें गुणस्थान में जैसी काय की स्थिति होती है वैसा ही भोगभूमि में भी होती होगी अर्थात् आयु कर्म समाप्त हो गया तो जीव मरण को प्राप्त हो गया उसी समय नोकर्म भी समाप्त हो गया। शरीर भी हाथों-हाथ कर्पूर की भाँति उड़ जाता होगा ताकि दाह संस्कार वगैरह करने की आवश्यकता नहीं है। भोगभूमि में हमेशा अच्छी हवा बहती रहती है वहाँ पर सड़न-गलन तो है नहीं क्योंकि भोगभूमि के जीवों की काया निगोदिया जीवों से रहित होती है। औदारिक काय की अपेक्षा से केवली भगवान् का भी औदारिक शरीर है उसमें से निगोदिया जीव निष्कासित हो जाते हैं तो उसे पारमौदारिक कहा जाता है। अतः युक्ति पूर्वक हम यह कह सकते हैं कि भोगभूमियाँ जीवों का जो शरीर है वह परमौदारिक नहीं है। उन भोगभूमियाँ जीवों की तीन कोस की काया है तथा वहाँ तीन दिन के अन्तराल में हरड़ बराबर आहार होता है और तीन पल्य की आयु तक रहते हैं तो कैसे रहते होंगे? तो इसी औदारिक काय योग के माध्यम से ऐसी सशक्त वर्गणाओं को ग्रहण करते हैं उनकी सशक्त संघातन क्रिया होती रहती है। परिशातन क्रिया कम और संघातन क्रिया ज्यादा होती है। हरड़ बराबर आहार तो क्षुधा निवारण के लिये है और शरीर की रक्षा अथवा स्थिति हेतु रात-दिन एक-एक समय में नोकर्म वर्गणाएँ आती रहती हैं उनकी जो निक्षिप्त होने की प्रक्रिया है वह वहाँ उत्कृष्ट तीन पल्य तक की हो सकती है इसलिए तो आचार्यों ने औदारिक शरीर की कायस्थिति तीन पल्य, आहारक शरीर की अन्तर्मुहूर्त और वैक्रियिक शरीर की तैतीस सागर प्रमाण कही है और तद्भवस्थ-प्रथम समय से ही वह आहारक भी हुआ और प्रथम समय में उतना निक्षिप्त भी कर लेता है जितना आयु का प्रमाण है। जैसे-तैतीस सागर की आयु है तो उस वर्गणा की तैतीस सागर तक की स्थिति पड़ गई। इसी प्रकार कर्मण शरीर है तो उसकी स्थिति भी ऐसी ही पड़ जाती है। किसी ने मान लो दर्शनमोहनीय का सत्तर कोडा-कोड़ी का बंध कर लिया तो प्रथम समय में ही बंध किया तो प्रथम समय में ही सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण ही उसकी स्थिति पड़ गई। सबका ऐसा ही है ऐसा तो नहीं कह सकते, लेकिन यदि है तो सात हजार वर्ष आबाधा काल को छोड़कर उसका वह वेदककाल प्रारंभ हो जाता है अथवा संक्रमण कर लेता है तो एक समय और एक आवली काल के बाद वेदक काल प्रारंभ हो जाता है यह उसका प्रारम्भिकपना है तो यह सब व्यवस्थित क्रम चलता रहता है।

उत्थानिका—अब आगे निःकाक्षित अंग के बारे में वर्णन आता है।

जो ण करेदि दु कंखं कम्मफलेसु तह य सव्वधम्मेषु।

सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२४५॥

अन्वयार्थ—(जो चेदा) जो आत्मा (कम्मफलेसु) कर्मों के फलों के प्रति (तहय) और

(सव्वधम्मेषु) सब धर्मों के प्रति (कंखं) कांक्षा (ण दु करेदि) नहीं करता (सो) उसे (णिककंखो) निष्कांक्ष (इच्छा रहित) (सम्मादिट्ठी) सम्यग्दृष्टि (मुणेदव्वो) जानना चाहिए।

अर्थ—जो आत्मा कर्मों के फलों में व सभी प्रकार के धर्मों में इच्छा नहीं करता है उस आत्मा को निःकांक्षित अर्थात् इच्छा रहित सम्यग्दृष्टि समझना चाहिए।

कांक्षा कभी न रखता जड़ पर्ययों में,
धर्मों पदार्थ दल के विधि के फलों में।
होता वही मुनि निकांक्षित अंगधारी,
वंदूँ उसे बन सकूँ द्रुत निर्विकारी ॥२४५॥

व्याख्या—सम्यग्दृष्टि आकांक्षा रहित होता है—जो आत्मा कर्मों के फलों में व सभी प्रकार के धर्मों में इच्छा नहीं करता है उस आत्मा को निःकांक्षित अर्थात् इच्छा रहित सम्यग्दृष्टि समझना चाहिए। वह चेदा अपने ही आत्म तत्त्व का संवेदन करने वाला होता है अतः वह निःकांक्षित अंग वाला होता है। जो ण करेदि दु कंखं अर्थात् जो आकांक्षा नहीं करता है...बस...यहीं पर ब्रेक लग जाता है। कोई हाथ से आकांक्षा कर लेता है, कोई शब्दों से, कोई धीमे स्वरों से, कोई सब लोगों के हाथ उठ जाने पर धीरे-धीरे हाथ उठाकर और कोई मन से हाथ उठाते हैं लेकिन आकांक्षा तो छूटती नहीं। णिककंखो—जब तक कांक्षा से रहित होता है अर्थात् बुद्धिपूर्वक कहता है कि मुझे कुछ नहीं चाहिए तब निःकांक्षित अंग माना जाता है। कम्मफलेसु...कह रहे हैं—कोई भी कर्म हो और सव्वधम्मेषु—कोई भी धर्म हो। किसी भी कर्म व धर्म में उसकी आकांक्षा नहीं रहती अतः निःकांक्षित कहा है। किसी भी धर्म का मतलब क्या? प्रत्येक पदार्थ के अपने-अपने धर्म हैं उनमें कोई भी आकांक्षा नहीं करता। धर्मों की अपेक्षा से देखें तो कितने धर्म हैं? तो जितने मत-मतान्तर हैं, उतने धर्म हैं, इसमें जैनधर्म भी आ गया उसमें आकांक्षा नहीं करता, क्योंकि आकांक्षा से कुछ मिलता है क्या? नहीं, किन्तु जैसा हमने कर्म किया वैसा मिलता है, अतः किसी भी कर्म के फल में आकांक्षा नहीं रखना इसको निःकांक्षित बोलते हैं। भोगोपभोग की भी आकांक्षा नहीं रखना और किसी कर्मफल की भी इच्छा नहीं होना यह वास्तव में निःकांक्षित अंग है क्योंकि सारे के सारे कर्मफल सक्षय होते हैं अतः कर्म के फलों में वह इच्छा नहीं रखता। सम्यग्दर्शन कथंचित् कर्म का फल कहा जा सकता है लेकिन इससे यह औदायिक भाव सिद्ध नहीं होगा लेकिन मुक्ति कर्म का फल नहीं है, क्योंकि सम्यक्त्व प्रकृति की उदीरणा के साथ क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है इसलिए यह कथंचित् कर्मफल है जिससे चल, मल, अगाढ़ दोष लगते हैं। जब तक सम्यक्त्व प्रकृति की उदीरणा नहीं होगी तब तक क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता अर्थात् उपशम सम्यग्दृष्टि को जब तक सम्यक्त्व प्रकृति का उदय व उदीरणा नहीं होती तब तक उसे क्षायोपशम सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता है। कर्मफल हैं जितने धर्म हैं उनकी आकांक्षा नहीं करता है, क्योंकि ये जितनी भी आकांक्षायें हैं सब मोह का परिणाम है।

अर्थात् स्व की आकांक्षा भी यदि मोह से प्रभावित होकर होती है तो वह निःकांक्षित नहीं है। **निःकांक्षित** अर्थात् प्रशस्त-अप्रशस्त आकांक्षाओं का विभाजन जहाँ पर समाप्त हो जाता है यह सिद्ध हो जाता है क्योंकि **ज्ञानस्य फलं त्रिविधं हानोपादानादुपेक्षास्तत्फलं...हान** अर्थात् पाप की हानि, उपादान अर्थात् व्रतों का ग्रहण, उपेक्षा **रागद्वेषयोरप्रणिधानं उपेक्षा** कहा है। जिस समय हम संकल्प पूर्वक कुछ चाहते हैं, व्रतादि लेते हैं उस समय उपेक्षा संयम नहीं रहता। यह बहुत अच्छी बात है कि ज्ञान का फल उपेक्षा है। सर्वप्रथम उपेक्षा नहीं होती। पहले अज्ञान निवृत्ति अर्थात् मिथ्यात्व का अभाव, अज्ञान का अभाव फिर हान-पाप की हानि उसके बाद उपादान-अहिंसा का संकल्प। यह सब कुछ हो जाता है तो फिर उसके उपरान्त उपेक्षा संयम अर्थात् किसी प्रकार की आकांक्षा नहीं करना, ग्रहण आदि कुछ भी नहीं, संकल्प को तो छोड़ेगा नहीं, उससे बंधा रहेगा लेकिन किसी के प्रति राग नहीं, हमें यह धर्म मिले यह भी इच्छा नहीं।

देखो! यह सूक्ष्म विषय है कि जिनायतन सम्यक्त्व प्रकृति की उदीरणा में कारण है, यह विकल्पात्मक है तथा निर्विकल्पता में बाधक है। कोई कहे कि महाराज! सम्यक्त्व प्रकृति की उदीरणा होना तो अच्छा है? उसके लिये आचार्य कहते हैं कि उपशम सम्यक्त्व की अपेक्षा तुलना करते हैं तो क्षयोपशम सम्यक्त्व की उपादेयता खण्डित हो जाती है क्योंकि क्षयोपशमिक सम्यक्त्व के साथ श्रद्धान में चल, मल अगाढ़ दोष आ जाते हैं जब कि उपशम सम्यग्दर्शन निर्मल होता है। सम्यक्त्व प्रकृति की उदीरणा में आकांक्षायें हो सकती हैं, जिससे निःकांक्षित अंग मलिन हो सकता है। अतः सम्यक्त्व प्रकृति की उदीरणा के साथ बहुत सावधानी की आवश्यकता होती है। आकांक्षायें प्रशस्त हों या अप्रशस्त, निर्विकल्प समाधि के लिये दोनों ही साधक नहीं है।

कोई महापुरुष अन्तर्मुहूर्त में अपना कल्याण पूर्ण रूप से कर सकते हैं। मान लो एक महीने भी उनके पास टिकने की क्षमता है, छह महीने भी टिकने की क्षमता है तो ध्यान में बैठ गये, लेकिन जब कभी भी प्रवृत्ति करेंगे तो उसके योग्य ही करेंगे। यदि संभावना कम रहती है तो इस प्रकार कहा जाता है कि इस ढंग से करो। किसी को भी पन्द्रह दिन तक प्रवृत्ति का प्रशिक्षण दिया जाता है और फिर बाद में स्वयं करने लग जाता है।

दृष्टान्त—जैसे—किसी डिपार्टमेंट में कोई रिटायर्ड हो जाता है या पेंशन हो जाती है तो जब तक दूसरा नियुक्त नहीं किया जाता है तब तक वह कार्यवाहक-कार्य संभाले रहता है। उसी प्रकार पन्द्रह दिन तक हम उसे कार्यवाहक की तरह संभाले रहते हैं क्योंकि नया-नया साधक है। प्रशिक्षण के बाद प्रवृत्ति में ठीक-ठीक आ जाता है कब? जब पन्द्रह दिन तक हम उसे जैसा कहते हैं वैसा कर लेता है तो। जैसे—घर में किसी की गमी हो गई तो मेहमान आ जाते हैं। यदि पन्द्रह दिन के लिये मेहमान आ गया तो आपको वह सपोर्ट देता रहता है, धीरज बँधाता रहता है और तेरई पगड़ी वगैरह तथा भोज आदि हो जाता है तो फिर मेहमान कहता है—मैं अब अपने घर जा रहा हूँ अर्थात् अब मैं अपना पक्ष

लूंगा, आपका पक्ष तो पन्द्रह दिन ले लिया और चला जाता है, इस ढंग से वह करता है यह व्यवहारिकता मानी जाती है। दुकान खुलवा दी और थोड़े दिन साथ में रहकर सब सिखा दिया उसे लाईन पर ले आये इस ढंग से करते हैं इसे ट्रेनिंग पीरियड बोलते हैं तो पहले उपादान में संकल्प लिया है कि आजीवन आरंभ का त्याग और पाँच पापों को ग्रहण नहीं करूँगा। चार पाप का त्याग और परिग्रह रख लें...ऐसा नहीं...पाँचों पापों का त्याग करना पड़ेगा तभी हम व्रत देंगे, एकाध महीने के लिये लेते हैं तो नहीं मिलेगा। आज सुनते हैं— श्वेताम्बरों में काल परिमाण के साथ व्रतादि लिये जाते हैं जबकि यहाँ अणुव्रत भी काल सापेक्ष नहीं लेते हैं, आजीवन के लिए ही लेते हैं। इसी के माध्यम से व्रती कहलायेगा। **उपवास**—रस परित्याग आदि को काल में सीमित कर सकते हैं उसे नियम रूप लिया जाता है क्योंकि यह नैमित्तिक कहलाते हैं यह आजीवन को नहीं लेकिन व्रत तो आमरण अर्थात् जब तक मरण नहीं होता तब तक व्रत का पालन करता है तो पहले हान-उपादान फिर उसका फल उपेक्षा संयम। जब पाँच पापों का ही त्याग कर दिया तो फिर यहाँ मेरा क्या और पराया क्या? कुछ भी नहीं...जब जीवन पर्यन्त के लिये मेरा कोई साथी-संगाती सगा कोई भी नहीं है। संगे-संगे कुछ नहीं है अब, अब तो मात्र अकेला...आत्मतत्त्व है। अणुव्रतियों को ऐसा नहीं कहा जायेगा। वह भी पापों का त्याग करता है लेकिन एकदेश त्याग होता है, हाँ जीवन पर्यन्त के लिये करो, नहीं तो हम पाक्षिक श्रावक के अन्तर्गत गिनेंगे, यदि काल की सीमा में पापों का त्याग किया है तो हम अणुव्रती के रूप में नहीं गिन पायेंगे। यदि सीमा में त्याग किया है तो के.जी.वन या टू...यह कक्षा नहीं मानी जाती है, ये तो कक्षा के पहले के स्थान हैं फिर पहली कक्षा, दूसरी कक्षा आदि-आदि जितने भी हैं यह पार्ट्स हैं तो पार्ट्स उसी को दिया जाता है जो कक्षा में हैं।

दृष्टान्त—किसी ने साइकिल खरीदी, फिर उसके उपरान्त एकाध साल बाद खराब हो जाती है, इसलिए नट-बोल्ट भी ले लो-साइकिल के साथ यहाँ मुफ्त ही ले लो। कोई कहे कि आप मुफ्त दे रहे हैं तो मुझे भी नट-बोल्ट दे दो तो वह नहीं देगा क्योंकि साइकिल के साथ ही दिये जाते हैं। वह दुकानदार कहता है साइकिल खरीदोगे तो यह दे देंगे...नहीं तो नहीं..अर्थात् साइकिल तो पहले खरीदना ही पड़ेगी। अन्यथा वे बच्चों के व्रत माने जायेंगे प्रोढ़ों के लिये ऐसा नहीं होता। भले ही वह अंश रूप में ग्रहण कर ले अर्थात् संयमासंयम को ग्रहण कर ले लेकिन एक ही पाप का त्याग या एक ही नियम नहीं, किन्तु सभी पापों का पूर्णतः त्याग आवश्यक होता है। अब देखो—प्रतिमा जो कि ग्यारह हैं उसमें से आप आरंभ त्याग प्रतिमा ले सकते हैं, क्योंकि उसके पहले की प्रतिमा तो ले ही ली है। परिग्रह का मूल आरंभ है और आरंभ त्याग प्रतिमा तब मिली है जब पहले आपने सात प्रतिमायें ली हैं, लेकिन महाव्रतों में ऐसा नहीं होता, क्योंकि महाव्रतों के साथ पूर्ण त्याग होता है अर्थात् उसका कारण और कार्य दोनों ही सब जड़ से समाप्त कर दो। कोई कहता है—महाराज! हम बीड़ी पीने का त्याग करते हैं तो महाराज कहते हैं—कैसे विश्वास हो? तो वह जेब में जो बीड़ी का

बण्डल है उसे फेंक देता है लेकिन आज-आज के लिये रख लेता है ऐसा कहता है तो ध्यान रखना आज से त्याग नहीं कहलायेगा। संकल्प आज लिया लेकिन त्याग कल से प्रारंभ होगा, जब तक वह बण्डल रहेगा तब तक त्याग नहीं होगा इसलिए आचार्यों ने कहा है कि—शाम के भोजन का त्याग करना है तो पहले सुबह भोजन कर लो फिर शाम का त्याग करो। गृहस्थ कभी-कभी ऐसा कर लेता है लेकिन अपने लिये ऐसा नहीं होता...बीच में त्याग के साथ राग नहीं आना चाहिए, अणुव्रती के लिये इस ढंग से कहा है।

सम्यग्ज्ञान का अनूठा फल—महाव्रती का तो आरंभ का व परिग्रह का त्याग है, सभी का त्याग है। महा अर्थात् महान् व्रत हो गये, पूर्ण त्याग हो गया इसलिए अब कोई बात ही नहीं, अज्ञान निवृत्ति, हान-उपादान इन तीनों से जो गुजरता है तो उस उपेक्षा संयम की ओर भी दृष्टि होना चाहिए, उसमें भले ही एक क्षण को आनन्द आता है लेकिन उस समय का जो आनन्द है वह अपने आप में अनूठा है। यह भी सम्यग्ज्ञान का फल माना जाता है और फल है तो हमें अन्त तक पहुँचना चाहिए भले ही अन्तर्मुहूर्त में पुनः अपहृत संयम में आ जाये लेकिन उपेक्षा संयम को तो छूना चाहिए। उसमें जो बहुमान या लहर आती है वह अपहृत संयम के साथ नहीं आती है। हान-उपादान के साथ अपहृत संयम रहता है, इसलिए अपहृत संयम कहो, शुभोपयोग कहो एक बात है और उपेक्षा संयम कहो, वीतरागता कहो, निर्विकल्प समाधि कहो, परम सामायिक कहो ये सब एकार्थवाची हैं। संस्कार का अर्थ—संकल्प दिलाना है वहाँ पर त्याग की मुख्यता नहीं, शिक्षण व संस्कार की मुख्यता है। बटुक ब्रह्मचारी जिन्हें बोलते हैं उनके लिये मुनि दीक्षा जैसे संस्कार नहीं होते हैं। उनके ऊपर जो संस्कारों का आरोप होता है वह दीक्षा मानी जाती है किन्तु आरोप किया जाता है उसके कारण वह निश्चित होकर अध्ययन कर लेगा। हाँ-बाद में पूछते हैं-क्या करना है आपको? आपका अध्ययन पूर्ण हो गया-अध्ययन करने की अपेक्षा से व्रतों के संस्कार दिये जाते हैं लेकिन अणुव्रतों के बारे में ऐसे संस्कार नहीं दिये जाते हैं। गृहस्थी में जाकर अणुव्रतों को छोड़ दो ऐसा नहीं कहा जाता है। इसलिए **सहाणुव्रत पंचकर्मम्**, अणुव्रती मद्य-मांस-मधु का त्यागी होता है। **अणुव्रती** को पूछा जाता है कि आप क्या करना चाहते हैं? वहीं के वहीं रहना चाहते हैं तो ठीक है...नहीं तो गृहस्थाश्रम...। एक बात और है कोई गृहस्थाश्रम में है और उसने सल्लेखना ले ली तो उसके पूरे परिग्रह का त्याग हो गया या कर लिया तो उनको मुनि मान लें क्या? मुनि के संस्कार दीक्षा आदि अलग होते हैं। सल्लेखना की अपेक्षा, व्रतारोपण अलग होता है **आरोपयेन् महाव्रत**-आरोपण किया जा रहा है अर्थात् वह ले नहीं रहा है उसके संस्कार डाले जा रहे हैं तो सल्लेखना के उपरान्त उसे मुनि माने ऐसा नहीं उसी प्रकार बटुक ब्रह्मचारी वालों की स्थिति है उन्हें सब बता देते हैं। जैसे कहते हैं वैसा करते हैं।

यहाँ निःकांक्षित अंग का वर्णन चल रहा है। **रत्नकरण्डकश्रावकाचार** में भी आठ अंगों का वर्णन आया है यहाँ निर्जराधिकार में भी आठ अंगों का वर्णन किया है। श्रावकाचार में सराग

सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्दर्शन की अपेक्षा कथन है और यहाँ वीतराग सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्दर्शन की अपेक्षा वर्णन है। व्यवहार भेद परक तथा निश्चय अभेद परक होता है। कल यह कहा गया था कि कर्म फलों में वह किसी भी प्रकार की आकांक्षा नहीं करता है और सभी धर्मों में भी...**सव्वधम्मेषु...** यह शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है। किसी एक धर्म की आकांक्षा होना और शेष धर्मों की आकांक्षा नहीं करना...ऐसा नहीं करेगा। कोई भी धर्म हो उसके प्रति आकांक्षा नहीं रहना। यह साम्य परिणति, उपयोग की दशा हमें बता देती है कि प्रत्येक द्रव्य व प्रत्येक गुण-धर्म के प्रति उसकी समता बनी रहती है। इसलिए **णाणस्स फलं उवेक्खा...अज्ञाननिवृत्ति, हानोपादानोपेक्षा तत्फलं** यह सूत्र **परीक्षामुख** में आया है। साधक उपेक्षा संयम तक जाकर रुक जाता है। समयसार में भी यह प्रसंग आ गया या आयेगा कि केवलज्ञान जिस प्रकार हेय-उपादेय से रहित होता है उसी प्रकार वीतराग विज्ञान के धारक मुनि में भी यह घटित होता है अर्थात् हेय-उपादेय से रहित अवस्था का अनुभव करता है, क्योंकि यह तो पहले प्रवृत्ति की भूमिका में हो चुके हैं। पञ्चेन्द्रिय के विषयों का हेय तथा उपादान पाँच पापों का त्याग करके संकल्प बद्ध होना, व्रत लेना...यह ध्रुव बन गया। अब आपको दुनिया के कोई विकल्प नहीं करना है, रागद्वेषादि सब समाप्त...यह रागद्वेष होते क्यों हैं? तो पञ्चेन्द्रिय के विषयों को लेकर या ख्याति-लाभ-पूजा को लेकर होते हैं। यह सब मन की खुराक है। अब यह सब शान्त हो गया है, यह निर्णय हो गया है कि किसी भी पदार्थ से मुझे सुख मिलने वाला नहीं है यह एक दृढ़ धारणा उनकी बन जाती है तो फिर मन का विषय क्या है? कुछ ख्याति पूजा की अपेक्षा से हो सकते हैं। यह भी ज्ञात हो गया है कि जब तीर्थंकरों के नाम नहीं रहे, जो कि एक प्रकार से तीन लोक में तहलका मचाने वाले थे...तो उनसे बढ़कर तो हमारा काम होने वाला है नहीं। जिनके माध्यम से असंख्यात जीवों का कल्याण हो जाता है ऐसे व्यक्तित्व का भी नाम नहीं रहा तो मेरा नाम मेरी ख्याति क्या रहेगी? तीन चौबीसी के पहले के नाम तो किसी को ज्ञात नहीं। आगे जो तीर्थंकर होंगे तथा जो हो गये उनका भी नाम नहीं रहा, तब हमारा नाम/परिचय किसको याद रहेगा। आप एड्रेस के नाम के पर्चे बाँट भी दो तो भी लोग याद नहीं रखेंगे। इस प्रकार सोचने से मन की खुराक समाप्त हो जाती है और पञ्चेन्द्रिय की खुराक क्या है यह ज्ञात हो ही चुका है तो संसार में रहा ही क्या? तो फिर आकांक्षा किस बात की?

राग-द्वेषोरप्रणिधानोपेक्षा... प्रणिधान अर्थात् उपयोग की परिणति। उपयोग की राग-द्वेष रूप परिणति का नहीं होना ही उपेक्षा संयम है यह संयम का अंतिम छोर है इसके बाद आपकी कोई परीक्षा नहीं। आपके सम्यग्दर्शन की परीक्षा राग-द्वेष के अभाव में तथा सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की भी परीक्षा राग-द्वेष के अभाव में होती है। केवली भगवान् के पास भी सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र है। वे भी इसी के साथ जुड़े हुए हैं। ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें गुणस्थान में कोई फर्क नहीं है यथाख्यात चारित्र यहाँ पर भी है और वहाँ पर भी है। अर्थात् वीतरागता की अपेक्षा से कोई अन्तर नहीं है,

सामान्य है वह उपेक्षा संयम माना जाता है। इसलिए सभी धर्मों के प्रति, गुण धर्मों के प्रति, कर्मफलों के प्रति किसी भी प्रकार की आकांक्षा नहीं रहती है। यह वह निकांक्षित अंग है जो सम्यग्दृष्टि के पास होना चाहिए या होता है सो **णिवक्खो चेदा**—जो किसी भी धर्म के प्रति आकांक्षा नहीं रखता है वह सम्यग्दृष्टि होता है।

टीका प्रारम्भ—जो शुद्धात्म भावना से उत्पन्न हुआ परमात्म आनन्द या सुख है उससे तृप्त होता हुआ पञ्चेन्द्रिय के विषयों में कांक्षा-वांछा नहीं करता है तथा कर्मफलों में आकांक्षा नहीं रखता है। **छहढाला में एक जगह लिखा है—पाप-पुण्य फल माँहि हरख-बिलखो मत भाई...**। यह पाप-पुण्य क्या है? यह आस्रव-बंध तत्त्व में गर्भित हो जाता है तथा यह कर्म की परिणति है। व्यवहारी जीव, संसारी प्राणी-पाप उदय में विषाद का और पुण्योदय में हर्ष का अनुभव करता है लेकिन जो इनमें हर्ष विषाद नहीं करता वह सम्यग्ज्ञानी कहलाता है। प्रतिसमय कुछ पुण्य कुछ पाप उदय होता रहता है उनमें हर्ष-विषाद के बिना तटस्थ होकर रहना यह ज्ञानी का स्वभाव है, इससे बढ़कर यहाँ मोक्षमार्ग में और कुछ नहीं करना है बल्कि यहाँ तक आ पाना ही मुश्किल होता है। पूछते हैं उसके उपरान्त क्या करना है? तो पहले यह तो करके देख लो... इसके उपरान्त कुछ होता ही नहीं, किया ही नहीं जाता, रागद्वेष का अभाव होने के उपरान्त कुछ करने का सवाल ही नहीं उठता। राग-द्वेष का अभाव नहीं होता इसलिए अब और क्या करूँ? यह प्रश्न, जिज्ञासा, आकुलता होती है यह बात समझ लो। लेकिन यह आकुलता जिनमें नहीं होती उनको निःकांक्षित अंग धारी कहते हैं। **रत्नकरण्डक श्रावकाचार** में निःकांक्षित अंग के बारे में कहा है—

कर्मपरवशे सान्ते, दुःखैरन्तरितोदये ।

पापबीजे सुखेऽनास्था, श्रद्धानाकाङ्क्षणा स्मृता ॥१२॥

और यहाँ पर कह रहे हैं—कर्म फलों में तथा सभी धर्मों में किसी भी प्रकार का रागद्वेष नहीं करते। यहाँ श्रद्धान की बात नहीं कर रहे हैं, पञ्चेन्द्रिय के विषयों की भी बात नहीं कर रहे हैं यहाँ तो और सूक्ष्म रूप से कहा जा रहा है कि प्रतिसमय जो कर्मफल मिल रहे हैं उनमें भी रागद्वेष नहीं करना...शान्त रहना...अथवा यह जिनधर्म है तो उसके प्रति राग या आकांक्षा रखना तथा दूसरे अन्य धर्मों के प्रति अनाकांक्षा भाव या द्वेष करना यहाँ ऐसा भी प्रसंग नहीं है। इसलिए कल सम्यक्त्व प्रकृति की उदीरणा का एक उदाहरण दिया था आप लोगों कि—सम्यक्त्व प्रकृति की उदीरणा में जिनायतनों के प्रति जिज्ञासा जागृत हो जाती है अन्य के प्रति नहीं। लेकिन साधु के लिये हमेशा-हमेशा सभी धर्मों के प्रति एक सा अनाकांक्षा भाव रखना चाहिए, तुलना भी नहीं करना। सब अपने-अपने कर्मों का फल भोग रहे हैं उनके प्रति तटस्थ साम्यभाव रखना सम्यक्त्व प्रकृति के साथ रहते हुए भी प्रमाद दशा में जिस प्रकार की प्रवृत्ति होती है वैसी नहीं होती है ऐसा अर्थ लेना। वीतराग सम्यग्दृष्टि का उपयोग पन्द्रह प्रकार के प्रमादों से रहित होने के कारण उनकी चित्तदृष्टि विभाजन में नहीं पड़ती, यदि पड़ती

है तो निश्चय रूप से सम्यक्त्व प्रकृति का उदय होगा तथा छटवें गुणस्थान में आ जायेगा। **सम्यक्त्व प्रकृति की उदीरणा यहाँ भी है और वहाँ भी है लेकिन** अप्रमत्त होने के उपरान्त इन कर्मों का प्रभाव उपयोग के ऊपर एक प्रकार से साम्य हो जाता है। कर्मों की ओर भावों की ओर, फल की ओर हमारा उपयोग जाता है तो हम उससे भावित होते हैं, हम उस ओर दृष्टि नहीं रखेंगे, शान्त रहेंगे तो अपने आप सब शान्त हो जायेगा।

जिज्ञासा—माध्यस्थ भावं विपरीत वृत्तौ...इसे जीवन में कैसे अमल कर सकते हैं?

समाधान—यह तो ऑर्डर है आगम का, यह आगम की आज्ञा है कि सभी जीवों के प्रति मैत्री भाव, गुणियों के प्रति प्रमोद भाव रखना है तथा क्लिष्टेषु अर्थात् जो तकलीफ में परेशानी में पड़े हुए हैं उनके प्रति करुणा भाव रखना है और सुनो—विपरीत वृत्ति वाले भी आयेंगे, रास्ते में वे भी पड़ेंगे, सभी प्रकार की बातें रास्ते में आयेंगी तो उनके प्रति क्या करना? तो होशियार...न राग करना न द्वेष करना। ऊपर की तीन बातें तो सभी स्वीकार कर सकते हैं लेकिन..यह ऐसा व्यक्ति है, इसका बिल्कुल टेढ़ा स्वभाव है, विपरीत स्वभाव वाला है उसके लिये तो अच्छा जवाब दे देना चाहिए। क्या जवाब देंगे बताओ? क्या द्वेष करोगे? वह मानेगा तो है नहीं, उसके निमित्त से तुम अपने परिणामों को और बिगाड़ लोगे? सबका सुधार होना चाहिए ऐसा सोचता होगा लेकिन हमारा तो स्वभाव वीतराग विज्ञान है इसलिए उसके प्रति भी भला ही सोचना चाहिए। ऐसा करने से सामने वाला तो यही सोचेगा कि मैं जो कर रहा हूँ वह अच्छा कर रहा हूँ अन्यथा वह मेरे प्रति भला क्यों सोच रहा है? यह बिल्कुल ठीक है तो अब क्या करोगे? आप ही उसके समर्थक हो जाओगे। माध्यस्थ भाव...इसका अर्थ क्या है? दोनों नाव में एक-एक पैर रख लो यह माध्यस्थ भाव है क्या? नहीं...तो फिर क्या है? पक्षपात का अभाव, कोई पान नहीं करना दृष्टिपात भी नहीं करना, उसकी चर्चा भी नहीं करना। दुर्जनों के बारे में चर्चा करना भी दुर्जनों के लिये थोड़ा-सा सपोर्ट देना है अर्थात् सपोर्ट देने का श्रेय प्राप्त करना है। **किरातार्जुनीयं** एक काव्य है उसमें यह कहा है—दुर्जनों की प्रशंसा तो नहीं करना लेकिन उसकी चर्चा करना भी उनके लिये सपोर्ट मिलने जैसा है इसलिए उस विषय में न निंदा-न प्रशंसा...। महाराज! यह तो बहुत कठिन है..तो किसने कहा कि सरल है, माध्यस्थ भाव रखने पर लोग तो हमें दोषी कहेंगे, यह तो निर्मोही पक्षपाती हैं..ऐसा ही कहेंगे...सब बोलना ही बंद कर देंगे, बताओ अब क्या करोगे? बोलोगे तो क्या बोलोगे? या तो प्रशंसा रूप में या निंदा रूप में, आलोचना के रूप में बोलोगे इन दोनों रूप बोलेंगे तो परिणाम बिगाड़ गये तो क्या करोगे? इसलिए मध्यस्थ भाव रखोगे तभी आपका काम चलेगा नहीं तो नहीं।

दृष्टान्त—आप रास्ते से जा रहे हैं और चौराहा आ गया तीन-चार रास्ते फूट रहे हैं इनमें से जिन रास्तों पर लोग स्वागत को खड़े हैं उन तीन रास्तों पर तो नहीं जाना है तो अब आप क्या करोगे? जहाँ पर नहीं जाना है उस ओर आप पीठ तो करेंगे ही और जिस ओर जाना है उस ओर कदम

बढ़ायेंगे, फिर वे आपके बारे में कई बातें करेंगे कि आप पक्षपात कर रहे हैं आप हम लोगों से बिलकुल नाराज हैं आदि तो फिर अब क्या करोगे? या तो आश्वासन दे दो...जिस ओर आप नहीं गये उस ओर आपकी नाराजगी नहीं लेकिन राजी नहीं होने से लोग यह मीमांसा कर लेते हैं कि—हाँ, बिल्कुल यह हमसे नाराज हैं। तो प्रवृत्ति में बहुत कठिनाई होती है—किसको नाराज करना है और किस-किसको राजी करना...। रास्ते के प्रति क्या राजी और क्या नाराजगी ? लेकिन व्यवहार में यही दिखता है।

अतिदुर्लभ है माध्यस्थ भाव—हाँ...तो माध्यस्थ भाव रखना बहुत कठिन है...सुनना तो पड़ता है, सुनना तो चाहिए...लेकिन उसमें भी उद्वेलित हो जाते हैं तो यह गलत है। उसको ऐसा अनुभव होना चाहिए कि हमारी उसके प्रति राग की परिणति है अर्थात् न हम चाह रहे हैं और न ही द्वेष परिणति को विषय बना रहे हैं..तो संभव है उससे उसको अपनी गलती समझ में आ सकती है। मोक्षमार्ग ऐसा ही है...उपेक्षाभाव में तो कोई भी प्रवृत्ति होती ही नहीं, माध्यस्थ भाव में तो एक चुनाव रहता है। हाँ, छटनी करते हुए भी उसके बारे में कोई भी परिणति नहीं, प्रतिक्रिया नहीं...यदि करुणा करते हैं तो गड़बड़...कर्म से तो सामने वाला पिटा ही है और करुणा करते जाओ तो इससे परिणति और गड़बड़ होगी...अच्छा-बुरा कुछ नहीं करो। वहाँ तो करुणा भी हो रही तथा **गुणिषु प्रमोदं** भी हो रहा है। सामान्य रूप से मैत्री रखना यह तो ठीक है...सामने वाला किसी भी प्रकार से सपोर्ट चाहता ही है और हम इन तीनों में से कहीं भी फिट हो जायें अर्थात् या तो कारुण्य भाव या प्रमोदभाव, मैत्रीभाव आपको रखना चाहिए। कितने गुण हैं हमारे पास? स्वयं भीतर अपने में देखो। सामने वाला आपकी पिटाई कर सकता है कि यही तो पक्षपात है...रोज जोर-जोर से सामायिक पाठ में पढ़ते हैं **सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं**...हमारे जैसा इतना बड़ा व्यक्तित्व आकर खड़ा है फिर भी आपको कोई गुण नहीं दिखते हैं इसका अर्थ है—आप पक्षपात से पूर्ण हैं, आपके पास भरपूर पक्षपात है अब क्या करोगे? प्रवृत्ति के समय पर जब छटनी होती है उस समय किसी भी प्रकार से आपको उद्वेलित करने का वातावरण मिल सकता है और मिलता है, नहीं भी मिले तो आप महसूस तो अवश्य करोगे..सामने वाला करे या न करे लेकिन आपको स्वयं में कुछ तो महसूस होगा कि मैंने इसके साथ तो बोल दिया और इनके साथ नहीं बोला-अब कैसा होगा? इसलिए व्यवहार बहुत कठिन है निश्चय बहुत सरल है।

पञ्चेन्द्रिय के सुख असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय को भी उपलब्ध होते हैं लेकिन संज्ञी पञ्चेन्द्रिय का मामला बड़ा गड़बड़ है क्योंकि उनके पास मन का विषय भी आ जाता है। मन का विषय आ जाता है तो पञ्चेन्द्रिय के विषय कोई मौलिकता नहीं रखते। मन का विषय इतना पॉवरफुल होता है। इसी में सब गड़बड़ घोटाला हो जाता है। एक के लिये अच्छा सिद्ध करना और एक के लिये बुरा कहना यह मन की खुराक है। इससे बचना बहुत कठिन है।

आज तक नरकों में जो नारकी हैं उन्होंने आपस में यह नहीं कहा कि—मक्खी बने थे तब तुमने मेरे साथ ऐसा—ऐसा किया था, जब मच्छर बने थे उस समय ऐसा काटा था, खटमल—बिच्छु की पर्याय में थे उस समय तुमने ऐसा डँक मारा था, मुझे काटा था या जान करके मारा था और हवा बने थे उस समय तुमने गरम—गरम हवा शरीर को पहुँचाई थी—मुझे लू लग गई थी और जब शीत हवा के जीव थे उस समय तुमने निमोनिया कराया था आदि—आदि इस ढंग से आपने एक इन्द्रिय में ऐसा—ऐसा किया था, इस प्रकार का कभी कहा हो ऐसा नरकों के वर्णन में नहीं पढ़ा सुना लेकिन संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव थे उस समय तुमने मुझे वोट न देकर के हमारे प्रतिपक्षी को वोट देकर हमें जलाया था...अब तुम कहाँ भाग सकते हो भागो...देखो...यह है मन की प्रतिज्ञा...असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों के साथ भी आपका व्यवहार रहा होगा लेकिन उसे कभी भी याद नहीं करता है। हे बैल! हे भैंस! आज मैं तुझे मारूँगा यह भाव भी नहीं होता लेकिन यह क्यों होता है? तो आचार्य कहते हैं— मन से बचना बहुत कठिन है। सभी इन्द्रियाँ अपने—अपने कार्य में लग जाती हैं लेकिन मन..नहीं लगता। आँखें बंद हो जाती हैं तो मन कहता है...खोलो...आँखें। चिपक जाये तो पानी लगा लो...यह मन की माँग बनी ही रहती है... मन की माँग के कारण गवर्मेन्ट कंगाल हो गई है...क्या—क्या पूर्ति करें प्रत्येक में मन ही कार्य करता है कहते हैं यह समयसार बहुत अच्छा लगता है लेकिन समयसार को जीवन में अमल करना अच्छा लगना चाहिए। यदि अभी भी पञ्चेन्द्रिय व मन के विषयों में आपका आत्मतत्त्व है तो समझ लो...अब इसके आगे समयसार और कुछ कहने वाला नहीं है।

उत्थानिका—अब निर्विचिकित्सा अंग का लक्षण बताते हैं—

जो ण करेदि दुगुच्छं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं।

सो खलु णिव्विदिगिंछो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२४६॥

अन्वयार्थ—(जो चेदा) जो आत्मा (सव्वेसिमेव) सभी (धम्माणं) धर्मों के प्रति (वस्तु धर्मों में) (दुगुच्छं) जुगुप्सा (ग्लानि) (ण करेदि) नहीं करता (सो खलु) उसे निश्चय से (णिव्विदिगिंछो) विचिकित्सा दोष रहित (सम्मादिट्ठी) सम्यग्दृष्टि (मुणेदव्वो) जानना चाहिए।

अर्थ—जो जीव सभी वस्तुओं के धर्मों में ग्लानि नहीं करता है वह अवश्य ही विचिकित्सा दोष से रहित सम्यग्दृष्टि मानने योग्य है।

कोई घृणास्पद नहीं जग में पदार्थ,
सारे सदा परिणामें निज में यथार्थ।
ज्ञानी न ग्लानि करते मुनि हो किसी से,
धारे तृतीय दृग अंग तभी रुची से ॥२४६॥

व्याख्या—सम्यग्दृष्टि जुगुप्सा रहित होता है—जो जीव सभी वस्तुओं के धर्मों में ग्लानि नहीं करता है वह अवश्य ही विचिकित्सा दोष से रहित सम्यग्दृष्टि मानने योग्य है। किसके प्रति जुगुप्सा?

सव्वेसिं धम्माणं... समस्त द्रव्यों के जितने भी धर्म हैं उनके प्रति किसी भी प्रकार से जुगुप्सा, दुगुच्छा, नाक सिकोड़ना जिसे बोलते हैं यह नहीं करता। एक वस्तु को देखकर नाक फुला ले और एक वस्तु को देखकर नाक सिकोड़ ले...ऐसा नहीं। देखो! रास्ते से चल रहे हैं, सामने गंदगी पड़ी है, दुर्गन्धि आ रही है तो नाक पकड़ ले या देखने में आ जाये तो एकदम थूक दें...यह सब क्रियायें होती हैं। ये क्रियायें बताती हैं कि भीतर से उसके प्रति जुगुप्सा ग्लानि है अन्यथा थूक बाहर आ ही नहीं सकता और नाक मरोड़ ली है या बंद कर ली है इसका मतलब भीतर बैचेनी हुई है तो आचार्य कहते हैं—वस्तु का यह स्वरूप है। गन्ध गुण है उसके दो भेद हैं—दुर्गन्ध और सुगन्ध। तो गन्ध गुण इन दोनों पर्यायों का स्रोत है, आधार है। उस आधारभूत गन्ध गुण में से यह पर्याय निकलेगी यह निश्चित है। तो फिर सुगन्ध आने पर नाक फूलना और दुर्गन्ध आ जाये तो नाक सिकुड़ना यह क्यों? यदि सिकुड़ती है तो दोनों में सिकुड़ना चाहिए लेकिन ऐसा नहीं होता...तो इसका अर्थ हुआ कुछ न कुछ जुगुप्सा तो है फिर वस्तु स्वरूप को आपने कहाँ पकड़ा? इसलिए आचार्य कहते हैं—राग-द्वेष करने वाला वस्तु तत्त्व को नहीं जान पाता है अर्थात् वस्तु के स्वरूप तक उसका प्रवेश है ही नहीं, यदि प्रवेश हो जाता तो फिर यह चुनाव यह छटनी नहीं करता। यह हर्ष-विषाद की प्रवृत्ति क्यों है? क्या इससे श्रावक बच पाता है? नहीं, वह प्रतिदिन दो बार स्नान करता है, यहाँ तक कि एक बार भोजन करने वाले भी दो बार स्नान करते दिखते हैं। क्यों? क्योंकि पसीना आ रहा है तो ग्लानि हो रही है। शिक्षाव्रत में कहा है कि यदि कोई अष्टमी, चतुर्दशी उपवास करता है तो **स्नानांजननस्याना-मुपवासे परिहृतिं कुर्यात्...** स्नान और अंजन इत्यादि का भी व्रती श्रावक को परित्याग करना चाहिए। भोजन, वाहन, पान इत्यादि का तो त्याग करता ही है लेकिन स्नान-अंजन आदि का भी त्याग होता है। नासिका से उस दिन भी सूँघते हैं कि नहीं? तीन प्रकार से तम्बाकू का प्रयोग होता है पीना, खाना और सूँघना। मंजन भी होता है तो यह खाने में ही आ जाता है। मुँह में डाल कर लेते हैं तो वह खाने में आ गया, पीना और सूँघना स्पष्ट है। कोई भीतर ले लेते हैं और कोई नहीं लेता है लेकिन इस प्रकार के मंजन किये बिना उसे चैन नहीं पड़ती है ऐसा क्यों करता है? तो आचार्य कहते हैं—वह उस द्रव्य से प्रभावित हुआ है, उसके गुण से प्रभावित नहीं हुआ है किन्तु पर्याय से प्रभावित हो गया है। ध्यान रखना—नासिका का विषय गन्ध गुण नहीं बनता है, इसलिए आचार्यों का कहना है कि—गुण हमेशा-हमेशा अमूर्तिक होते हैं।

जिज्ञासा—प्रश्न उठता है मूर्तिक द्रव्य के भी गुण अमूर्तिक कैसे?

समाधान—क्योंकि वे इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करने में नहीं आते हैं। स्पर्श आदि जो भी इन्द्रिय के विषय बनते हैं वे सभी पर्याय रूप से बनते हैं और इस समयसार में प्रत्येक पर्याय के साथ समता रखने को कहा है। दुगुच्छा अर्थात् जुगुप्सा नहीं करना चाहिए लेकिन इससे तो श्रावक बच नहीं सकता है। पहले हमने कहा था—गुण तो वैसे अमूर्तिक हैं क्योंकि इन्द्रियों के विषय नहीं बनते हैं और पर्यायों की अपेक्षा भी मूर्तामूर्तों की कल्पना होती है। न ही गुण इन्द्रिय का विषय बनता है, न ही द्रव्य बनता

है किन्तु द्रव्य गुणात्मक जो अर्थ है, पदार्थ है वह उसको ही विषय बनाता है। तत्त्वार्थसूत्र में अर्थस्य कहा है। पाँच इन्द्रियों का विषय जो बनेगा वह मूर्त ही बनेगा, गुण इसका विषय नहीं बनता है। गुण की ओर देखते हैं तो प्रभावित नहीं हो सकते, प्रभावित तो पर्यायों से ही होता है। ध्यान रखना—द्रव्य और गुण में कभी रागद्वेष नहीं होते किन्तु जब कभी भी रागद्वेष होंगे तो पर्याय ही आधार बनेगी। मूर्त का अर्थ यहाँ इन्द्रियों से पकड़ में आने रूप स्वीकार किया है। इन्द्रिय के विषय मूर्त ही होते हैं अमूर्त नहीं। गुण यदि विषय होता तो जुगुप्सा की बात ही नहीं हो पाती। हाँ, तो इन्द्रियों के विषय केवल पर्यायें होती हैं, गुण नहीं होते हैं किन्तु द्रव्य और गुण को छोड़कर पर्यायें नहीं होती हैं। अतः आप उन्हें एक ही समझ लेते हैं कि इसमें ऐसा हो गया लेकिन ऐसा नहीं है। “अमूर्तेषु गुणेषु इन्द्रिय व्यापारः न भवति तथा गुणास्तु अमूर्ता...” यह विषय आपको सर्वार्थसिद्धि के प्रथम अध्याय में ‘अर्थस्य’ इस सूत्र की टीका में ‘आचार्य पूज्यपाद स्वामी’ ने उक्त विषय को स्पष्ट करते हुए एक प्रसंग दिया है कि—“केचित्प्रवादिनो मन्यन्ते रूपादयो गुणा एव इन्द्रियैः संनिकृष्यन्ते तेनैतेषामेव ग्रहणमिति। तदयुक्तम्, न हि ते रूपादयो गुणा अमूर्ता इन्द्रिय सन्निकर्षमापद्यन्ते।” अर्थात् कितने ही प्रवादी मानते हैं कि रूपादिक गुण ही इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं अतः उन्हीं का ग्रहण होता है किन्तु उनका ऐसा मानना ठीक नहीं है क्योंकि वे रूपादिक गुण अमूर्त हैं अतः उनका इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता।

शंका—यदि ऐसा है तो मैंने रूप देखा, मैंने गन्ध को सूँघा, यह व्यवहार नहीं हो सकता, किन्तु होता अवश्य है सो इसका क्या कारण है?

समाधान—जो पर्यायों को प्राप्त होता है या पर्यायों के द्वारा जो प्राप्त किया जाता है वह अर्थ है। इसके अनुसार अर्थ का तात्पर्य द्रव्य ठहरता है। उसका इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होने पर चूँकि रूपादिक उससे अभिन्न है, अतः रूपादिकों में भी ऐसा व्यवहार बन जाता है कि “मैंने रूप देखा, मैंने गन्ध को सूँघा”। इससे नैयायिक, वैशेषिकों के इस मत का खण्डन हो जाता है कि रूपादिक गुण इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं।

अमूर्त क्यों कहा? क्योंकि वे गुण इन्द्रियों से पकड़ में नहीं आते, उसके बिना भी नहीं आते। यह भी बात है। आप वर्ण गुण को विषय नहीं बनाते हैं किन्तु पीला, सफेद आदि को विषय बनाते हैं जो कि वर्ण गुण नहीं है, वर्ण की पर्यायें हैं। इन्द्रिय व्यापार से हमारी गति केवल पर्याय तक ही होती है। उन्हीं के माध्यम से चूँकि हमारा मन इन्द्रिय विषयों से संस्कारित रहता है, इसलिए इर्द-गिर्द उन्हीं की ओर वह जाता रहता है इसके अलावा शुद्ध ओरीजनल जो तत्त्व गुण है वह इन्द्रियों का विषय ही नहीं बनता है इसलिए बार-बार मन को समझाना पड़ता है, इन्द्रियों को समझाने का क्या मतलब? आगे सर्व विशुद्ध अधिकार में कहेंगे—असुहो-सुहो व गंधो..ण य एव विणिग्गहिदुं घाण विसयमागदं गंधं। अर्थात् स्पर्श-रस-गन्ध-चक्षु आदि के जो विषय हैं वे सारे के सारे आपको

कभी बाध्य नहीं करते हैं कि मुझे छुओ, मुझे चखो, मुझे सूँघो, मुझे देखो या बुद्धि का विषय बना लो..ऐसा नहीं कहते। पाँच इन्द्रिय, बुद्धि, द्रव्य, गुण का विषय आठ-दस गाथाओं में वहाँ बहुत अच्छा वर्णन करेंगे। इन्द्रिय आदि को विषय बनाना किन्तु पाँच इन्द्रिय के विषय आदि कभी आपको हठात् यह नहीं कहते हैं कि मुझे जानो, सुनो, छुओ आदि-आदि। इन्द्रियों के द्वारा हम इसे पकड़ नहीं सकते, उनके ऊपर हठात् नहीं कर सकते...हाँ, मात्र उन्हें ज्ञान का विषय बनाया जा सकता है लेकिन आप उनके स्वामी बनना चाहते हैं या उसे अधिकार में रखना या बेचना चाहते हैं यह सब अज्ञान की बात है। आप स्मृति में भले ही उसे विषय रूप में रखो फिर भी उसका स्वतंत्र परिणामन हो रहा है। जिस पदार्थ का आपको दुर्गन्ध के रूप में परिचय प्राप्त हुआ है वही पदार्थ सुगन्ध रूप में भी परिवर्तित हो सकता है लेकिन आपके मन में तो यही आस्था बनी है कि वह तो दुर्गन्धित है तो पदार्थ में कभी दुर्गन्ध-कभी सुगन्ध हो सकती है, फिर भी दोनों में समचित्त होना ही निर्जुगुप्सा है तो स्नान करना यह भी एक प्रकार से घृणा को सहन नहीं करने का प्रतिकार स्वरूप कार्य है। इसमें भी पहले चूर्ण के द्वारा स्नान करते हैं फिर बाद में जल स्नान होता है। जैसे-कुछ लोग भगवान् के लिये भिन्न-भिन्न स्नान अभिषेक दूध से, चन्दन से, घी से, जल से करते हैं उसी प्रकार पहले तेल स्नान फिर सनलाईट आदि साबुन स्नान उसके उपरान्त पानी की धारा छोड़ी जाती है उसमें भी एक कलशा से काम नहीं होता है। जीवन्धरकुमार का चरित्र क्षत्रचूड़ामणि या जीवन्धर-चम्पू अथवा गद्य-चिन्तामणि है उसमें यह कथा मिलती है कि-

दृष्टान्त-दो कन्याओं के बीच में संघर्ष हुआ चूर्ण को लेकर के, वे साबुन के स्थान पर सुगन्धित द्रव्य को लगाकर स्नान करती थीं तो वे दोनों कहती हैं कि हमारा चूर्ण बहुत अच्छा है, देखो-सूँघो नाक से कि कैसी गन्ध आती है? आप कितने भी पढ़ते चले जाओ लेकिन जब तक नासिका के माध्यम से दुर्गन्ध-सुगन्ध में भेद किया जा रहा है तब तक समझ लेना कि वह समयसार से दूर है। समयसार का अध्ययन करने का अर्थ केवल शाब्दिक पढ़ना नहीं किन्तु वह तथ्यात्मक होना चाहिए। अध्ययन=अधि+अयनं। अधि यानि **निकट रूपेण, अयनं-गमनं-परिणमनं-संवेदनं इति अध्ययनं**। केवल शास्त्र में शब्दों में माइंड चला जाना अध्ययन नहीं है। अध्ययन का अर्थ शोधात्मक अध्ययन होता है मात्र बोधात्मक नहीं। शास्त्र के शब्दों से ऊपर उठकर जिनके बारे में कहा जा रहा है उस तक पहुँचना यही वास्तविक अध्ययन कहलाता है। अभ्यास= अभि+आस अर्थात् **अभि-निकटरूपेण आस** रहना यह अभ्यास कहलाता है यह भी इसी प्रकार होता है। इसी प्रकार मनन भी मन के माध्यम से होता है। मात्र पढ़ने से नहीं। किन्तु पढ़ने के उपरान्त चिंतन-मनन होता है वह अपने आप में अलग ही होता है, उनकी साधना कितनी अनूठी है देख लो...ऐसा कहते हैं। तो इस प्रकार से आपने आत्मा के बारे में पढ़ा-लिखा, सुना-बोला है किन्तु जब उसके साथ आपका सम्पर्क हो जाता है तो फिर उस समय ये बातें नहीं होती हैं। तो इन दोनों पक्षों से रहित होना चाहिए।

जुगुप्सा का अर्थ—कथंचित् द्वेष भी होता है इसलिए तो जल्दी-जल्दी धो लो, जब तक हाथ साफ नहीं हों तब तक मन प्रसन्न नहीं होता है..आप स्नान करने के उपरान्त ही प्रसन्नता का अनुभव करते हैं और स्नान के बिना अप्रसन्न रहते हैं। स्नान के बिना किसी-किसी की तो भूख ही नहीं खुलती है बताते हैं..तो ऐसा है क्या? क्या ताले में बंद है आपकी भूख? स्नान के द्वारा वह ताला खुल जाता है क्या? हाँ, महाराज! उदीरणा हो जाती है इसलिए तो हम कह रहे हैं कि जो व्रती हैं वे कम से कम अष्टमी, चतुर्दशी उपवास के दिन अस्नान व्रत कर लें...यह शिक्षाव्रत है—उपवास कर रहे हो तो कम से कम अस्नान तो रखो। कई लोग पूछते हैं—उपवास के दिन आहार दे सकते हैं क्या? हमें समझ में नहीं आता, भैया! आठ दिन में तो एक उपवास आता है उस दिन तो कम से कम स्नान, अंजन लेप आदि से रहित होकर बैठ जाओ, देख तो लो क्या होता है? महाराज लोग बिना स्नान के चौबीस घंटा कैसे रहते हैं यह अध्ययन/ प्रयोग हो जायेगा। यही तो शिक्षा मिलती है इससे, इस दिन पूजा आदि की भी छुट्टी है इससे भगवान् और खुश हो जायेंगे। तो फिर क्या करें? यह पूछोगे तो बता देंगे कि दिन कैसे काँटे? दिन को नहीं काटना कर्म को काटना है। कई लोग दस उपवास तक पहुँच जाते हैं कर लेते हैं लेकिन वे स्नान का त्याग नहीं करते हैं। देखो उपवास करेंगे तो उस दिन...**भोजन वाहन शयन स्नानपवित्रांगकुसुमेषु, ताम्बूल वसन भूषण मन्मथ संगीत गीतेषु...**ये सभी छूट जायेंगे और मुनिवत् चर्या हो जाती है। शिक्षाव्रत—अर्थात् जिससे मुनि बनने की शिक्षा मिलती हो। आज ऐसे श्रावक नहीं मिलते हैं जो उपवास तो करते हैं लेकिन स्नान नहीं करते हों। वे तो आहार भी देते हैं, पूजन भी करेंगे आदि-आदि सब करेंगे।

उपवास के दिन का सदुपयोग—उपवास का अर्थ है—चारों प्रकार के आहार का त्याग साथ-साथ में आरंभ-परिग्रह के त्याग के बारे में कभी सोचते ही नहीं। कई-कई लोग तो उसी दिन अच्छे ढंग से चार-पाँच मन गेहूँ लेकर छानेंगे, धोएँगे, कूटेंगे आदि-आदि कार्य करते हैं क्योंकि दिन भर और कुछ तो करना नहीं है और कह देते हैं कि यह तो क्रियाकोश है। आहार देने का विकल्प भी रहता है जबकि **रत्नकरण्डक श्रावकाचार** में

पञ्चानां पापानामलंक्रियारम्भगन्धपुष्याणाम्।

स्नानाञ्जननस्याना-मुपवासे परिहृतिं कुर्यात् ॥१०७॥

ऐसा कहा है **तथा यदुपोष्यारम्भमाचरति** यदि शब्द आया है। इसी प्रकार छहढाला में भी कहा है— **पाप तज प्रोषध धरिये...**अर्थात् प्रोषधोपवास के दिन पाप का त्याग करना अनिवार्य है। पाप क्या है? तो आरंभ आदि के कार्य आदि सभी पाप में लिये हैं। पर्व के दिनों में **प्रोषध+उपवास** करते हैं तो उपवास के दिन चार भुक्ति का त्याग होता है एक प्रोषधोपवास में तो किसी प्रकार का आरंभ वगैरह भी नहीं करते यह कहा है क्योंकि ऐसा करने से मुनि और आर्यिका किस ढंग से स्नान आदि तथा आरंभादि के बिना रहते हैं यह शिक्षा मिल जाती है। मुनि महाराज तो प्रतिदिन

निष्परिग्रहता, निरारम्भता का अनुभव करते रहते हैं अतः दुर्गुच्छा की बात ही नहीं होती। किसी ने पूछा था—**महाराज दंत मंजन क्यों नहीं करते?** तो ग्लानि जीतने के लिये एवं अहिंसा महाव्रत के पालन के लिये नहीं करते हैं। देखो! वहाँ अंजन का त्याग कहा है तो मंजन-अंजन व्यंजन...सबका त्याग। श्रावक व्यंजन का तो त्याग कर देते हैं लेकिन मंजन-अंजन का त्याग नहीं करते हैं जबकि सभी का (अंजन, मंजन, व्यंजन) त्याग होना चाहिए। अर्थात् आँखों में अंजनादि भी नहीं डालेंगे, शृंगार भी नहीं करेंगे, फल-फूल इत्यादि का भी प्रयोग नहीं करना..मात्र शांति से बैठो इससे व्रतों की महिमा क्या है? यह ज्ञात हो जाता है। ध्यान रखना यह सब बातें दूसरी प्रतिमा के व्रतों में कही जा रही है, किसी दूसरे की प्रतिमा के बारे में नहीं कहा जा रहा है। प्रत्येक व्रती के पास दो-तीन आदि प्रतिमा हैं। जिसके पास तीसरी प्रतिमा है तो उसके पास उससे पूर्व की दो प्रतिमा भी निश्चित रूप से होती हैं। और जिसने पहली प्रतिमा ली है और पूछता है कि दूसरी प्रतिमा क्या होती है ? तो व्रत प्रतिमा होती है। सोचो! व्रती है कि उपवास के दिन तो कम से कम चौबीस घंटा के लिये शृंगार-आभूषण आदि छोड़कर मुख को साफ या सुवासित नहीं करने से अपने आप ही गंध आने लग जाती है तो भी व्रती उससे ग्लानि नहीं करेगा। कई लोग तो चौबीसों घंटे मुख में सुवासित पदार्थ रखे रहते हैं। भोजन तो दो बार करते हैं वह सुवासित पदार्थ मुख से हटता ही नहीं...वे लोग मुनि कैसे बनेंगे...हमें समझ में नहीं आता। अभी शिक्षा पाओगे तभी तो त्याग करोगे नहीं तो...मुश्किल हो जायेगा। जो अपने लिये इष्ट पदार्थ होते हैं, जिनके बिना काम ही नहीं चलता चक्कर आ जाते हैं तो उसे भी व्यसन कहा जाता है व्यसन का अर्थ क्या है? **वि-विशेष रूपेण, असनं अस्यते इति व्यसनं।** अर्थात् विशेष रूप से खाया-पीया जाता है जिसके बिना चल ही नहीं सकता उसका नाम व्यसन है। इसमें अस् धातु है। यहाँ पर संसार व्यसन दुःख रूप हैं...सब कुछ छोड़ सकता है लेकिन वह व्यसन नहीं छोड़ सकता, छोड़ेगा तो दुःख होगा। शराबी जो होता है वह अन्य पदार्थ में तो दुर्गन्ध का अनुभव करता है लेकिन शराब में कभी भी दुर्गन्ध का अनुभव नहीं करता है क्योंकि उसका वह व्यसन है। नाक में, कान में, मुख में, वही बदबू भरी हुई है फिर भी उसे दुर्गन्ध नहीं आती है। पाँच पापों को पहले रखा है तो उस दिन पाँच पापों का त्याग कर दो फिर व्रती बनो निःशल्य बनकर धर्मध्यान करो। प्रयोग के बिना प्रतिमाओं का, व्रतों का कोई अभ्यास नहीं होता है फिर तो दस प्रतिमा हो तो भी क्या होता है? यही पूछते हैं।

हाँ, तो सभी धर्मों के प्रति ग्लानि (जुगुप्सा) नहीं करना ही निर्जुगुप्सा है इसका जो त्याग करता है उसी को सम्यग्दृष्टि बोलते हैं। अनगार भावना में विशेष यह लिखा है कि मुनि ग्लानि को जीतने के लिए अस्नान व्रत ग्रहण करते हैं। यह बिल्कुल ठीक है, लेकिन वे किसी भी पदार्थ को लेकर ग्लानि नहीं करते हैं अर्थात् संयोग ऐसा नहीं बनाते हैं कि चलाकर बगीचे में जाकर बैठ जायें ताकि यहाँ पर सुगन्धि का प्रवाह मिलेगा...ऐसा नहीं करते। अनगार भावना में यही कहा है कि बगीचे में जाकर नहीं

किन्तु श्मशान में जाकर ध्यान लगाओ। जहाँ कि पूरी-पूरी अरति परीषह की सामग्री मिलेगी, जहाँ पर रूप, रस, गंध, आवाज भी ठीक नहीं है। दिन में अलग तरह की चील वगैरह के घमासान युद्ध की आवाज आती है चील वगैरह शवों के ऊपर झपटते रहते हैं चिल्लाते रहते हैं तथा रात में भूत-पिशाच आदि नाचते हैं, आवाज करते हैं। ध्यान रखना गृहस्थ श्मशान में नहीं जायेगा और जायेगा तो वहाँ से आकर पूर्ण स्नान करेगा। मुनिराज वहाँ जाकर ध्यान में बैठते हैं स्नान नहीं करते फिर भी शुचि हैं क्योंकि रत्नत्रय की साधना कर रहे हैं। चौबीसों घंटा अरति परीषह को सहन कर रहे हैं, इन्द्रिय जय कर रहे हैं। श्रावकों में सुदर्शन सेठ का नाम आता है वे पर्व के दिनों में चतुर्दशी के दिन श्मशान में उपवास के साथ ध्यान लगाते थे। आहार के समय पर नाक में से मल आ जाये तो नहीं पोछेंगे तो सामने लोगों के देखने में भद्दा लगेगा। आपके पास निर्जुगुप्सा गुण है तो उस समय पोछने में ग्लानि आयेगी क्या? नहीं इस गुण का पालन करना चाहिए। कोई कितना भी अपने से खुला हुआ व्यक्ति क्यों न हो फिर भी चौके में जाकर खड़े होकर आहार के समय लज्जा का अनुभव होता ही है, होना चाहिए यही मर्यादा कही जाती है। लोक मर्यादा इसी को बोलते हैं इसका उल्लंघन नहीं कर सकते हैं। करेंगे तो भोजन में गृद्धता भी होगी और फिर तो धूम अंगार दोष भी लग जायेंगे। यह गृद्धता अच्छी नहीं मानी जाती है। **रत्नकरण्डक श्रावकाचार** में निर्जुगुप्सा अंग का वर्णन करते हुए कहा है कि मुनि महाराज स्नान नहीं करते अतः उनके शरीर के ऊपर मैल संगृहीत हो गया तो श्रावक उनके शरीर को देखकर घृणा नहीं करें अन्यथा वे वैय्यावृत्ति भी नहीं कर पायेंगे।

दृष्टान्त—जैसे समझने के लिए छोटा सा लड़का है गोद का, उसने गोद में ही लघु या दीर्घ शंका कर ली तो देखो! माँ कहती है गंदा कहीं का...वह बच्चा तो भागेगा भी नहीं, उठेगा भी नहीं...अब क्या करें? पिताजी आ जाते हैं तो वह कहती है—आप जाओ...यहाँ से और वह माँ सब बातों को गौण करके स्वयं अपने हाथों से संशोधित (साफ) करती है और बच्चे को स्नान कराके दूसरे वस्त्र पहना देती है। उसी प्रकार श्रावक को भी त्यागी-तपस्वी मुनि के साथ इसी ढंग से बालकवत् व्यवहार करना चाहिए तभी उसका निर्विचिकित्सा अंग पलेगा अन्यथा वह कभी भी मुनि, आर्यिका नहीं बन सकेगा, क्योंकि ग्लानि को नहीं जीतेगा तो मुनि कैसे बनेगा। दूसरी बात जो व्यक्ति बौद्धिक वैय्यावृत्ति तो करना चाहता है लेकिन शारीरिक वैय्यावृत्ति के लिए तैयार नहीं होता उसके लिए भी यही कहा है कि वह ग्लानि को जीत नहीं सकेगा। एक मुनि दूसरे मुनि की वैय्यावृत्ति करता है वह भी ग्लानि को जीतेगा तभी कर पाएगा, नहीं तो एक हाथ से नाक पकड़ेगा और दूसरे हाथ से पैर दबाये तो वैय्यावृत्ति संभव ही नहीं हो सकती।

दृष्टान्त—डॉक्टर भी वही बनता है जो पहले ग्लानि को जीतता है, वही पास होता है उससे पहले यही पूछा जाता है, नहीं तो M.B.B.S. नहीं कर सकेगा M.D. तो बहुत दूर की बात है। वहाँ अस्थि पंजर को उसे पहले दिखाते हैं, सड़ा-गला मांस आदि जो पदार्थ हैं उसी को पहले दिखाते हैं।

पहले स्लाइड बनाना सीखो। चिकित्सा करने वाला चिकित्सक तभी बनता है जब वह ग्लानि को जीत लेता है। जो ग्लानि जीत लेता है फिर उसके दिमाग में कभी ग्लानि नहीं आ सकती और यदि आ गयी तो उसे आगे बढ़ाते ही नहीं...इसलिए पहले प्रैक्टिकल रखा है—प्रयोग कीजिए आप...और वह प्रशिक्षण देने वाला देखता रहता है कि कौन? कैसा? कर रहा है। केवल थ्योरी नहीं...वह डॉक्टर जब तक निर्विकल्प नहीं होता है तब तक ऑपरेशन वगैरह भी नहीं करता, रोग का जजमेंट नहीं दे सकता और निदान भी नहीं दे सकता। जब...उनकी यह स्थिति है तो आप सोचो मुनि श्रमण की बात कर रहे हो, उसे तो ग्लानि रहित होना ही चाहिए। माँ का अपना लड़का है अतः साफ करती है लेकिन दूसरे के बालक को देख ले तो नाक पकड़ेगी ऐसा नहीं होना चाहिए। यहाँ श्रमण के लिए कह रहे हैं चाहे स्वयं का शरीर हो या दूसरे का हो, उसमें किसी प्रकार की ग्लानि नहीं होना चाहिए। श्मशान में बैठकर ध्यान लगाना...यह सबसे उत्तम उदाहरण है श्मशान में सभी प्रकार के घृणित पदार्थ होते हुए भी वहीं पर श्वासन लगाकर, पद्मासन लगाकर गुप्ति का पालन करते हैं। आपने पुराणों में पढ़ा होगा—तुंगारी ने जो लाक्षादि तेल भेजा था मुनिराज के लिए वे मुनिराज श्मशान में जाकर ध्यान कर रहे थे, ग्लानि को जीतते हुए गुप्तियों का पालन कर रहे थे तो किसी अज्ञानी ने घोर उपसर्ग किया था। त्रिगुप्ति से सहज टरें तैं...ये कहना तो सरल है, आसान है लेकिन जब जीवन में इसका प्रयोग करेंगे तब ज्ञात होगा कि क्या रूप है इसका? श्रमण बनने के उपरान्त सब ठीक हो जाते हैं और आप उससे बचना चाहते हैं। दिमाग में यह बात याद भी आ जाये तो उससे एलर्जी हो जाती है ऐसा कहते हैं। मानसिकता इस ढंग से बन जाती है तो ऐसा हो जाता है। गंध की याद आते ही ग्लानि हो जाती है। आचार्य कहते हैं...यह कोई भी ज्ञान हो चाहे स्मृति, प्रत्यभिज्ञान हो या प्रत्यक्ष (एकदेश) ज्ञान हो, कुछ भी हो सभी में ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध होना चाहिए तब कहीं श्रामण्य पलता है, नहीं तो नहीं। हाँ, कुछ अपवाद ऐसे हैं जो लोक मर्यादा को लेकर कहे जाते हैं।

लोक मर्यादा में जैसे—गृहस्थ श्मशान में ध्यान लगाने जायेगा तो सवस्त्र ही जायेगा, फिर घर जाकर स्नान करेगा, नहीं तो उसकी शुद्धि नहीं मानी जायेगी यह निश्चित है। लेकिन मुनि महाराज के लिए ऐसा नहीं है। वे श्मशान से आकर हाथ-पैरों की शुद्धि करके आहार के लिए निकल जाते हैं। अब लौकिक दृष्टि से देखो तो—कोई व्रती है बीमार हो गया तो वह स्नान नहीं कर सकता क्योंकि स्नान करेंगे तो दवाई लागू नहीं होगी। तो वह बिना स्नान के ही दवाई लेगा। इसी का नाम है शक्यानुष्ठान अर्थात् शक्य का ही अनुष्ठान होता है अशक्य का नहीं। इसी प्रकार प्रसूति काल में बिना स्नान के सब चलता है...इससे कोई बच नहीं सकता। बाजार से आप आते हो तो पहले वस्त्र बदलिए फिर आइए। दूसरी बात आप स्नान करके आये हैं तो भी ऑपरेशन थियेटर में प्रवेश नहीं कर सकते, साफ वस्त्र पहने हैं तो भी वहाँ पहले वस्त्र बदलवाते हैं। वहाँ के वस्त्रों को भी आप छू नहीं सकते, उन्हें हाथ नहीं लगा सकते। कैंची के माध्यम से निकालकर देते हैं। इसका तात्पर्य? स्पर्शजन्य दोष

से बचने के लिए यह किया जाता है, यह मर्यादा है। वहाँ पर जो ऑपरेशन कर रहे हैं उनके द्वारा भीतर कोई गलत तत्त्व चला गया तो ऑपरेशन फेल हो सकता है। अतः ऑपरेशन में इतनी सावधानी बरती जाती है, क्योंकि हाथों के माध्यम से भी इनफेक्शन हो सकता है, अतः कैंची से ही सब वस्तुएँ उठाते हैं।

इस प्रकार जो चेतन आत्मा परमात्म तत्त्व की भावना के बल से सभी वस्तुओं के स्वभावों के प्रति जुगुप्सा, ग्लानि, निन्दा या विचिकित्सा नहीं करता, दुर्गन्ध के विषय में ग्लानि रहित सम्यग्दृष्टि माना गया है। उसके पर पदार्थों के द्वेष निमित्तक बन्ध नहीं होता किन्तु पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा ही होती है।

उत्थानिका—अब आगे निश्चय अमूढदृष्टि अंग का वर्णन करते हैं—

जो हवदि असम्मूढो चेदा सव्वेसु कम्मभावेसु।

सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२४७॥

अन्वयार्थ—(जो चेदा) जो आत्मा (सव्वेसु) सभी (कम्मभावेसु) कर्म के उदय रूप भावों में (असम्मूढो) अमूढ अर्थात् यथार्थदृष्टि वाला (हवदि) होता है (सो) उसे (खलु) निश्चय से (अमूढदिट्ठी) अमूढदृष्टि (सम्मादिट्ठी) सम्यग्दृष्टि (मुणेदव्वो) जानना चाहिए।

अर्थ—जो चेतन आत्मा सर्व कर्मों के उदयरूप भावों में मूढ़ता, मोह, ममता धारण नहीं करता वह वास्तव में अमूढदृष्टि अंग का धारी सम्यग्दृष्टि मानने योग्य है।

ना मुग्ध मूढ मुनि हो जग वस्तुओं में,

हो लीन आप अपने-अपने गुणों में।

वे ही महान समदृष्टि अमूढदृष्टि,

नासाग्र-दृष्टि रख नासत कर्म-सृष्टि ॥२४७॥

व्याख्या—सम्यग्दृष्टि मोह, ममता, मूढ़ता से रहित होता है—जो चेतन आत्मा अपनी शुद्धात्मा में ही श्रद्धान ज्ञान और अपने आचरण रूप निश्चय रत्नत्रयमय भावना का जो बल है, उससे समाधि परिणामों से शुभ-अशुभ कर्म से उपजाये हुए परिणाम स्वरूप बाह्य द्रव्यों के विषयों में सर्वथा असंमूढ होता है अर्थात् मोह-ममता नहीं रखता है वास्तव में वही सम्यग्दृष्टि अमूढदृष्टि अंग का धारी माना जाना चाहिए। इस ज्ञानी जीव के बाह्य पदार्थ में मूढ़ता से होने वाला कर्म बंध नहीं होता किन्तु पूर्वोक्त कर्मों की निर्जरा होती है।

जो चेतन आत्मा सर्वकर्मों के उदय रूप भावों में मूलतः मोह-ममता धारण नहीं करता वह वास्तव में अमूढदृष्टि अंग का धारी मानने योग्य है। जो **चेदा-सम्यग्दृष्टि सव्वेसु कम्मभावेसु** अर्थात् सभी कर्मों में और सभी भावों में अथवा सभी कर्म भावों में **असंमूढो हवदि** अर्थात् मंत्र-मुग्ध नहीं होता और मूढ़ता नहीं करता इसलिए वह अमूढ दृष्टि माना जाता है। सम्यग्दृष्टि के आठ अंगों

का वर्णन **रत्नकरण्डकश्रावकाचार** में भी है। उनमें से चार अंग हमें अपनी आत्मा की ओर आकर्षित करते हैं अतः स्व निमित्तक हैं और चार अंग पर निमित्तक हैं अतः हमें पर की ओर आकृष्ट करते हैं वह व्यवहार सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से कहा है। किन्तु ये चार अंग पर निमित्तक होते हुए भी आत्मा में होते हैं। निश्चय सम्यग्दर्शन में आठों ही अंग एक प्रकार से अपनी ओर आकृष्ट करते हैं, मतलब व्यवहार में कथञ्चित् पराश्रिता आ जाती है किन्तु निश्चय से स्वाश्रित ही होता है, **स्वायत्तो निश्चयः परायत्तो व्यवहारः। स्वायत्तो प्रत्यक्षं परायत्तो परोक्षं** ऐसा कहा है इस प्रकार अध्यात्म ग्रन्थों में निश्चय और व्यवहार की बात कही है। जब तक प्रवृत्ति मूलक क्रिया करते हैं तब तक वह व्यवहार के अन्तर्गत आ जाती है।

आगे मोक्ष अधिकार में कहेंगे **पडिकमणं, पडिसरणं विसकुंभो और अपडिक्कमणं, अपडिसरणं अमय कुंभो...** ये प्रतिक्रमण आदि आठ प्रकार के विष कुम्भ कहे हैं, क्योंकि ये कर्ता बुद्धि भेद प्रवृत्ति के साथ है और अप्रतिक्रमण आदि आठ अमृत कुंभ हैं क्योंकि ये निर्विकल्प समाधि के लिए भूमिका का काम कर जाते हैं। उस विवक्षा में यहाँ विष कुंभ और अमृत कुम्भ की बात कही गई है। जैसे—बारहभावना आदि भाने के बाद ध्यान लग जाता है उसी प्रकार पश्चाताप, प्रतिक्रमण, निन्दा, गर्हा, आलोचना आदि करने से मन एकदम हल्का हो जाता है और ध्यान के पूर्व जिनबिम्ब एवं मंत्र इत्यादि का आधार लेकर चलते हैं तो धारणा हो जाती है और धारणा होने के उपरान्त मन अपने आप ही शान्त हो जाता है। हाँ, इतना ही कर लो तो बहुत है। इसमें भी भेदोपभेद हो जाते हैं, धारणा भी कई प्रकार की होती है। पृथ्वी-धारणा, अग्नि-धारणा, वायु-धारणा, जल-धारणा और तत्त्व-धारणा। मूढ़ता भी कई प्रकार की हो सकती हैं? प्रत्येक वस्तु के प्रति भी मूढ़ता हो सकती है। जैसे—शल्य तीन होती हैं लेकिन **कोहसल्लाए, माणसल्लाए** आदि आठ प्रकार की भी हो जाती हैं। आठ प्रकार की शल्य का वर्णन प्रतिक्रमण पाठ में भी मिलता है। कषाय और शल्य इन दोनों में अगर देखें तो कषाय के भावों में उतना गाढ़ापन नहीं होता जितना शल्य में होता है। उसी प्रकार निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला में भी गाढ़ापन और पतलेपन की अपेक्षा भेद होता है। जो अनेक प्रकार की धारणायें होती हैं और हो सकती हैं। **चेतयितात्मा** इन्द्रिय विषयों में सर्वथा अमूढ़ हो जाता है।

दृष्टान्त—बच्चों को घर में प्रशिक्षण दिया जाता है कि दूसरों के घर जाते हैं तो एकदम किसी वस्तु को देखकर लट्टू नहीं होना चाहिए, थोड़ा धैर्य रखना चाहिए। यह क्या है? ऐसा नहीं पूछते हैं, ऐसे में सामने वाले सोचेंगे कि इनके यहाँ नहीं मिलता होगा इसलिए ऐसा सवाल पूछ रहे हैं। यदि वे हाथ में भी दे दें तो ये कहना चाहिए कि ठीक है ये कोई नई चीज नहीं है ऐसा कह दो, इस प्रकार से यह प्रशिक्षण घर में दिया जाता है और संघ में भी दिया जाता है और देना चाहिए। इससे अपने पद का, धर्म का गौरव बना रहता है अतः किसी चीज को देखकर लट्टू नहीं होना, असंमूढ़ का अर्थ भी यही है कि मुग्ध नहीं होना, प्रभावित नहीं होना, आकर्षित नहीं होना, विस्मित नहीं होना, ये सारे

के सारे शब्द एकार्थवाची हैं।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि विस्मय नहीं करता—एक जगह सुना था कि क्षायिक सम्यग्दृष्टि विस्मित नहीं होता है, आश्चर्यचकित नहीं होता है लेकिन वीतराग सम्यग्दृष्टि और क्षायिक सम्यग्दृष्टि में अन्तर है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि फिर भी कथञ्चित् प्रभावित हो सकता है क्योंकि सराग सम्यग्दृष्टि भी क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है लेकिन जो वीतराग सम्यग्दृष्टि होते हैं, वे निस्तरंग सरोवर के समान मन वाले होते हैं, वे किसी भी प्रकार से प्रभावित नहीं होते, कोई कहे कि कम से कम देव, शास्त्र, गुरु से तो प्रभावित होते होंगे? लेकिन नहीं जो निश्चय सम्यग्दृष्टि होता है वो अपने आप में स्वरूपस्थ होता है, तब उसमें तटस्थता आ जाती है। देव, शास्त्र, गुरु के प्रति प्रभावित होना यह तो प्रवृत्तिपरक क्रिया है। एक बिम्ब को देखा, दूसरे बिम्ब को देखा, एक से प्रभावित होना और दूसरे से प्रभावित नहीं होना, ये तो क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि का लक्षण है, दोनों में अन्तर है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर कहीं ना कहीं थोड़ा बहुत तो अन्तर होता होगा लेकिन जब वह निश्चय सम्यग्दृष्टि अथवा वीतराग सम्यग्दृष्टि हो जाता है तो फिर राग-द्वेष की परिणति से थोड़ा भी प्रभावित नहीं होता है। इसलिए यहाँ **सव्वेसु कम्मभावेसु असंमूढो** ऐसा कहा है, क्योंकि निश्चय रत्नत्रय की भावना के बल से वह अमूढदृष्टि होता है, शुभ हो या अशुभ कर्म हो उससे उत्पन्न जो परिणाम होते हैं, उनमें असंमूढ होता है। जो कर्म जनित भाव हैं, ये सारे के सारे आत्मा से बहिर्भूत हैं भले ही कर्म का उदय अन्तरंग में होता है, फिर भी स्वभाव से तो पृथक् ही हैं, इसलिए चाहे शुभ भाव आ जाये या अशुभ भाव आ जाये जो इनसे प्रभावित नहीं होते, वही असंमूढ सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

दृष्टान्त—अब देखो! जैसे—भरत चक्रवर्ती को यदि निश्चय सम्यग्दर्शन होता तो फिर बाहुबली के प्रति चक्र क्यों चलाते? बाहुबली तो बाद में उसके पहले प्रशस्ति लिखी थी, दूसरे का नाम मिटा करके लिखी, तो दूसरे का नाम मिटाते समय द्वेष आया कि नहीं? उन्होंने कहा— जाओ मंत्री जी। नाम लिखो और मिठाई बाँटो। जब मंत्री ने यहाँ पर आकर कहा, कि पर्वत पर बहुत सारे चक्रवर्ती के नाम लिखे हैं, अब तो आपका नाम लिखने के लिए जगह ही नहीं बची, तो चक्रवर्ती कहता है कि इतनी दूर आये हैं और नाम ही न लिखे, यह कैसे होगा? मंत्री महोदय! हाँ प्रभु, जैसा आप कहो, वैसा ही होगा। क्या करना आप बताइये। चक्रवर्ती कहता है जाओ, एक नाम मिटा दो, यह तो गनीमत है कि एक ही नाम मिटाने को कहा, नहीं तो उधर के सारे के सारे नाम मिटा देते, नाम मिटाते समय उनके भाव कैसे थे? द्वेष के भाव थे कि नहीं? प्रतिकार हुआ कि नहीं, फिर भी निश्चय सम्यग्दृष्टि कहता है कि ये कौन-सी व्यवस्था है, मुझे बताओ? यह तो सम्यग्दर्शन का अतिरेक ही माना जायेगा। तो यह सब आप लोगों के मन की तरंगें हैं। कहते हैं चारित्र मोहनीय के होने से ऐसा हुआ था।

चारित्र मोहनीय में द्वेष तो आ ही जाता है। यदि चारित्र मोहनीय के उदय से है तो बाद में भी तो ऐसा उदय आ सकता है, लेकिन बाद में नहीं आया, उसी समय क्यों आया? तो असंयम की

भूमिका में द्वेष के कारण क्या-क्या नहीं हो सकता? द्वेष के कारण असंयमी दूसरे को भी समाप्त कर सकता है। नाम मिटाने के लिए मंत्री महोदय से कहा-वह राग से मिटायेगा या द्वेष से, प्रेम से मिटायेगा या द्वेष से? भरत चक्रवर्ती ने युग के आदि में युद्ध में छहखण्ड पर विजय प्राप्त कर ली। प्रशस्ति में ऐसा लिखते समय क्या भाव था? जैसे आप लोग प्रशस्ति लिखवाते हैं न, पुत्र के पुत्र...सतभैया के द्वारा...तो इस प्रकार कोई भी रिश्ता बाकी नहीं रहता है और एक वाक्य में पूरे संगमरमर में प्रशस्ति लिखवा देते हैं, तो ये किस भाव से हुआ? जरा कोई देर से आता तो द्वेष के कारण तीर भी चला देते। ये कोई अंडर ग्राउण्ड देव था वह क्रोध में आ गया, तो अन्य देवों ने समझाया, चक्रवर्ती के पास गया, तो उनके पास ऐसी शक्ति रहती है कि जहाँ उजाला नहीं हो, वहाँ धनुष से यूँ एक रेखा खींच देता है, तो उजाला होता चला जाता है। यह क्या है? ये सब धनुष बाण आदि कभी-कभी राग के लिए काम में आते हैं, कभी द्वेष के लिए काम में आते हैं। धनुष बाण द्वेष के प्रतीक हैं बीटोपॉवर... आप शांति से सोचिये कब कैसा परिणाम होता है, इसका रिजल्ट क्या निकलता है, जो गुलामी का काम होता है, वह द्वेष के बिना हो ही नहीं सकता और क्षायिक सम्यग्दर्शन लेकर बैठे हैं तो उससे क्या? प्रथम नरक में क्षायिक सम्यग्दृष्टि हैं और ऊपर प्रथम स्वर्ग से लेकर अंतिम में सर्वार्थसिद्धि में क्षायिक सम्यग्दृष्टि मिलेंगे। प्रारंभ की तीन पृथ्वियों में तीर्थंकर प्रकृति के उम्मीदवार भी हैं, जो अभी नरकों में बैठे हैं, तो पहले उन्होंने क्या किया था? नारायण, प्रतिनारायण का नियोग ही रहता है, शाश्वत वैर रहता है। आज भरत चक्रवर्ती बन गया लेकिन स्वाभिमानि रहेगा। लड़ेगा तो सही, कहेगा तो सही वह आपके परिवार के सदस्य थोड़े ही हैं, वह क्या कर सकता है? श्राप देगा तो देगा, हम क्यों बचें? यह तो बहुत दूर की बात कर रहे हैं, मृगेन्द्र के सामने मृग लड़ रहा है। भक्तामर स्तोत्र में मृग भी नहीं लिखा, मृगी लिखा है। दो पाठ लिखे हैं। मृगी पाठ तो और अच्छा है, क्योंकि मृग जो पुरुष है उसके पास फिर भी थोड़ा अक्कड़पन रहता है किन्तु मृगी में नहीं लेकिन मृगी होकर भी उसे छोड़ूँगी नहीं, ऐसा कहती है, बाजार में पिता जी का नाम बजता है और घर में माँ का। अब यह बताओ कि उनके पास कौन से परिणाम थे? अन्त में बाहुबली के ऊपर क्रोधित हो ही गये, उससे पहले भी कम क्रोधी थोड़े ही थे, साठ हजार वर्ष दिग्विजय में, दूसरों को हानि पहुँचाने में निकाले।

असंयमी कभी भी दूसरे की जीत हो ये कह ही नहीं सकता, असंयम दशा में निश्चित रूप से इस प्रकार के कार्य में क्रोध तो होगा, बाहुबली पर चक्र चलाते समय और अपना नाम लिखते समय द्वेष बुद्धि तो अवश्य रही होगी। जब बाहुबली के पक्ष वाले जय-जयकार लगाते होंगे, तो वे भरत के कानों में सलाई जैसे चुभते होंगे। अपने जय-जयकार के समय प्रसन्नता होती होगी, तो दूसरे की जयकार के समय वे शब्द सलाई जैसे चुभते होंगे और अपनी जयकार के समय ताली बजने लगती है, जय-जयकार के नारे लगने लगते हैं, वो सब अनुकूल जैसे लगते हैं, यह सब रागद्वेष के कारण

ही होता है, दूसरे के लिए मुर्दाबाद करता है और अपने लिए जिंदाबाद कहता है। यह द्वेष हर्ष-विषाद आदि नहीं है तो क्या है? मूढ़ता है यह सब। ये कोई भी गाथा उसमें घटित नहीं होगी।

आचार्यों ने तो यहाँ तक कहा कि **संयमासंयमोपि संयम प्रतिपक्षत्वादसंयम एव...** उसको उस समय हम संयमासंयमी भी नहीं मानते। किसी शास्त्र के आधार से मान भी लें तो जब तक संयम को धारण नहीं करता है, तब तक असंयम के पक्ष में क्या-क्या नहीं कर सकता? अभी उसने चारों प्रकार की भी हिंसा का भी त्याग नहीं किया है तो वह पंचम गुणस्थानवर्ती कहाँ है? महापुरुष तीर्थंकर आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त के बाद पंचम गुणस्थानवत् आचरण करने लगते हैं। सहज रूप से ही उनकी प्रवृत्ति पंचम गुणस्थान के समान हो जाती है। जैसे कोई अभव्य जीव है वह प्रायोग्य लब्धि को प्राप्त करता है, तब अन्तःकोड़ाकोड़ी ही स्थिति बनती है। उसी प्रकार यहाँ आसौज में आगस्त्य नक्षत्र का उदय होता है तो कितना भी पानी नदी सरोवर में क्यों न हो वह सारा का सारा पानी निर्मल ही होगा, यह नियम है। उसी प्रकार प्रायोग्यलब्धि में सहज रूप से भव्य अभव्य दोनों के निर्मल परिणाम होते हैं।

जिज्ञासा—पर समय किसे बोलते हैं?

समाधान—जिस समय हम स्व समय को छोड़कर स्वभाव को छोड़कर, राग-द्वेष रूप परिणमन कर जाते हैं तो पर समय रूप हो जाते हैं। पर समय के साथ फिर मूढ़ता लागू हो जाती है, पर के साथ सम्बन्ध होने से राग-द्वेष संभव है लेकिन स्व के बारे में सोचने से राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होते हैं, इसलिए निर्जरा करने वालों को स्व का ही चिंतन करना चाहिए। पर का चिंतन करके भी उदारता के साथ, यदि गुणग्राहकता रहती है तो उसमें भी निर्जरा होती है। राग-द्वेष नहीं आना चाहिए साम्य भाव रखना चाहिए। छद्मस्थ अवस्था में पार्श्वनाथ भगवान् के ऊपर एक सप्ताह तक ओले-शोले आदि की वर्षा होती रही। छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान होता रहा लेकिन कमठ के प्रति मन में एक क्षण को भी बुरा भाव नहीं आया नहीं तो एक छिंगरी से पूरा उखाड़ सकते थे। जैसे-बालक तीर्थंकर कुमार ने एक अँगूठे से पाण्डुकशिला पर ही पूरा बल दिखा दिया तो पूरा सुमेरु हिल गया, तब इन्द्र कहता है कि भगवान् क्षमा कर दो, हमने तो यह सोचा कि आपकी अवगाहना छोटी और घड़ों के मुख योजनों में है, तो कहीं आपको खाँसी, जुकाम या निमोनिया न हो जाये, क्योंकि एकाध कलश से नहीं, १००८ कलशों से स्नान होना है वह भी क्षीर सागर के जल से, गर्म जल से नहीं। आश्रम वाले कहते हैं, जो कोई भी अभिषेक करें गर्म जल से करें, लेकिन वे भगवान् नहीं थे, वे बालक थे, शंकर थे, उनका तो न्हवन माना जाता है, इसे क्षीरसागर के जल से ला करके किया जाता है। अब आगे से हमारे बारे में ऐसा मत सोचना, हाँ बिल्कुल ठीक है, आप वीर हो, महावीर हो, अतिवीर हो, आप जैसा कोई नहीं, इतना बल रहता है तो कमठ का उपसर्ग क्या मायना रखता है? पार्श्वनाथ मुनिराज एक श्वास लें तो वह फिक जाये, नाक से शंख फूँक सकते हैं तो कमठ क्या चीज है? लेकिन हाथ लग न जाये, इसलिए कुछ नहीं किया, यह पत्थरों की वर्षा पार्श्वप्रभु के लिए एक प्रकार से

पुष्पवृष्टि थी, खरोंच भी नहीं आई, क्या संहनन था उनका? इसलिए तो आचार्यों ने कहा कि दीर्घ संहनन के द्वारा जो कर्म निर्जरा हजारों वर्षों में होती है वह हीन संहनन के द्वारा अन्तर्मुहूर्त में हो सकती है, क्योंकि यहाँ प्रतिकूलतायें ज्यादा हैं।

तीर्थकर की विशेषता—जहाँ तीर्थकर रहते हैं वहाँ तो सुभिक्ष के अलावा कुछ रहता ही नहीं। शीत, गर्मी भी ज्यादा नहीं पड़ती, उनको ज्वर नहीं आता, किशोर अवस्था में रत्तीभर भी कमी नहीं आती, अधिक आयु होने पर भी किशोर अवस्था में जैसा रूप था वैसा ही अन्त तक रहता है। चक्रवर्ती के लिए यह कहा जा सकता है कि उनके शरीर में झुर्रियाँ आती होंगी, प्रौढ़ता आयेगी, लेकिन तीर्थकर का तो कोटि वर्ष तक शरीर वैसा का वैसा ही रहेगा, उत्सेध भले ही बढ़ जाये लेकिन उनका बाल्यपना, किशोरपना ज्यों का त्यों रहता है, ठाठ के साथ रहने वाले रहते हैं। बाल बढ़ेंगे उतने ही जितने में सुहावनापन लगे और बाल बढ़ भी जायें तो उनके लिए अप्रशस्त नहीं लगेंगे।

काव्य ख्याति की यही विशेषता है कि एक ही शब्द का प्रयोग नहीं करते हैं। हाँ इतना अवश्य है कि उसमें **चेदा चेतयिता सम्यग्दृष्टि** को कभी ज्ञानी कहते हैं लेकिन ये सभी अनुभूति परक शब्द हैं, उपयोग के भेद में जो ज्ञान है, वह जानने की अपेक्षा होता है, लेकिन **चेतयिता** यह शब्द जागृति अर्थ में है। अनुभूति के अर्थ में है, हमेशा-हमेशा जिनके उपयोग की धरती पर इसी प्रकार की अनुभूति होती है और भीतर भूख लगती है तो पीड़ा की अनुभूति होती भी हो तो बाहर अभिव्यक्ति नहीं होती। भूख लगती है तभी तो आहार को उठते हैं लेकिन बाहर से पता नहीं चलेगा कि उन्हें भूख लगती है या प्यास की पीड़ा है आदि-आदि। उनका शरीर ऐसा तेज पूर्ण होता है कि पसीना नहीं आता है। महाराज सिर में बाल जब तक लगे रहते हैं, तब तक शृंगार है, लेकिन उखाड़ने के उपरान्त तो मल है जैसे की दाँत उखाड़ने के उपरान्त मल माना जाता है, अस्थि मानी जाती है वह दाँत गिर कर आहार में आ जाये तो अन्तराय माना जायेगा, यदि लगे हुए दाँत को मल मानोगे तो एक दिन भी आहार नहीं कर पाओगे, क्योंकि दाँतों को छूकर ही आहार भीतर जाता है फिर तो रोज ही अन्तराय करना पड़ेगा किन्तु ऐसा नहीं है। इसी प्रकार नाखून हैं, मूँछों के बाल हैं, उनसे भी टच होकर ही तो ग्रास अंदर जायेगा। हाँ तो मैं कह रहा था कि सातों दिन चौबीसों घंटे उपसर्ग बना रहा तो भीतर उनकी क्या भावना रही होगी? सारे के सारे देव कहाँ सोये थे? कोई भी पास में नहीं आया, तब धरणेन्द्र कहाँ चला गया था, उसे पता नहीं चला क्या? जब मुनि अवस्था में उपसर्ग हुआ तभी तो समन्तभद्र स्वामी ने **स्वयंभू स्तोत्र** में कहा है, कि “**यो न चचाल योगतः**” गरमी तो अपने को छू नहीं रही तो उष्ण या शीत परीषह क्या है? यह शीत उष्ण तो प्रकृति कृत उपसर्ग है और वह देवकृत उपसर्ग था। जब धरणेन्द्र वगैरह उपसर्ग दूर करने आये तो उसके पहले सात दिन तक “**न चचाल योगतः**” अर्थात् वे पार्श्वनाथ भगवान् योग से विचलित नहीं हुए, तो कुछ तो हुआ होगा? ऐसे कैसे कह रहे हो? क्या ऋद्धि का प्रयोग किया जा रहा है। जैसे—सर्प ने डँस लिया तो क्या ऊपर-ऊपर यूँ कर दिया, क्योंकि

महावीर भगवान् को सर्प ने डँसा यह प्रकरण भी तो आता है। सर्प ने डँसा तो भीतर से दुग्धधारा फूट गई बताते हैं कि ऊपर से हो गई होगी ऐसा तो नहीं है? उपसर्ग तो उपसर्ग होता और दुरूह होता है असहनीय होता है, उसी का नाम तो उपसर्ग है नहीं तो फिर वे उपसर्ग केवली कैसे कहे जायेंगे? वृषभनाथ भगवान् का छह-छह महीने तक आहार नहीं हुआ तो यह उपसर्ग ही तो है, भले ही उसकी अभिव्यक्ति नहीं हुई, किन्तु छह-छह महीने क्षुधा को सहन तो किया? सुपार्श्वनाथ, पार्श्वनाथ, वृषभनाथ और महावीर भगवान् इन चार तीर्थकरों पर उपसर्ग हुए हैं और किसी को अन्तराय नहीं आये हैं। दूसरी बात देव लोग उपसर्ग दूर करते हैं, ऐसा भी नहीं है। आहारों के समय पर अवधि, मनःपर्यय ज्ञान भी नहीं लगायेंगे, यह जो आहार दे रहे हैं, वह कैसा है? क्या है? एक बार शुद्धि बुलवा ली बस आहार प्रारंभ। उनके अतिशय को देख कर ऐसा लगता है कि उनके साथ इतनी प्रतिकूलता होने पर भी चेहरे में, चर्या में कोई अन्तर नहीं आता, इसको बोलते हैं अमूढ दृष्टि, फिर भी छठवें गुणस्थान में जब आते होंगे तो भीतर मन में कुछ न कुछ तो परिणाम आता होगा? भोजन करके क्षुधा मिटाने का परिणाम होता है कि नहीं, तभी तो आहार करने जाते हैं। **अपरिग्गहो अणिच्छो असणं** आहार की इच्छा के बिना चौके तक जायेंगे क्या? हाँ, यह है कि उनमें प्रतिकार का भाव हम लोगों जैसे नहीं होता होगा। हम लोगों में भी जब तारतम्य देखने में आता है तो फिर उनका तो कहना ही क्या? वे तो अद्वितीय हैं उनकी तो एक झलक भी दर्शन को मिल जाये, दर्शन हो जाये, तो हम लोग तिर जायें, क्यों ठीक है न? थोड़ी भावना तो भाओ, सबकी भावना से आज मिल जाये, आज कोई ऋद्धिधारी, मनःपर्ययज्ञानी नहीं, आज्ञा कनिष्ठता यह सूत्र बन गया, हम लोगों के सामने बड़े तो है ही नहीं, यही तो कनिष्ठता है। कोई हमसे बड़े ऋद्धिधारी, मनःपर्ययज्ञानी आज हमें मिल नहीं रहे, आकाश में गमन करने वाले चारणऋद्धिधारी कहीं पर एकाध बार तो दिख जाते, यह हमेशा तो नहीं लेकिन अंतिम कल्की-उपकल्की के समय अवधिज्ञानी मुनि होंगे, ऐसा भी कथन आता है लेकिन एक बार भी अवधिज्ञानी मुनि का दर्शन स्पष्ट रूप से करने में नहीं आता, यह एक विशेष समय के लिए बात कही गयी है, हाँ ऐसा ही कोई योग मिल जाये तो फिर क्या कहना? यह सम्यग्दर्शन के चतुर्थ अंग अमूढदृष्टि के विषय में वर्णन चल रहा था, अब उसके आगे उपगूहन अंग का वर्णन आयेगा।

उत्थानिका—अब इसके आगे उपगूहन अंग का वर्णन किया जाता है।

जो सिद्धभक्तिजुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं।

सो उवगूहण-गारी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२४८॥

अन्वयार्थ— (जो) जो आत्मा (सिद्धभक्तिजुत्तो) सिद्धों की भक्ति से युक्त (दु) और (सव्वधम्माणं) अन्य वस्तु के सभी धर्मों का (उवगूहणगो) गोपन करने वाला हो (सो) उसे (उवगूहणगारी) उपगूहनधारी (सम्मादिट्ठी) सम्यग्दृष्टि (मुणेदव्वो) जानना चाहिए।

अर्थ—जिसने सिद्ध भगवान् की भक्ति में ही अपना उपयोग लगा रखा है अतएव सर्व विभाव

धर्मों को ढकने वाला है वह उपगूहन अंग का धारी सम्यग्दृष्टि मानने योग्य है।

मिथ्यात्व आदिक शुभाशुभ भाव छोड़े,
हैं सिद्धभक्तिरत हैं मन को मरोड़े।
सम्यक्त्वसंग उपगूहन अंगधारी,
वे मान्य पूज्य अनगार, नहीं अगारी ॥२४८॥

व्याख्या—सम्यग्दृष्टि विभाव धर्मों को ढकने वाला होता है—जिसने सिद्ध भगवान् की भक्ति में ही अपना उपयोग लगा रखा है अतएव जो सर्व विभाव धर्म से हटने वाला है, वह उपगूहन अंग का धारी सम्यग्दृष्टि मानने योग्य है अर्थात् जो हमेशा अपने आपको श्रुतभक्ति में व्यस्त रखता है वही विभाव भाव से हट सकता है। **यह संसारी प्राणी सिद्धि-प्रसिद्धि तो चाहता है लेकिन सिद्धभक्ति में कभी भी अपना मन नहीं लगाता है।** जिनके लिए करने योग्य कार्य पूर्ण हो चुके हैं, उन्हें सिद्ध बोलते हैं। सिद्ध हस्त एक उपाधि भी होती है अर्थात् प्रत्येक क्षेत्र में उस सम्बन्धी निपुणता प्राप्त हो जाती है, तो उसे सिद्ध हस्त कहते हैं। सिद्ध भक्ति का अर्थ है जिन्होंने अपने करने योग्य कार्यों को सिद्ध कर लिया। अतः सिद्ध माने जाते हैं, उनकी भक्ति सो सिद्धभक्ति है। आप लोगों को **सिद्धो वर्ण समाम्नाय** अर्थात् वर्णों की आमनाय परम्परा सिद्ध है उसी प्रकार यहाँ पर भी कह रहे हैं कि जो व्यक्ति अपनी आत्मा को परमात्मा के रूप में परिवर्तित कर चुके हैं, संसार के आवागमन से मुक्त हो गये हैं, जितनी बाधाएँ थी उन सब बाधाओं का निर्मूलन कर चुके हैं और आबाद हो कर जीते हैं, निराश्रित होकर जीते हैं, अतः वे सिद्ध हैं। संसारी प्राणी को आश्रय की आवश्यकता होती है लेकिन सिद्ध परमेष्ठी को कोई आश्रय की आवश्यकता नहीं होती इसलिए वे निराश्रित हैं लेकिन अनाथ नहीं हैं किन्तु वे इतने सक्षम हैं कि उन्हें अपने जीवन के लिए किसी सहारे की आवश्यकता नहीं होती हैं।

मुनि मार्ग पर चलने की जब प्रतिज्ञा ली जाती है, तो उस समय यही कहा जाता है कि संसारी प्राणी जीने के लिए बहुत कुछ आश्रय ढूँढ़ता है। अब मुनि बनने जा रहे हो तो अब किसका सहारा लोगे? तो कहते हैं कि **पराणवेक्त्रो** हम पर की अपेक्षा नहीं रखेंगे। पर की अपेक्षा रख कर यदि श्रामण्य व्यतीत करना चाहो तो सही नहीं है। गृहस्थ अवस्था में तो पर का सहारा लिया जाता है, लेकिन श्रामण्य में पर का सहारा नहीं लिया जा सकता है। तो फिर क्या करना होगा? अपने आपका सहारा लेकर चलना होगा, तिल-तुष मात्र भी परिग्रह नहीं रखोगे। यदि काम चला सको तो काम चलाओ, नहीं चला सको तो कह देना कि हमें कोई दूसरा मार्ग बता दो, पर का सहारा विधिवत् है, परद्रव्य का सहारा लेना मात्र ही परिग्रह है ऐसा नहीं, किन्तु पर द्रव्य के प्रति ममत्व करना मूर्च्छा भाव होना यह परिग्रह है। भोजन यद्यपि पर द्रव्य है लेकिन उसके लिए परिग्रह संज्ञा नहीं दी गई है। किन्तु यदि अपने लिए तिलतुष मात्र भी संग्रहीत करते हैं तो वह परिग्रह का रूप धारण कर लेता है। लेकिन

आप भोजन चार-पाँच किलो भी ले लो तो भी वह आपके लिए परिग्रह नहीं माना जायेगा। क्रियाओं को मुख्यता देकर जब हम सोचते हैं तो वह क्रिया गृहस्थों में जैसी है, वैसी ही श्रामण्य में भी होती है लेकिन क्रियाओं को गौढ़ करके कहें तो दोनों का रास्ता अलग-अलग है। श्रमण का रास्ता अलग है और गृहस्थ का रास्ता अलग है। यह इसलिए कहा गया है कि ज्यों ही वह संग्रह करने लगता है तो फिर धीरे-धीरे वह गृहस्थ की कोटि में आने लगता है।

श्रमण को हमेशा-हमेशा यह याद नहीं रखना चाहिए कि हमें निराश्रित होकर ही जिंदगी जीना है किन्तु शास्त्रोक्त विधि से उसके लिए उपकरण निर्धारित किये गये हैं, इसके अलावा वह अन्यत्र कोई भी साधन और अवलम्बन का स्थान नहीं ढूँढ़ेगा, किसी के घर में आलम्बन लेने लग जायें तो ऐसा नहीं, वहाँ पर भी मकान हैं इससे अच्छा वहीं है। तो यहाँ की अपेक्षा वहाँ रहने लग जायें यह श्रमण के लिए ठीक नहीं है। आप लोगों का सम्बन्ध इस ढंग से नहीं होना चाहिए।

दृष्टान्त—जैसे-मिलिट्री की व्यवस्था होती है वैसे ही लगभग श्रमणों की व्यवस्था होती है। मिलिट्री किसी भी गृहस्थ के साथ भी सम्बन्ध नहीं रखती है, वैसे ही श्रमण जन सम्पर्क नहीं रखते हैं। दूसरे पुलिस डिपार्टमेंट एक प्रकार से आप लोगों में हिममिल करके रह जाते हैं लेकिन मिलिट्री जो होती है वह आप लोगों से बिल्कुल पृथक् रहती है, उनका आवास कहाँ है, उनका भोजन कहाँ है? वह भोजन करने जा रहे हैं या कर चुके हैं और किसके साथ कितना क्या सम्बन्ध है यह सब आपको ज्ञात नहीं होने देते और वे अपना काम करते रहते हैं, किसी के साथ उनकी मित्रता नहीं रहती है, उनकी तो मात्र देश से और राष्ट्र से मित्रता रहती है ऊपर से आर्डर आ गया, बस वे चल दिये। वे केवल आर्डर को सुनते रहते हैं, देखते रहते हैं, आर्डर के अनुसार कोई भी व्यक्ति हो तो उससे उन्हें कोई मतलब नहीं होता है, उनका किसी से कोई राग नहीं द्वेष नहीं, मात्र देश की रक्षा का ही लक्ष्य होता है, उसी प्रकार श्रामण्य है, उसकी रक्षा के लिए कोई आ जाये तो इससे राग नहीं करेंगे और कोई उपसर्ग आदि करें तो द्वेष भी नहीं करेंगे, कोई नाराज भी हो तो स्वयं नाराज नहीं होंगे और राजी भी नहीं होंगे। जैसे यदि किसी डिपार्टमेंट में बगावत हो गयी तो इससे, राष्ट्र को कुछ भी क्षति नहीं होगी, लेकिन यदि सेना में आपस में बगावत हो गई तो सब चला गया। उसी प्रकार श्रमणों में आपस में यदि बगावत हो गई, उनका पक्ष राग की ओर लुढ़क गया तो समझ लेना फिर तो सब बाँधबूँध कर रख देगा चलो छुट्टी, श्रामण्य ही समाप्त सब चला गया। श्रमणों में जब तक बगावत नहीं होती तब तक गृहस्थ भी ठीक-ठाक रह लेता है लेकिन उसमें कमी आ गई तो फिर गये काम से।

पुलिस को भी हमने रक्षा के डिपार्टमेंट में ही गिना है, जनता पुलिस के अनुसार चलती है, उसी प्रकार गृहस्थ भी श्रमण के अनुसार चलते हैं, गृहस्थ के अनुसार श्रमण नहीं चलेंगे, यह ध्यान रखो। पुलिस अणुव्रती है और सेना महाव्रती है। महाव्रती (सेना) के अनुसार ही पुलिस को चलना

पड़ता है, श्रावक को महाव्रती के पीछे-पीछे चलने को कहा है। ध्यान रखो यूँ कहना चाहिए कि मिलिट्री पुलिस से पूछती है तो पुलिस सही-सही बात बता देती है तथा पुलिस पूछती है तो मिलिट्री पुलिस के योग्य ही बताती है।

अणुव्रती गृहस्थ धर्म का एक पहिया है, रथ को चलाने वाले श्रमण भी हैं और आप भी हैं, उसे जिस दिशा में ले जायें उसे चलना पड़ेगा, पहिया अलग है चलाना अलग है, गृहस्थ चलता है, चलाता नहीं, इसलिए जब कभी भी आपत्ति काल लग जाये तो फिर राष्ट्रपति शासन चालू हो जाता है, प्राइमिनिस्टर गौण हो जाते हैं, प्रधानमंत्री चला गया, कहाँ गया पता नहीं? कोई कुछ नहीं कर सकता, बहुत अच्छा काम होता है जब आपत्ति काल १७ महीने तक लगा उस समय सभी समय पर काम करते थे ऐसा बताते हैं इससे सब डिपार्टमेंट जिन-जिन में दिवालिया हो रहे थे, सब ठीक हो गये, ऐसा होता है तो “राष्ट्रपति शासन के समान ही मिलिट्री शासन होता है, जिसको बोलना चाहिए श्रमणों का शासन” तभी धर्म बचने वाला है यदि जीवन में वीतरागता का आदर्श नहीं है तो ये जिनशासन बिल्कुल ढह जायेगा, उसी के ऊपर सब आधारित है। उपगूहन अंग वाला वही है, क्योंकि अन्य किसी की भक्ति करेंगे, तो रागादि भाव आ सकते हैं, लेकिन सिद्धों की भक्ति करते समय निर्दोष आदर्श तत्त्व ही ध्येय में रहेगा।

जिज्ञासा—यह सिद्ध भक्ति कैसे करें?

समाधान—जो शुद्ध सिद्ध तत्त्व है उसकी भक्ति करो अर्थात् उनके गुणों की ओर देखो, भक्ति की ओर नहीं देखो। जो शुद्ध स्वभाव है उसका ध्यान करो, उसका गुणगान करो, यही सिद्ध भक्ति है, **उपगूहणगो दु सव्व धम्माणं** सभी धर्मों का उपगूहन करो, कोई राग कर रहा है, कोई द्वेष कर रहा है इन सबको गौण कर दो, क्योंकि ये सब विकृतियाँ हैं।

दृष्टान्त—स्वर्णकार जिस प्रकार स्वर्ण-पाषाण में स्वर्ण का दर्शन कर लेता है और उसकी विकृतियों को गौण करके अपने मन में स्वर्ण की धारणा बना लेता है कि इसमें चार किलो सोना है भले ही वह स्वर्ण पाषाण चालीस किलो का हो, तो छत्तीस किलो और चार किलो, तो इसमें छत्तीस किलो गौण हो गया और चार किलो मुख्य हो गया। ऐसा क्यों? क्योंकि वह उसको प्राप्त करना चाहता है शेष छत्तीस किलो सामने दिख रहा है लेकिन वह प्राप्तव्य नहीं है इसलिए चार किलो सोना प्राप्त करने के लिए उसकी तैयारी में लग जाता है, उसका शुद्धिकरण कर लेता है अर्थात् एक प्रकार से उसकी भक्ति कर रहा है और जो छत्तीस किलो पाषाण है, उसके लिए कोई प्रयास नहीं किया जा रहा है क्योंकि वह प्राप्तव्य नहीं है किन्तु चार किलो सोना प्राप्त करने के लिए सारी की सारी तैयारी, योजनायें साधना चल रही हैं उसके लिए रात-दिन एक कर रहा है, यह परिश्रम केवल उसके लिए ही है। इसी प्रकार श्रमण जीवन में बहुत कुछ दिख रहा है उसके लिए नहीं किन्तु सिद्धत्व की प्राप्ति के लिए सिद्धभक्ति करता है, ध्रुव की ओर दृष्टि रखना ही सिद्ध भक्ति है। जैसे—स्वर्णकार स्वर्ण पाषाण

खण्ड में चार किलो सोना है, उसमें हमेशा दृष्टि रखता है, उसी प्रकार श्रमण भी सब कुछ करते हुए शुद्ध तत्त्व की ओर दृष्टि रखता है। अरिहंत परमेष्ठी पना भी वस्तुतः शुद्ध स्वरूपपना नहीं है, किन्तु वह चौदह केरेट का सोना है सोलह बानी का नहीं। हाँ उस ओर जा रहा है, एक बार तपाया, दो बार, तीन बार तपाया ऐसा करते-करते सोलह बार उस ताप में से गुजरता है, तब सौ टंच सोना सोलह बानी का सोना होता है।

अरिहंत परमेष्ठी पन्द्रह बानी के हैं, अभी रत्तीभर अघातिया कर्म शेष हैं, चतुर्थ शुक्ल ध्यानादि के माध्यम से अघाति कर्म का क्षय होगा तब उसको सोलह बानी सौ टंच शुद्ध सिद्ध परमेष्ठी बोलेंगे। उसमें एक टंच भी बट्टा नहीं रहेगा, स्वर्णकार शुद्ध स्वर्ण को दृष्टि में रख कर कार्य करता है उसी प्रकार श्रमण के भी शुद्ध आत्म तत्त्व ही आदर्श रहना चाहिए उसी की प्राप्ति के लिए मोक्षमार्ग में यह सारा का सारा प्रयास किया जा रहा है अतः उसी की भक्ति की जाती है।

उपगूहन का अर्थ—उपगूहन अर्थात् गौण करना उसे लक्ष्य नहीं बनाना चाहे दोष हो या अन्य कोई विकृति हो उन सबका उपगूहन किया जाता है। उन्हें गौण किया जाता है तथा मुख्यता की ओर रात-दिन दृष्टि रहती है उस समय उसको चैन नहीं पड़ती है, कहीं कुछ गड़बड़ न हो जाये, लक्ष्य से च्युत न हो जाये, ये ध्यान रहता है क्योंकि ज्यों ही लक्ष्य च्युत होता है त्यों ही आदर्श बिगड़ जाता है फिर तो अनादर्श की ओर दृष्टि चली जाती है। यदि हम चलते-चलते रास्ता भूल जायें तो फिर मंजिल नहीं मिलेगी, मंजिल तो समाप्त हो गई, उसी प्रकार अपना ध्रुव लक्ष्य जो था उसे यदि भूल जाते हैं और दूसरी तरफ मुड़ जाते हैं तो ध्रुव समाप्त हो जाता है इसलिए सामायिक के समय एकाग्रता का अभाव हो जाना यह सामायिक का दोष माना है। **अनुपस्थानानि** अर्थात् मन का अन्यत्र चला जाना।

जिज्ञासा—मन अनेकाग्र क्यों होता है? व अन्यत्र क्यों चला जाता है?

समाधान—थोड़ा-सा भी प्रमाद आ जाता है तो हमारी दृष्टि अन्य पदार्थों की ओर चली जाती है, अन्य पदार्थों को भूल करके एक मात्र अपने में आ जायें, उस प्रकार की दृष्टि सामायिक में बनाना चाहिए। बार-बार यही पुरुषार्थ करने से मन की चंचलता समाप्त हो सकती है।

दृष्टान्त—थोड़ी सी टिमकार होने पर आँख मीचने पर एक्सीडेंट की संभावना बनी रहती है अर्थात् द्रुत गति से जो वाहन चलाते हैं उनके लिए इधर-उधर देखने को मना किया है, बहुत प्रकार के डिपार्टमेंट है, उसमें बहुत कम सर्विस की अवधि रहती है, दस वर्ष बहुत हो जाता है, उसके बाद डिपार्टमेंट (विभाग) चेंज कर देते हैं, उसे अन्य काम में लगा देते हैं लेकिन उसी काम में नहीं लगाते, क्योंकि थोड़ी सी भी असावधानी गड़बड़ हुई तो लाखों-करोड़ों का नुकसान हो सकता है। करोड़पति, अरबपति ही विमान से यात्रा करते हैं, ठेले के व्यापार करने वाले थोड़े ही विमान से यात्रा करेंगे। आधे घंटे में पाँच हजार खर्च करने वाले होते हैं। वह कौन होते हैं? उसी प्रकार की कमाई करने वाले

होते हैं, उसी प्रकार यहाँ आचार्य कहते हैं, हानि हो न जाये यद्यपि वे उस कार्य में मास्टर हैं, अनुभव ज्यादा है, उनके आई साइड कमजोर होने लग जाती है क्योंकि एकाग्र होने की आवश्यकता होती है उसमें गड़बड़ी की संभावना हो या न हो, दस साल हुआ नहीं कि उन्हें परिवर्तित किया जाता है ताकि आदर्श कहीं छूट न जाये, भूल न जाये, उसी प्रकार श्रमणों का यह कर्तव्य होता है कि कहीं हमारा आदर्श छूट न जाये, अतः हमेशा अलर्ट रहना चाहिए, यहाँ काम चलाऊ काम नहीं होना चाहिए, किन्तु एवन होना चाहिए, तभी एवन लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है, इसके लिए एकमात्र अपने ध्रुव की ओर देखना पर्याप्त है, दूसरे की ओर नहीं देखें, कोर्स की ओर ही दृष्टि रखना चाहिए उसी का अध्ययन, उसी की चर्चा आदि होना चाहिए, आउट ऑफ कोर्स की चर्चा करेंगे तो उसमें से परीक्षा प्रश्न तो आने वाले हैं नहीं, तो फिर फेल होने की संभावना बनी रहेगी।

अतः श्रमण का यह कर्तव्य है कि **उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं** अर्थात् सभी विभाव धर्मों का उपगूहन करें यानि उनको अपने विषय न बनायें, मात्र सिद्ध भक्ति को अपने ध्यान में रखें, **सिद्ध भत्ती जुत्तो सव्वधम्माणं** ऐसा कहा ही है। इस समयसार में निरूपित और **रत्नकरणडक श्रावकाचार** में निरूपित उपगूहन अंग में बहुत अन्तर है। देखो, यहाँ सभी विभाव धर्म में उपगूहन कर रहे हैं, अर्थात् सिद्धत्व को छोड़कर अन्य जो कोई भी गुण हैं उन सबको गौण किया जा रहा है। उनको मुख्यता न देकर काम होगा, नहीं तो नहीं, थोड़ा-सा भी दोष उसके लिए सह्य नहीं है, क्योंकि दोष सहित जो भी द्रव्य होगा, वह उपगूहन के योग्य है।

दृष्टान्त—समुद्र में चलने वाला जहाज अरबों-खरबों खर्च होने के उपरान्त तैयार होता है, वह जहाज चालीस-पचास वर्ष तक चल गया, तो अभी वह न्यू ब्रांच ब्रांड समझना चाहिए, फिर भी उसको तोड़ने-फोड़ने दे देते हैं, क्योंकि उसकी डेट समाप्त हो गई है, भारत वाला तो उसे खरीदना चाहेगा, लेकिन वह खरीदने के योग्य नहीं है, उसे तोड़ने के लिए बोल देते हैं, क्योंकि सेकंड हैंड बिकता नहीं है वह विश्वास पात्र नहीं होता, इसलिए तोड़ ही डालते हैं, अच्छे-अच्छे पार्ट्स भले ही बेंच दें लेकिन वह ओरीजनल नहीं कहलायेंगे, एक्सपायरीडेट (समाप्ति तारीख) होने के बाद भी दवाई चलती है, क्योंकि ओल्ड इज गोल्ड है, आयुर्वेदिक में तो एक्सपायरीडेट होती ही नहीं है, वह तो दवाई जितनी पुरानी होगी उसका उतना ही अधिक महत्त्व होता है, बल्कि वह अमृत मानी जाती है, जितनी सीनियरिटी (वरिष्ठता) बढ़ेगी उतना अच्छा मानते हैं और ऐलोपैथी में जितना अधिक समय निकल गया उतनी वह दवाई धूल के समान मानी जाती है, एक्सपायरीडेट दवाई को लेने से दवाई भी मर गयी और लेने वाले भी मर गये, एक्सपायरीडेट दवाई लेने से दवाई का क्या प्रभाव, एक्सपायरीडेट से दवाई भी प्रभावकारी नहीं होती और रोगी भी निरोग अवस्था को प्राप्त नहीं हो पाता।

दृष्टान्त—स्थितिकरण करने से पहले उपगूहन अंग होना अनिवार्य है, नहीं तो स्थितिकरण नहीं

हो पायेगा इसलिए स्थितिकरण अंग से पूर्व में उपगूहन अंग का वर्णन किया गया है। जैसे—किसी के बेटे ने बाजार में कोई गलती कर दी, रास्ते में किसी ने बताया, तो उस समय पिताजी उस बेटे से प्रेम से बोल करके बेटा! घर चल ऐसा कह करके ले आते हैं वहाँ कुछ भी नहीं कहते, लेकिन घर में आने के उपरान्त अच्छी डाँट फटकार लगाते हैं, क्यों तुमने वह चीज उठाई थी, ऐसा किया था? हाँ कहता है तो आइंदा से नहीं करना ऐसा कह देते हैं, घर से बाहर निकलने पर कोई बच्चे की शिकायत करता है तो पिताजी अपने बच्चे को तो बाहर देवता है, ऐसा मान करके चलते हैं, लेकिन घर में जाकर बेटे से कहते हैं कि तू दुष्ट बन गया है, अब देवता नहीं रहा, यह देव की पर्याय भी उसी देवता की है भूत बन गया, ऊधम मचा रहा है।

मान लो वह बालक पूछता है कि आपने भी बाजार में या सबके सामने तो डाँटा नहीं और यहाँ आकर डाँट दिया ऐसा क्यों? पिता जी कहते हैं वहाँ इसलिए नहीं डाँटा कि लोग मुझे डाँटना प्रारंभ कर देते कि बच्चे को क्यों डाँट रहे हो? हम आप लोगों से पूछना चाहते हैं कि ऐसा क्यों किया? तो ऐसा इसलिए किया कि यह व्यवहार धर्म है तो स्थितिकरण करने से पूर्व उपगूहन करना अनिवार्य है उपगूहन के अभाव में स्थिति करण संभव नहीं है, लेकिन इसका गलत फायदा नहीं उठाना चाहिए।

दृष्टान्त—बाजार वाले के सभी बच्चे ऐसे ही होते हैं, लेकिन बाजार में डाँटा नहीं जाता है, पुलिस भी एक-दो-तीन बार छूट देती है, एकदम सजा नहीं देती, कोई तीस नम्बर से पास होता है, तो योग्यता उसके पास आई है वन थर्ड (एक तिहाई) तो आया है अब आगे चलो प्राथमिकता में यह कमजोरी संभव है, लेकिन जब थोड़ी बड़े होते हैं तब उनसे कहा जाता है कि देखो! अच्छे नम्बर नहीं आयेंगे, तो एडमीशन नहीं देंगे, कम से कम इतने नम्बर तो आना चाहिए, उसमें पाँच प्रतिशत से ज्यादा पास होते ही नहीं। फिर धीरे-धीरे परीक्षायें बढ़ती हैं, बोर्ड परीक्षा एकदम नहीं होती, एक से पाँच या सातवीं क्लास तक बोर्ड के एग्जाम नहीं होते। पहले जब हम पढ़ते थे तो सातवीं तक बोर्ड एग्जाम नहीं होते थे, आठ-नौ-दस-ग्यारह में भी वहीं के वहीं एग्जाम होंगे, उसके बाद बोर्ड परीक्षा होगी, इस ढंग से चलता था, प्रतिवर्ष में या छह महीने में बोर्ड परीक्षा होने लग जाये तो उसका महत्त्व घट जायेगा तो इसी प्रकार यहाँ पर कहा जा रहा है कि पहले उपगूहन करो फिर स्थितिकरण करिये। स्थितिकरण करने से उसे लगेगा कि वस्तुतः यह ठीक है, बोर्ड परीक्षा एक प्रकार से स्थितिकरण के समान है, जब समझदार होने लग जाता है, प्रायश्चित्त का अनुभव होने लग जाता है, तो फिर दोष क्या है? गुण क्या है? इसका महत्त्व भी उसे समझ में आ जाता है।

जब तक स्वर्ण अग्नि से निखार को प्राप्त नहीं होता तब तक ओरिजनलिटी नहीं आ पाती, प्रायश्चित्त भी एक तप है, इसके माध्यम से उसको ज्ञान होता है कि मेरे पास इतनी क्षमता थी और प्रायश्चित्त लेते ही इस प्रकार का विकास हो गया। स्वर्ण को जिस प्रकार अग्नि में तपाने से निखार आता है उसी प्रकार मूलगुणों की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त तप रखा गया है। प्रायश्चित्त में मूलगुणों

में कुछ नहीं दिया जाता है किन्तु उसमें जो अशुद्धियाँ हुई हैं उनको प्रायश्चित के माध्यम से दूर कर देते हैं, जिसके कारण मूलगुणों में निखार आ जाये, उत्तर गुणों में जो दोष लग जाते हैं, उसके लिए विशेष तप दिया जाता है, इस प्रकार तप के माध्यम से उसमें निखार आ जाता है, तात्कालिक जवाब नहीं देना चाहिए। दुनिया के सामने संयत बनाकर प्रायश्चित दे देते हैं तो मर्यादित हो जाता है, लोग समझेंगे कि यह आज्ञा में है, मर्यादा में है, तो काम सही-सही बन जायेगा, अपनी तरफ से तो कुछ भी कहना ठीक नहीं, लेकिन पब्लिसिटी पहले से हुई तो क्या कर सकते हैं? हाँ इतना अवश्य है कि हमारे कुछ नहीं कहने का वह दुरुपयोग करता है तो उसके लिए कुछ न कुछ सोचना अनिवार्य होता है, वह वैधानिक नहीं होता है लेकिन कुछ न कुछ सोचना आवश्यक होता है। सामने वाला दुरुपयोग करता है, तो ग्राउण्ड तो बनाना पड़ेगा।

दृष्टान्त—जैसे-रोगी यदि पथ्य की ओर दृष्टि नहीं रखेगा तो निश्चित रूप से रोग बिगड़ेगा। आज ऐलोपैथी में ये ही सबसे बड़ी कमी आई है कि वे पथ्य नहीं बताते। वैद्य लोग जो हैं वे पथ्य बताते हैं, तो अपने यहाँ इसके लिए प्रायश्चित आदि के द्वारा पथ्य बताया जाता है। मर्यादा रखी है, सीमायें बनायी हैं तो अपने आप लोगों की दृष्टि में भी आ जाता है, कि इस प्रकार करने वाला इस प्रकार से चल रहा है, अच्छा हो गया है, कुछ समय बाद अपने आप में तथा आवश्यकों में परिवर्तन हो जाता है।

जनसम्पर्क कड़वी चीज है—लौकिक सम्पर्क ज्यादा होने से ऐसा हो जाता है। लौकिक सम्पर्क न हो तो व्यवस्थित कार्य होता जाता है। आज भी सबसे कड़वी चीज तो यही जन सम्पर्क है, पहले का साधु वर्ग लौकिक सम्पर्क से दूर रहता था, अभी भी रह सकते हैं, रहने वाले रहते भी हैं, ध्यान रखना लौकिक सम्पर्क होने से सारी मर्यादाएँ समाप्त हो जाती हैं, बाहर में किसी को कुछ मालूम नहीं है, तो घर में ही व्यवस्थित कर देते हैं या संघ से भी संघान्तर कर देते हैं। लौकिक सम्पर्क इतना ज्यादा हो जाता है कि कोई बात दुनिया में लोगों को, सबको पता हो जाती है, लेकिन हमें ज्ञात नहीं कराई जाती, क्यों? ऐसी स्थिति में हम क्या कर सकते हैं? मतलब यह है कि “सम्पर्क करने से सम्पर्क होता है।” सम्पर्क हम अपनी तरफ से करते हैं तो वह बढ़ जाता है, सम्पर्क करने वालों को लौकिक श्रमण ऐसा **अष्टपाहुड** में **आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी** ने कहा है। कोई मुनि २८ मूलगुणों का, संयम का निर्दोष पालन करता है लेकिन यदि लौकिक सम्पर्क नहीं छोड़ता है तो भ्रष्ट हो जाता है लौकिक सम्पर्क की हवा नहीं लगना चाहिए। मिलिट्री अर्थात् श्रमण को तो जंगल की हवा ही लगना चाहिए, शहरी हवा लग गई तो फिर काम सब गड़बड़ हो जाता है। नमोऽस्तु करने वालों को आशीर्वाद देते हैं, बस, **माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ** इतना तो हम कह सकते हैं कि यह विपरीत वृत्ति की निन्दा नहीं है, किन्तु उसके सुधार के लिए एक उपाय है, मान लो वह दुरुपयोग करता है तो लोगों पर उसका गलत प्रभाव पड़ेगा, इस अपेक्षा से वह अपनी तरफ से पूरे-पूरे कार्य गौण कर देता है।

आचार्यों ने कहा है कि सम्यग्दृष्टि के योग्य क्या-क्या आचरण होना चाहिए? इसके लिए सम्यक्त्वाचरण चारित्र का वर्णन **अष्टपाहुड** में **आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी** ने भी किया है और वीतराग सम्यग्दृष्टि की बात लेते हैं तो भी उन्होंने उसको निर्विकल्प समाधि में अर्थात् शुद्धोपयोग में लीन होने की प्रेरणा दी है। योग्य आचरण को हमेशा सावधानी के साथ करते चले जायें तो वह पुरस्कृत हो जाता है। जो पुरस्कृत होता है तो वह व्यक्ति स्वयं अपने द्वारा पुरस्कृत नहीं होता, किन्तु वह अपना कार्य करता चला जाता है, पुरस्कार देने वाले देखते रहते हैं, कि अमुक व्यक्ति ने इस प्रकार से कार्य किया है, यह पुरस्कार उसके योग्य है, लेकिन वह स्वयं नहीं कहता कि मैं पुरस्कार के योग्य हूँ। पुरस्कार सामने से मिलेगा, स्वयं से थोड़े ही मिलेगा, स्वयं ही अपनी फोटो छपवाने लग जायें...तो इस प्रकार सभी अपनी-अपनी फोटो निकालेंगे तो फिर कौन किसको पुरस्कृत करेगा? फिर तो आपस में पुरस्कार बाँट लो, मैं तुम्हें पुरस्कृत कर देता हूँ, तुम मुझे कर दो, एक समालोचना में अपने बारे में लिख देता हूँ, तो आप अपनी पत्रिका में हमारे बारे में लिख दीजिएगा, लेकिन ऐसा नहीं होना चाहिए। आप तो कार्य करते चले जाइये।

मैं सम्यग्दृष्टि हूँ, मैं ऐसा हूँ, ऐसा वह अपने मुख से कभी नहीं कहता, **हीरा मुख से ना कहे लाख हमारा मोल**, ऐसी वाली बात है। निन्दा का तो विषय ही नहीं है। देव, गुरु, शास्त्र की निन्दा नहीं करना, क्योंकि यह अवर्णवाद में आ जाता है और इसके करने से मिथ्यात्व में विशेष अनुभाग पड़ता है, ऐसा सर्वार्थसिद्धिकार ने कहा है, वह मात्र प्रकृति बंध के लिए कारण नहीं लेकिन ऐसे भाव करने से उन-उन प्रकृतियों में विशेष अनुभाग पड़ता है ऐसा अर्थ लेना, मतलब यह बंध अपने परिणामों के ऊपर डिपेंड है, अतः एकदम उच्छृंखल नहीं होना चाहिए।

जिज्ञासा—उच्छृंखल का अर्थ क्या है?

समाधान—शृंखल यानि मर्यादा और उत् उपसर्ग लग गया तो उच्छृंखल अर्थात् मर्यादा को जिसने तोड़ दिया, या उखाड़ दिया वह उच्छृंखल होता है, पारमार्थिक अर्थात् जो परम शुद्ध पदार्थ है, तत्त्व है, उसकी भावना में जो रत रहता है, यही सिद्ध भक्ति मानी जाती है और सिद्ध भक्ति करने वाला उच्छृंखलता से रहित होता है।

सिद्ध भक्ति का अर्थ **सिद्धानुद्धूतकर्म प्रकृति** यह सिद्ध भक्ति को पढ़ लेना मात्र सिद्ध भक्ति नहीं है, किन्तु राग-द्वेष से रहित अपना जो आत्मतत्त्व / परमात्म तत्त्व है, उसकी भावना करना चाहिए।

दृष्टान्त—उत्तम प्रतिभा सम्पन्न जो छात्र होता है वह हमेशा-हमेशा अपने से ज्यादा नम्बर लाने वालों की ओर दृष्टि रखता है कि देखो! दोनों को एक ही टीचर (शिक्षक) ने पढ़ाया। एक ही कक्षा में हैं, तीन सौ पैंसठ दिन दोनों को मिले, कोर्स भी एक जैसा, परीक्षा-पेपर भी एक जैसे उससे ज्यादा फेसेलिटी में मैं पढ़ा फिर भी मेरे नम्बर कम क्यों आये। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि की भी हमेशा-हमेशा

दृष्टि अपने से अधिक गुण वाले व्यक्ति की ओर ही होती है। अपने से नीचे देखकर कभी संतुष्ट नहीं होना चाहिए। ऊपर वाले को देखकर अपनी मेहनत की मात्रा बढ़ाने की प्रेरणा मिलती है। इसी प्रकार मोक्षमार्ग में साधना करने वाला मुमुक्षु हमेशा-हमेशा अपनी साधना के स्रोत के बारे में चिंतन करता है, तब जिन्होंने सिद्धत्व को हासिल किया है उन्हें अपना विषय बनाता है क्योंकि उन्होंने यही मार्ग अपनाया और मैंने भी यह मार्ग अपनाया है।

सुनते हैं आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त में सिद्धत्व प्राप्त किया जा सकता है, सोचो तो सही उनकी क्या साधना होगी। यहाँ तो कितनी सप्लीमेंट्री (पूरक परीक्षा) है वहाँ तो सप्लीमेंट्री की बात ही नहीं, छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान करते हुए श्रेणी माढ़कर अन्तर्मुहूर्त में सिद्ध हो जाते हैं। वहाँ चतुर्थ काल है तो क्या? चतुर्थ या पंचम काल इससे क्या होता है, व्यक्ति सिद्ध होता है कि काल सिद्ध होता है? व्यक्ति सिद्ध होता है, तो जो अमूर्त तत्त्व होता है उसके लिए कोई उपाधि नहीं दी जाती है वह तो शुद्ध तत्त्व माना जाता है, वह निष्क्रिय होता है, धर्म, अधर्म, आकाश, काल यह शुद्ध द्रव्य माने गये हैं। यह कह दो कि काल तो सामान्य रूप से सब स्थानों में एक सा है, यहाँ के कालों में और विदेह क्षेत्रों के कालों में कालों की क्वालिटी में भेद है क्या? वहाँ के लोग यहाँ आ जाये तो मुक्त हो सकते हैं, लेकिन यहाँ के वहाँ समवसरण में पहुँच जाये, तो भी मुक्त नहीं हो सकते, ऐसा क्यों होता है? तो यह क्षेत्रगत काल का प्रभाव है। आचार्य कहते हैं कि अपने परिणामों को देखकर जो अपने से परिणामों में उन्नत हो गये हैं, उनके बारे में सोचेंगे, तो मार्ग उन्मुख नहीं कहलायेंगे, बल्कि आप स्वोन्मुखी विकासोन्मुखी कहलायेंगे।

विकासशील राष्ट्र किसे कहते हैं? जो विकसित राष्ट्र को बार-बार देख रहा है वह कहलायेगा। उसी प्रकार अभी हमारे पास विकास की योग्यता है लेकिन उसका विकास कैसे हो? तो जो विकसित हुए हैं उनके बारे में सोचो।

जिज्ञासा—यहाँ गाथा में **अरिहंत भक्ति जुत्तो** ऐसा नहीं कहा **सिद्ध भक्तिजुत्तो** ही क्यों कहा? तो सिद्ध भक्ति क्या वस्तु है?

समाधान—आचार्य कहते हैं परमार्थ की भावना हमेशा-हमेशा सामने रखना चाहिए, कमजोरी की बात नहीं करना चाहिए। हाँ, गिरना एक प्रकार से उन्नति का एक मूल कारण तो है, जो गिरा है उसे कम से कम ये मालूम तो पड़े कि हम गिर गये हैं, गलती कर गये हैं, तभी सही कौन सा है? उसमें दृष्टि रखेगा तो उसकी उन्नति अवश्य होगी और सर्वोच्च उन्नति की ओर दृष्टि रखना चाहिए। उसे ज्ञात है, तभी तो उस कमी को / दाग को मिटाने का बार-बार प्रयास करता है लेकिन ऐसा नहीं सोचता कि इन लोगों की अपेक्षा तो मेरा ठीक है, यदि ऐसा सोचेगा तो और नीचे चला जायेगा और पर के नहीं किन्तु अपने ही मिथ्यात्व विभाव रागादि भावों का विनाश कर रहा है तो उपगूहन करता है। भले मिथ्यात्व कर्म भीतर रहा आवे, किन्तु उदय में न आये तथा उस रूप परिणमन न हो, तो

इन परिणामों को वह नहीं होने देता, यही उपगूहन अंग हैं। सम्यग्दृष्टि मिथ्यात्व रागद्वेष, मत्सर आदि रूप परिणाम नहीं होने देते हैं, भीतर उसकी सामग्री विद्यमान है, ऐसा होते हुए भी नष्ट नहीं कर पा रहे हैं, लेकिन उपगूहन तो कर सकते हैं।

दृष्टान्त—जैसे—दो महीने तक बरसात के मौसम से जल बहुत मैला मिलेगा, तो निर्मली, फिटकरी वगैरह डालकर उसका मैल नीचे बिठा दिया जाता है और ऊपर का जल ले लिया जाता है, उसी प्रकार पुरुषार्थ के माध्यम से सम्यग्दृष्टि जीव मद-मत्सर मिथ्यात्व आदि रूप परिणामों को नीचे दबा देता है और ऊपर-ऊपर के सिद्ध भक्ति आदि रूप परिणामों को स्वीकार कर लेता है। आप क्षायिक सम्यग्दृष्टि नहीं हो पा रहे हैं तो कोई बात नहीं है, कर्म उदय में आ रहा है तो मैं क्या करूँ? ऐसा नहीं सोचो, किन्तु उसे दबा दो, उपशमकरण तो कर सकते हो और निर्मल परिणाम बना लो और अपना काम कर लो।

गृहस्थ की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन की बात अलग कहेंगे और मुनि के सम्यग्दर्शन की अपेक्षा बात अलग कह रहे हैं। एक प्रकार से जिसका व्यवहार सुपीरियर (उच्च) है उसका व्यवहार गौण करके ऊपर उठाया जाता है, कि अब आपको ऐसा-ऐसा करना है। हाई नम्बर अर्थात् सत्तर से ऊपर वाले बच्चों को ले लेते हैं, उनसे केवल पढ़ने के अलावा और कोई काम नहीं करवाते हैं, गवर्मेंट वाले ऐसा करते हैं तो वे बच्चे चार-पाँच साल में होशियार हो जाते हैं और इतने होशियार हो जाते हैं कि विश्व प्रसिद्ध हो जाते हैं। ये आई.आई.टी. वगैरह के छात्र होते हैं। उसी प्रकार ही श्रमण होते हैं आप श्रमण को तथा के.जी.वन वाले गृहस्थों को एक साथ मिला लो तो कैसे काम चलेगा? उनका व्यवहार अलग है, उनकी व्यवस्था अलग है, उनकी कोर्स की किताब की जो ट्यूशन लगती है वह अलग ही है, उसमें उनको अलग प्रकार के संस्कार भी दिये जाते हैं आप श्रमण और के.जी.वन वाले की एक ही कोंचिंग चलाओ तो कैसे काम चलेगा? टिक नहीं सकता, ऐसी बात नहीं, लेकिन काम पूर्ण नहीं कर सकता। निश्चय की अपेक्षा से ले सकते हैं। व्यवहार में कुछ नहीं है ऐसी बात नहीं समझना चाहिए, लेकिन वह भेद रूप है और निश्चय अभेद रूप होता है।

दृष्टान्त—जैसे सेकेंडहैंड वस्तु है वह विदेश में काम नहीं आती, यहाँ की बात नहीं कह रहा हूँ। यहाँ तो जितने भी एक्सरे आदि की मशीन है, वह विदेश में पाँच-छह वर्ष चली हुई आती हैं। भारत में पहले उसी को लेटेस्ट (नया) कह कर स्वीकार कर लेते हैं और जब तक मशीन खराब न हो तो पचास-सौ साल तक चलायेंगे। भले ही इसमें एक्सरे उतरें या ना उतरें। वाहन का भी ऐसा ही है, किसी के मुख से सुना था कि इंटीरियल (अंदर की ओर) में गाड़ी चलती थी, गाड़ी कैसी थी तो ब्रेक को छोड़ कर सब लगते थे और हार्न को छोड़ कर सब बजते थे। गाड़ी तो ऐसी सुपर थी कि क्या बतायें? तो गृहस्थों के सम्यग्दर्शन की बात करो तो इस ढंग से चलता है लेकिन वह श्रमणों के साथ मेल कैसे करवाओगे, उसको सोचो विचार करो। वह कहता है कि हमारी भी तो गाड़ी है, ठीक

है तो उसे इंटीरियल में चलाओ, हाईवे में मत चलाओ, मापदण्ड अपने-अपने होते हैं, उसको वहीं तक रखो।

सम्यग्दृष्टि जीव को मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय सम्बन्धी बंध नहीं होता, क्योंकि वो इन भावों को नहीं होने देता, इसलिए वह तत्सम्बन्धी अबंधक कहलाता है। वह वीतराग सम्यग्दृष्टि पूर्वबद्ध कर्म की निर्जरा करता है, उसमें भी वो तुलनात्मक करते रहते हैं। जैसे यहाँ ज्यादा बुद्धि वाले छात्र होते हैं, तो उनको विदेश भेज दिया जाता है और विदेश वालों को यहाँ बुला लिया जाता है, इस प्रकार उनकी बुद्धि को विकसित किया जाता है। आज तो मूलगुणों के बारे में नहीं सोचते हैं, तो उत्तरगुणों की तो बात ही दूर है। उत्तरगुण कैसे होते हैं? उनका तो कोई मापदण्ड ही नहीं होता है, उसकी क्षमता कितनी है यह अपने ढंग से देखकर लिया जाता है और वे अपनी साधना करते चले जाते हैं, उनकी क्षमता कितनी है उसी के ऊपर उत्तर गुण आधारित होते हैं, फर्स्ट क्लास फर्स्ट (प्रथम श्रेणी) आने वाला जो विद्यार्थी है वह परीक्षा में आने वाले प्रश्न व दूसरा विषय भी आ जाता है तो हल कर देता है, उससे तो उसे कोई बाधा नहीं होती, उसका तो विकास होता रहता है, लेकिन हम मूलगुणों में ही ३३ नम्बर ही नहीं ला पा रहे हैं, ६७ नम्बर ही गोल हैं, आज तो ३३ नम्बर में ऐसा समझते हैं कि हमारा तो बहुत विकास हो चुका है। लेकिन ध्यान तो रखो कि अभी ६७ नम्बर से फेल हैं, पहले मूलगुणों के विकास के बारे में सोचो, बाद में आउट ऑफ कोर्स उत्तरगुणों की बात करो, इसकी बात ही अलग है। निश्चय की अपेक्षा से देखते हैं, तो आठों अंग मिलकर अपने आप में आत्म तत्त्व में ही घटित होते हैं, जैसे दश लक्षण धर्म एक दूसरे से कनेक्टेड होते हुए भी आत्म तत्त्व से उनका सही सम्बन्ध होता है। उसी प्रकार ये आठ अंग भी आत्मा से कनेक्टेड (सम्बन्धित) हैं।

इस प्रकार जो जीव शुद्धात्मा की भावनारूप पारमार्थिक सिद्ध भक्ति से युक्त है, वह मिथ्यात्व और रागादि रूप विभावभावों का उपगूहक अर्थात् दबाने वाला है वह सम्यग्दृष्टि उपगूहनकारी माना जाता है। जिससे सिद्ध भगवान् की भक्ति में अपना मन लगाया है उसमें तन्मय हो गया है तो उसका उपयोग अन्य विभाव भावों पर कहाँ रहेगा, वे तो सब दबे ही रहेंगे अतः वह दोषों का उपगूहक ही रहता है। उस जीव के दोषों को नहीं छिपाने रूप अनुपगूहन के द्वारा किया हुआ बन्ध नहीं होता किन्तु उसके तो निश्चित रूप से पूर्व संचित कर्म की निर्जरा ही होती है।

उत्थानिका—अब आगे स्थितिकरण अंग का व्याख्यान किया जाता है।

उम्मगं गच्छंतं सिवमगे जो ठवेदि अप्पाणं।

सो ठिदिकरणेण जुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२४९॥

अन्वयार्थ—(जो) जो आत्मा (उम्मगं) उन्मार्ग में (गच्छंतं) जाते हुए (अप्पाणं) आत्मा को (अपने आपको) (सिवमगे) मोक्षमार्ग में (ठवेदि) स्थापन करता है (सो) उसे (ठिदिकरणेण जुदो) स्थितिकरणगुण सहित (सम्मादिट्ठी) सम्यग्दृष्टि (मुणेदव्वो) जानना चाहिए।

अर्थ—जो जीव उन्मार्ग में जाते हुए अपने आपको बचाकर सन्मार्ग में स्थापन करता है वह सम्यग्दृष्टि स्थितिकरण गुण सहित है, ऐसा समझना चाहिए।

उन्मार्ग पे विचरता मन को हटाता,
सन्मार्ग पे नियम से मुनि जो लगाता।
वो ही स्थितीकरण अंग सुधारता है,
संसार से तिर रहा जग-तारता है ॥२४९॥

व्याख्या—सम्यग्दृष्टि अपने को सन्मार्ग में स्थापित करता है—जो जीव मिथ्यात्व रागादि रूप उन्मार्ग की ओर जाते हुये अपने आपको वहाँ से बचा कर परम उत्तम योगाभ्यास के भरोसे अपनी श्रद्धा आत्मा के भाव स्वरूप मोक्षमार्ग में अथवा सन्मार्ग में स्थापन करता है, तो वह स्थितिकरण गुण युक्त माना जाता है, उसे अस्थितिकरण सम्बन्धी दोष का बंध नहीं होता किन्तु निश्चित रूप से पूर्व बद्ध कर्मों की निर्जरा होती है। गृहस्थ यदि उन्मार्ग में जाता है तो वह अपने आपको पुनः सन्मार्ग में स्वयं स्थापित नहीं कर पाता, किन्तु श्रमण मुनि जो हैं, वे थोड़े से स्वलित हुये नहीं कि अपने आपको पुनः वहीं लाकर स्थापित कर देते हैं। उन्हें किसी की प्रतीक्षा नहीं करना पड़ती, वे हमेशा अलग-अलग रहते हैं और रहना ही चाहिए। गलतियाँ तो संभव हैं, लेकिन गलतियों को स्वीकार कर पुनः गलती न हो इसके लिए सावधानी रखना आवश्यक होती है। उबासी तो सबको आयेगी लेकिन हाथों-हाथ समीचीन स्थिति करके उसको शान्त कर लेना चाहिए, अन्यत्र कहीं बैठे हैं तो वहाँ उबासी आ रही है तो ठीक है लेकिन यदि किसी व्यक्ति को उबासी आ रही है और ड्राइवर के पास बैठा है तो वह ड्राइवर कहता है, आप गाड़ी में बैठ तो सकते लेकिन नींद या उबासी आ रही हो तो मेरे पास नहीं बैठ सकोगे। वह कहता है कि मैं गाड़ी तो बाद में चलाऊँगा पहले इसको मेरे पास से उठा कर पीछे बिठा दो नहीं तो मैं गाड़ी नहीं चला पाऊँगा, क्योंकि प्रमादी को देखकर प्रमाद आना सहज है, हाँ पर्यावरण दूषित हो जाता है। प्रमादी को देखकर बहुत जल्दी आलस आ जाता है। इसलिए आचार्यों ने कहा कि अपने से उन्नत गुण वालों के साथ रहो उन्हीं से सम्पर्क रखने का प्रयास करो।

दृष्टान्त—जैसे—यदि सप्लीमेण्ट्री (पूरक) के पास चले जाओगे तो डिवीजन की बात तो बहुत दूर है, फेल होने की नौबत आ जायेगी। कोई बात नहीं सीनियरिटी (ज्येष्ठता) तो हो ही जायेगी, ऐसा यदि कहते हैं तो ठीक नहीं। अरे! एक कक्षा में चार-पाँच साल का अनुभव हो जायेगा, वह अच्छा माना जायेगा क्या? नहीं। जो कोई चार-पाँच साल तक एक कक्षा में रहेगा तो उसका अनुभव सबसे थोड़ा माना जायेगा। तभी तो वह सफल नहीं हो पा रहा है, तभी तो उसकी उन्नति नहीं हो पा रही है, जैसे जीवन पर्यन्त भी शोध पूर्ण नहीं माना जाता है, उसी प्रकार ३३ नम्बर लेकर ऊपर चले गये लेकिन वह अनुभव थोड़े ही होगा। ज्ञान बढ़ने से कुछ नहीं, अनुभव बढ़ना चाहिए। जिन मुनि का उन्मार्ग की ओर उपयोग गया है, वे उसे हाथों-हाथ सन्मार्ग की ओर लाने का प्रयास करते हैं, उन्हें

किसी की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं होती। गिरा और तात्कालिक उठा, इसी को बोलते हैं उन्मार्ग से हटाकर अपने आपको सन्मार्ग में स्थापित करना। ड्राइविंग करने वाले के हाथ में हमेशा स्टीयरिंग रहता है, वह हमेशा यूँ-यूँ करता रहता है, थोड़ा-सा इधर हो जाये, तो उधर का इधर ले लेता है और इतनी लम्बी यात्रा कर लेता है। इसी प्रकार मोक्षमार्ग में श्रमण का कर्तव्य है कि अपने हाथ में स्टेरिंग रखे, लेकिन स्टेरिंग सही हो, उसमें कमियाँ न हों, चाबी यूँ घुमाते ही एक दम गेयर पकड़ना चाहिए, तब तो हम कर सकते हैं, नहीं तो कोई आ जाये, धक्का लगा दे, तब पूर्व स्थिति में आये तो यह ठीक नहीं है।

उन्मार्ग में जाते हुए अपने आपको, अपने मन को शिवमार्ग में जो स्थापित करता है, वह स्थितिकरण से युक्त सम्यग्दृष्टि माना जाता है अर्थात् यदि कोई भी गलती हो गई, तत्काल प्रायश्चित्त लेकर वह अपने आपको आगे बढ़ा लेता है, तो वह अपने आपको सन्मार्ग में स्थित करने में सफल हो जाता है। उसके पास इतनी क्षमता रहती है कि स्वदोषों को अपनी दृष्टि में रखता है तभी तो उसके योग्य प्रायश्चित्त आदि से स्वयं को शुद्ध कर लेता है। यह मोक्ष का बहुत ही सुन्दर मार्ग है, स्वाश्रित मार्ग है, अन्यत्र तो दूसरे के लिए दण्ड व्यवस्था होती है। बाध्य करना पड़ता है, तब अपनी गलती मानता है, लेकिन मोक्षमार्ग में साधक स्वयं अलर्ट रहता है, क्योंकि वह जानता है, कि ये दोष ज्यों के त्यों रहेंगे, तो आगे हमारी क्या स्थिति होगी, अतः वह बार-बार दोषों का परिमार्जन करता रहता है, परिमार्जन करने में प्रमाद नहीं करता है।

दृष्टान्त—तलवार जो होती है, वह चाँदी या सोने की नहीं होती, किन्तु लोहे की होती है और वह उस तलवार को बार-बार खिसकाते ही रहते हैं और कोई दूसरा डिस्टर्ब (व्यवधान) करता है तो कहता है कि तलवार को म्यान से निकाले बहुत दिन हो गये हैं। मतलब यूँ-यूँ करते रहते हैं, म्यान में रखे हुए भी जंग खाने की पूरी संभावना रहती है। म्यान का अर्थ होता है कोस। **जिनेन्द्रकोषादिव खड्गयष्टिं** ऐसा आप लोग सामायिक पाठ में पढ़ते हैं। जहाँ पर तलवार रखी जाती है, उसे कोस अर्थात् म्यान भी बोलते हैं, एक म्यान की तलवार होती है और एक नंगी तलवार होती है। नंगी तलवार अर्थात् म्यान से जो बाहर रखी हुई है और उसे पुनः म्यान में रख देते हैं, तो म्यान की तलवार हो गई। बार-बार म्यान में से निकालकर पुनः उसमें रखते हैं तो जंग नहीं खाती। म्यान के अलावा अन्यत्र कहीं रखेंगे, तो जंग लग जायेगी, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन को आठ अंगों में रखा जाता है, तो जंग नहीं खाता है, किन्तु आठ अंगों से रहित यदि रखेंगे तो जंग खा जायेगी। अतः उसे काम में लेना चाहिए। सम्यग्दर्शन को सुरक्षित बनाये रखने के लिए आठ ही अंग चाहिए। इन आठ अंगों के माध्यम से सम्यग्दर्शन बना रहता है।

आपके यदि बुरे परिणाम हो गये, मुख से कटु शब्द निकल गये या काय से बुरी चेष्टा हो गयी, तो तत्कालिक एक कायोत्सर्ग कर लेना चाहिए ऐसा कहा गया है और यदि विशेष कुछ हो जाता है,

तो आचार्य के समक्ष, गुरु के समक्ष, अपनों से बड़ों के पास जा करके निवेदन कर लो और प्रायश्चित्त ले लो।

दृष्टान्त—जैसे—कोई गिर जाता है तो उसे हॉस्पिटल ले जाने में, इलाज कराने में टाइम लगेगा, इसलिए तात्कालिक प्राथमिक उपचार कर लेते हैं, जहाँ-कहीं भी लगी हो, वहाँ तुरन्त पट्टी वगैरह बाँध देते हैं। अभी-अभी भुज में भूकम्प हुआ, उसमें सिविल सर्जन का पूरा का पूरा अस्पताल ढह गया था, वे बहुत होशियार थे, उस समय लोगों का उपचार कैसे करें? तो उन्होंने क्या किया? वहीं पर जो कपड़े मिले उन्हीं को फाड़-फाड़ कर बाँधते जा रहे थे, प्राथमिक उपचार करते जा रहे थे और घबराओ नहीं, ऐसा बार-बार कह देते थे। अस्पताल ही नहीं, सारी सामग्री ही समाप्त हो गई थी, उस समय पैसों की आवश्यकता नहीं दवाइयों की आवश्यकता होती है, दवाई भेज दीजिए और ये-ये वस्तु भेज दीजिए बाकी सब मैं कर लूँगा, ऐसा नहीं सोचें कि इस कपड़े से कैसे बाँधें, ये सोचकर बैठे रहें फिर तो खून ही नहीं रुकेगा, अतः प्राथमिक उपचार आवश्यक है, कई बार लोग हमारे पास आ करके कहते हैं महाराज ? सडनली (अचानक) ऐसा-ऐसा हो गया, तो हमने इतना प्रायश्चित्त कर लिया था, दो उपवास कर लिये थे, लेकिन मन में प्रसन्नता नहीं लग रही, अतः आप पुनः दे दीजिए, तो उन्होंने प्राथमिक उपचार तो किया इतना समझ में तो आता है कि गलती हो गई है, शास्त्रीय पद्धति से भले ही न कहें कि गलती हो गई। तो तुरन्त ही कान पकड़ लेता है, तौबा-तौबा हाय रे ये क्या है? यही प्राथमिक उपचार है, ऐसा नहीं कि पहले धर्मध्यान पुस्तक खोले, **पापिष्ठेन दुरात्मना** ये पढ़े, ये संस्कृत का पढ़ना तो एक प्रायश्चित्त का रूप है, मुख्य बात तो यह है कि अनर्थ हो गया हो, गलती हो गयी हो तो परिणामों में पश्चाताप की अग्नि जलनी चाहिए। यदि पश्चाताप की अग्नि नहीं जलती है तो वह व्यक्ति प्रायश्चित्त क्या लेगा।

आसमान को छूना सरल, पर मन को समझाना अति कठिन—२८ मूलगुणों को धारण किया है और एक अक्षर का भी ज्ञान नहीं है तो भी उस मुनि का काम चल जायेगा, क्योंकि **आचार वस्तुमात्रं ज्ञानं** इतना ज्ञान तो उसको है अतः आचरण या चारित्र क्या है? यह जानता है, उसका नाम क्या है? ये नहीं जानता, तो भी इतना महसूस करता है, कि यही महत्त्वपूर्ण है, उसी प्रकार यह उन्मार्ग हमारे लिए ठीक नहीं है फिर भी कौन देखता है, कौन सुनता है, कौन पूछता है? अतः यद्वा-तद्वा चलें, ऐसा नहीं सोचना चाहिए। स्थितिकरण अंग का प्रकरण चल रहा है, उन्मार्ग की ओर कौन जाता है? मन के माध्यम से आत्मा ही तो जाता है। उन्मार्ग की ओर मन जाता है, तो उसे सन्मार्ग की ओर भी लाया जा सकता है। जो अपने आपको शिवमार्ग पर स्थापित करता है, तो वह सम्यग्दृष्टि स्थितिकरण अंग का धारक माना जाता है। यह कार्य आसान जैसा लगता है, इतना आसान कि जैसे-सोते हुए भी कर सकते हैं, क्योंकि अपना ही तो मन है उसे ज्यादा क्या समझाना, अपना ही तो व्यक्ति है उसे ज्यादा क्यों समझाना, अर्थात् उसमें दिक्कत नहीं पड़ती, किन्तु दूसरा कोई हो तो

फिर भी दिक्कत हो सकती है, क्योंकि दूसरों से बार-बार कहना पड़ेगा, कि हमारी बात मान लो और यह दूसरा व्यक्ति तो फिर भी मान ले लेकिन अपना मन जल्दी नहीं मानता, दूसरे व्यक्ति को तो हम समर्पित करा सकते हैं, लेकिन अपने मन को नहीं करा सकते हैं। यह आसान काम जैसा लगता है लेकिन आसमान को छूने जैसा काम है। आसमान को छूना फिर भी संभव है लेकिन मन को समझाना बहुत कठिन है अब जिसने मन को समझा लिया तो उसके लिए फिर कोई काम कठिन रहता ही नहीं। चौबीसी घंटे बैठा-बैठा मन कुछ न कुछ बुनता ही रहता है। प्रतिज्ञा किये एक सेकण्ड भी नहीं होता कि मन कहाँ-कहाँ चला जाता है कुछ ठिकाना नहीं रहता, फिर प्रायश्चित्त कर लेता है, फिर भी बार-बार वहीं जाता है, उसकी आदत बदलना बहुत कठिन होता है, अप्रमत्त अवस्था में पाँच सेकंड रुकता है तो प्रमत्त अवस्था में दस सेकंड रुकता है, यह उसका वेतन है, कितना भी समझा दो? वह कहता है हम पाँच सेकंड वहाँ रख देंगे तो मिनिमम दस सेकंड को बाहर जायेंगे ही जायेंगे। इसी अनुबंध के साथ हम भी हव कह देते हैं, क्योंकि सिद्धान्त में तो स्वीकार किया है कि सातवें गुणस्थान में एक सेकंड रुका तो कम से कम दो सेकंड छठवें गुणस्थान में प्रमाद में रुकना आवश्यक होता है। यह उसकी आदत है फिर भी वह कार्य बहुत अच्छा करता है। अन्तर्मुहूर्त के उपरान्त केवलज्ञान माना है। उनकी भी यही दशा है, उन्हें भी छठवें-सातवें गुणस्थान में हजारों बार आना-जाना पड़ता है। ऐसा नहीं कहा कि यह सीनियर हो गया हो, तो दस मिनट अप्रमाद में रहेगा तो प्रमाद के लिए तो एकाध मिनट को आये और पुनः वही पहुँच जाये, ऐसा नहीं हो सकता, चाहे तीर्थकर हों, ऋद्धिधारी हों, आज के मुनिराज हों या पुराने मुनिराज हों कोई भी हों, सभी का सातवें गुणस्थान से दुगुना काल छठवें गुणस्थान का होता ही है और वहाँ मुनि को इतने समय तक रुकना आवश्यक होता है। यदि श्रेणी नहीं माढ़ी है तो यही स्थिति रहेगी, इससे ज्ञात होता है, कि इसका कार्य यही है, मन रुकता नहीं है, घड़ी चल रही है, तो काँटे रुकेंगे ही नहीं, जो मिथ्यात्व आदि उन्मार्ग हैं, उसमें जाते हुए अपने आपको परमार्थ मोक्षमार्ग में / निश्चय मोक्षमार्ग में स्थापित कर देना, यह निश्चय मोक्षमार्ग की बात कही गई है।

जिज्ञासा—व्यवहार मोक्षमार्ग और निश्चय मोक्षमार्ग में क्या अन्तर है?

समाधान—व्यवहार मोक्षमार्ग में स्थिरता नहीं रहती है, निश्चय मार्ग में स्थिरता रहती है। जैसे-दूध तप रहा है, तो उसमें हलचली होती है और ठंडा है तो वह स्थिर होता है, ये ही दशा यहाँ है। निश्चय मोक्षमार्ग में हलचली नहीं होती, किन्तु स्तब्धता होते हुए स्थिरता होती है जबकि व्यवहार मोक्षमार्ग में चंचलता है, स्पन्दन है, टिकाऊ नहीं रहता, यह व्यवहार मोक्षमार्ग सन्मार्ग तो है। दूध की क्वालिटी तो ठीक है, लेकिन अभी उबाल आया हुआ है, अतः अस्थिर है, उस दूध के रस, गन्ध, वर्ण में कोई अन्तर नहीं आया है, यह सफेद है, मीठा है, बलवर्धक है, सब कुछ है मात्र स्पर्श में अन्तर आया है, कि गर्म है, यह गन्ध को, रस को भी विकृत बना देता है। गर्म उबाल वाले दूध का

रस नहीं ले सकते, कोशिश करेंगे तो जीभ जल जायेगी। वह अग्नि से प्रभावित हुआ है इसलिए आप उसे बनती कोशिश ठंडा बना दीजिए ताकि सर्वोपयोगी सिद्ध हो जाये, गर्म दूध काम में नहीं आ रहा है, बस देखने में आ रहा है, अब ज्यादा क्या श्रेष्ठ है यह आपको चुनना है। स्थितिकरण तो कर रहा है, ठीक होगी या नहीं यह किसके भरोसे से कहें, स्वयं की स्थिति तो डाँवाडोल तो हो ही गई है, स्वयं स्थिर होने वाला कुछ नहीं करता, किन्तु जो जाता है उसी की अंगुली पकड़ी जाती है। स्थिर होने वाले की अंगुली पकड़ने की आवश्यकता ही नहीं होती, जो बैठा है उसकी क्या अंगुली पकड़े, निश्चय वाला स्थिर होता है, उसकी अंगुली पकड़ने का सवाल ही नहीं, यह कहने में आता है, व्यवहार में इस ढंग से काम होता है, एकांत रूप से हम उसका अवमूल्यन नहीं कर रहे हैं, लेकिन निश्चय मोक्षमार्ग में केवल अपना ही होता है। व्यवहार मोक्षमार्ग में जब प्रवृत्ति में आते हैं तब दूसरों की सहायता की जाती है। यह बुरा भी नहीं है किन्तु कर्तव्य है, लेकिन कर्तव्य अनेक प्रकार के हुआ करते हैं, यही बात यहाँ पर कही जा रही है।

दृष्टान्त—सम्यग्दर्शन सम्बन्धी जितने भी अंग बताये जा रहे हैं, वह अपने शरीर के ही अंग जैसे हैं। जिस प्रकार आपके शरीर में आठ अंग होते हैं, उन आठों अंगों के अभाव में आपके शरीर का अस्तित्व ही नहीं होता। दोनों हाथों को, पैरों को, पेट को, पीठ को, मस्तिष्क को, हृदय को इन सबको गौण कर दो, तो फिर बचा ही क्या? उसी प्रकार सम्यग्दर्शन एक शरीर है जिसके आठ अंग हैं, इन आठ अंगों के अभाव में सम्यग्दर्शन रूपी व्यक्तित्व का कोई भी ठिकाना नहीं रहता। यह उदाहरण इसलिए दिया जा रहा है, कि जो आठ अंगों के महत्त्व को नहीं समझते हैं, उन्हें समझ में आ जाये, मात्र सम्यग्दर्शन की बात करते हैं, तो उन लोगों को यह सोचना चाहिए कि आठ अंगों के अभाव में सम्यग्दर्शन रूप व्यक्तित्व कैसे रह सकता है? जिसकी हमें रक्षा करनी चाहिए जिसकी हमें पुष्टि करनी चाहिए तो आठ अंगों के अभाव में सम्यग्दर्शन क्या वस्तु है जिसकी हम पुष्टि करें? कुछ नहीं कर सकते, यह छोटी बात नहीं है, बहुत बड़ी बात है, इसमें सम्यग्दर्शन के संरक्षण के लिए आठ अंगों का संरक्षण परम अनिवार्य है।

अपने आपका मोक्षमार्ग में अस्तित्व रखना चाहते हो तो सम्यग्दर्शन का अस्तित्व रखो और सम्यग्दर्शन को स्थिर रखना है तो आठ अंगों को स्थिर करो। व्यवहार से आठ अंग होते हैं, लेकिन जैसे आत्मा को छोड़कर उपयोग क्या वस्तु है? जरा बताओ, व्यवहार से ही बता दो, कि आत्मा को छोड़कर उपयोग कौन से बाजार में बिकता है? ठीक यही स्थिति इसकी है, उपयोग से अलग हम आत्मतत्त्व को महसूस नहीं कर सकते हैं, उसी प्रकार आठ अंगों के अभाव में चाहे निश्चय हो, या व्यवहार सम्यग्दर्शन हो, ऐसा कौन-सा सम्यग्दर्शन बचा जिसको हम अपनी सुरक्षा की दृष्टि से रख लें? अतः आठों अंगों से सहित ही सम्यग्दर्शन महत्त्वपूर्ण है। गुण-गुणी का जैसा सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन और आठ अंगों का सम्बन्ध होता है, गुण-गुणी को छोड़ कर नहीं रह सकता

उसी प्रकार सम्यग्दर्शन एक अंगी और यह आठ उसके अंग हैं।

दृष्टान्त—ग्रन्थ क्या वस्तु है? सात-आठ अधिकारों का समूह ग्रन्थ है। अधिकार क्या वस्तु है? तो जिसमें सात-आठ प्रकरण हों, पैराग्राफ (परिच्छेद) लिखे गये हो। पैराग्राफ क्या वस्तु है? कुछ पंक्तियों का समूह है। पंक्ति क्या वस्तु है? शब्दों का समूह है। शब्द क्या वस्तु है? अक्षरों का समूह है, अब क्या रह गया, इतना बड़ा ग्रन्थ है, तो वह ग्रन्थ क्या है? शब्दों का समूह है, शब्द क्या वस्तु है? अक्षरों का समूह। अक्षर कितने रूप में हैं? स्वर और व्यंजन रूप में हैं। स्वर और व्यंजन को अलग कर दो, तो उसकी टाँग टूट गई, श्वास रुक गया अब रहा क्या बताओ? इसलिए द्वादशांग भी कोई बड़ी वस्तु नहीं, उसमें अक्षर, व्यंजन, स्वर हैं, उन्हीं अक्षर, व्यंजन, अनुस्वार, उपसर्ग से इतना बड़ा द्वादशांग बना है, इनके बिना और कुछ नहीं है, इसलिए स्रोत को ध्यान में रखो, तो ज्ञात हो सकता है, स्रोतस्विनी क्या है? संस्कृत में एक नदी का नाम है। तो नदी का स्रोत क्या है? अमरकंटक है, वहाँ जाकर देखो तो प्रति समय, प्रतिपल पानी निकल रहा है, उस स्रोत के माध्यम से यह स्रोतस्विनी बनी, तो उसका स्रोत कहाँ है, उद्गम स्थान कहाँ है? तो कहते हैं कि अमरकंटक में है, तो उसी प्रकार आचार्य संघ आदि हैं, इसके ऊपर मोक्षमार्ग आधारित है, जो सम्यग्दर्शन अथवा रत्नत्रय है, उसे महसूस करो। कितना विराट भी है और कितना सूक्ष्म भी है, लेकिन सूक्ष्म भी उस विराटता का स्रोत हो जाता है।

सम्यग्दर्शन सहित छह आवश्यकों का महत्त्व—सम्यग्दर्शन के ऊपर ही आपकी निर्जरा आधारित है। आज जो छह आवश्यक को करते हैं, तो उसका मूल्य सम्यग्दर्शन के ऊपर आधारित है। छह आवश्यकों के माध्यम से यदि कर्म निर्जरा होती है एवं मोक्षमार्ग सुरक्षित रहता है, तो सम्यग्दर्शन के द्वारा ही होता है, तो उसमें सम्यग्दर्शन प्रमुख होता है। यह सम्यग्दर्शन है, इसके बिना वह किसी प्रकार से खड़ा नहीं हो सकता, यह बात दिमाग में मन में निर्णीत कर लेना चाहिए। देव, गुरु, शास्त्र की मान्यता के बिना उनके प्रति श्रद्धान के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता, यह सम्यग्दर्शन आत्मा में होता है लेकिन उसमें देव, गुरु, शास्त्र में से एक को गौण करके देख लो क्या होता है? सम्यग्दर्शन होने में वे कोई आधार नहीं है यह आप मन, वचन, काय से स्वीकार करने तैयार हैं क्या? जब सम्यग्दर्शन होने में कारण है ही नहीं तो एनाउंस (घोषणा) कर दो कि देव, गुरु, शास्त्र का इसमें कोई भी थोड़ा-सा भी आधार नहीं हैं, कह दो हम तो ऐसा निश्चय से कहते हैं तो निश्चय का कारण क्या है? व्यवहार है, देखो यह कमजोरी ही व्यवहार को मजबूत बना देती है, यह एक प्रकार से भ्रम पैदा करने के तरीके हैं। पहले तो अच्छे ढंग से कहा, कि अश्वत्थामा हतः, फिर धीरे से कह दिया कि **नरो वा कुंजरो वा**, यही व्यवहार जब नर को ही कहना था, तो फिर साथ में कुंजर कहने की क्या आवश्यकता थी, लेकिन यह रणनीति है इसलिए हम यह कहना चाहते हैं, कि यदि निमित्त कुछ भी सहयोगी नहीं है, तो मुख से स्पष्ट कह दो न। आप स्वयं निमित्त के द्वारा ही तो यह कहेंगे।

संस्मरण—एक व्यक्ति ने कहा सम्यग्दर्शन बड़ा है कि सम्यक्चारित्र बड़ा है या सम्यग्ज्ञान बड़ा है, तो उनसे पूछा व्यवहार बड़ा है या निश्चय बड़ा है, महाराज! बड़ा-छोटा कुछ नहीं सब समान मानना चाहिए। हमने कहा आप सोच लो, निर्णय कर लो, निर्णय करने वाला कौन है? व्यवहार है कि निश्चय है, यह 'वाला' शब्द दिखा रहा है कि निर्णय अलग है और निर्णय करने वाला अलग है, यह बड़ा है, यह छोटा है, यह कह दें या समान भी कह दें तो समान टुकड़े करने वाला कौन है? यह मुझे बताओ।

दृष्टान्त—दो बच्चे थे किसी वस्तु का हिस्सा करना था, वे दोनों नहीं कर पा रहे थे, दोनों में लड़ाई हो रही थी, तो किसी एक को बीच में रखा, तो बीच वाला कहता है कि हमारे लिए क्या मिलेगा बताओ? उसी प्रकार निश्चय बड़ा है कि व्यवहार यह कहने वाला कौन है? मुख है व्यवहार बोलता है, तो उसके लिए साधु को कुछ देना ही पड़ेगा और मान लो बराबर है तो एकाध आना इसको देने से यह बड़ा हो जायेगा, जो बड़ा है उसे तो कहीं भी रख दो, वह बड़ा तो बड़ा ही होता है। जो दिखने में नहीं आता है, वह बाद में रखा जाता है, ऐसा है। व्यवहार तो व्यवहार माना जाता है, निश्चय तो निश्चय माना जाता है।

दृष्टान्त—सुनलो घी निकालने के उपरान्त घी की मात्रा जिसमें कम रहती है वह कहाँ रखा जाता है, पता नहीं चलता है, मट्टा, छाछ, दही है, दूध है, ये सब भरे हुए रहते हैं, यह सब व्यवहार ऐसा ही चलता है व्यवहार में व्यवहार की ही मौलिकता मानी जाती है।

सम्यग्दर्शन चेतन है कि अचेतन? अचेतन है तो उसकी श्रद्धा कैसी है? उसकी क्या पहचान होती है? कई लोगों को भ्रम होता है कि जब जीव चेतन है तो सब चेतन होना चाहिए, यही तो गड़बड़ है कि जब गुणों की बात करते हैं तो जीव में सम्यग्दर्शन गुण है वह चेतन है या अचेतन है यह प्रश्न उठता ही है? यह अचेतन ही है यह कैसे जाना जाता है? ज्ञान के माध्यम से ही जाना जाता है, उसमें अनुभूति नहीं होती, हाँ, उसकी अनुभूति ज्ञान के द्वारा होती है, लेकिन वह सम्यग्दर्शन स्वयं अनुभव नहीं करता है, क्योंकि वह ऐसा गुण है, उसके द्वारा आत्मा में श्रद्धान तो होता है, किन्तु संवेदन नहीं होता है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये तीनों पर्यायें हैं और इन तीनों की उपस्थिति के कारण मोक्षमार्ग बनता है, जो तीनों गुण की पर्याय हैं उसमें से चारित्र रूप श्रद्धान अचेतन सिद्ध होगा, क्योंकि आत्मा में ज्ञान-दर्शन दो गुणों को छोड़ करके शेष जितने भी गुण हैं, वे सभी अचेतन रूप हैं। सीधी-सीधी सी बात है, उसका माध्यम कुछ भी है, लेकिन वह चेतन है कि अचेतन ये मार्गणा के हिसाब से बता दो कि दो ही गुण हैं, ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग जो कि संवेदनशील चेतन हैं, इसी के द्वारा आत्मा संवेदन करता है लेकिन श्रद्धा के माध्यम से क्या संवेदन करता है, मुझे बताओ? चूँकि वह एक अलग वस्तु है।

दृष्टान्त—माइंड व हार्ट (हृदय) में जिस प्रकार अन्तर है, उसी प्रकार श्रद्धान व ज्ञान में अन्तर

है? हार्ट यह श्रद्धान का प्रतीक है और माइंड ज्ञान का प्रतीक है। ज्ञान से लिखा जा रहा है कि श्रद्धान से? ज्ञान से लिखा जाता है, तो श्रद्धान के बिना लिखा जा रहा है या श्रद्धान के साथ लिखा जा रहा है? उत्तर तो देना पड़ेगा आपको। वस्तुतः इन दोनों में अन्तर है कि नहीं यह बताओ? वह चैतन्य पिण्ड है तो गुण ही मत मानो, आत्मा गुण की मूर्ति है, यह गुण के द्वारा नहीं बनी, ऐसा कह दो। प्रत्येक बात स्थिरता से बोलिये। चैतन्य पिण्ड है तो उसमें गुण हैं या एक मात्र आत्मतत्त्व है और कुछ नहीं और यदि गुणों को माना है तो कितने गुण हैं? दो ही गुण हैं। यदि कोई कहे कि एक भी गुण नहीं है, तो आप क्या कहोगे? आगम ने माना है, तो आगम में तो अनन्त गुण भी माने हैं और आप दो ही कह रहे हैं। अनन्त को गर्भित करना बात अलग है, लेकिन फिर भी अनन्त गुण माने ही जाते हैं।

दृष्टान्त—जैसे-घर में एक बेटा कमाऊ होता है तो कहने में यही आता है कि यह उन्हीं का सब अम्बार है, ऐसा कहते हैं, उन्हीं के माध्यम से १५० का परिवार चल रहा है, जे दद्दा चले जायेंगे, तो यहाँ पर कुछ भी नहीं बचेगा। चक्रवर्ती के कारण ही ९६ हजार स्त्रियाँ हैं, ८४ लाख हाथी, १८ करोड़ घोड़े हैं, रथ हैं आदि-आदि। चक्रवर्ती का अभाव हुआ तो सब समाप्त।

जैसा जिसका स्वरूप है उसको वैसा मानो—कितने गुण हैं बताओ? आचार्य कहते हैं जिसका जो स्वरूप है, उसको उसी रूप में मानना चाहिए, ओवर कान्फीडेंस होने से या अति करने से बहुत सारी अव्यवस्थाएँ हो जाती हैं, इन्हीं अव्यवस्थाओं के कारण ही आज तक संसारी प्राणी को दुःख का अनुभव हुआ है, जिसको जिस रूप में कहा गया है, उसको उसी रूप में मानना ही सम्यग्दर्शन है। श्रद्धान को अचेतन के रूप में स्वीकार करना और ज्ञान-दर्शन को उपयोग या चेतन के रूप में स्वीकार करना यही श्रद्धान है। एकान्त से ज्ञान-दर्शन गुण के बिना आत्मा कहेंगे तो भी गड़बड़ है अथवा अन्य गुणों की अपेक्षा से जीव चेतन है ये कहना भी गड़बड़ है, यह स्वरूप विपर्यास माना जाता है। भेदाभेद विपर्यास, कारणकार्य विपर्यास माना जाता है, कि इसका कारण क्या है तथा कार्य क्या है? यह सही-सही नहीं मानते हैं, तो कारण विपर्यास हो जायेगा तथा किसका स्वरूप क्या है? ज्ञान का, दर्शन का स्वरूप क्या है? उसको उसी रूप में स्वीकार करना चाहिए यदि अन्यथा स्वीकार करते हैं तो स्वरूप विपर्यास हो गया और विपर्यास सो अज्ञान, अज्ञान सो अध्यवसान, अध्यवसान तो मिथ्यात्व। अतः ये स्वरूप-स्वरूपी का ज्ञान अनिवार्य है, एकान्त का किसी पर तिलक थोड़े ही लगा है, एक समय में आप सांख्य बन सकते हो, बौद्ध बन सकते हो, वैशिष्टिक बन सकते हो और यदि एक समय में आप समष्टि के साथ हैं तो अनेकान्ती बन सकते हैं। **स्वयंभूस्तोत्र** में **श्री आचार्य समन्तभद्र स्वामी** ने विमलनाथ भगवान् की स्तुति करते हुए लिखा है कि—

य एव नित्य-क्षणिकादयो नया, मिथोऽनपेक्षाः स्व-पर-प्रणाशिनः ।

त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुनेः, परस्परेक्षाः स्व-परोपकारिणः ॥६१॥

अर्थात् परस्पर में एक दूसरे के पूरक बन जाते हैं, सापेक्षित होते हैं, तो वे नय उपकारी हो जाते

हैं, अन्यथा अहितकारी स्व-पर का नाश करने वाले होते हैं। तैजस समुदघात में जो अशुभ होता है वह पहले पर का घात करता है, फिर स्वयं का घात करता है, यह नियम है, इसी प्रकार यहाँ कह रहे हैं **परस्परैक्षान्वय...** आप निर्धारित कर लीजिए कि आत्मा ज्ञान-दर्शनमय है या नहीं? अन्तर्मुहूर्त में ज्ञानोपयोग फिर दर्शनोपयोग, दर्शनोपयोग फिर ज्ञानोपयोग होता है, अर्थात् अन्तर्मुहूर्त तक ज्ञानोपयोग कार्य करता है फिर नियम से दर्शनोपयोग आता ही है। जिस समय स्वसंवेदन करते हैं उस समय विकल्पात्मक ज्ञान नहीं रहेगा, उस समय विकल्प भी नहीं होता, प्रतीति यह दर्शन गुण की अपेक्षा नहीं मानी जाती, ज्ञान गुण की अपेक्षा से ही प्रतीति को स्वीकार किया जाता है, इसलिए दर्शनोपयोग के समय पर वह ज्ञेयात्मक प्रतीति से रहित होता है, निराकार निर्विकल्प होता है, यह निश्चित है और यह होता है, इसलिए सार्थक है यह भी ध्यान रखना, नहीं तो अकेला ज्ञानोपयोग ही काम करता तो माथा ही फट जाता। दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग दोनों अन्तर्मुहूर्त में काम करते हैं। ज्ञानोपयोग के पूर्व दर्शनोपयोग होता है और दर्शनोपयोग होने के उपरान्त ज्ञानोपयोग होता है, तो ज्ञान होने के पहले ऑटोमेटिक ही विश्राम होता रहता है, आप कितना भी चिंतन करते जाओ तो भी विश्राम की भूमिका बनेगी। जैसे आप एक घंटा बोल रहे हैं या लिख रहे हैं तो उस समय कई बार दर्शनोपयोग होता है और कई बार ज्ञानोपयोग होता है, वह आपके लिए विश्राम देता है उसके बिना बनता ही नहीं। शक्ति का प्रयोग करने वाला, उपयोग करने वाला विश्राम चाहता है, उसके बिना काम चलता ही नहीं।

निश्चय की बात जब करते हो, तो निश्चय वालों से पूछो, निश्चय में सभी निर्ग्रन्थ हैं, हँसियो नहीं, ये सब जानते हैं, जिस समय जिसका जो स्वभाव है उस समय उसी का अनुभव होता है, यह पक्का है, लिखने की कोई आवश्यकता नहीं, जो आप चाहेंगे वह होगा, इसलिए छद्मस्थ अवस्था होने के बाद केवलज्ञान होने पर ज्ञान और दर्शन दोनों एक साथ अर्थात् युगपत होते हैं, क्योंकि वे स्वस्थ हो गये हैं, जो स्वस्थ नहीं होता उसके लिए दर्शन और ज्ञान एक साथ नहीं हो सकते।

दृष्टान्त—जैसे—आई साइट नापने वाले को आई स्पेशलिस्ट डॉक्टर कहते हैं कि इस आँख का डेढ़ और दूसरी आँख का दो नम्बर है, इस प्रकार दोनों आँखों का अलग-अलग नम्बर बता देते हैं। इसलिए जब ऑपरेट करते हैं, तो दूसरी आँख पर अलग ही तरह का काँच लगा देते हैं, इसको यूज नहीं करना ऐसा कह देते हैं, हम छद्मस्थों की यही स्थिति है, अस्वस्थ अवस्था में यह दशा होती है, फिर बाद में या तो चश्मा उतार दो या खोखा रखो, बिना नम्बर का भी चश्मा लगाया जाता है, ताकि लोग ये नहीं कहें कि ये क्या है? जब आँखें स्वस्थ हो जाती हैं तब नम्बर वाला चश्मा दिया जाता है, दोनों आँखें ठीक काम करने लगती हैं, दोनों आँखों की समान ज्योति होनी चाहिए, नहीं तो बहुत डिस्टर्ब हो जाता है।

प्रत्येक अंग में निर्बंध दशा का ही वर्णन किया जा रहा है, चाहे निःशंकित अंगधारी हो या अन्य

कोई, सब में निर्बंध दशा का ही अनुभव हो रहा है, यह इसका अर्थ है। निश्चय सम्यग्दर्शन जहाँ होता है, वहाँ चारित्र अपने आप होता ही है, मतलब चारित्र हुए बिना निश्चय सम्यग्दर्शन संभव ही नहीं है। अभेद रत्नत्रय की बात कही जा रही है, जहाँ पर निश्चय सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ पर निश्चय सम्यग्ज्ञान वा निश्चय सम्यक्चारित्र भी होता ही है। **जयसेन स्वामी जी** ने अपनी टीका में कई बार पानकवत् कहा है। तात्पर्य यह है कि जैसे-ठंडाई या पानक कहने से उसमें मिश्र सभी चीजों का ग्रहण हो जाता है, उसी प्रकार निश्चय सम्यग्दर्शन कहने से, अभेद वृत्ति से निश्चय-चारित्र और उसके अविनाभूत निश्चय सम्यग्ज्ञान भी समाहित हो जाता है। निश्चय चारित्र के साथ अविनाभाव रखने वाला निश्चय सम्यग्दर्शन आ जाता है और निश्चय सम्यग्दर्शन आने के बाद शेष दो का भी अन्तर्भाव हो जाता है, उसी का नाम निश्चय रत्नत्रय है। यह समझना ही नहीं किन्तु अनुभव में लाना है, समझते-समझते तो पूरा चातुर्मास होने वाला है।

व्यवहारचारित्र में कई तरह से भेद गिनाये हैं—१. सम्यक्त्वाचरण चारित्र, २. संयमासंयमाचरण चारित्र और संयम चारित्र। तो हमने पहले ही कहा था व्यवहार सम्यग्दर्शन या सरागसम्यग्दर्शन के साथ सम्यक्त्वाचरण चारित्र और संयमासंयम चारित्र है, उसे भुला क्यों रहे हैं।

दृष्टान्त—जब प्राइमरी में पढ़ रहे हो, तो प्राइमरी की ही परीक्षा होगी और बोर्ड का पढ़ोगे तो बोर्ड की परीक्षा होगी, पेपर कक्षा के अनुसार, समय के अनुसार होते हैं, कोई भी परीक्षा हो, परीक्षा तो परीक्षा कहलाती है। के.जी.वन पढ़ रहा है और उसकी बोर्ड की परीक्षा ले लो, ऐसे थोड़े ही होता है, उसी प्रकार अष्टम आदि गुणस्थानों की अपेक्षा ऊपर वालों की अपेक्षा से संयमासंयम चारित्र को भी अचारित्री कहा जाता है, के.जी.वन इत्यादि को कक्षा क्यों नहीं कहते हैं? तो नहीं कहते, तुम एवन हो तो के.जी.वन में चर्चा मत करो, पहली कक्षा के कई पार्ट्स होते हैं, काम चलाऊ तो हम सब कुछ करने तैयार हैं बस परीक्षा में पास भर हो जाओ।

व्यवहार सम्यग्दर्शन के साथ चारित्र नहीं है, यह किसने कहा? हाँ उस क्वालिटी का नहीं है, जिसकी आप बात करना चाहते हैं, जितना है उतना तो है ही, मना नहीं करते, बल्कि कई बार हम कह देते हैं, कि अनन्तचारित्र है उसके पास, क्योंकि अनन्तानुबंधी का अभाव हुआ है, नया विषय चाहते हैं के.जी.वन में रह करके तो दे दिया जायेगा। अनन्तानुबंधी का अभाव हो गया अर्थात् समुद्र समान था वह अंजुली भर रह गया, तो रह गया, अब आप ही देख लो कि लोग क्या चाहेंगे? समुद्र भर तो पी लिया और अंजुली भर रह गया, तो उसे भी आपको ही पीना पड़ेगा। जब अनन्त को नष्ट कर दिया तो थोड़ा और चारित्र बढ़ा लो एक अंजुली भर कर क्यों रखा है। अनन्तानुबंधी के अभाव में अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यानावरण आदि सब अंजुली के समान रह जाते हैं, हमें समझ में नहीं आता, इतना तो सुखा दिया और अंजुली भर पानी अपने आप सूख जायेगा, ऐसा क्यों सोचते हो, एक श्वास में ही पूर्ण कर सकते हो, देखो महाराज! परीक्षा यही होती है, अंतिम फाइनल टेस्ट में ही सब कुछ

रहता है। दीवार को घिसते समय आँखों की आवश्यकता नहीं, अच्छे बाहुओं की आवश्यकता होती है, अच्छे से घिसते चले जाओ, कैसा टेस्ट देना है यह स्थिति देखना अनिवार्य है? जब अविरति दशा में समुद्र को सुखाने की इतनी क्षमता आ सकती है तो थोड़ा-सा चारित्र लेकर उसको भी सुखाओ न। बहुत कठिन होता है, कितनी भी चोट क्यों ना लगे? देखो जब चोट लगती है तब दर्द नहीं होता, बाद में ही दर्द का अनुभव होता है, यह अनुभव की बात है, इसलिए ज्यादा बातें मत करो, निश्चित है वह अपने आप ठीक हो जायेगा, एक महीने लगेगा ठीक होने में, तो लगेगा ही चन्द्रसागरजी से पूछ लो। इस प्रकार इस स्थितिकरण अंग के द्वारा पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा ही होती है, अस्थितिकरण सम्बन्धी कर्म बंध नहीं होता है।

उत्थानिका—आगे सम्यग्दर्शन के वात्सल्य अंग का वर्णन प्रारंभ करते हैं—

जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्हे साहूण मोक्खमग्गम्मि।

सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२५०॥

अन्वयार्थ—(जो) जो आत्मा (मोक्खमग्गम्मि) मोक्षमार्ग में (तिण्हे) तीनों (आचार्य उपाध्याय साधु अथवा रत्नत्रयधारी) (साहूण) साधुओं में (वच्छलत्तं) वात्सल्यभाव (कुणदि) करता है (सो) उसे (वच्छलभावजुदो) वात्सल्यभाव से युक्त (सम्मादिट्ठी) सम्यग्दृष्टि (मुणेदव्वो) जानना चाहिए।

अर्थ—जो मोक्षमार्ग पर चलने वाले तीनों साधुओं के प्रति वात्सल्य भाव रखता है वह सम्यग्दृष्टि जीव वात्सल्य गुण का धारी माना जाना चाहिए।

ज्ञानादि रत्नत्रय में शिवपंथियों में,

वात्सल्य भाव रखता मुनि-पुंगवों में।

माना गया समय में सम-दृष्टिवाला,

वात्सल्य अंग अवधारक शांत शाला ॥२५०॥

व्याख्या—सम्यग्दृष्टि रत्नत्रय एवं रत्नत्रय के साधकों से धार्मिक प्रेम करता है—जो मोक्षमार्ग पर चलने वाले आचार्य, उपाध्याय, साधु तीनों के प्रति वात्सल्य भाव रखता है, वह सम्यग्दृष्टि जीव वात्सल्य गुण का धारी माना जाना चाहिए। जो कोई मोक्षमार्ग में ठहर कर मोक्षमार्ग के साधन करने वाले सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप अपने ही भावों की अथवा व्यवहार से उस रत्नत्रय के आधारभूत आचार्य, उपाध्याय और साधु इन तीनों की वैय्यावृत्ति करता है, उनमें धार्मिक प्रेम करता है, वह सम्यग्दृष्टि जीव वात्सल्य भाव युक्त माना जाता है। उसके अवात्सल्य कृत बंध नहीं होता है, किन्तु पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा होती है। यहाँ पर यह कहा जा रहा है कि मोक्षमार्ग पर स्थित तीन प्रकार के जो साधु हैं उनमें वात्सल्य भाव रखने वाला वात्सल्य युक्त माना जाता है। यहाँ व्यवहार मोक्षमार्ग में थोड़ी सी भेद भिन्नता जैसी लगती है? उसमें भी एक

जाति छॉट ली कि केवल साधुओं के ऊपर वात्सल्य रखना है। अरिहंत को भी ले लें तो कोई बाधा नहीं है, क्योंकि मोक्षमार्ग में चौदहवें गुणस्थान तक साधु नहीं हैं क्या? हैं, तो फिर उनको भी लगाओ न! तिणहे साहूण मोक्खमग्गम्मि तो आचार्य, उपाध्याय और साधु में अरिहंत परमेष्ठी भी आ सकते हैं। सिद्ध भगवान् को साधु परमेष्ठी में नहीं लेते, पंचपरमेष्ठी में लिया है वे भी साधुओं में आ जायें, ऐसा नहीं समझना चाहिए। साधु संज्ञा चौदहवें गुणस्थान तक चलती है, साधु की परिभाषा—जो रत्नत्रय को लेकर साधना करता है वह साधु है अर्थात् छट्टे गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक के सारे साधक साधु होते हैं। तीन भेद करना चाहते हो तो कर सकते हो, तात्पर्य यह है कि वह सम्यग्दृष्टि माना जाता है जो तीन प्रकार के साधुओं में वात्सल्य रखता है, क्योंकि मोक्षमार्ग मात्र द्रव्य की अपेक्षा नहीं किन्तु भावों की अपेक्षा होता है। भावों से रत्नत्रयात्मक मोक्ष मार्ग होता है। यानि गुणों के साथ वात्सल्य होता है। गुणों की व्यवस्था नहीं रखते हैं तो हम वात्सल्य भी नहीं रख सकेंगे। व्यक्ति को नहीं गुणों को देखकर ही कार्य होता है।

यदि कोई आप से कहता है कि जय जिनेन्द्र त्यागी जी तो गुस्सा क्यों आता है? जिनेन्द्र भगवान् की जय ही तो बोल रहे हैं न! आपके पास जिनेन्द्र भगवान् का लिंग है तो उसी का नाम जिन है इसलिए आपके लिए जयजिनेन्द्र कह दें तो गुस्सा क्यों आता है? जिनेन्द्र भगवान् भी दिगम्बर हैं और आप भी दिगम्बर हैं, इसलिए जयजिनेन्द्र कहा आपको अटपटा सा क्यों लगा? आप उनके मुख से तो अपने स्वरूप की पहचान कराना चाह रहे हैं लेकिन आपको भी स्वयं के बारे में इतनी जागृति है कि नहीं, कि मुझे कैसा कहना चाहिए, कैसा बोलना चाहिए क्या सोचना चाहिए? आदि—आदि। इसके बारे में सोचते हैं कि नहीं? मतलब सामान्य कार्य करते हुए एक्सट्रा आर्डनरी (सामान्य से हटकर) का व्यवहार चाहते हैं यह गड़बड़ है। जैसे—आप अपने स्वरूप के संरक्षण के लिए आहार की चर्या करते हैं, उसी प्रकार चौबीस घंटे जागरूक रहें तो फिर कहना ही क्या? एक दिन मान लो प्रक्षाल नहीं देखा तो आहार के लिए नहीं उठे लेकिन आगम की यह भी आज्ञा है कि साधु को यह देखना कहाँ लिखा है? मेरा यह कहना है कि कुछ बातों को तो रूटीन (सामान्य) जैसी बना लेते हैं कि यह अनिवार्य जैसा हो गया है लेकिन अन्य समय में भी अन्य चीजों की अनिवार्यता क्यों नहीं रखी जाती यह सोचने की बात है, इसे परीक्षा का प्रश्न समझ लो, इसे हल करना है, उसमें ढील क्यों? और अन्य कार्यों में ढील क्यों नहीं होती यह सोचने की बात है? क्योंकि इसके बिना लोग यह कहेंगे कि इनको विधि का भी ख्याल नहीं है, मात्र आहार की बात में सतर्क रहते हैं, उस समय बिल्कुल गंभीर होंगे, गंभीरता के साथ आहार लेकर आ जाते हैं। इसलिए आचार्य कहते हैं कि गुणों को ख्याल में रखकर ही हम कोई भी क्रियाओं को सम्पन्न करें। यह आगम का आदेश है।

गुणप्रीति का नाम वात्सल्य है—वात्सल्य के पीछे भी मोक्षमार्ग में गुण ही देखने में आते हैं, व्यक्ति देखने में नहीं आ रहा है। वैसे दिखता तो व्यक्ति है लेकिन हमारी भाव प्रणाली उन गुणों की

ओर जाती है तो हम उसको स्वीकार करते हैं, नहीं तो फिर मात्र इस नग्न काया को समझ कर कौन नवधाभक्ति कर सकता है? सोचिये तो श्रावक भी आप में केवल दिगम्बरत्व ही नहीं देख रहा है उसके साथ-साथ २८ मूलगुणों की, पाँच महाव्रतों की चर्या का अवलोकन कर रहा है तभी तो वह आदर आदि कर सकता है नहीं तो नहीं। कम्पनी के माल को आप यह देख कर लेते हैं कि इसमें ट्रेड मार्क लगा है कि नहीं, उसी प्रकार यहाँ भी कहा गया है कि यह २८ मूलगुणों का ट्रेडमार्क है कि नहीं? जैसा माल कहा गया वैसा नहीं निकलता है तो फेंक देते हैं, लौटा देते हैं क्योंकि लेवल ठीक नहीं है।

दृष्टान्त—दुकानों पर माल का लेवल भीतर होता है और ऊपर भी लगाया जाता है, मात्र माल का लेवल ठीक नहीं है अर्थात् ऊपर जैसा लेवल लगा है वैसा भीतर माल का लेवल यदि नहीं रहता है तो वह ऐसा कहा जाता है कि ऊपर तो ऐसा-ऐसा लगा है लेकिन भीतर वैसा कुछ नहीं निकला, उसी प्रकार हमेशा अपने को ध्यान देने योग्य बात यह है कि द्रव्य का मूल्यांकन तभी किया जाता है जब उस में भाव रहते हैं। गुण विद्यमान रहते हैं अर्थात् भाव के अभाव में उन द्रव्य का कोई मूल्य नहीं रहता है। मोक्षमार्ग में रत्नत्रय ही एक प्रकार से साधुत्व का प्रतीक है। उसी की पूजा, आदर, मूल्यांकन चलता है उसके बिना आपके प्रति वात्सल्य नहीं हो सकता। आपको नमोऽस्तु किया जा रहा है, यह व्यवहार है किन्तु वस्तुतः आपके पास तीन गुण हैं, उन्हें नमोऽस्तु किया जा रहा है और उसमें भी वस्तुतः आपको नमोऽस्तु नहीं किया जा रहा है, अरिहंत भगवान् की आज्ञा को नमोऽस्तु किया जा रहा है। क्योंकि यह अरिहंत भगवान् का लिंग है। ध्यान रखो यह आपका लिंग नहीं है किन्तु अरिहंत परमेष्ठी द्वारा दिया हुआ लिंग है। अतः जिन लिंग कहा जाता है। आपका लिंग नहीं, अर्थात् ध्यान रखना, आपको नमोऽस्तु नहीं किया जा रहा है, किन्तु आपके पास रत्नत्रय हो या ना हो जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा जो प्रदत्त जिन लिंग है उसे नमोऽस्तु किया जा रहा है अर्थात् इसमें जिनेन्द्र भगवान् मुख्य हैं आप मुख्य नहीं हैं। आपने यह संकल्प लिया वह ठीक है, लेकिन वह लिंग आपका नहीं है, वह तो जिन लिंग माना जाता है आपका लिंग तो भाव लिंग रत्नत्रय है, उसे टटोलो बाहर का जो लिंग है, वह तो जिन लिंग है, आपका तो है ही नहीं, भीतर जो लिंग है तो वह भाव लिंग है, आप अपने भीतर देख लो, भावों का जो लिंग होगा, वह बाहरी लिंग के बिना नहीं होगा और बाहरी लिंग जो स्थापित किया है, वह जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा के अनुसार किया है। इसलिए आपको नमोऽस्तु किया ही नहीं जा रहा है, क्योंकि बाहरी लिंग आपका है ही नहीं, फिर भी कोई सोचे कि उसने हमें नमोऽस्तु क्यों नहीं किया? तो उसे अपने भावों की ओर देखना चाहिए और उसका आधार रत्नत्रय होता है, इस अपेक्षा से परोक्ष भूत रत्नत्रय का जो आधार है, द्रव्य लिंग उसे नमोऽस्तु किया जा रहा है अर्थात् जिन लिंग को नमोऽस्तु किया जा रहा है, यदि नहीं करते हैं तो जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन माना जायेगा। एक प्रकार से यूँ कह दो, कि आपके पास दिगम्बरत्व है इसलिए जिनेन्द्र

भगवान् की आज्ञा का पालन करना है ऐसा मानकर सामने वाला नमोऽस्तु करता है, आपको नमोऽस्तु करेंगे नहीं, जिन लिंग को नमोऽस्तु करेंगे और जिन लिंग आपका है नहीं। यह बार-बार मैं कह रहा हूँ और वैसे भी यह जिन लिंग शरीर आश्रित होता है। फिर भी जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा के आश्रित भी है, आपके आश्रित तो है नहीं।

दृष्टान्त—मरण होने के उपरान्त जब अन्त में दाह संस्कार किया जाता है तो उस समय सारे कपड़े उतार लिये जाते हैं, क्योंकि उसे दाहसंस्कार में बाधा आती है, कफन भी शेष नहीं रह पाता यह उपरिल बात है, तो जहाँ तक ऊपरी बाह्य लिंग की बात है, वह तो जिनेन्द्र भगवान् के लिंग पर आधारित है, आपका वह लिंग है ही नहीं, यह आस्था का विषय है, किसी को आस्था हो जाती है तो ठीक है, नहीं होती है तो ठीक है। दिगम्बरत्व के प्रति तो उसे आस्था हो ही जाती है, क्योंकि वह देखने में आ जाता है। तो वह जिनेन्द्र भगवान् के लिंग का ही एक प्रकार से आदर कर रहा है। वात्सल्य एक प्रकार से भीतर के गुणों के प्रति दृष्टिपात कराता है। यदि वे गुण नहीं होते हैं, तो वात्सल्य के भाव नहीं आ सकते।

रत्नकरण्डकश्रावकाचार में भी गुण प्रीतिर्मता निर्विचिकित्सता अर्थात् गुणों के प्रति प्रीति होने से ही निर्विचिकित्सा अंग और वात्सल्य अंग भी पलता है अन्यथा नहीं पल सकता, इसी कारण वह सम्यग्दृष्टि माना जाता है, मोक्षमार्ग में साधुओं के रत्नत्रय की अपेक्षा से ही वात्सल्य कहा है। **तिण्हे साहूण मोक्ख मग्गम्मि** ऐसा भी कहा है। अरिहंत परमेष्ठी को कथञ्चित् हम जीवन-मुक्त मान कर चलते हैं। आचार्य, उपाध्याय, साधु कहने से आचार्य उपाध्याय साधु इन तीनों को ले लेते हैं और रत्नत्रय की अपेक्षा से ये तीन और मोक्षमार्ग की अपेक्षा भी सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीन को भी ले लेते हैं। मोक्षमार्ग वहीं पर है जहाँ पर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों आ जाते हैं, इसके बिना मोक्षमार्ग नहीं बनता है।

वात्सल्य अंग का स्वरूप—यहाँ वात्सल्य अंग का स्वरूप बताया जा रहा है। तीन प्रकार के साधुओं में यह जो मोक्षमार्ग रत्नत्रयात्मक है उसके प्रति वात्सल्य रखने को कहा है, सम्यग्दृष्टि इस वात्सल्य गुण से सहित होता है, यह वात्सल्य गुण रखने वाला ही मोक्षमार्ग पर स्थित होता है। **रत्नकरण्डकश्रावकाचार** में जो वात्सल्य अंग का स्वरूप कहा है, वह मोक्षमार्ग में स्थित व्यक्तियों के द्वारा धारण नहीं किया जाता है, वह तो केवल सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से कहा है किन्तु यहाँ समयसार में जो वात्सल्य अंग कहा है वह जो मोक्षमार्ग पर आरूढ़ हैं उनकी अपेक्षा से कहा है। वात्सल्य का अर्थ है, भक्ति। वात्सल्य रखना भी भक्ति है, बड़ों के प्रति वात्सल्य न रखें, छोटों के प्रति वात्सल्य रखो और बड़ों के प्रति विनय रखो, यह सब व्यवहार की बात है। वात्सल्य का अर्थ गुणों के प्रति बहुमान होना और वही उसकी भक्ति है, मोक्षमार्ग में स्थिर होकर वात्सल्य रूप भक्ति करता है, दूसरे की भक्ति तो करते ही हैं लेकिन अपने स्वयं के गुणों की भी भक्ति करें। स्वयं के रत्नत्रय

की भी आराधना करें, स्वयं की भक्ति कैसे करें ? तो क्रोध, मान की अपेक्षा से नहीं, बल्कि अपने पास यदि स्तनत्रय है, तो आप उसकी भक्ति करो, स्तनत्रय का पात्र होना चाहिए। अपने सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की जो भक्ति करता है, वह वास्तव में साधु-साध्वी हैं। जो स्तनत्रय के आधारभूत हैं, आचार्य, उपाध्याय, साधु उनकी भी व्यवहार की अपेक्षा से जो भक्ति करता है, वह सम्यग्दृष्टि होता है क्योंकि साधु ही स्तनत्रय के आधार होते हैं, अतः स्तनत्रय के आधारभूत जो हैं, वे साधु कहलाते हैं। मोक्षमार्ग स्तनत्रय से प्रारंभ होता है, उसके बिना मोक्षमार्ग का प्रारंभ ही नहीं होता। मोक्षमार्ग जब तक प्रारंभ नहीं होता, तब तक वह साधु नहीं कहलाता। तो क्या कहलाते हैं? वे साधु की निचली दशा को तो धारण कर सकते हैं, उसमें कई प्रकार की विधायें हैं, गृहस्थ अवस्था में या साधु लिंग में, उत्कृष्ट श्रावक या कुछ गृहत्यागी की अपेक्षा से सब कुछ घटित हो जाता है, किन्तु वे साधु की भक्ति करने वाले अथवा वे साधु को आदर्श मानकर चलने वालों की गिनती में आते हैं। जो साधु मोक्षमार्ग की आराधना कर रहे हैं, वे व्यवहार की अपेक्षा से स्तनत्रय के आधार होते हैं, अतः उनकी भक्ति और आराधना, गुरु के साथ वात्सल्य रखना भी व्यवहार अपेक्षा से वात्सल्य अंग का स्वरूप है, किन्तु निश्चय की अपेक्षा से तो स्तनत्रय को ही वात्सल्य अंग का धारक व पात्र माना गया है। अपने पास यदि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र है, तो उसकी भक्ति हमेशा करनी चाहिए, इसमें कोई संदेह नहीं, क्योंकि आत्मा की अनुभूति उसी के आधार से होती है, आखिर आत्मा को किमात्मक समझोगे ? स्तनत्रय के रूप में ही तो समझोगे, उसके माध्यम से ही तो अपने आत्म तत्त्व की पहचान होती है, इसलिए उस स्तनत्रय की भक्ति हमेशा करते रहना चाहिए।

प्रतिक्रमण में **गाणं गाणी य, दंसणं दंसणीय** आदि ये शब्द आते हैं, ये सब क्या हैं? तो हम अलग से भी गुणों का आदर करते हैं और उनके गुणों के धारक जो हैं, उनका भी आदर करते हैं, उन गुणों को भी हम मंगलकारी मानते हैं, जानते हैं, स्वीकारते हैं और जो गुणवान हैं उनको भी मंगलकारी मानते हैं, जानते हैं और स्वीकारते हैं, जब हम विनय की भक्ति करेंगे तो विनयी की भी भक्ति होगी। इस प्रकार गुणी और गुण दोनों की भक्ति प्रतिक्रमण पाठ में देखने को मिलती है। **चेइयरुक्खाय चेइयाणि** आदि अर्थात् चैत्यवृक्ष और चैत्य ये दोनों हमारे लिए मंगलकारी हैं, यह बहुत प्राचीन पाठ मिलता है, इसलिए चैत्य, चैत्यालय और चैत्यवृक्ष अपने आप में बहुत प्राचीन सिद्ध हो जाते हैं, इनकी भी हम भक्ति इसलिए कर रहे हैं, कि ये भी हमारे लिए मंगलकारी सिद्ध हों, इनको याद करने से स्तनत्रय याद आ जाता है। साधना का मार्ग याद हो जाता है, इनको याद करने से हमारा यह श्रद्धान और मजबूत हो जाता है कि आज तक जो अनन्त सिद्ध हुए हैं और आगे होंगे, वे भी इसी मार्ग यानि स्तनत्रय मार्ग से चलकर ही सिद्ध बनेंगे, यह श्रद्धान मजबूत होगा, तो हमारा विकास भी होगा क्योंकि जिस ओर हम बढ़ना चाहते हैं, उस मार्ग में जो बढ़ चुके हैं, उनको याद करने से निश्चित रूप से हमारा विकास होता है, यह एक न्याय है या यूँ कहना चाहिए कि सहज

रूप से सबको यह ज्ञात हो जाता है कि जिस ओर हम बढ़ना चाहते हैं, उसको तो याद करना ही चाहिए, उसको याद करने से हमें ज्ञात होता है कि देखो हम लोगों से भी पहले कितनों ने साधना अपनायी थी उसी को वे चरम लक्ष्य बनाकर चले थे, हमसे भी ज्यादा कठिनाइयाँ उनको आयी होंगी। वे मार्ग पूर्ण कर चुके हैं और अभी तो हमारा मार्ग चालू ही हुआ है, वे कितने धैर्यशाली, शक्तिशाली रहे होंगे, कितनी सहनशीलता रखने वाले होंगे, वे कितनी शारीरिक, मानसिक प्रतिकूलताओं को झेलते हुए अपनी साधना अरुक-अथक रूप से करते ही गये होंगे। आप लोगों को कुछ सुनाने के लिए, देखने के लिए तो साथी संगती कभी-कभी एक दो मिल जाते हैं लेकिन वो तो ऐसी साधना करने वाले थे, कठिन-कठिन तप करने वाले थे, फिर भी जीवन्त पर्यन्त उनके साथी-संगती कोई नहीं रहे, उन्होंने किसी को साथ में लिया ही नहीं। आप लोगों को अभी भी सुनने में आ तो रहा है, लेकिन कम आ रहा है, वे एक भी व्यक्ति को साथ में नहीं रखते और अपने ढंग से साधना करते हैं, यह अभी हम लोगों के लिए बहुत आगे की बात है।

अभी पंचमकाल में तो संघ के साथ यह जो आगमिक व्यवस्था है, उनके साथ रहने को कहा गया है, लेकिन वह भी एक साधना है। पूर्व कोटि वर्ष तक ऐसे ही सर्दी, गर्मी, वर्षा में रहते होंगे, घने जंगलों में उजाला दिन में होता होगा, फिर भी नहीं दिखता होगा, एक ही पेड़ के नीचे खड़े हो गये तो हो गये या एक ही गुफा में जाकर छुप गये अर्थात् गुप्ति के साथ अपनी ध्यान साधना में लीन हो गये। वे कोई एडवर्टाइजमेण्ट अर्थात् प्रचार-प्रसार नहीं करते, किसी पत्र-पत्रिकाओं में उनका नाम नहीं आता, कोई फोटो नहीं, फिर भी वे लोग कृत संकल्पित रहते हैं, कि हम लोग किसी भी प्रकार से विचलित नहीं होंगे, यह भी एक साधना है, क्योंकि निश्चय में वात्सल्य करने के लिए उनके पास रत्नत्रय रहता है। निश्चय में दूसरों का आधार नहीं लेते हुए अपने ही अनन्त गुणों में से कुछ गुणों को छॉट करके वे उनका चिंतन करते हैं, यह साधना पर की अपेक्षा से नहीं होती, पर के लिए भी नहीं होती, यह तो एक प्रकार से साधक की अनूठी साधना मानी जाती है कि मैं जो कुछ भी कर रहा हूँ, मैं अपने स्वयं के लिए कर रहा हूँ, पर के लिए नहीं। जो व्यक्ति पर के लिए साधना करता है, उसका क्या नतीजा निकलेगा? पता नहीं, कुछ कहा नहीं जा सकता, क्योंकि हमारी साधना पर के लिए तो है नहीं और दूसरी बात हम पर के लिए साधना करें, तो अपने लिए क्या करेंगे? बहुत बड़ी गुत्थि है यह। हम समझते हैं कि हमारे द्वारा पर का कल्याण हो गया, यह हमारा पर के लिए उपयोग होगा, लेकिन ध्यान रखना पर का उपादान जैसा होता है, उसके अनुसार उसको लाभ मिल सकता है, हमारे करने से कुछ नहीं।

वास्तव में आपकी साधना ही आपके लिए ही काम में आने वाली है, इसलिए हर बात में, हर गाथा में, समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय आदि में तात्पर्यवृत्तिकार ने निश्चय की विवक्षा को लेकर ही तात्पर्य निकाला है। तात्पर्य का अर्थ है सार। सारभूत क्या है? उन्होंने सात तत्त्वों में से एक

जीव तत्त्व को नहीं लिया, किन्तु अपने शुद्धात्म तत्त्व को लिया है, सात तत्त्व तो बाह्य माने जाते हैं। इसी प्रकार नौ पदार्थ में से भी स्व शुद्धात्म पदार्थ को भी तात्पर्य के रूप में स्वीकार किया। पंचास्तिकाय में स्व शुद्धात्म अस्तिकाय ही एकमात्र ग्राह्य और उपादेय माना गया है और इसी प्रकार रत्नत्रय बाहर में भी है और भीतर में भी होते हुए भी अपने आपको निश्चयनय की अपेक्षा जो भीतर रत्नत्रय है उसकी भक्ति कही गई है। हम उस निश्चय को याद भी बहुत कम कर पाते हैं। कुछ लोग निश्चय को छोड़ते नहीं और हम लोग निश्चय को याद नहीं कर पाते।

संघ की तीन कल्पनायें—एक स्थान पर संघ की तीन कल्पनायें की गई हैं, पहली सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चार आराधानाओं को मुख्य रूप से संघ माना गया है। द्वितीय नम्बर पर मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका ये समवसरण की अपेक्षा से संघ कहा गया है। तृतीय मुनि की अपेक्षा से ऋषि, मुनि, यति, अनगार इसे संघ कहा गया है। इस प्रकार समवसरण का संघ व्यापक रूप से मुनि, आर्यिका, श्रावक-श्राविका चतुर्विध संघ माना जाता है और निश्चय से तो चार आराधना को ही एक मात्र संघ कहा है। व्यवहार से ऋषि, मुनि, यति, अनगार को भी संघ कहा गया। यह बहुत प्राचीनकाल से संघ की व्यवस्था चली आई है। इस बात को देखने से लगता है कि वे भी संघ रहित नहीं थे और यह भी ज्ञात होता है कि वे मुनिराज भीतर चले जाते हैं, तो अपने रत्नत्रय रूप चार आराधना रूप जो संघ है निश्चय से उसी की ही भक्ति, उसी की ही सेवा करते हैं। रत्नत्रय को निर्दोष रखना यह संघ की सेवा है, अपनी आराधना को निर्दोष रखना यह भी संघ की सेवा यानि निश्चय की सेवा है।

नियमसार एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें निश्चय-व्यवहार को लेकर कुछ अधिकार लिखे गये हैं जिसमें निश्चय आलोचना, निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय सामायिक आदि ये जो छह आवश्यक हैं उनको निश्चय की अपेक्षा से घटित किया है तथा उपयोग के बारे में भी कुछ विशेष वर्णन मिलता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अधीर होने की बात ही नहीं है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के स्वरूप के बारे में चिंतन करते हैं तो तीन लोक की संपदा मिल सकती है, वह मिलेगी तो इसी आधार से मिलेगी तो वह अपने आपको कमजोर क्यों मानेगा, संसारी प्राणी दुखी है यह निश्चित बात है, क्योंकि वह रत्नत्रय और आराधना के अभाव में दुःखी है और उसका दुःख तब तक मिटने वाला नहीं है, जब तक वह आराधना को स्वीकार नहीं करेगा, जिन्होंने आराधना को स्वीकार कर लिया, उसे सुख ही सुख है, दुःख की बात ही नहीं है। बल्कि ये कहो कि दुःख का अभाव होता चला जा रहा है, ऐसा साहस कब आता है, यह तो सम्यग्दर्शन का ही परिणाम है। सम्यग्दर्शन के बिना धैर्य नहीं बढ़ता है। जानने से कथञ्चित् धैर्य घटता है किन्तु मानने से धैर्य बढ़ता है, क्योंकि अनन्त को तो हम जान नहीं सकेंगे, जानने के उपरान्त धैर्य रखना पड़ेगा, अनन्त शक्ति का प्रादुर्भाव मुझमें भी हो सकता है। इस श्रद्धान के बलबूते पर विश्वास के साथ ही परीषह और उपसर्गों को सहा जा सकता

है, बल्कि यूँ कहना चाहिए कि संवेदन होते हुए भी यह कष्ट शरीर में है, यह किसी वेश पर कह रहे हैं, तो श्रद्धान के बल पर ही तो कह रहे हैं। श्रद्धान यदि नहीं है तो कैसे कह रहे हैं, श्रद्धान रखो-श्रद्धान रखो, किसी को कष्ट का अनुभव हो रहा है, तड़प रहा है और आप कह रहे हैं कि श्रद्धान रखो, श्रद्धान रखेंगे तो तड़पन नहीं होगी क्या? नहीं, तो सही तड़पन को शरीर में समझो। किसके आधार पर समझूँ? सम्यग्दर्शन के आधार पर समझो और ये औदयिक भाव हैं ऐसा समझो। वेदना हो रही है, तो ये औदयिक भाव हैं, इस ओर ज्यों ही ध्यान देंगे, त्यों ही हमारा लक्ष्य बदल जायेगा। औदयिक भाव सत्तागत नहीं माना जाता है, वह तो उदयगत क्षणिक होता है, मरण को चिंतन में तब लाया जाता है, जब प्रत्येक समय एक-एक निषेक पुंज निकल रहा है, प्रत्येक पल मरण हो रहा है, वह कह रहा है अभी तो हम स्वस्थ बैठे हैं, अभी कहाँ मरण हो रहा है, यही तो गलत धारणा है। गलत कैसे हैं? हम तो प्रसन्न हैं और मरण तक भी प्रसन्न ही रहेंगे, यह भी बात है, क्योंकि निषेक उदय में आ रहा है, लेकिन प्रतिसमय जो उदय में आ रहा है, वह आवीचिमरण है, वीचि यानि तरंग, तो तरंग के क्रम से हमारी मृत्यु हो रही है, तरंग यहाँ पर उठी और उस किनारे पर पहुँची। कब पहुँचेगी? तो एक-एक पल में कहाँ तक चली जायेगी? लेकिन जैसे तरंग लौटकर नहीं आती, वैसे ही यह है, वह लहर अन्त तक पहुँच जाती है, किनारे पर पहुँच कर लुप्त हो जाती है इस प्रकार एक-एक वीचि यानि तरंग के रूप से निषेक पुंज झड़ रहे हैं, यह मरण नहीं है तो क्या है? इसलिए ज्ञानी लोग संयम मार्गणा के साथ एक-एक पल में, एक-एक क्षण में उन उदयगत निषेकपुंज को झड़ता हुआ देखते हैं, ऐसी स्थिति में जीवन नजर आता ही नहीं। यह तो नजरिए का काम है।

जिज्ञासा—यह नजरिया क्या है?

समाधान—यह नजरिया विश्वास है, मान्यता है, इस मान्यता के बल पर आप जान सकते हैं कि आपका श्वास टूट रहा है, जो श्वास निकल गई उसे दुबारा आप ले नहीं सकते, तो भीतर से ही दुबारा श्वास लेना पड़ेगी, निषेक कम होते चले जा रहे हैं, आपके जीवन की उल्टी गिनती प्रारंभ हो गई है, समझो, कभी भी सुलटी गिनती चालू होती ही नहीं। बंध हो गया उदय में आ गया, तो उलटी गिनती प्रारंभ हो गई। यह ध्यान रखो, आप एक-एक क्षण को गिनते चले जाओ, तो कितने श्वास निकल गये, कितने निषेक निकल गये, इस बात पर हम ध्यान देंगे, जिस समय आपका जन्म हो गया, तो एक समय निकल गया विग्रह गति में एक दो या तीन समय बिना श्वास लिये निकल जाते हैं। पता ही नहीं लगता आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त कब निकल जाता है उसके बाद सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर सकते हैं। गाँठ के इतने क्षण निकलने के बाद सम्यग्दर्शन की संभावना होती है, यह मनुष्य की बात है, आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त के उपरान्त मान लो एक अन्तर्मुहूर्त जीवन शेष है उसका, तो क्या होगा? बड़ा वैचित्र्य है।

व्यवहार के साथ निश्चय का भी ख्याल रखो—इसलिए यह सब कुछ जानते हुए भी,

व्यवहार में रहते हुए भी निश्चय को नहीं छोड़ना चाहिए, विश्वास के बल पर ही आगे बढ़ सकते हैं, इसलिए मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन यानि विश्वास व श्रद्धा को प्रथम स्थान दिया है, यद्यपि प्रत्येक गुण अपना-अपना काम करते हैं, फिर भी सम्यग्दर्शन के बल पर ही ज्ञान, ज्ञान के रूप में, चारित्र, चारित्र के रूप में कार्य करता है। आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त वाला भी विश्वास के बल पर क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त कर क्षपक श्रेणी माड़ सकता है और मुक्त हो सकता है। तथा अस्सी वर्ष की बहुत सारी जानकारियाँ रखने वाला व्यक्ति भी बिना विश्वास के रत्ती भर भी आगे नहीं बढ़ पाता क्योंकि उसका विश्वास डगमगाता है। उसका विश्वास मजबूत नहीं है उसके विश्वास को बल नहीं मिल पा रहा है तो यह काम बहुत कठिनाई से होता है। इसलिए क्षपक श्रेणी चढ़ने के लिए तत्सम्बन्धी बाधक प्रकृतियों को समाप्त करना आवश्यक होता है इसके बिना क्षपक श्रेणी नहीं मड़ सकती। दूसरी बात उपशम श्रेणी माड़ने के लिए भी मिथ्यात्व का उपशम या क्षय और अनंतानुबंधी की विसंयोजना आवश्यक है। उपशमित मिथ्यात्व के बारे में तो विश्वास कर सकते हैं कि वह एक अन्तर्मुहूर्त तक उखड़ेगा नहीं अर्थात् उदय में नहीं आयेगा लेकिन अनंतानुबंधी कषाय महा दगाबाज है वह बीच में ही उदीरणा को प्राप्त हो सकती है। इसलिए अनंतानुबंधी की विसंयोजना अनिवार्य है। अतः उसके लिए अपने ढंग से दो कार्य कर सकते हैं या तो उसकी विसंयोजना कर लो या पूर्णतया क्षय कर लो। वह क्षय भी एक तरह से विसंयोजनात्मक होता है लेकिन यह पूर्णतया क्षयात्मक विसंयोजना जब मिथ्यात्व का क्षय करने के लिए जीव तैयार होता है उस समय होती है।

प्रथमोपशम अथवा द्वितीयोपशम में मात्र यही अन्तर है कि द्वितीयोपशम सम्यक्त्व के लिए अनन्तानुबंधी की विसंयोजना अनिवार्य है, विसंयोजना के विषय में दो मत हैं। कर्मकाण्ड ग्रन्थ में बिना विसंयोजना के श्रेणी आरोहण का कथन है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व के लिए यह अनिवार्यता नहीं है। श्रेणी के समय जब द्वितीयोपशम सम्यक्त्व होता है, तब निश्चित रूप से अनन्तानुबंधी को असत्त्व रूप बनाना आवश्यक होता है, बाद में पुनः सत्त्व पाया जा सकता है, उसका असत्त्व दो प्रकार से होता है, एक विसंयोजनात्मक और एक क्षयात्मक। विसंयोजना के बाद पुनः सत्त्व पाया जा सकता है, लेकिन क्षय होने के उपरान्त पुनः उसका सत्त्व नहीं हो सकता। विसंयोजना के बिना आप सप्तम गुणस्थान से आगे बढ़ ही नहीं सकते हैं, आधा तो आप चल सकते हैं और आगे आधा चलने के लिए पहले दगाबाज को समाप्त कर दो। यह इसलिए कहा गया है कि आपको यह बात स्पष्ट हो जाये कि जब मिथ्यात्व का उपशम किया जाता है, उस समय अनन्तानुबंधी का उपशम नहीं होता। सात प्रकृति उपशमित होती हैं, ऐसा कहा तो गया है, लेकिन उपशमित होती नहीं है, परन्तु उदय में नहीं आने रूप अवस्था का नाम ही अनन्तानुबंधी का उपशम कहा गया है। हाँ, इतना अवश्य है कि उपशमित होते ही वह उखड़ नहीं सकता अर्थात् उदय में नहीं आ सकती लेकिन छह आवली एक समय अवशिष्ट रह जाये, उस समय उखड़ सकती है, इसलिए बीच के काल में आने की

संभावना बनी रहती है। दूसरी बात प्रथमोपशम सम्यक्त्व के साथ उदयावली में भी वह बरकरार चलती रहती है, इसलिए उसका कोई पतयारा नहीं। विश्वास करने के लिए यह कर लो। आचार्य कहते हैं कि ऐसी स्थिति में अपने विश्वास को या सम्यग्दर्शन को समाप्त करने की क्षमता जो रखती है उन प्रकृतियों को उखाड़ने का प्रयास करो। देवों में अपर्याप्त अवस्था में मिथ्यात्व का उपशम संभव है। ऐसा प्रसंग कब घटित होता है? जब जीव उपशम सम्यक्त्व के साथ देवों में जाता है, तब घटित होता है, क्योंकि द्वितीयोपशम सम्यक्त्व के साथ मरण करने वाला जीव नियम से देवों में ही जाता है, अन्यत्र कहीं भी नहीं जायेगा। वहाँ अन्तर्मुहूर्त के उपरान्त द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि क्षयोपशम सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेता है, यह इसका हिसाब है। अन्त में यही कहना चाहूँगा, कि यहाँ सम्यग्दर्शन की बात चल रही है, विश्वास की बात कही जा रही है, बंध की बात कही जा रही है, निर्जरा की बात कही जा रही है कि वह निश्चय वात्सल्य अंग को धारण करने वाला अवात्सल्य-भावकृत बंध का कर्ता नहीं होता, किन्तु पूर्व में संचित हुए कर्मों की निर्जरा ही करता है।

उत्थानिका—अब आगे निश्चय प्रभावना अंग का वर्णन करते हुए कहते हैं कि आत्मज्ञान विहारी जिनज्ञान प्रभावी होता है अतः प्रभावना अंग का विवेचन प्रारम्भ करते हैं—

विज्जारहमारूढो मणोरहरएसु हणदि जो चेदा।

सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२५१॥

अन्वयार्थ—(जो चेदा) जो आत्मा (विज्जारहमारूढो) विद्यारूपी रथ पर आरूढ़ हुआ (मणोरहरएसु) मनरूपी रथ के पथ को (हणदि) नष्ट करता है (सो) उसे (जिणणाणपहावी) जिनभगवान के ज्ञान की प्रभावना करने वाला (सम्मादिट्ठी) सम्यग्दृष्टि (मुणेदव्वो) जानना चाहिए।

अर्थ—जो आत्मानुभूति रूप विद्यारूपी रथ में आरूढ़ होकर मन रूपी रथ के वेगों को नष्ट करता है वह सम्यग्दृष्टि जिनेन्द्र के ज्ञान की प्रभावना करने वाला मानना चाहिए।

हो रूढ़ ध्यान रथ, हाथ लगाम लेता,

जो धावमान मन को झट थाम लेता।

सम्यक्त्व मंडित महा मुनि साधना है,

होती नितान्त जिन-धर्म प्रभावना है ॥२५१॥

व्याख्या—सम्यग्दृष्टि विद्यारथ पर आरूढ़ होता है—देखो! अभी तक ज्ञान-ज्ञान कहते आये हैं पर यहाँ पर विद्या को याद किया है। स्वामी समन्तभद्र महाराज ने भी विद्या शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने अंतिम कारिका में लिखा है—येन स्वयं वीतकलङ्क विद्या...यहाँ पर विद्या का अभिप्राय शुद्धात्मा की उपलब्धि स्वरूप विद्या से है। मणोरहरएसु भी कहा है। आप लोग ऐसा भी कहते हैं कि आपका मनोरथ पूर्ण नहीं हुआ वैसे मन का कोई रथ नहीं होता है किन्तु मन स्वयं रथ से भी अधिक वेग वाला होता है। वायु का वेग भी उसके सामने कुछ नहीं होता है। इसका वेग

बहुत लम्बा-चौड़ा होता है वह कब, कहाँ पहुँच जाता है इसका कोई पतयारा नहीं होता। समयसार की बात करता हुआ भी अन्यत्र चला जाता है। मन का वेग बहुत दूर तक चला जाता है इसलिए आचार्य कहते हैं कि हमारा मन विचित्र है आप लोगों की दृष्टि को देखकर अनुमान लगाया जा सकता है कि इन लोगों का मन इस समय कहीं अन्यत्र गया है और मुझे भी आप लोगों के साथ अपने विषय से अन्यत्र जाना पड़ा यह निश्चित बात है। अतः कहते हैं कि मन बड़ा चंचल है। **अतः विद्यारूपी रथ पर आरूढ़ हो जाओ और मनोरथ के वेग में लगाम लगा कर रोक दो।**

दृष्टान्त—जैसे-घोड़े पर सवार होकर घुड़सवार लगाम को यूँ खींचता है यदि उस समय घोड़े पर दया करेंगे तो वह उन्मार्ग की ओर ही ले जायेगा अतः उसे मार्ग पर चलाने के लिए लगाम की आवश्यकता होती है। लगाम लगाने पर ही वह हिनहिनाता हुआ सही रास्ते पर आ जाता है। इसी प्रकार मन रूपी घोड़े पर संयम रूपी लगाम आवश्यक होती है जिसके पास पाँच इन्द्रियाँ हैं किन्तु मन नहीं है उनके पास संयम नहीं होता है तात्पर्य यह है कि जिनके पास मन नहीं है वह पाँच इन्द्रियों को संयमित नहीं कर सकता। पहले मन पर भी संयम आवश्यक है। यदि मन का वेग रुक गया तो इन्द्रियाँ अपने-आप रुक जायेंगी इसलिए इन्द्रिय संयम के पूर्व मनः संयम भी अनिवार्य है।

सम्यग्दर्शन एवं संयम की प्राप्ति संज्ञी जीव को ही होती है। वह भी अपर्याप्त दशा में नहीं किन्तु पर्याप्त दशा में ही होती है। अन्य किसी विषय में मन उलझा है तो सम्यग्दर्शन व संयम की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसके साथ-साथ साकार उपयोग वाला हो, जागृत हो, जागृत होने के बाद भी मन कब भटक जाता है पता नहीं चलता बहुत कठिन है। अतः हमने संयम धारण किया यह महत्त्वपूर्ण तो है किन्तु जागृत रह कर संयम पालन करना ज्यादा महत्त्वपूर्ण है।

दृष्टान्त—जैसे-किसी को अपना फोटो निकलवाना है तो सर्वप्रथम उसने आधा घण्टे तक मेकप किया पश्चात् फोटोग्राफर आ गया तो वह फोटो उतरवाने बैठ गया। फोटो निकालने वाला कहता है कि ऐसे नहीं, ऐसे बैठो, तुम्हारी यह ड्रेस ठीक नहीं है इसे ठीक करो, कपड़ों में झुर्री हैं, मुख पर भी निशान है इसे साफ करो, सब ठीक कर लिया। उसने कहा-हाँ, अब ठीक है, अब बैठ जाओ। वह बैठ गया। फोटो निकलने ही वाली थी कि इधर-उधर देखकर बात करने लगा और फोटोग्राफर ने बटन दबा दिया अब क्या करें? फोटो धुलकर सामने आई तो चेहरा पहचान में ही नहीं आ रहा था शेष सभी अंग पहचान आ रहे हैं सभी अंगों में किसी भी प्रकार की विकृति नहीं आई लेकिन उस समय जम्हाई या खाँसी आ गई, छींक आ गई या कहीं किसी ओर देखने लगे तो मुँह का आकार बिगड़ गया तो अब क्या कर सकते हैं? यह है मन का असंयम। आलस्य और असंयम से काम बिगड़ता है इसलिए जागृति रखो। संसारी प्राणी जागते हुए भी सोता है।

जो अनुभव करने वाला है वह आत्मा है। अपने आत्मतत्त्व की उपलब्धि स्वरूप जो विद्या प्राप्त होती है वह रथ है। विद्यारथ अर्थात् सम्यग्ज्ञान या वीतराग रूपी रथ पर आरूढ़ होकर सम्यग्दृष्टि

जीव ख्याति, पूजा, लाभ, भोगाकांक्षा रूप विभाव परिणाम जो कि द्रव्य क्षेत्र आदि रूप पाँच प्रकार के संसार के कारण हैं। दुःख देने वाले शत्रु हैं, ऐसे मनोरथ के वेगों को चित्त की तरंगों स्वस्थ भाव-समभाव रूप सारथी के बल से और दृढ़तर ध्यान रूपी खड्ग के द्वारा नष्ट कर देता है। वह सम्यग्दृष्टि जिनेन्द्र भगवान् के ज्ञान की प्रभावना करने वाला माना गया है। अतः उसके अप्रभावना से होने वाला बंध नहीं होता, किन्तु निश्चित रूप से पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा ही होती है।

संसारी प्राणी अपने शत्रु की खोज संसार में करता है कि यहाँ छुपा होगा, वहाँ छुपा होगा, उसको पकड़ो, उसका पता लगाओ, वहाँ फोन करो, वहाँ फेक्स करो आदि संसार के कार्य हैं लेकिन आचार्य कह रहे हैं वस्तुतः अपने शत्रु कौन है? ख्याति, पूजा, लाभ आदि ये सारे के सारे विभाव परिणाम शत्रु हैं। पंच परावर्तन रूप दुःख को देने वाले हैं। संसार से ऊपर उठना चाहते हैं कहाँ उठना चाहते हैं? किससे उठना चाहते हैं? काय से ऊपर उठोगे? भावों से ऊपर उठने के लिए अन्य किसी की आवश्यकता नहीं है। यदि अपने आपको भावों से ऊपर उठाना चाहते हैं तो जिन भावों से नीचे जा रहे हैं उन भावों को छोड़ दो। विमान से ऊपर उठ जाते हैं और गड़बड़ हो जाती है तो पैराशूट पहनकर नीचे आ जाते हैं। सुनते हैं कभी-कभी नीचे गिरते समय पेड़ों पर लटक जाते हैं। समुद्र में पटक दें तो **कुएँ से बचे खाई में गिरे वाली बात है। आसमान से गिरे और खजूर में लटके** वैचित्र्य तो है यह मानना पड़ेगा। आचार्य कहते हैं कि शत्रुत्व रूप में जितने भी भाव हैं वे ही वास्तव में शत्रु हैं लेकिन शत्रु के भावों को भी हम मित्रवत् समझते हैं। वे ख्याति, पूजा, लाभ, भोगाकांक्षा में कषायों में लटके रहते हैं, अटके रहते हैं। रात-दिन उसी में षड्यन्त्र में निकलता है। दुनिया के सारे षड्यन्त्र दिमाग में भरे रहते हैं। क्या करना? कैसे करना? इस तरह बेचैन होता रहता है यह सब क्या है? कुछ नहीं, स्वरूप बोध नहीं होने के कारण ऐसा होता है। **कहना बहुत सरल है लेकिन करना बहुत कठिन है।**

जिज्ञासा—मन के वेग कितने हैं?

समाधान—वेग तो कई प्रकार के होते हैं—संवेग, निर्वेग, आवेग, उद्वेग। उनमें से संवेग, निर्वेग तो मोक्षमार्ग में सहयोगी हैं इनका होना आवश्यक है, किन्तु उद्वेग व आवेग कषाय स्वरूप हैं। संवेग-निर्वेग के अभाव में आवेग व उद्वेग होते रहते हैं। जैसे-गुस्सा आना एक आवेग है, गुस्सा कहाँ पर रहता है? किसी-किसी की नाक की अनि यानि नोंक पर गुस्सा रहता है जिससे उसकी नाक फूलती रहती है तब उससे कहा जाता है कि नाक मत फुलाओ यानि गुस्सा मत दिखाओ। तात्पर्य यह है कि व्यक्ति को जो बात-बात पर गुस्सा आता है वह बाहर से नहीं आता लेकिन भीतर ही रहता है सबसे ज्यादा क्रोधाग्नि यहीं नाक पर आती है। जैसे-यदि सबसे जल्दी या सबसे ज्यादा सर्दी लगती है तो नाक की नोंक में लगती है, ऐसा विज्ञान कहता है। हाथ-पैर वगैरह इतने जल्दी ठण्डे नहीं होते लेकिन नाक का हिस्सा बहुत जल्दी ठण्डा हो जाता है इसलिए बहुत जल्दी सर्दी हो जाती है। सर्दी

और गर्मी दोनों नाक की नोंक पर खड़ी हैं क्या करें? शरीर का सबसे ज्यादा अग्रभाग यही है कुछ एक्सेप्शन को छोड़कर। कभी-कभी छाती बड़ी हो सकती है, पेट भी बड़ा हो सकता है लेकिन इन सब से भी बड़ी है यह नाक, इसे सबसे पहले गंध आती है, इसे ही सबसे ज्यादा सर्दी होती है, सर्दी लगती है और सबसे ज्यादा क्रोध इसे ही आता है। आचार्य कहते हैं गुस्सा मत करो।

रथ का स्वस्थ सारथी—मनोरथ पर बैठना चाहते हो तो स्वस्थ भाव का सारथी होना चाहिए। अर्जुन के सारथी श्रीकृष्ण जी थे ऐसे ही स्वस्थ भाव को सारथी बनाओ और सम्यग्ज्ञान को रथ बनाओ और मन के वेगों को लगाम लगाओ। हम दूसरे के मन पर लगाम लगाना चाहते हैं, खूबी तो यही है। हम एक दूसरे के पूरक बन जायें क्योंकि हमारा मन हमें पकड़ में नहीं आता इसलिए दूसरे के मन को अपने अनुरूप बनाने का प्रयास करते हैं। साधना के क्षेत्र में यह सबसे बड़ी कमजोरी मानी जाती है कोई कहता है कि वर्षों लग गये। हमने उनको अपने अनुकूल किया ही था कि किसी ने बीच में आकर ऐसा कर दिया कि हमारे साथ मटियामेल हो गया उन्होंने उसे बहका दिया और वह बहकावे में आ गया। हम समझ नहीं रहे थे कि ऐसा होगा क्या करें? दुनिया ऐसी ही है। **दुनिया में रहकर भी दुनिया का स्वभाव नहीं जानते हो।** स्वयं के लिए भी ऐसा प्रभावित किया जा सकता है। मानलो, आपको कोई प्रभावित कर ले, दूसरों को और कोई प्रभावित कर ले, सब एक दूसरे को प्रभावित कर रहे हैं और सब एक दूसरे से प्रभावित हो रहे हैं लेकिन अपने आप से प्रभावित नहीं हो रहे हैं, यह सब कठिन विषय हैं। ये सारी की सारी बातें नोट कर लेंगे ये कठिन कार्य नहीं है लेकिन अपने आपको संभालने का काम नहीं हो रहा है। बड़े-बड़े सम्पादन करने में लगे हैं लेकिन एक मन का सम्पादन कर लिया जाये तो सब ठीक हो जाये फिर भी यह नहीं हो रहा है बताते हैं कि मन के बारे में आज विज्ञान ने बहुत कुछ लिख डाला लेकिन मनोमीमांसा के बाद भी मन संयमित नहीं बन पाया यद्यपि मन के बारे में लिखने के लिए मन को संयमित कर लिया है फिर भी वह असंयत माना जाता है। क्योंकि लिखने का कार्य तो असंयत के द्वारा भी सम्पादित किया जा सकता है लेकिन मन का संयमन या सम्पादन असंयमी के द्वारा संभव नहीं है। तात्पर्य यह है कि चाह को रोकना संयमी का कार्य है। असंयमी चाह के बारे में बहुत कुछ लिख सकता है, हजार, दो हजार, तीन हजार तक पृष्ठ लिखे जा रहे हैं फिर भी लिखने वाला असंयम की भूमिका में है इसके बाद भी यह कहा जायेगा कि इस शताब्दी में सबसे बड़े लेखक ये हुए हैं। इसके लिए सब किया है संयम उसमें भी वर्त रहा है, भूख-प्यास आदि को सहन कर रहा है। कहा तो यही जाता है कि विदेश जाना चाहिए, हम तो मध्यप्रदेश से बाहर जाने को ही विदेश समझते हैं, प्रदेश से प्रदेशान्तर होना विदेश है। विशिष्ट देश को भी विदेश कह सकते हैं इसी अर्थ में चार-पाँच बार विदेश जाकर आया हूँ।

जिज्ञासा—मार्गप्रभावना क्या है?

समाधान—अपनी आत्मा के ऊपर अनुशासन रखना जिनेन्द्र भगवान् के मार्ग की प्रभावना

करना है। वह सम्यग्दृष्टि जिनेन्द्र भगवान् के मार्ग की प्रभावना करने वाला माना जाता है। यानि जिनेन्द्र भगवान् की प्रभावना में उसका बड़ा योगदान है। मन चंचलपन करने से ज्ञात होता है कि इनके यहाँ भी ऐसा होता है इसलिए कई लोग जैसा आप कहते हैं वैसा आपको देखते नहीं है तो आप से प्रभावित नहीं हो पाते। वे कहते हैं कि हमने सोचा था कि प्रयोग करते होंगे और मन को एकाग्र करने की साधना करते होंगे लेकिन ये तो लिखने में, पढ़ने में, सुनने में, सुनाने में लगे रहते हैं अपने स्वयं के लिए तो कुछ करते ही नहीं है ऐसा देखने से कई लोगों की श्रद्धा कम हो जाती है। धर्म से पीछे हट जाते हैं कई लोग कहने लगे कि जैनधर्म कठिन तपस्या तो करा देता है लेकिन उसमें हासिल कुछ भी नहीं होता। आत्मसाधना हासिल करने के लिए यह जिनेन्द्र मुद्रा थी लेकिन इससे कुछ हासिल नहीं कर पाये इधर-उधर की बातें करने लगे, मन चंचल बना हुआ है। खूब पढ़-लिख रहे हैं फिर भी इससे वे प्रभावित नहीं होते क्योंकि पढ़ने-लिखने वाले तो खूब मिल जाते हैं विदेशियों के माध्यम से भी खूब मनो मीमांसाएँ लिखी गयी हैं। वर्तमान में जितने प्रयोग हो रहे हैं सब उन्हीं पर निर्भर हैं।

दृष्टान्त—जैसे-रेडियो खोलकर उसके एक-एक पुर्जे वायर आदि कहाँ क्या हैं? यह सब जानते हैं उसी प्रकार बिजली की उत्पत्ति कैसे होती है? वहाँ कितने कनेक्शन कहाँ लगे हैं? यह सब बारीकी से जानकारी बिजली का उत्पादन करने वालों को होती है वे उस समय अत्यधिक मन की एकाग्रता से कार्य करते हैं लेकिन इतना सब करते हुए भी वे असंयमी कहलाते हैं। मन के ऊपर सम्यक् नियंत्रण नहीं है। हाँ, बिलकुल सही है कि नियंत्रण और ज्ञान दोनों अलग-अलग वस्तुएँ हैं। **नियंत्रण जो है वह संयम का प्रतीक है।** अक्षर ज्ञान नहीं होते हुए भी गुणस्थान का विकास हो सकता है किन्तु अक्षर ज्ञान का विकास होने पर यहाँ तक कि ग्यारह अंग चौदह पूर्व का ज्ञान होने पर भी उसी गुणस्थान में बना रह सकता है। अंग पूर्व का ज्ञान होने पर भी ये नियामक नहीं है कि उसके पास सम्यग्दर्शन है ही। आचार्य कहते हैं—**बहुत लम्बा-चौड़ा अक्षर ज्ञान होने पर भी वहाँ सम्यग्ज्ञान का होना नियामक नहीं है, हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है।** मन का संयम भी एक संयम है यदि ये संयम प्राप्त नहीं हुआ तो लोग कहते हैं कि ये लोग बिलकुल कठिन मार्ग को अपनाते हैं, मध्यम मार्ग को नहीं मानते फिर भी वे फेस रीडिंग करते हैं और सोचते हैं हमने तो यहाँ कुछ नहीं पाया, कुछ अन्तर नहीं आया ऐसा लगा नहीं कि साधना करने से कोई अन्तर आया हो। अब ऐसी स्थिति में क्या करें? जो बहिर्मुखी रुचि थी वह ज्यों की त्यों बनी रही तो क्या अन्तर आयेगा? अन्त में वे भी निर्णय ले लेते हैं कि ठीक है। ऐसा ही होता है सबकी अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न पद्धतियाँ हैं।

दृष्टान्त—जैसे-एक ही रोग को दूर करने की भिन्न-भिन्न पद्धतियाँ होती हैं। कोई होम्योपैथी वाले हैं, कोई एलोपैथी वाले हैं, कोई नेचरोपैथी वाले हैं सभी अलग-अलग पद्धति वाले हैं इनमें से एलोपैथी वाला होम्योपैथी वाले की बात नहीं मानता। होम्योपैथी वाला एलोपैथी वाले की बात नहीं

मानता, नेचरोपैथी वाला उसकी बात नहीं मानता और वह इसकी बात नहीं मानता। एक कहता है कि ऐसा मत करो, दूसरा कहता है वैसा मत करो। ऐसा करोगे तो गड़बड़ हो जायेगा सभी जगह ऐसा ही हो रहा है मानलो यहाँ एक पैथी से ऊब कर दूसरी जगह जाता है तो कहते हैं कि तुमने वहाँ जाकर समय और पैसा दोनों खर्च कर दिए। अब क्या पता? ठीक हो पायेगा कि नहीं। हम देख लेते हैं पत्रे पलट कर, तो वह कहता है कुछ बचा-खुचा हो तो हमें दे दो। इस प्रकार सब इकट्ठा करने में लगे हैं। अब चिकित्सा करवाने कहाँ जायें? इसी प्रकार यदि सम्यक् लक्ष्य को न साधकर इधर-उधर में समय खर्च किया तो लक्ष्य को साधने फिर कहाँ जाएँ? प्रश्नचिह्न ज्यों का त्यों रहेगा।

सम्यग्दृष्टि जिनधर्म का प्रभावक होता है—सम्यग्दृष्टि जिनधर्म की प्रभावना करता है मतलब सही प्रभावना करता है। सही प्रभावना बोलने मात्र से होती हो ऐसा नहीं है। आप नहीं बोल पाये इसलिए अप्रभावना हो जायेगी ऐसा भी नहीं है। जो श्रुतसागर जी मुनिराज थे वे जवाब देने में माहिर थे, वे विद्वत्ता के साथ जवाब देकर तो आ गये लेकिन पूरे संघ पर संकट आ गया। ईंट का जवाब पत्थर से देते हैं ऐसा कहते हैं लेकिन आज न ईंट मिलती है न पत्थर। जवाब देना ठीक नहीं है उसका परिणाम अच्छा नहीं होता। **जवाब नहीं देना ही लाजवाब है।** यह कोई नहीं जानता है और जानता भी है तो इसे कोई नहीं अपनाता। उन श्रुतसागर महाराज ने आकर आचार्य महाराज से कहा कि ऐसा-ऐसा हो गया तो गुरु महाराज कहते हैं कि जवाब दे दिया ये आपने ठीक नहीं किया। उन्होंने पुनः कहा—महाराज! मेरे से गलती हो गई आप जैसा कहोगे वैसा करूँगा। अब क्या करूँ? गुरु महाराज ने कहा—अब मैं क्या कहूँ? जहाँ पर आपके साथ बातचीत में हार-जीत हुई थी वहीं पर जाकर खड़े हो जाओ। ठीक है जैसी आज्ञा और वे वहीं पर जाकर खड़े हो गये।

न्यायग्रन्थों में दो प्रकार की कथाओं का वर्णन किया गया है—१. विजिगीषु कथा, २. वीतराग कथा। विजिगीषु कथा के अनुसार हार-जीत का प्रसंग आता है। अपने मत का मंडन तथा अन्य मत का खंडन, तर्क-वितर्क आदि के द्वारा इसमें विवेचन होता है इसी तरह स्वाध्याय के पाँच भेद होते हैं—१. वाचना, २. पृच्छना, ३. अनुप्रेक्षा, ४. आमनाय, ५. धर्मोपदेश। इनमें जो पृच्छना रूप स्वाध्याय है वह यह देखने के लिए नहीं कि दूसरा ज्ञान के क्षेत्र में कितने पानी में है? किन्तु अपनी जिज्ञासा का समाधान पाने के लिए तथा यदि विषय ज्ञात है तो उसे पुष्ट करने के लिए पृच्छना की जाती है। दूसरी वीतराग कथा होती है इसमें हार-जीत का हर्ष-विषाद का महत्त्व नहीं होता। संयमी को वीतराग कथा प्रौढ़ मानी जाती है। सामने वाला भले ही आवेग में आ जाये लेकिन हम आवेग में न आये बल्कि सही-सही उत्तर दें यह आवश्यक होता है।

युग के आदि में **हा, मा, धिक्** की दण्ड व्यवस्था थी अपराध करने वाले की निन्दा नहीं करना किन्तु अपराध होने पर उनसे यह कह दो कि आपके लिए यह शोभा नहीं देता इतने में अपराधी पानी-पानी हो जाता है 'हा' मात्र यह कहना पर्याप्त होता था। यदि आप उनको डाँट रहे हैं या मार रहे

हैं तो आप उनके साथ गलत व्यवहार कर रहे हैं। मखमली मार भी तो होती है फिर भी है तो वह मार ही। फूल के द्वारा भी मारा जा सकता है बस इतना कह दो कि आपके लिए शोभा नहीं देता बस पर्याप्त है। बहुत दिनों के बाद एक कहावत याद आ गई। उसका भाव यह है कि विद्वान् जो होते हैं उनके लिए डाँट का एक शब्द भी बहुत बड़ी मार कहलाती है और गधे को लात भी मारते जाओ तो कुछ नहीं है। यह क्रीटीसाइज (आलोचना) वाली बात है। यह कहावत तो सही है कि यदि विद्वान् है तो उसे एक-दो थोड़े से शब्द कह देना भी पर्याप्त होता है।

अपने मन को समझाना सबसे ज्यादा कठिन है यह एक औपचारिक कथन है कि हम दूसरे को समझा करके अपने आपको समझाने का प्रयास करते हैं। हम दूसरे को रास्ते पर लाकर अपने आपको रास्ते पर लाने का सौभाग्य समझते हैं यह मन्तव्य गलत नहीं है लेकिन सही तो यह है कि आप दूसरे को ट्यूशन देने की अपेक्षा जो समय बचता है उसमें अपनी उन्नति कर लो, संभव है कि आप फेल हो जायेंगे तो आपको लगेगा कि हमने क्या किया? बहुत कठिन है, मतलब यह हुआ कि आपसे पढ़ कर जो पास हुआ है उसके पास अब आपको पढ़ना होगा लेकिन आप नहीं पढ़ेंगे क्योंकि हमसे पढ़े हुए कई लोग पास हो गये, लाखों निकल गये यह जो भाव भीतर बना हुआ है वह हमेशा बना रहेगा। इसलिए भगवान् ने छद्मस्थ अवस्था में किसी को कुछ नहीं समझाया यह बात हमें बहुत अच्छी लगती है। यह बात अलग है कि उन्होंने हम लोगों के लिए कहा कि दूसरों के लिए समझाओ यह भी उनकी अच्छी बात है क्योंकि वह जो कहते हैं वह बिलकुल ठीक है। इसलिए आचार्य कहते हैं कि बीच में बोलो नहीं। ज्ञान होते हुए भी मत बोलो इसमें कुछ न कुछ रहस्य है। क्या रहस्य है? **अप्यदीवो भव** ऐसा कहा है। दूसरो को प्रकाश देते समय स्वयं के लिए अंधकार का कारण हो सकता है, चकाचौंध भी लग सकती है। इसलिए आचार्य कहते हैं कि अपने लिए दीपक का काम करो यह अपने आप में बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि अन्ततोगत्वा न्याय के मार्ग में स्व-पर प्रकाशी को प्रमाण माना है केवल पर प्रकाशी या स्व प्रकाशी को प्रमाण नहीं माना। यदि पर प्रकाशी को प्रमाण मानेंगे तो स्व को प्रकाशित करने के लिए अन्य प्रमाण की आवश्यकता होगी और यदि स्व प्रकाशी को ही प्रमाण मानेंगे तो भी अन्य वस्तु को प्रकाशित करने के लिए प्रमाणान्तर की आवश्यकता होगी यह न्याय की एक दुविधा जनक बात होगी इसलिए जैनाचार्यों ने इस विषय में कहा है कि—**सम्यग्ज्ञानमेव प्रमाणं तत्स्वपरप्रकाशकं** अर्थात् ज्ञान ही प्रमाण है और वह स्व-पर प्रकाशी है अतः उसे दूसरे प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं होती। यदि एक प्रमाण को दूसरे प्रमाण की आवश्यकता होती तो उसमें विरोध आयेगा। जैसे—कुछ देखने के लिए दीपक लाओ, फिर दीपक को देखने के लिए अन्य दीपक लाओ यह कैसी बात है?

भगवान् के सामने इस प्रकार की किसी ने प्रश्नावली नहीं रखी। ठीक भी है— **सूर्य के सामने कौन सी समस्या रहेगी**। जब तक समवसरण नहीं दिखा तब तक इन्द्रभूति को बहुत सी शंकायें व

प्रश्न थे लेकिन जैसे ही समवसरण में गये वैसे ही शान्त हो गये। वह प्रकाश सबके लिए शंकाओं का समाधान कर देता है। छद्मस्थ अवस्था में हम लोग संतुष्ट हों यह कोई नियम नहीं और वीतराग दशा में सब लोग हम से संतुष्ट हों ही यह भी कोई नियम नहीं है क्योंकि सामने वाले का किस प्रकार का उपादान है? इसके बारे में हम कुछ नहीं कह सकते क्योंकि बंध से अपने को बचना है और किसी से नहीं बचना। इससे वह अप्रभावना कृत बंध से रहित होगा।

जिज्ञासा—अप्रभावना कब होती है?

समाधान—जब हम आपे में नहीं रहते तब अप्रभावना होती है। यह सीधी-सीधी सी बात है। सामने वाला कहता है कि वे तो आपे में नहीं हैं। आत्मा की बात तो करते हैं परन्तु उन्हें शांति तो मिली ही नहीं। साधक को कभी कोई आग्रह नहीं रखना चाहिए। आवेग नहीं आना चाहिए। आवेग आने से तथा आग्रह रखने से धर्म की प्रभावना में बाधा आ सकती है और अप्रभावना हो सकती है और फिर अप्रभावनाकृत बंध भी होगा ही।

वीतरागता दिखाने की चीज नहीं है किन्तु देखने की चीज है। हमारे पास वीतरागता है ऐसा कहना ही गलत है क्योंकि वीतरागता तो स्वतः ही देखने में आ जाती है। ऊपर मुँह करके मैं **सम्यग्दृष्टि हूँ** ऐसा कहने वाला व्यक्ति अभी अपने आपको ही समझ नहीं पा रहा है। मोक्ष मार्ग में मैं और **मेरेपन** को हटाना अनिवार्य है। मैं **पन** को हटाने का मतलब है उसका प्रवृत्ति के द्वारा प्रदर्शन मत करो, किन्तु मैं अर्थात् आत्मा का अनुभव करने का प्रयास करो क्योंकि जिस समय मैं रहेगा आत्मा का उस समय मैं **पन** अर्थात् अहम् (अहंकार) नहीं रहेगा। जब अहंकार नहीं रहेगा तब क्या होगा? मैं मय अर्थात् आत्मा में तन्मय हो जायेगा। तन्मय होने का अर्थ है कि वह अपनी आत्मा की ओर आ रहा है। अपनी आत्मा में लीन हो रहा है। आचार्य **अमृतचन्द्र जी** ने आत्मख्याति टीका लिखी है आत्मख्याति अर्थात् आत्मा की ख्याति लिखी है। प्रश्न उठता है कि आत्मा की ख्याति क्या है? वह बाहर नहीं भीतर है। आत्मख्याति में जो लीन हो जाता है उसे आचार्यों ने स्वज्ञान प्रभावी कहा है। वास्तव में निश्चय से वही प्रभावना अंग सहित सम्यग्दृष्टि माना जाता है। उसके अप्रभावना कृत बंध नहीं होता है किन्तु निर्जरा होती है।

इस प्रकार शुद्ध नय का आश्रय लेकर संवर पूर्वक जो भाव निर्जरा होती है उसकी उपादान भूत जो शुद्धात्मा की भावना है वह निशंकित आदि आठ गुणात्मक होती है। उनकी व्याख्या की मुख्यता से यहाँ नौ गाथाओं का प्रकरण समाप्त हुआ। यहाँ आठ अंगों का वर्णन निश्चय नय का आश्रय लेकर उसकी प्रधानता से किया गया है क्योंकि यहाँ व्यवहार नय मुख्य नहीं है, किन्तु व्यवहार नय का कथन औपचारिक कथन है ऐसा भी नहीं समझना चाहिए। निश्चय नय का कथन अभेदात्मक होता है उसमें एकमेकता होती है इसके आगे कहते हैं कि—**निश्चय रत्नत्रय का साधनभूत जो व्यवहार रत्नत्रय है उसमें स्थित होने वाले सराग सम्यग्दृष्टि के ऊपर भी अंजन चोर आदि की कथा**

रूप जो व्यवहार नय है उसको भी यथासंभव लगा लेना चाहिए। निश्चय रत्नत्रय साध्य रूप होता है तो व्यवहार रत्नत्रय उसका साधन है। यहाँ व्यवहार कहने से वह पराश्रित ही होता है ऐसा एकान्त नहीं लेना चाहिए क्योंकि वह भी आत्मा में होता है। आगम व अध्यात्म ग्रन्थों में कहा है कि— **व्यवहार भेद परक तथा निश्चय अभेद परक होता है।** व्यवहार कहने से वह फालतू है ऐसा नहीं है किन्तु एक प्रकार से वह भेदात्मक है और निश्चय नय का साधनभूत है। साधन पहले होता है साध्य की प्राप्ति बाद में होती है। बिना साधन के साध्य की प्राप्ति संभव नहीं होती। इसलिए जो साधन भूत है उसे नहीं चाहिए ऐसा कभी नहीं सोचना चाहिए।

दृष्टान्त—जैसे—दही नवनीत का कारण है। दही अलग है और नवनीत अलग है। दही नवनीत की पूर्ववर्ती पर्याय है। नवनीत का यदि कोई स्रोत है तो वह दही है। दही को किस तरह नवनीत का रूप देना होता है यह विधि अलग है। यदि यह विधि समझ में न आये और कोई यद्वा—तद्वा कर दे तो दही से नवनीत की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः आप विधिवत करिये। इस व्यवहार सम्यग्दर्शन को लेकर बैठ जायें आगे की विधि को न अपनायें तो भी निश्चय सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हो सकती उसकी भी एक भूमिका होती है, पद्धति होती है उसके अनुसार आप चलिए तो निश्चित रूप से प्राप्त होगा।

व्यवहार नय की अपेक्षा अंजन चोर आदि जो सराग सम्यग्दृष्टि थे उनके पास जो निःशंकित आदि आठ अंग थे वो व्यवहारात्मक थे तो उनको सम्यग्दर्शन नहीं था क्या? तो आचार्य कहते हैं कि उन्हें सम्यग्दर्शन तो था लेकिन भेदात्मक था। पाँचवें—छठवें गुणस्थान तक भेद रूप व्यवहार सम्यग्दर्शन रहता है, सातवें गुणस्थान में मुख्यता से निश्चय सम्यग्दर्शन रहता है।

जिज्ञासा—टीकाकार के उक्त कथन को लेकर एक जिज्ञासा होती है कि निश्चय नय का व्याख्यान करने के बाद यहाँ व्यवहार नय का कथन क्यों किया?

समाधान—टीकाकार इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि अग्नि और स्वर्ण पाषाण की तरह निश्चय और व्यवहार नयों में परस्पर साध्य-साधक भाव बताने के लिए यह कथन किया है। जिस प्रकार अग्नि और स्वर्ण-पाषाण में साध्य-साधन का भेद पाया जाता है क्योंकि स्वर्ण-पाषाण को अग्नि के द्वारा ही विधिवत तपाया जाता है तब उसमें से पाषाणपन पृथक् होता है और स्वर्ण शेष रह जाता है। अतः यहाँ अग्नि साधन रूप है। इसी प्रकार निश्चय व्यवहार नय में साध्य-साधन का भेद बनता है इसलिए निश्चय नय के बाद साधन रूप व्यवहार नय का भी कथन किया गया है। जिन मत को यदि प्राप्त करना चाहते हो तो निश्चय-व्यवहार इन दोनों का विमोचन मत करो। वर्तमान में यहाँ कोई व्यवहार का विमोचन कर रहा है तो कोई निश्चय का। जबकि आचार्यों का अभिप्राय है कि यदि आप जिनेन्द्र भगवान् की वाणी का मन्तव्य या रहस्य समझना चाहते हो तो व्यवहार व निश्चय के रहस्य को भूलो नहीं, क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् ने ही निश्चय और व्यवहार का साध्य-साधन के रूप में विवेचन किया है। एक के बिना दूसरे की सिद्धि नहीं होती। कहा भी है—

जइजिणमइ पवज्जह ता मा ववहार णिच्छए मुणह । एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण पुण तच्चं ॥

अर्थात् यदि जिनमत के रहस्य को प्राप्त करना चाहते हो तो दोनों नयों को मत भूलो क्योंकि व्यवहार नय को छोड़ देने से अभीष्ट सिद्धि का जो मूलकारण तीर्थ है वह नष्ट हो जाता है और निश्चय नय को भुला देने पर समुचित वस्तु तत्त्व ही नहीं रह पाता तात्पर्य यह है कि व्यवहार को भूल जाओगे तो तीर्थ का विच्छेद हो जायेगा और निश्चय को छोड़ दोगे तो आत्म कल्याण संभव नहीं होगा। आत्मा का कल्याण करो लेकिन इस बीच यदि व्यवहार में आ जाते हो तो तीर्थ को मत भूलो।

जिज्ञासा—तीर्थ को किस तरह सुरक्षित रखें ?

समाधान—व्यवहार और निश्चयनयात्मक तीर्थ है। **तीर्थते अनेन इति तीर्थः आगमः** आगम कहो, तीर्थ कहो, सिद्धान्त कहो ये सब एकार्थवाची हैं, ऐसा षट्खण्डागम ग्रन्थ में कहा है। अतः जिनेन्द्र भगवान् का मत दोनों नयों रूप है, दोनों को सुरक्षित रखोगे तो तीर्थ भी सुरक्षित रहेगा और आत्मा का कल्याण भी हो सकेगा।

दूसरी बात सम्यग्दृष्टि जीव के जो संवरपूर्वक निर्जरा होती हुई बताई गयी है वह निर्विकल्प समाधि के होने पर ही होती है। यह निर्विकल्प समाधि शुद्धात्मा के समीचीन तन्मय रूप श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान रूप निश्चय रत्नत्रय रूप होती है यह निश्चित बात है। तथा उस निश्चय रत्नत्रय का लाभ आर्त्त, रौद्रध्यान रहित वीतराग धर्मध्यान व शुक्लध्यान रूप है, धर्मध्यान सराग और वीतराग दोनों रूप होता है। शुक्लध्यान वीतराग रूप ही होता है। अतः जहाँ-जहाँ धर्मध्यान है वहाँ-वहाँ वीतराग धर्म ध्यान को ही लगाना चाहोगे तो यह गलत है क्योंकि पहले ही कह करके आये हैं कि छठवें गुणस्थान तक सराग धर्मध्यान होता है। उसके आगे वीतराग धर्मध्यान व शुक्लध्यान होता है। शुक्लध्यान आठवें गुणस्थान से होता है अर्थात् श्रेणी के पूर्व धर्मध्यान और श्रेणी में शुक्लध्यान होता है। अब देखो! जिस समय बाहरी द्रव्य का आलम्बन नहीं रहता तब निर्विकल्प समाधि होती है जिनवाणी के शब्द भी बाहरी द्रव्य हैं। अतः उस समय जिनवाणी के शब्दों का आलम्बन भी बाहरी द्रव्य का आलम्बन माना जाता है। किसी भी प्रकार के विकल्प से रहित होना निर्विकल्प दशा कहलाती है, यह अत्यन्त दुर्लभ है।

अत्यन्त दुर्लभ होती है निर्विकल्प दशा—एकेन्द्रिय से विकलेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय होना दुर्लभ है। पञ्चेन्द्रिय में भी संज्ञी होना, पर्याप्त होना, मनुष्य होना, अच्छा देश मिलना, उत्तम कुल मिलना, सुडौल शरीर, इन्द्रियों की पूर्णता, रोग रहित शरीर, समीचीन धर्म का सुनना, विचारपूर्वक उसे मन में उतारना और धारण करना, भली बुद्धि होना, उस पर विश्वास होना, संयम स्वीकार करना, विषय-कषायों से दूर रहना, तप की भावना होना और समाधि पूर्वक मरण होना ये सभी उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं। मानलो, आसानी से सुदंर शरीर, उत्तम देश आदि मिल भी जायें तो

वहाँ की भाषा, वहाँ का वातावरण अच्छा मिलना दुर्लभ है। देखो! कहीं-कहीं सड़क का वातावरण कितना दूषित होता है। सड़क के दोनों तरफ मांस के लोथड़े लटके रहते हैं, अण्डे रखे रहते हैं नाक पकड़ करके चलना पड़ता है घृणा होती है, उल्टी हो जाती है। आज भारत देश में भी इसका बाहुल्य है। कलकत्ता जाते समय हम दुर्गा नगर गये थे वहाँ ऐसा ही था अतः देश की भी दुर्लभता बताई गई है। विदेश में जायेंगे तो पैकेट में बंद भोजन सामग्री मिलेगी, कहाँ से कैसा भोजन आया कुछ पता नहीं। दूध के बारे में सुना था कि वहाँ दूध में कोई तत्व मिलाया जाता है वह लेना अनिवार्य होता है अन्यथा रोग पैदा होगा। अतः वहाँ पर यह बंदिश है कि कोई भी चीज बनती है तो मिक्सिंग होती है। आज भारत की भी यही स्थिति हो रही है तो विदेश में जाकर तो इससे बच ही नहीं सकते।

मनुष्य पर्याय, कुल, रूप, लावण्य, इन्द्रिय पटुत्व, सभी इन्द्रियों का क्षयोपशम पर्याप्त मात्रा में हो यह संभव नहीं, कई लोगों को बचपन से ही नम्बर का चश्मा लगता है। एक-एक वर्ष में चश्मा बदलते रहते हैं। चार आना चवन्नी जैसे बच्चे भी चश्मा लगा कर आ जाते हैं। दीर्घायु क्या है? आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त से पहले यदि मरण होता है तो अल्पायु मानी जाती है और आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त की आयु प्राप्त हो जाती है तो वह दीर्घायु मानी जाती है उसकी अल्पायु में गिनती नहीं होती। सद्बुद्धि, सद्श्रवण यह भी दुर्लभ है। टी.वी. देखने व अखबार पढ़ने का समय है लेकिन शास्त्र पढ़ने का कहीं तो कहते हैं कि अभी तो बहुत बड़ी जिंदगी है कभी भी पढ़ लेंगे। फिर उसका ग्रहण, धारण, अवधारण, श्रद्धान फिर संयम ग्रहण करना, संयम ग्रहण कर लिया लेकिन विषयों का व्यसन समाप्त नहीं हुआ मन वहीं-वहीं पर जाता है तो क्या करें? सुन रहे हो न! यह अपनी ही बात है क्रोधादि कषायों का निवर्तन भी नहीं होता। क्रोध आने पर होश-हवाश खो देता है। सूझ-बूझ भूल जाता है, अभिशाप आदि दे देता है। अनुकूलता नहीं है तो तेज आँखों से देख लेता है या जाओ तुम्हारा कभी भला नहीं होगा ऐसा कह देता है आगे उनका भला हो या न हो बात अलग है लेकिन कहने वाले का तो भला होता ही नहीं।

यह सब क्या है? क्रोधादि कषायों का अभाव होना बहुत कठिन है। उन श्रुतसागर जी ने कहा कि हमने तो हाथों-हाथ जबाब दे दिया। तब उनसे गुरु ने कहा—यह क्या किया तुमने? अब वहीं जाकर खड़े हो जाओ। वे वहीं जाकर खड़े हो गये। रात्रि में मंत्री आये, उन्होंने मुनिराज को ध्यान में खड़े देखा तो कहते हैं संघ को बाद में देखेंगे पहले इन्हीं को खत्म करते हैं। चार प्रकार की कथाओं में से जो आक्षेपणी-विक्षेपणी कथायें होती हैं वे सबसे नहीं की जाती है उन्हें गुरु महाराज से पूछकर करना चाहिए था। गुरु नहीं थे तो 'गुरुवयणं' का ध्यान रखना चाहिए था। द्रव्य, क्षेत्र कैसा है? वातावरण कैसा है? यह सब देखकर और सोचकर कार्य करना चाहिए।

आइंस्टीन जैसे वैज्ञानिक ने कहा है कि "ज्ञान को विकसित करने में बाधा नहीं लेकिन ज्ञान का प्रयोग खतरनाक है।" आचार्यों ने मूलाचार में एक बहुत अच्छी बात कही है कि देखो!

जब चर्या में निकलते हैं तो बीच में नहीं बोलना चाहिए। जब तक उपाश्रम में नहीं आ जाते हैं तब तक मौन से ही रहना चाहिए। रास्ते में कोई मिल जाये तो हर किसी को उपदेश नहीं देना चाहिए। जब आप भिक्षावृत्ति से जाते हैं तब आक्रोश परीषह हो सकता है। उस समय आहार मिले या न मिले कुछ गालियाँ मिल सकती हैं तो उन्हें आप समता से सुन लें, उत्तेजित न हों तो आक्रोश परीषह विजयी बन सकते हैं। आप अपने माध्यस्थ भाव का प्रयोग करें। अगर अपनी विद्वत्ता दिखाना चाहोगे तो गड़बड़ हो जायेगा। वाद-विवाद कब करना और किससे करना यह भी देखना आवश्यक है। वाद-विवाद करने की मना नहीं है लेकिन कब कहाँ करना आवश्यक है? यह देखना जरूरी है। **वादीभसिंहसूरि आचार्य** हुये हैं उन्होंने भी कहा कि वाद-विवाद कब कहाँ करना इसका ध्यान रखें।

दृष्टान्त—जैसे—कोई डॉक्टर किये हैं तो उसके साथ बातचीत की भूमिका बिना आधार के नहीं बनाना चाहिए उसका क्या आधार है यह पहले देख लो। कोई कुछ पूछता है तो एकदम उसको जबाब मत दो किन्तु उस विषय में आपको जो जानकारी है उस पर विचार करो फिर बातचीत करो एकदम सामने वाला विचलित हो जाये, असंयम की ओर चला जाये ऐसे शब्द भी नहीं बोलो, उन्हें अच्छे शब्दों के द्वारा भी कहा जा सकता है। जैसे आपके लिए यह शोभा नहीं देता वैसे किसी को भी शोभा नहीं देता।

श्रुतसागर मुनिराज के पास हराने की क्षमता थी लेकिन उनके द्वारा वाद-विवाद होने से अकंपनाचार्यादि सात सौ मुनिराजों पर सात दिन तक उपसर्ग हुआ, वहाँ के गृहस्थ कितने व्यथित हुए आपको मालूम है क्या? एक साल में एक दिन हम इसी के लिए देते हैं और उसे रक्षा बंधन पर्व के रूप में मनाते हैं। सामूहिक कर्म का उदय था। श्रुतसागर जी महाराज की गलती थी यह नहीं कह रहे हैं फिर भी उनका बोलना उपसर्ग का कारण बन गया। यदि कोई कहे कि **मूलाचार** पढ़ने-पढ़ाने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि जैसा होना था वैसे उनके मुख से शब्द निकले उनका ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि **मूलाचार** में तो चलते समय बोलने के लिए मना किया है यह शिक्षा मूलाचार के अध्ययन से ही तो मिलेगी अतः मूलाचार का पढ़ना आवश्यक है। असंयम के साथ बोलना उचित नहीं है। सामने वाला कटु शब्द कह रहा है तो भी महाराज का बोलना उचित नहीं है। ईर्या समिति और भाषा समिति दोनों का पालन करना आवश्यक है। अतः चर्या के समय पर आप अपनी सीमा में यानि आप अपने उपाश्रम में जब तक नहीं आते तब तक किसी से बोलो नहीं यह कहा है। शास्त्र की आज्ञा है कि कहीं भी जाने के पूर्व अपने लिए पूर्वापर पूछताछ कर लो तो अच्छा रहता है। विलम्ब हो जाये तो कोई बात नहीं लेकिन कब? कहाँ? क्या? कैसे? बोलना इसका तो ख्याल रखना चाहिए। आगम में कहा है—“**मुख चन्द्र तैं अमृत झरे**” ऐसा कहा है तो कब, कहाँ? झरे यह ख्याल रखना आवश्यक है।

तप की भावना भी बहुत दुर्लभ है और समाधिमरण पूर्वक मरण होना और भी अत्यधिक दुर्लभ

है क्योंकि उपर्युक्त समस्त दुर्लभताओं में रुकावट डालने वाले मिथ्यात्व विषय-कषाय रूप विकारी परिणामों की प्रबलता रहती है तथा ख्याति, लाभ, पूजा आदि का आकर्षण रहता है। इनकी चकाचौंध रहती है तो कुछ नहीं दिखता, इनके सामने तो ख्याति बस दिखती है।

दृष्टान्त—जैसे—बच्चे से पिता ने पूछा—क्या चाहिए? तो वह कहता है कि हमें कुछ नहीं चाहिए, फिर यहाँ क्यों बैठा है? स्कूल क्यों नहीं जा रहा है? तो वह कहता है—हमने कितनी बार बताया कि हम को कार चाहिए लाकर दो, लेकिन जब आपने सुनना बंद कर दिया तो मैं बैठ गया क्योंकि इसके बिना सुनवायी होगी नहीं इसी प्रकार मोक्षमार्ग में ख्याति, पूजा, लाभ का आकर्षण भी बाधक बनकर खड़ा हो जाता है तो साधक के कदम वहीं पर रुक जाते हैं। ख्याति, पूजा, लाभ से रहित होकर साधना करना अत्यधिक दुर्लभ है इस प्रकार दुर्लभता की परम्परा को जानकर समाधि मरण या समता के विषय में प्रमाद मत करो। जैसा कि कहा भी है—

इत्यतिदुर्लभरूपां बोधिं लब्ध्वा यदि प्रमादीस्यात्।

संसृतिभीमारण्ये भ्रमति वराको नरः सुचिरं॥

अर्थात् उपर्युक्त प्रकार से जिसका प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है उस बोधि भाव को प्राप्त करके भी यदि मनुष्य प्रमादी बना रहे और उसे हाथ से खो दे तो फिर वह बिचारा इस भयंकर संसार रूप वन में बहुत काल तक परिभ्रमण करता ही रहेगा।

मानलो आज यदि एक सेकंड समता धारण करोगे तो संभव है कल दो सेकंड की भावना हो सकती है। ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि अभी तो कोई बात नहीं एक घंटा निकलने दो फिर बाद में समता रख लेंगे। आचार्य कहते हैं—क्रोध जब आये उस समय समता नहीं रख पाते तो फिर बाद में भी नहीं रख पाओगे। वह सोच ले कि कोई बात नहीं हम बाद में अच्छे ढंग से सामायिक कर लेंगे आज नहीं करते तो दूसरे दिन भी अच्छे से सामायिक नहीं कर पायेगा यह निश्चित बात है। इसलिए समाधि के विषय में आलस्य प्रमाद न करो। ग्यारह अंग, नौ पूर्व से ऊपर उठने वाले बड़े-बड़े ज्ञानी भी समता धारण नहीं कर पाते हैं। अतः बोधि-समाधि की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। इस प्रकार शृंगार रहित पात्र की भाँति शान्त रस रूप जो निर्जरा है वह चली गई।

इस प्रकार **श्री जयसेन आचार्य** की बनायी हुई शुद्धात्मा की अनुभूति रूप लक्षण वाली तात्पर्यवृत्ति नाम की समयसार की व्याख्या की हिन्दी अनुवाद में चार गाथाएँ पीठिका रूप में, पाँच गाथाएँ ज्ञान और वैराग्य का सामान्य वर्णन करने के रूप में, चौदह गाथाएँ उसी का विशेष वर्णन करने में, फिर नौ गाथाएँ निःशंकित आदि गुणों का वर्णन करने में, इस प्रकार सब मिलाकर पचास गाथाओं द्वारा छह अन्तर अधिकारों में सातवाँ निर्जरा नाम का अधिकार पूर्ण हुआ।

परिशिष्ट
गाथानुक्रमणिका

| गाथा का आद्यांश | गाथा क्र० | पृष्ठ | गाथा का आद्यांश | गाथा क्र० | पृष्ठ |
|--------------------|-----------|-------|---------------------|-----------|-------|
| अ | | | एमेव सम्मदिट्ठी | २४२ | २३२ |
| अण्णाणी पुण | २३० | १९१ | एवं सम्मादिट्ठी | २०९ | ७० |
| अपरिग्गहो अणिच्छो | २२२ | १४७ | क | | |
| अपरिग्गहो अणिच्छो | २२३ | १५६ | कम्मं हवेइ किट्ठं | २३२ | २०५ |
| अपरिग्गहो अणिच्छो | २२५ | १६६ | कह एस तुज्झ | २०८ | ६५ |
| अपरिग्गहो अणिच्छो | २२६ | १७० | को णाम भणिज्ज | २१७ | ११९ |
| अप्पाणमयाणंतो | २१२ | ८५ | ख | | |
| आ | | | छिज्जदु वा भिज्जदु | २१८ | १२३ |
| आदम्हि दव्वभावे | २१६ | ११२ | ज | | |
| आभिणिसुदोहिमण... | २२० | १३४ | जइया स एव | २३६ | २१० |
| इ | | | जह पुण सो चेव | २४१ | २३२ |
| इच्चादि एदु विविहे | २२७ | १७६ | जह मज्जं पिवमाणो | २०५ | २६ |
| उ | | | जह विसमुवभुज्जंता | २०४ | १७ |
| उदयविवागो विविहा | २१० | ७७ | जह संखो पोग्गलदो | २३७ | २११ |
| उप्पण्णोदयभोगे | २२८ | १८१ | जो कुणदि वच्छलत्तं | २५० | ३२७ |
| उम्मगं गच्छंतं | २४९ | ३१६ | जो चत्तारिवि पाए | २४४ | २७३ |
| उवभोज्जमिंदियेहि | २०२ | २ | जो ण करेदि | २४६ | २९१ |
| ए | | | जो ण करेदि दु | २४५ | २८२ |
| एदम्हि रदो णिच्चं | २१९ | १२६ | जो वेददि वेदिज्जदि | २१३ | ९७ |
| एमेव जीवपुरिसो | २४० | २३२ | जो सिद्धभत्तिजुत्तो | २४८ | ३०५ |

| | | |
|--------------------|-----|-----|
| जो हवदि असम्मूढा | २४७ | २९९ |
| झ | | |
| झाणं हवेइ अग्गी | २३३ | २०५ |
| ण | | |
| णागफणीए मूलं | २३१ | २०३ |
| णाणगुणेहिं विहीणा | २२१ | १४० |
| णाणी रागप्पजहो | २२९ | १९१ |
| त | | |
| तह णाणिस्स वि | २३५ | २१० |
| तह णाणी वि हु | २३८ | २१६ |
| द | | |
| दव्वे उवभुज्जंते | २०३ | १० |
| ध | | |
| धम्मत्थि अधम्मत्थी | २२४ | १५८ |

| | | |
|--------------------|-----|-----|
| प | | |
| परमाणुमित्तिंयं पि | २११ | ८५ |
| पुगलकम्मं कोहो | २०७ | ५० |
| पुरिसो जह कोवि | २३९ | २३२ |
| ब | | |
| बंधुवभोगणिमित्तं | २१४ | १०२ |
| भ | | |
| भुजंतस्सवि विविहे | २३४ | २१० |
| म | | |
| मज्झं परिग्गहो | २१५ | १०८ |
| व | | |
| विज्जारहमारूढो | २५१ | ३३६ |
| स | | |
| सम्मादिट्ठी जीवा | २४३ | २५९ |
| सेवंतो वि ण | २०६ | २९ |